वैदिक योगसूत्र

हरिशंकर जोशी

चौखम्बा प्रकाशन

वैदिक योगसूत्र : पं० हरिशंकर जोशी ❀ चौखम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

३

वैदिक योगसूत्र

(वैदिक वाङ्मय का योगात्मक दर्शन)

हिन्दी भाष्य सहित

लेखक—

पं० हरिशंकर जोशी

(प्रतिभादर्शन या भाषा तत्त्व शास्त्र, वैदिक विश्वदर्शन, सांख्ययोगदर्शन का जीर्णोद्धार, वैदिक ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों का भाष्य तथा विस्तृत भूमिका, पञ्चम वेद पुराण दर्शन, तथा ऋग्वेद भाष्य के रचयिता)

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी-१

१९६७

THE

CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES

3

******

VEDIC YOGASŪTRA

(An abstract Yoga philosophy or Metaphysics as in the Vedic Literature)

With Hindi Commentary

By

Pt. HARI SHANKAR JOSHĪ

(The author of Pratibhā Darśana (The ancient Linguastics), The Vedic Viśva Darśana, Sāṇkhyayoga Darśana Ka Jīrṇoddhār, The Vedic Brahmasūtra, A Great Commentary on the Principal Upaniṣads with an exhaustive Introduction, Metaphysics of the fifth Veda Purāṇa and A Great Commentary on the Ṛgveda)

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1967

First Edition
1967
Price Rs. [illegible]-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Antiquarian Book-Sellers
Chowk, Post Box No. 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 3076

श्री १००८ महावीरावतार स्वनामधन्य
नित्यजाग्रत समाधिस्थ महाराज
नीम करौली बाबा जी
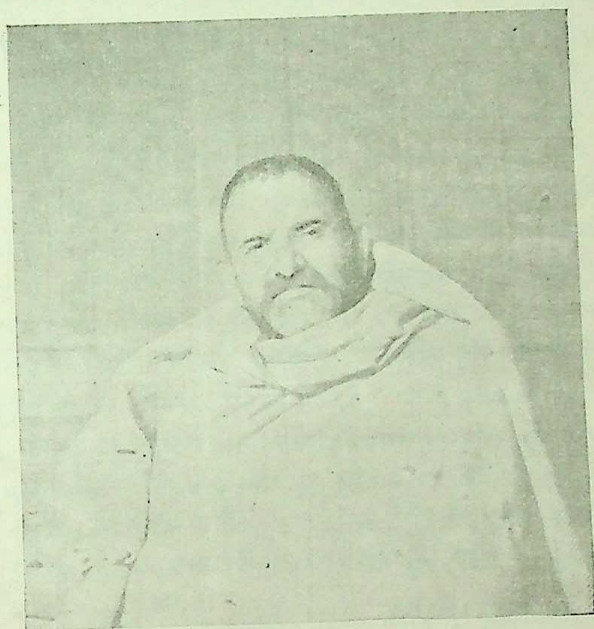
के
कर कमलों में सादर
समर्पित

अन्तर्दर्शन

अकलुषिता निर्मला महती मधुरिमामयी जिस वेद विद्या के अमृतमय घूँट को हमारे पूर्वज महर्षिगण उपनिषद् युग तक अविच्छिन्न रूप से पीते आ रहे थे, उसके एकाएक ह्रास होने की जो निराश करने वाली सूचना भगवद्गीता और रामायण से लेकर प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थोंने दी है और तब से लेकर अब तक उस अन्धयुग की धुआँधार धांधली ने उस अमृतमय वाणी, वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की जैसी उत्तरोत्तर शतमुखी अधोगति की है उसके उद्धार के लिए किसी भी विद्वान् को उचित रूप से प्रवृत्त ही न देखकर यह लेखक अकेले ही उन महर्षियों के मर्मों की मार्मिकताओं को बटोर बटोर कर इस ग्रन्थ में नवीन रूप में प्रस्तुत करने का जीवनव्यापी प्रयास सामने रख रहा है। यद्यपि औपनिषदिक महर्षियों ने यह कार्य जितनी दक्षता कुशलता सरलता और सम्बोधनीयता से प्रस्तुत कर दिया था वही सबको वैदिक अमृतपान कराने वाली मोहिनी से कम न था, पर ह्रास तो सब का हो गया, सिर नहीं रहा, धड़ नहीं बचा तो हाथ पांव जैसे ये ग्रन्थ निर्जीव से, काट कर पृथक् फेंक दिये गये, सुगन्ध देने के स्थान में ऐसे महाशयों को दुर्गन्ध ही क्यों न देते ? पर ये अजर हैं, अमर हैं, कोई कितना ही करे, ये नष्ट होने के नहीं। संहिता ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् एक शरीर के मुख्य अङ्ग हैं, जो इन्हें पृथक् या स्वतन्त्र मानते हैं वे इस वेद पुरुष के हत्यारे हैं व्याख्या ! रे नहीं। प्रतीत ऐसा होता है कि वेद पुरुष अपने इसी नवावतार की प्रतीक्षा में माता पिता की तरह यह सब कुछ सहन कर रहा है।

वेदविद्या या वैदिक दर्शन का लोप केवल अनूचान शुश्रुवान्त्स महर्षियों के अभाव के ही कारण नहीं हुआ, वरन् उक्त विद्या के पथ प्रदर्शक ग्रन्थ के अभाव से भी हुआ; पर उन महर्षियों ने ऐसा ग्रन्थ इस लिए प्रस्तुत नहीं किया था कि यह विद्या अत्यन्त रहस्यमय और पवित्रतम मानी जाती रही, जिसे सभी को नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात न देने के लिए यह है कि वेदों का अधिकांश विषय योग से सम्बन्ध रखता है। योग ऐसा विषय है जिस पर आप चाहे कितने ही ग्रन्थ पढ़ लें, पर प्रयोगावस्था में आपको किसी योग्यतम गुरु की ही शरण लेने को बाध्य होना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में उन्होंने जो कुछ किया वह नितान्त अनुचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु उन्हें अपने दर्शन की एक पूरी रूप रेखा तो कम से कम अवश्य देनी चाहिए ही थी। इसके अभाव में, यद्यपि, आज सैकड़ों ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी, जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध है वही संहिताओं ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों का एक महान् क्षीरसागर सा है,

अन्तर्दर्शन

अकलुषिता निर्मला महती मधुरिमामयी जिस वेद विद्या के अमृतमय घूँट को हमारे पूर्वज महर्षिगण उपनिषद् युग तक अविच्छिन्न रूप से पीते आ रहे थे, उसके एकाएक ह्रास होने की जो निराश करने वाली सूचना भगवद्गीता और रामायण से लेकर प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थोंने दी है और तब से लेकर अब तक उस अन्धयुग की धुआँधार धांधली ने उस अमृतमय वाणी, वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की जैसी उत्तरोत्तर शतमुखी अधोगति की है उसके उद्धार के लिए किसी भी विद्वान् को उचित रूप से प्रवृत्त ही न देखकर यह लेखक अकेले ही उन महर्षियों के मर्मों की मार्मिकताओं को बटोर बटोर कर इस ग्रन्थ में नवीन रूप में प्रस्तुत करने का जीवनव्यापी प्रयास सामने रख रहा है। यद्यपि औपनिषदिक महर्षियों ने यह कार्य जितनी दक्षता कुशलता सरलता और सम्बोधनीयता से प्रस्तुत कर दिया था वही सबको वैदिक अमृतपान कराने वाली मोहिनी से कम न था, पर ह्रास तो सब का हो गया, सिर नहीं रहा, धड़ नहीं बचा तो हाथ पांव जैसे ये ग्रन्थ निर्जीव से, काट कर पृथक् फेंक दिये गये, सुगन्ध देने के स्थान में ऐसे महाशयों को दुर्गन्ध ही क्यों न देते? पर ये अजर हैं, अमर हैं, कोई कितना ही करे, ये नष्ट होने के नहीं। संहिता ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् एक शरीर के मुख्य अङ्ग हैं, जो इन्हें पृथक् या स्वतन्त्र मानते हैं वे इस वेद पुरुष के हत्यारे हैं व्याख्या! रे नहीं। प्रतीत ऐसा होता है कि वेद पुरुष अपने इसी नवावतार की प्रतीक्षा में माता पिता की तरह यह सब कुछ सहन कर रहा है।

वेदविद्या या वैदिक दर्शन का लोप केवल अनूचान शुश्रुवान्त्स महर्षियों के अभाव के ही कारण नहीं हुआ, वरन् उक्त विद्या के पथ प्रदर्शक ग्रन्थ के अभाव से भी हुआ; पर उन महर्षियों ने ऐसा ग्रन्थ इस लिए प्रस्तुत नहीं किया था कि यह विद्या अत्यन्त रहस्यमय और पवित्रतम मानी जाती रही, जिसे सभी को नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात न देने के लिए यह है कि वेदों का अधिकांश विषय योग से सम्बन्ध रखता है। योग ऐसा विषय है जिस पर आप चाहे कितने ही ग्रन्थ पढ़ लें, पर प्रयोगावस्था में आपको किसी योग्यतम गुरु की ही शरण लेने को बाध्य होना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में उन्होंने जो कुछ किया वह नितान्त अनुचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु उन्हें अपने दर्शन की एक पूरी रूप रेखा तो कम से कम अवश्य देनी चाहिए ही थी। इसके अभाव में, यद्यपि, आज सैकड़ों ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी, जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध है वही संहिताओं ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों का एक महान् क्षीरसागर सा है,

कम नहीं, इनमें जो कुछ आवश्यक है, वह सब सामग्री है, पर मजाल क्या कि कोई भी इनमें से किसी को भी ठीक से समझ या समझा सके। प्रत्येक का कार्य 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' आलापना मात्र है, यह प्रयत्न कोई नहीं करने जाता कि वास्तव में वे ग्रन्थ कह क्या रहे हैं या क्या कहना चाहते हैं? ये ऐसा अर्थ करते हैं जिस मार्ग को इन ग्रन्थों ने कभी देखा तक न होगा। अर्थात् वे आज के वातावरण या ग्रीक और रोम के वातावरण या प्राकृतिक वातावरण की अन्धे की लकड़ी के सहारे चलते हैं। अन्धयुग के आचार्य वेदों के अर्थ के सम्बन्ध में एकाएक ऐसे क्यों कर भटक पड़े हैं? इसका एक प्रधान कारण यह है कि उन्होंने कर्मकाण्ड की शैली के प्रभाव से यह समझ लेने की महती भूल— जिसके लिए महर्षियों ने उनके विधाताचार्यों को सैकड़ों लताड़ें फटकारें सुनाई थीं, उन्हें भी समूचे निगल कर–की कि वेदों में बाह्यार्थ विषय का प्रतिपादन है। बस यहीं से पावों तले से धरती खिसकी। वेदों में जो कुछ भी वर्णन है वह सब अन्तर्जगत् का है, यह अन्तर्जगत् समाधि और ब्रह्माण्ड समाधि या सृष्टि की मौलिक प्राणमयी रचना का है। इसकी वर्णना का आधार अवश्यमेव बाह्य विषय है, पर वह सांकेतिक है, भाषा है, व्यञ्जना शैली है, जिनसे मुख्य विषय सदा ही दूर, एकदम स्वतन्त्र और निराला अथवा पृथक् होता है। इस तथ्य पर किसीने ध्यान ही नहीं दिया। सारे उपनिषद् ब्राह्मण पुराण आदि चिल्लाते चिल्लाते रह गये, थक गये। दूसरी विशेष बात यह है कि वैदिक युग में तो वैदिक दर्शन की रूप रेखा से सभी महर्षि भली भांति परिचित रहते थे, यहां तक कि याज्ञिक भी, जिसके विना वे यज्ञों में विभिन्न देवताओं का क्रम ही नहीं बैठा सकते थे। अतः उन्हें ऐसी पथप्रदर्शक रूपरेखा की आवश्यकता ही नहीं रहती रही। तब प्रश्न उठता है कि जब उस वातावरण का नितान्त ह्रास हो गया था तब तत्कालीन या मध्ययुगीय या आधुनिक विद्वानों में से किसी ने भी उस रूप रेखा को खोज कर सामने रखने का प्रयास क्यों नहीं कर दिया? जिससे सब पहेलियाँ कब की अपने आप सुलझ जातीं। इसके अभाव का मुख्य कारण यह है कि तब से लेकर अबतक के किसी भी विद्वान् ने ऐसे महा जटिल कार्य को प्रस्तुत करने की योग्यता और सामर्थ्य नहीं दिखलाई, क्योंकि इसमें अखिल वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन चिन्तन और मन्थन की महती आवश्यकता है, फिर उन सबका एक सामञ्जस्यपूर्ण निचोड़ सा नवनीत सामने रखने का विकट कार्य करना है। पर यह परम आवश्यक और उत्तरदायित्व का कार्य है जिसके भार को सम्हालने का साहस न कर, उलटे अंडवंड टीका टिप्पणियों से वेदों पर आघात पर आघात; चोट पर चोट और उन चोटों पर नमक सा छिड़कने का काम करके सबने अपनी अपनी निम्नधरातल की स्वाभाविक प्रवृत्ति मात्र का परिचय सा दिया है, भले ही उन्होंने ये काम सत्य की खोजें समझ ली हों, फल तो यही हुआ, चारों ओर अन्धकार ही छाया रह गया।

वेदों का वास्तविक अर्थ सबसे पहले वेद-मन्त्रों को श्रृङ्गग्राहिकया परस्पर आमने-सामने जुझाते हुए बिठाकर, और उनकी तुलना से ही बुद्धिगम्य हो जाता है। दूसरा इनकी सबसे निकटतम, सर्वप्राचीन, सर्वप्रामाणिक और स्पष्टतम व्याख्यायें तो स्वयं वेदों के भाग ब्राह्मण ग्रन्थों में (जिनके अन्तिम भागों को आरण्यक और उपनिषद् कहते हैं) ही स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। जो कुछ इनसे स्पष्ट नहीं हो पाता उन सबका विश्लेषण हमारे पुराणाचार्यों ने पुराणों की भाषा और शैली से पूर्णतः प्रतिपादित कर रखा है। पर वेदों के जो कोई भी व्याख्याकार हों—चाहे वे प्राचीन निरुक्त सम्प्रदाय के अनुयायी वार्ष्यायणि यास्क प्रभृति हों या मध्ययुगीय सायणादि अथवा अर्वाचीन पौर्वात्य और पाश्चात्य—सबों ने उक्त वेदार्थ विषयक प्रामाणिक सामग्री को पृथक् ताक में रखकर, अपने-अपने युग की लौकिक भावनाओं को वेदों में वर्णित समझ कर तदनुकूल अटकलबाजियों के द्वारा वेदों के साथ जो महान् अन्याय किया है वह अब किसी से छिपा नहीं रह गया है। उधर मीमांसामार्गी श्रोत्रियों ने वेदार्थ की कभी भी चिन्ता ही नहीं की, वे वेद-मन्त्रों के प्रयोग मात्र के विधानों में ही उलझे रह गये। उक्त अन्धयुग के पश्चात् यास्क से बहुत पहले ही, इसीलिए वेदार्थ चिन्तन की पद्धति के कई सम्प्रदाय बन गये थे जिनका विवरण मेरे वैदिक विश्वदर्शन के पृष्ठ ११ में अङ्कित मिलेगा। साम्प्रदायिकता ने इनके प्रयासों को यद्यपि विफलता में परिणत कर दिया है। यह सब होते हुए भी हम इन सबके युगयुग तक ऋणी रहेंगे क्योंकि इनमें से प्राचीनों ने कम से कम वेदार्थ के मार्ग की स्थापना का महान् श्रेयस्कर कार्य किया है, और अर्वाचीनों ने इस मार्ग में प्रत्येक पीढ़ी में प्रकाशदीप जलाये रखा। यह मार्ग एक न एक दिन अपने यथार्थ लक्ष्य तक अवश्यमेव पहुँचकर ही रहेगा। यह भूला हुआ मार्ग है, धीरे-धीरे पीढ़ी दर पीढ़ी के योग्य विद्वानों की तपस्या इस लक्ष्य को प्राप्त करके ही सांस लेगी।

इन्हीं सब विषम समस्याओं का अनुभव करके लेखक ने उक्त जटिल उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेकर समस्त वैदिक वाङ्मय के मन्थन के द्वारा उसके पूर्ण दर्शन की वही अलौकिक रूप रेखा प्रस्तुत कर दी है जो वैदिक महर्षियों की आँखों के सामने प्रतिक्षण नाचा करती थी, और यह वैदिक विश्वदर्शन तृतीय खण्ड 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' के नाम से पुकारा गया है। यह वैदिक महर्षियों के दर्शन का सार, रस और अमृत है। इसके ही एक भाग को 'वैदिक योग सूत्र' नाम से पुकारा गया है। यह वेदों का प्रधान विषय है जिससे यह प्राथमिकता के योग्य है, वैसे रूपरेखा वाला तृतीय खण्ड, ज्ञान मार्ग के लिए प्राथमिकता रखता है। वेद सर्वयज्ञमय है। यज्ञ मुख्यतः पांच हैं, उनमें से तीन अत्यन्त आवश्यक तथा ज्ञातव्य हैं। वे हैं (१) योग यज्ञ (२) तपोयज्ञ या सृष्टियज्ञ और (३) द्रव्य यज्ञ। इनमें से प्रथम दो के कर्ताओं को (४) ज्ञानयज्ञ और अन्तिम के अनुयायिओं

को (५) स्वाध्याय यज्ञ (वेद कण्ठ) करने का स्वाभाविक अधिकार रहा। अतः एक तीसरा ग्रन्थ भी, द्रव्य-यज्ञ-परक होना चाहिए था। पर इस पर तो हमारे सैकड़ों श्रोत्रियों के अनेकों सूत्र ग्रन्थ लिखे हैं और इन्हीं के अनुसरण के कारण अन्धयुग के आचार्यों के ग्रन्थों का अचार लोगों को मीठा लगने से ही प्रायः वेदार्थ के क्षेत्र में आज तक इतना महान् अनर्थ हुआ है। वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों की दार्शनिक व्याख्या के एक ग्रन्थ की तुरन्त आवश्यकता है। समय मिलने पर इसका प्रणयन पृथक् रूप से अवश्य किया जावेगा। वैसे मेरे ग्रन्थों में यत्र तत्र इन पर बहुत कुछ विचार अवश्य किया हुआ मिलेगा, पढ़ लीजिये। इस ग्रन्थ का प्रणयन उसी पथ प्रदर्शक ग्रन्थ के अभाव की क्षति पूर्त्यर्थ किया गया है, जिनके विना वेदों के उद्धार का कोई दूसरा मार्ग सूझ में ही नहीं उतरता। इसमें मुख्यतः योग यज्ञ और सृष्टि यज्ञ के ज्ञान यज्ञ का आह्वान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'वैदिक योग सूत्र' या 'वैदिक योगदर्शन' को मूलतया संस्कृत के सूत्रों में प्रस्तुत किया गया है। ये सूत्र या तो वेदों के पूरे या आधे या एक भाग रूप मंत्र हैं या ब्राह्मणों या उपनिषदों अथवा गीता के उद्धृतांश हैं। जिसका जितना भाग उद्धृत है उसे वन्द कोष्ठों में रखा गया है और कहीं कहीं आदि और अन्त में वाक्य मिलाने के लिए कुछ शब्द लेखक ने जोड़ रखे हैं। जहां मंत्र या अन्य ग्रन्थों के अवतरण अवसरानुकूल नहीं बैठ सके वहां लेखक ने उनका भाव लेकर अपनी भाषा में सूत्र बना दिया है। प्रत्येक उद्धरण और अवतरण को जहां से लिया गया है उसका पूरा विवरण साथ साथ दे दिया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लेखक का अपना कोई नया विषय नहीं है, जो कुछ है वह मात्र वेदों का अपना है। इसमें लेखक की मौलिकता का विषय केवल इतना ही है कि इनके विच्छिन्न विषयों को बीन बीन कर उन्हें एक ऐसे तारतम्य और सामञ्जस्य से पिरो कर रखना है जिससे इसको ठीक वही स्वरूप प्राप्त हो जावे जो वैदिक महर्षियों की आँखों के सामने था जिसके बारे में भगवान् कृष्ण ने गीता में लिख भी दिया था 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'। पर इतना ही सब कुछ नहीं है। इस प्रयत्न से इसमें सैकड़ों छिपे रहस्यों और सिद्धान्तों का उद्घाटन, अनेकों पहेलियों का उचित विवेचन, नाना नवीन विषयों की खोजों का पुट और अनन्त मौलिक ज्ञान दीपकों का प्रकाश देकर, उनसे ग्रन्थको आदिसे लेकर अन्त तक ओत प्रोत करके इसे वास्तव में सच्चा पथप्रदर्शक होने के योग्य बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है।

इन सूत्र ग्रन्थों के निर्माण के पश्चात् समस्या सामने आई कि बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे ? कैसी बांधे ? यदि संस्कृत में भाष्य लिखा जाता तो पढ़ने वाला वर्ग केवल पंडित समुदाय मिलता जो न तो नई पुस्तकों को पढ़ने का आदी या अभ्यस्त ही है, ना ही निष्पक्ष विचार या आचार का। प्रत्युत यदि यह

वर्ग इसको अपना भी लेता तो इसकी आगे चलकर वैसी ही साम्प्रदायिक और वैयक्तिक विचार धारा प्रवाहवाही व्याख्याओं का ताँता लगने लगता जैसा कि गीता और ब्रह्मसूत्र प्रभृति ग्रन्थों का लगा है। क्योंकि ये ब्रह्मसूत्र भी तो योगसूत्र ही हैं। इन सबसे बचने के लिए यही निश्चय किया गया कि इनका भाष्य भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा संसार की विश्वभाषा अंग्रेजी दोनों में किया जाय जिनमें पढ़ने वाले विद्वान् अधिक हैं, और साथ में निष्पक्ष विचार धारा के ही अधिक होते भी हैं तथा वे विद्या और विद्वत्ता दोनों का यथोचित समादर और प्रतिष्ठा करने और देने के अभ्यस्त भी होते हैं। परन्तु इन व्याख्याओं का यह तात्पर्य यह नहीं है कि मूल सूत्र भाग को अलग कर दिया जावे। नहीं। इन व्याख्याओं को पढ़ते समय इन मूल सूत्रों का सामने प्रस्तुत रहना कई कारणों से नितान्त अनिवार्य है। सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जिन मंत्रों या वेद वाक्यों को उद्धृत किया गया है उनका ठीक ठीक रहस्यात्मक भाव क्या है ? दूसरी बात यह है कि जो मंत्र या वाक्य जहां से लिया गया है उसका विवरण केवल मूलसूत्र ग्रन्थ में ही दिया गया है, इन व्याख्याओं में नहीं के बराबर। तीसरी बात यह है कि जिनमंत्रों में नई दृष्टि दी गई है वह इन दोनों के मिलान से ज्ञात हो सकेगी अन्यथा कदापि नहीं। अतः यह सूत्र ग्रन्थ इस पथ प्रदर्शक ग्रन्थ का भी पथ प्रदर्शक ग्रन्थ है।

सबसे बड़ी भारी समस्या तो यह है कि इस ग्रन्थ में वेदों के सम्बन्ध में एकदम एक ऐसे नये विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है जिसकी खोज आज पहली बार इसी ग्रन्थ में की हुई मिलेगी। यह नया विषय योग दर्शन है जो समस्त वेदों का प्रधान विषय होते हुए भी अब तक के किसी भी भाष्यानुवादादि लेखकों को कभी भी स्वप्न में भी नहीं दिखाई दिया। वेदों में इसकी सत्ता की आस्था का मानना ही उनके लिए टेढ़ी खीर है। यह अवश्य सत्य है कि वेदों के प्रत्येक मंत्र से उक्त तीन प्रधान यज्ञों के अनुरूप तीन अर्थ साकं उभड़ जाते हैं, पर ये व्याख्याकार केवल उसी द्रव्यपरक यज्ञार्थ के अनुयायी हैं जिनमें मंत्रों के अर्थों को बैठाने के लिए बड़ी भारी खींचातानी और लठैत ढंग की जबरदस्ती करनी पड़ती है, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण आगे चलकर १–४–३४ से ५३ के 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' और 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' की व्याख्याओं में दे दिए गये हैं। इसी जबरदस्ती से अर्थ भिड़ा भिड़ाकर व्याख्या करने वाले इन व्याख्यातारों से स्थल स्थल पर उबल उबल कर यह स्वीकार किए बिना नहीं रहा गया कि अमुक-अमुक मंत्र का, अमुक-अमुक शब्द या वाक्य या वाक्यांश या पूरे मंत्र या सूक्त का अर्थ बिलकुल अज्ञेय और दुरूह है या लगता ही नहीं। यह विषय का विरोधी पक्ष रूप पक्का प्रमाण है। इसका मुख्य कारण वही है जैसा पहले बताया जा चुका है कि वैदिक महर्षि वेदों में बाह्य जगत् की बातें ही नहीं करते, उन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसका साक्षात्सम्बन्ध मात्र अन्तर्जगत् से है। हां यह अन्तर्जगत् हमारी देह और

हमारे अखिल ब्रह्माण्ड दोनों का है। अतः उक्त उदाहरणों में अन्न भूत, यज्ञ तथा पर्जन्य तत्त्व सब अन्तर्जगत् के ही हैं। इनका वही अर्थ उचित रूप से दृष्टिगत भी होता है, बाह्य जगत् में इससे आकाश पाताल का अन्तर होने से कदापि भी नहीं। यहां पर एक बड़ी विशिष्ट बात पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इस अन्तर्जगत् में ही दो प्रकार की सृष्टियां होती हैं। (१) साधारण स्वाभाविक (२) असाधारण अस्वाभाविक सृष्टि जिसे अतिसृष्टि कहते हैं। इसी का नाम योग दर्शन है। यही वेदों का मुख्य विषय है, प्रथम सृष्टि इसके अधीन बनाई गई है। क्योंकि योगी कोई भी, किसी भी, कैसी भी नई सृष्टि, साधारण असाधारण दोनों को कर सकता है। जो इन विषयों से तनिक भी परिचित नहीं है उसे वेदों के एक भी मंत्र का अर्थ नहीं लग सकता, एक मंत्र ही क्यों एक शब्द का भी अर्थ नहीं लग सकता। क्योंकि प्रत्येक शब्द का चुनाव उसकी भाव गम्भीरता और पारिभाषिक अर्थता के आधार पर करके उसे मंत्र में स्थान दिया गया है। और यह इतना प्रधान विषय है और इसमें इतनी प्रधानता आरूढ है कि इसे जाने बिना आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। अब आप ही बतलाइए कितने हुए हैं ऐसे सच्चे व्याख्याता ? उत्तर में शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

अस्तु वेदों की सच्ची व्याख्या का प्रशस्त मार्ग खोलने के ही लिए इस ग्रन्थ को पथ प्रदर्शक रूप में सामने प्रस्तुत किया जा रहा है जिनके अध्ययन से जो कुछ यहां तक कहा गया है और जो सब कुछ शेष है वह सब जल की तरह अपने आप स्पष्ट हो जावेगा।

ग्रन्थ का नाम 'वैदिक योग सूत्र' रखा गया है। योग वेदों का प्रधान विषय रहा है, अतः इसको प्रथम स्थान दिया गया है। नहीं तो सबसे पहले वैदिक दर्शन की पूर्ण रूपरेखा वाले वैदिक विश्वदर्शन के तृतीय भाग 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' को प्रथम स्थान मिलना चाहिए था। यह अधिक अच्छा होगा यदि पाठक उसे ही पहले पढ़ लें तो उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ को समझने में अधिक सुविधा होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ में चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं, किसी किसी चौथे पाद को अ, आ, इ, ई नाम की अङ्गुलियों में विभक्त कर दिया गया है।

प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का नाम 'विद्वानों से विनय' रखा गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि वेदों के तीन अर्थों में से जो अर्थ द्रव्य यज्ञ में घटित होता है वह कोई नई या आज की बात तो नहीं है और यह तो वेदों को अमर बनाने, कंठ रखने, सद्भावना बनाने तथा साधारण जनता को सन्मार्ग में ले जाने का सर्वोत्तम मार्ग है। पर यह अर्थ उन ऋषियों को वस्तुतः कदापि अभीष्ट नहीं था जिन्होंने अपनी जीवनी खोकर इनका निर्माण किया था। इसके प्रमाण स्वयं ऋग्वेद में मिलते हैं, और उपनिषदों के युग तक इन यज्ञों के ब्रह्मा या संचालक या निर्देशक भी ऐसे ही ऋषि मुनि हुआ करते थे जो वेदों के

सच्चे अर्थों के ज्ञाता होते थे और वे इन याज्ञिकों की बोली बन्द किए रहते थे, उनके सामने इनकी दाल नहीं गल पाती थी। आज कल जो इसका अन्धाधुन्ध अनुकरण चल रहा है उसका मुख्य कारण आगे दिया जा रहा है।

दूसरी मुख्य बात जिसकी ओर कुछ विद्वानों का ध्यान अवश्य आकर्षित करना है वह यह है कि हम वेदों में एक उच्च कोटि की सभ्यता का विवेचन पाते हैं जिसमें परिपक्व भाषा—कारक समास काल अव्यय विभक्ति तद्धित अलंकार रस गुण सहित उच्चकोटि के दर्शन—योग शास्त्र, सृष्टि दर्शन, देवदर्शन, उच्चकोटि के साहित्य—वैदिक समस्त वाङ्मय, ज्योतिष, व्याकरण, गणित, भूगोल खगोल वास्तु शिल्प विद्या प्रभृति सब कुछ आ जाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि ऐसे अलौकिक वाङ्मय की पृष्ठ भूमि का साहित्य किस आकार प्रकार का रहा होगा ? क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य होते नहीं दीखता, न पृष्ठ भूमि बिना कोई साहित्य ही कभी खड़ा हो सकता है। यदि हम शान्तिपूर्वक व्यक्तिगत दुःसंस्कार हीन भावना से विचार करें तो हमारे सामने इसके उत्तर में केवल यही एक उत्तर आकर उठ खड़ा होता है—'प्राचीन श्रुतियाँ'। वेदों के निर्माण के पहले इन वेदों का विषय 'प्राचीन श्रुतियों' के रूप में तत्कालीन आर्यजनजनता के हृदय सागरों में उत्तुङ्ग थपेड़े मारती रहीं। उन्होंने ही परिष्कृत रूप लेकर वेदों का स्वरूप धारण किया, इसी कारण वेदों का नाम 'श्रुतियाँ' भी है, क्योंकि ये सचमुच में प्राचीनतम आर्य सभ्यता की सच्ची श्रुतियाँ ही हैं। वेदों के निर्माण के पश्चात् एक तो कई वेद मंत्र दुरूह से होने लगे, कई शब्दों के अर्थ भुलाये जाने या बदलने लगे, गाथायें भी कालग्रस्त होती सी दीखने लगीं तो महर्षियों ने इन सब की सुरक्षा के निमित्त ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हीं प्राचीनतम श्रुतियों को बटोर बटोर कर उनके सहारे से दुरूह वैदिक मंत्रों, परिवर्तितार्थ वैदिक शब्दों तथा अर्द्धग्रस्त गाथाओं की परिपूर्ण व्याख्या कर दी। इसके यह माने होते हैं कि हम बिना इनकी प्रामाणिकता की मशाल हाथ में लिए, वेदों के उचितार्थ पाने की आशा नहीं रख सकते। दूसरे शब्दों में जो संहिताओं में है वही इन ब्राह्मणों में भी है; जो एक में संक्षेप या संकेत में है वह दूसरे में विस्तार और सप्रमाण है। इसीलिए इन्हें अभिन्नाङ्ग या 'मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः' कहा है। ये भी वेद ही है, ये अधिक स्पष्ट वेद हैं। अतः जिन लोगों ने वेदों की व्याख्या में इन ब्राह्मण ग्रन्थों को बिरा कर अन्य गर्हित स्रोतों का सहारा लिया है उन्होंने तो इस सर्वाङ्गीण वेद पुरुष की हत्या कर दी, इनके सिर और धड़ काट कर अलग फेंक दिए, आत्मा और शरीर का विच्छेद कर दिया। क्योंकि ब्राह्मण नाम पति और ब्रह्म का है, ये पति हैं, संहितायें पत्नियाँ हैं। पति आत्मा या ब्रह्म ही होता है, पत्नी शरीर। और ऐसे लोगों ने ऐसे ही निर्जीव की व्याख्या की, उनकी व्याख्या भी स्वतः निर्जीव या मुर्दा हो गई है। ठीक यही स्थिति उन सब उपनिषदों

की है जो इन ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग या एकाङ्गी वेदों के वेदान्त कहलाते हैं। उनमें संहिताओं और ब्राह्मणों में आये विषयों के सार के अतिरिक्त इनके लेखकों का जोड़ा कोई भी किसी भी प्रकार का नवीन विषय कतई है ही नहीं। इन्होंने भी संहिताओं की तरह कोरे कर्मकाण्डी अर्थानुयायियों को उनसे भी बढ़कर अधिक कड़ुवी भाषा में लताड़ें या फटकारें सुनाई हैं। और इन्होंने स्वयं घोषणा की है कि वे जो कुछ कह रहे हैं वह सब कुछ वही है जो उन्होंने अपने पूर्वजों से सुना था, (पर अपना कुछ नहीं)। इससे अधिक सत्य प्रमाण और हो ही क्या सकता है।

इस अध्याय के द्वितीय पाद में भारत में वेदों से लेकर पुराणों तक सब में योग दर्शन की क्रमिक परम्परा का वर्णन दिया गया है। तृतीय पाद उस भयंकर घटना का वर्णन देता है जिससे वेद विद्या के मन्दिर के द्वार अब तक के लिए बन्द पड़े मिल रहे हैं। इसका मुख्य कारण उपनिषदोत्तर युग में वैदिक युग के जैसे अनूचान शुश्रुवान्त्स ब्राह्मण देवताओं का नितान्त अभाव हो जाना था। इसकी सूचना छान्दोग्य बृहदारण्यक ने ब्राह्मणों में वेद विद्या की कमी हो जाने से उन्हें क्षत्र राजाओं से सीखने को विवश बताने से दी है। इसका समर्थन गीता ने भी किया है, साथ में यह भी लिखा है कि विद्या अनन्त काल से नष्ट हो गई थी, इसी को अन्य धर्म ग्रन्थों ने भी दुहराया है। इस युग का नाम अन्धयुग या घोर अन्धयुग है जो अबतक चलता चला आ रहा है। चौथे पाद में उक्त घोर अन्धकार के युग ने पारिभाषिक शब्दों का अर्थ साधारण बोल चाल में प्रयुक्त अर्थ में घटित करके अपने को तो ठगा ही, आगे की पीढ़ी के विद्वानों को ठगने वाला महा ठग बनने का वर्णन है। ये लोग यास्क से लेकर अबतक अन्धकार में ही टटोलते आ रहे हैं। इसके साथ वही भद्रा भी लगी है, द्रव्य परक यज्ञार्थ के अनुसरण की प्रवृत्ति की भद्रा, जिसके लिए इस वर्ग को वैदिक महर्षियों, औपनिषदिक योगियों और गीता के योगीश्वर के मुख से कठोर आलोचनाएं सहन करनी पड़ती रहीं। इस अन्ध युग ने एक अपशकुन का आरम्भ कर दिया, उसका सुधार करने के स्थान में अनुसरण करके उत्तरोत्तर की, अनर्गल खोज रूपी उन्नतियाँ उत्तरोत्तर बिगाड़ करती आ रही हैं। इस विषय को ग्रन्थ में सोदाहरण समझा दिया गया है। इसके पश्चात् कुछ मुख्य देवताओं के सम्बन्ध की गलत फहमियों को दूर करने की चेष्टा की गई है जिससे लोग अपनी भूलों को समझने में समर्थ हो सकें। अन्त में वेदों के ईश्वर ईश ईशान उप नामक और पूषा नामक देवता से ईशावास्य की तरह प्रार्थना की गई है कि तुम वेदों के ऊपर छाये इन महान् परतों या पर्दों को चीर फाड़ कर दूर करके पुनः उन वेदों की ज्योति के अलौकिक दर्शन करा दो। यही 'विद्वानों से भी विनय' है।

दूसरे अध्याय से ग्रन्थ के वास्तविक, वैदिक योग दर्शन की व्याख्या का आरम्भ

होता है। इसके प्रथम पाद में तीनों यज्ञों में प्रचलित एक ही पारिभाषिक पदावली के विवेचन से प्रारम्भ किया गया है। इस ज्ञान के अभाव से लोगों में पारिभाषिक शब्दों का अनर्थ करने का साम्राज्य स्थापित कर लिया है। यह हमारे अन्धयुग की महती देन है। इसमें उस तथ्य के स्पष्ट उद्धरण दिए गये हैं जिनमें वैदिक महर्षियों ने स्वयं कहा है कि मैंने अमुक अमुक देव को अपनी योग की दृष्टि से साक्षात् देखा। इसके पश्चात् वेदों में वर्णित उस अन्तर्जगत् के यज्ञ का विवेचन दिया गया है जिसका विविध विवेचन अनेक उपनिषदों में तदनुरूप प्राप्त होता है। इसके साथ साथ पुष्ट्यर्थ वैदिक मंत्रों को भी उद्धृत कर दिया है। अन्त में इस तथ्य के सत्य प्रमाण वेदों से उद्धृत किए गये हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस वैदिक युग में योग दर्शन पूर्ण रूप से विकसित था और सर्वत्र प्रयुक्त या ज्ञात था, तथा वेदों में तो यही एक विषय है जिसे उनका मुख्य या प्रधान विषय कहा जा सकता है, और वेदों में ऋषि मुनि योगी यति योग क्षेम सबका वर्णन प्राप्त है।

द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में हिन्दूधर्म में प्रसिद्ध देवता ब्रह्मा विष्णु रुद्र की व्याख्या सिद्धान्ततः इस लिए सर्व प्रथम दी गई है कि अभी तक लोगों को पता ही नहीं हैकि ये देवता मुख्यतः योग शास्त्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। इनके लिए वेदों में जो जो नाम आते हैं उनकी वास्तविक व्याख्या के साथ साथ, वेदों में जिन देवताओं से इनका तादात्म्य है उस विषय पर भी प्रशस्त प्रकाश वैदिक मंत्रों के उद्धरणों के सहारे डाला गया है। इसकी पुष्टि में ब्राह्मणों उपनिषदों गीता और पुराणादिकों के उल्लेखों को भी स्थान दिया गया है। तृतीय पाद में योग शास्त्र में प्रसिद्ध योग निद्रा का विवेचन दिया गया है। इसके साथ महा सुपर्ण, नाडी योग, तथा अनेक अन्य सम्बद्ध विषयों—जैसे कौन तत्त्व सदा जाग्रत रहता है, कौन सुषुप्त रहता है, उन्हें किस नाम से पुकारते हैं ?—का भी पूर्ण वर्णन इसमें आ गया है। इसका चौथा पाद तीन उपभागों का, अ आ ई में विभक्त है। इसके प्रथम उपभाग (अ) में उन वेद प्रसिद्ध देवताओं का विवेचन उनके कार्यों के अनुसार दिया गया है जिन्हें निरन्तर योगरत कहा जाता है। इसमें इनकी आत्माओं और शरीरों का विवेचन भी आवश्यकतया आ गया है। साथ साथ तीन प्रकार की वाक् उसके सिद्धान्त उसके फल उसके अधिष्ठाता देवता प्रभृति के वर्णन द्वारा कई भ्रान्तियों को दूर करने का अभीष्ट प्रयास किया गया है। इसके द्वितीय उपभाग (आ) में वेदों में प्रसिद्ध तत्त्व प्राण की विवेचना जिन नाना रूपों में पाई जाती है उन सबका एक सामूहिक विवेचन इसलिए अनिवार्यतया दिया गया है कि योगदर्शन में ये मुख्य और प्रथम तत्त्व हैं। यहां तक कि इनके विना योग हो ही नहीं सकता। अतः इनका उचित और सम्पूर्ण ज्ञान प्राथमिकता रखता है। इनके विवेचन में इनके अधिष्ठाता देवताओं का विवेचन भी अनिवार्य है। अतः उसका भी यहां पर वर्णन दे दिया गया है। कई देवताओं को इन्हीं

के कारण त्रिनेत्र चतुर्मुख पञ्चमुख आदि भी कहा जाता है, उन नामों की व्याख्या भी यहां साथ साथ सन्दर्भ के कारण दे दी गई है। इसके अन्तिम भाग (ई) में योगशास्त्र में प्रसिद्ध कुण्डलिनी योग की शास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्या दे दी गई है जिसमें दैवासुरी प्राणों के द्विमुख सर्प को कुण्डलाकार रूप में प्रस्तुत कर के आसुरी मुख के तेल बत्ती को दैवीमुख की ज्योति से जगमग जलाया जाता है। इस प्रक्रिया से आसुरी भौतिक शरीर इतना हल्का हो जाता है कि योगी अपने आप आसन छोड़ ऊपर की ओर आकाश में निराधार स्थित हो जाता है। योग की यह एक महान् प्रक्रिया है।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में 'योगमाया' की व्याख्या है। 'योगमाया' नाम देवासुर संग्राम का है। यह संग्राम हमारे या ब्रह्माण्ड के अन्तर्जगत् में होता है, बाहर किसी रणभूमि में नहीं। मायी नाम इन्द्र का है, इन्द्र महायोगी है। अतः उसका युद्ध योग प्रक्रिया साधन में बाधकरूप में प्रस्तुत होने वाले आसुरी तत्त्वों के साथ होता है। इस विषय के विवेचन से वेदों का आधे से अधिक भाग भरा हुआ है। इसके द्वितीय पाद में इन दोनों तत्त्वों देवों और असुरों का विवेचन पूर्णतः दिया गया है। साथ में असुरों के जो नाम इन्द्र के साथ युद्ध करने के लिए वर्णित हैं उनका जिन जिन तत्त्वों से वास्तविक सम्बन्ध है यह भी सव्युत्पत्तिक प्रस्तुत किया गया है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि ये पृथक् शरीर के स्वतन्त्र विचरण करने वाले सांसारिक जीवों के समान प्राणी नहीं हैं। एक ही शरीर के विभिन्न अङ्ग हैं। असुर तो भौतिक अङ्ग हैं और देवता उनकी शक्तियां या ज्योतियां या आत्मायें। इनमें प्रथम स्वभावतः स्थूलता के कारण भी बहिर्मुख हैं, द्वितीय अन्तर्मुख। दोनों अपने अपने मुख की ओर जोर लगाते हैं, यही देवासुर द्वन्द्व है। देववर्ग असुर वर्ग के शरीर के किले कारागार या गुहा में बन्द रहता है। अतः इन दोनों के मध्यस्थ प्राणोदानादि पञ्च प्राणों द्वारा इन्हीं किलों को तोड़कर योगी उन देवताओं को नवीन जन्म सा देता है। सम्पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड इन्हीं असुरों के शरीरों का एक बड़ा किला है। अन्त में इन सबको ठिकाने लगाने वाले इन्द्र का जो वास्तविक रहस्य वेदों के अनुकूल उपलब्ध होता है उसका विवेचन दिया गया है। इन देवासुरों के जो नाम वेदों में पाये जाते हैं वे ऐतिहासिक भी हैं, पर जातिवाचक रूप में गृहीत हैं, व्यक्तिरूप में नहीं। ये समय समय की जातियों के पीड़कों और उद्धारकों के नाम हैं जिनको इस प्रकार चुना गया है कि उनकी व्युत्पत्ति दर्शन व्याख्या में ठीक ढल जाय। अतः उनके नाम दर्शनानुरूप रखने के लिए बदल भी दिए गये तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके तीसरे पाद में सोमतत्त्व की व्याख्या और महिमा जैसी वेदों में गाई गई है उसका विवेचन इस लिए सर्वप्रथम दिया गया है कि विद्वानों में इसके बारे में जो बड़ी भारी भ्रान्तियां फैली हुई हैं वे अपने आप समूल उखड़ कर दूर उड़ जावें। लोग नशीली मादक वस्तुओं को सोम मान कर देव तत्त्व की बड़ी भारी अवहेलना करते आ रहे हैं। भई सोम तो सर्वोच्च

देवता है, क्या सर्वोच्च देवता ही ऐसी नशीली वस्तु हो भी सकती है ? क्या वैदिक आर्य इतने बेवकूफ थे ? यह कोई सोच भी नहीं देता। सोम देवता का नशा कुछ और ही है, उसी का इसमें पूर्ण विवेचन है। इसका चतुर्थ पाद फिर दो भागों में (अ आ) में विभक्त है। इसके प्रथम भाग (अ) में 'सोमपान' वास्तव में क्या है ? इसका योगमय पूर्ण विवेचन दिया गया है। यह सोम विष्णु की ज्योति का क्षीरसागर है जिसकी उद्दीप्ति योगी प्राणों की नाना प्रकार की संयमनकारी प्रणाली से कर लेता है। जब वह धूममय शुक्लज्योति के क्षीर सागर को बूंद बूंद रूप में प्राणों के भपके से टपका कर पूरा घड़ा (कलश अन्तर्जगत्) भर लेता है तो मनोरूप ब्रह्मा या इन्द्र उसी में गोता खा जाता है। इसी का नाम सोमपान है। यह योग का सोमपान है, सृष्टि का सोमपान भौतिकामृत शरीर पीना या पाना है। इस प्रकार की ज्योति के सागर की उद्दीप्ति के साथ साथ जितने भी देवता उन आसुरी प्राणों के पञ्जे में किले में कारागार या गुहा में बन्द थे वे स्वयं उन्हें प्रकाश से गले ढले घुले धुले पाकर उन इन्द्र ब्रह्मा मन विष्णु सोम के सामने एकत्र हो जाते हैं। सभी सोमसागर में मस्त हो जाते हैं। इस प्रकार योगी इन सब देवताओं को एक नवीन जन्म दे देता है, अतः अपने पिताओं का पिता या पितर कहा जाता है 'स पितुष्पिता सत्' 'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्'। इसके दूसरे भाग (आ) में ऋग्वेद में वर्णित सोमपान की दिव्य मादकता का जैसा अलौकिक वर्णन उपलब्ध होता है उसे तद्वत् दे दिया गया है। इसके अनुसार सोमपान करने वाले योगी के सामने इस अखिल ब्रह्माण्ड का पूर्ण साम्राज्य और इसके अर्व खर्व तक की अनन्त धन सम्पत्तियाँ सुखभोग ऐश्वर्यादि शून्य के बराबर भी नहीं, कुछ हैं ही नहीं, मादक वस्तुओं की तो बातें ही मत कीजिए।

चौथे अध्यायमें उस योग का वर्णन है जो इस शरीर को त्यागने के पश्चात् किया जाता है। यह ऐसा अलौकिक योग है जिसका विवेचन तो वेदादिक ग्रन्थों में प्रशस्त रूप से प्राप्त है पर उससे शायद ही कोई परिचित हो। ऐसा कोई नहीं दीखता जिसने इसके इस स्वरूप के बारे में कभी स्वप्न में भी सोचा या समझा हो। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ सोम योग के पश्चात् होता है। इस योग को सभी नहीं कर सकते। इसकी योग्यता या पात्रता केवल उन्हीं योगियों में से किसी दो चार में हो सकती है जिसने या जिन्होंने आजीवन योगाभ्यास द्वारा अपने शुभाशुभ ज्ञाताज्ञात कर्मों का सन्तुलन सिद्ध कर लिया हो। भारत में सर्वत्र लौकिक योग की चर्चा सुनने में आती है पर इसकी चर्चा आपको सम्भवतः इसी ग्रन्थ से पूर्णतः मिल रही होगी। अन्य देशों में लौकिक योग का ही अभाव है तो इसकी बात ही कहाँ से उठ सकती है। इसका विवेचन ऋग्वेद में बहुत अधिक ही नहीं वरन् बहुत व्यापक और रमणीय ढंग से व्याख्यात भी है। आपको विदित होना चाहिए कि वेदादिकों में योग के दो प्रसिद्ध मार्गों का विवेचन दिया हुआ मिलता है जिनमें से एक तो सोमयोग का मार्ग है जिसे दक्षिणायन कहते हैं,

दूसरा अग्नियोग का मार्ग है जो उत्तरायण के नाम से प्रसिद्ध है। इसी दूसरे उत्तरायणीय अग्निज्योतिर्मय योग की सिद्धि मृत्यु के पश्चात् की जाती है। इसका विवेचन देने के पहले हमें इस मार्ग में मिलने वाले भयंकर रोड़ों को दूर कर देना चाहिए। अतः इसके प्रथम पाद में इस मार्ग से निकटतया सम्बद्ध कुछ पारिभाषिक पदों पर प्रकाश डाल देना परम आवश्यक रहा। ऐसे शब्द वसु, रत्न, रा, रयि, रायः, धेनु, प्राणा, ब्रह्मचर्य, ब्रह्म, दक्षिणा और मंत्र हैं जिनके बारे में अनेक भ्रान्तियाँ मिलती हैं। रत्न नाम देवताओं का है। अग्नि को रत्नधातम और सरस्वती के स्तन को रत्नधा तथा वसुविद् कहा गया है। महर्षि मार्कण्डेय ने महासरस्वती के वर्णन में लिखा है कि सब देवता उसके स्तन में समा गये। इसके माने यही हुए कि 'रत्नधा' माने 'देवधा' है। उधर समुद्र मन्थन से भी सोम सूर्य प्रभृति देवताओं की 'रत्न' रूप में उत्पत्ति बतलाई गई है। अतः स्वतः स्पष्ट है कि रत्न के माने देव या देवता ही होता है। इसी प्रकार यज्ञ की 'दक्षिणा' का प्रश्न है। योगी को योग यज्ञ की सिद्धि की दक्षिणा में गौ वस्त्र हिरण्य अश्व मिलते हैं। ये अमृत प्राण, सोम ज्योति, अग्नि ज्योति और प्राणोदान (चेतना) रूप तत्त्व हैं जिन्हें योगी पा जाता है। द्रव्य यज्ञ में इनके बदले में लौकिक गौ वस्त्र हिरण्य और अश्व दिए जाते हैं। दक्षिणा का अर्थ दक्षिणायन के योग से उपलब्ध सिद्धि है, और कुछ नहीं। यह भ्रम मिट जाना आवश्यक है। इसी प्रकार 'मंत्र' शब्द की पहेली है। मन्त्र का साक्षात्सम्बन्ध मन मनन या योग से है। योगी योग से जिस चित्र की अनुभूति करता है वही चित्र वास्तविक मंत्र है, सत्य है। जब वह उस अनुभूत्यात्मक चित्र को अपनी वेद वाणी में निबद्ध करता है तब वह लौकिक मंत्र हो जाता है। यह भी सत्यानुभूति का विवेचन होने से नित्य और सत्य तथ्य या तत्त्व है या अमृत रूप वेद या ज्ञान या ज्ञानानुभूति है। पर वास्तविक मन्त्र तो आभ्यन्तरानुभूति मात्र का नाम है। इसी प्रकार द्यावा पृथिवी दोनों सवत्सा कामधेनु हैं, अकेले अकेले केवल धेनु। अदिति उभयात्मकी धेनु है। ये सब अमृत और आभ्यन्तर जगत के तत्त्व हैं, बाह्य जगत् के नहीं। इसी प्रकार अन्य शब्दों या तत्त्वों की विवेचना दी गई है। इसके द्वितीय पाद में पुनः उत्तरायण के योग मार्ग से भली भांति परिचित कराने के लिए इसके तीन मुख्य पदों या (गायत्री के) पादों और २४ तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन देना परम आवश्यक हो गया। बिना इन सीढ़ियों और इनके अधिष्ठाताओं को जाने, इस मार्ग में जाने की सुविधा नहीं हो सकती। इसका विस्तृत विवेचन वैदिक ब्रह्मसूत्र के द्वितीय तृतीय चतुर्थ अध्यायों में मिल सकेगा।

अब तृतीय पाद में उक्त अद्भुत योग का वर्णन प्रारम्भ किया गया है। इस योग का नाम मोक्ष योग या 'अग्निज्योतिः' योग है। इसकी साधना मृत्यु या शरीर त्याग के पश्चात् योगी की आत्मायें करती हैं। इस योग को प्रारम्भ करने

के लिए योगी को पहले शरीर त्याग का योग करना पड़ता है। उसे आत्मा को उत्तरारणि और प्राणों के शरीर को अधरारणि बनाकर उनकी रगड़ से अग्नि ज्योति को उत्पन्न कर उससे विस्फोट पैदा करके अपने ब्रह्माण्ड का भेदन करते हुए उन दोनों को अखिल ब्रह्माण्ड के अन्तर्जगत् में प्रवेश पाने के लिए पंछी (सुपर्ण) की तरह उड़कर चला जाना पड़ता है। इस प्रकार वह यहाँ पर इस शरीर के बन्धन से तो मुक्त हो जाता है पर उसके अभी अखिल ब्रह्माण्ड की कई तारों की अदृश्य जंजीरें जकड़ी हुई हैं, उन्हें भी उसे एक एक करके काटना या तोड़ना ही पड़ेगा, जिसके लिए उसे नये सिरे से नये ढंग से पुनः पूर्ण मोक्ष के हेतु नया योग करना ही पड़ता है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से लिखा है जिस योगी ने सर्व प्रथम इस उत्तरायण नामक योग करने के लिए अपना शरीर त्यागा जो शहीद बना था उसका नाम 'यम' था। उत्तर काल में योग कर्ता तत्त्व मुख्य प्राणा का ही नाम 'यम' देवता या पितर रख दिया गया। यह मुख्य प्राण हमारे शरीर में यम या यमल रूप में रहता है जिसमें से यम आत्मा है यमी शरीर। इन दोनों को वेदों में पुन अग्नीन्द्र या इन्द्राग्नी का यम या यमल कहा है। यम का पूरा इतिहास सुनने में लौकिक सा लगता है, पर यह है पूरा दार्शनिक। इसकी माता सरण्यू सरणशीला सृष्टि कारिणी भौतिकात्मा है, वह त्वष्टा (वाक्) की पुत्री है, विवस्वान् (आदित्य) की पत्नी। यमयमी की उत्पत्ति के अनन्तर यम ने यमी से विवाह करना इसलिए मना कर दिया कि उसे योग करके पूर्ण मोक्ष प्राप्त करना था। तब सरण्यू सवर्णा को अपने स्थान में रख कर अश्वी बन के भागी तो आदित्य भी अश्व बन कर साथ लग गया, जिनसे अश्विनौ या दैवी प्राण उत्पन्न हुए, उधर सवर्णा में मनु। इन्ही दो–अश्विनौ और मनु (तथा प्राण) के द्वारा वर्तमान सृष्टि की रचना हुई। सरण्यू के तीन रूप वाक् आपः अदिति के हैं।

यम को इस योग की साधना पर पग रखते ही सबसे पहले जातवेदा अग्नि के क्षेत्र में उतरना पड़ता है। उसके पश्चात् उसे अतिथि नामक अग्नि को उद्बोधित करके उसके क्षेत्र में प्रवेश पाना पड़ता है। यह सीढ़ी महान् विकट है। अतः इसे दुरोण या दुरोणषद् या दुरारोह डग कहते हैं। इस सीढ़ी को पार कर लेने पर उसे रुद्र और मरुत् प्राणों का विद्युन्मय क्षेत्र मिलता है। इसका नाम परिजात वेदा अग्नि है। जिस रुद्र को अग्नि कहते हैं वह यही रुद्र है, वह यही अग्नि भी है। इसके अनन्तर उसे नृग्णा अग्नि के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है, यह अग्नि प्रत्येक शरीर और ब्रह्माण्ड में अजस्र इन्धान या सदा धकधक जलती ही रहती है। यह वही अग्नि है जो द्यावा पृथिवी नामक ऋत तत्त्व से सर्व प्रथम जागृत होती है। अन्त में यह अग्नि उसी द्यावापृथिवी रूप

प्राणों के सागर में बुझ जाती है जहां 'हंसः शुचिषत्' आनन्द मग्न हो तैरता रहता है। इसी का नाम निर्वाण या बुझ जाना या ब्रह्मसागर में तदाकार या साकार हो जाना या परम मोक्ष है। सोम योग करने वाले योगी तो बार बार मृत्यु लोक में आते जाते रहते हैं, पर इस योग को करने वाले उक्त प्रकार से ब्रह्म में घुल मिल जाने के कारण वहां पहुँचकर फिर कभी वापस नहीं लौट सकते। यही 'गया' है, जो गया सो गया, वह गया, सदा के लिए गया। गया नाम गायत्री रूप प्राणों का है 'गयाः प्राणः, तत्र गायत्री' (छा० उप० ३-१२)

इस उत्तरायणीय योग के अनुष्ठाताओं में से दो अन्य का विशिष्ट वर्णन हमारे ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण तथा यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में दिया मिलता है जिन के विषय को विद्वान आज तक उचित रूप से नहीं समझ सके हैं। क्योंकि वे इस मार्ग से ही परिचित नहीं हैं, समझ में आता भी कैसे ? प्रथम व्यक्ति नचिकेता है, यह वाजश्रवा का पुत्र है, वह इस मध्यम पुत्र को मृत्यु को सौंपता है। उसे यम मिलता है जो उसे इस योग का ज्ञान देता है। यहां पर वाजश्रवा शरीर है, तीन पुत्र तीन मुख्य प्राण हैं, मध्यमपुत्र मध्यमप्राण है, उसे मृत्यु को देना उत्तरायण को सौंपना और योग से वाजश्रवा शरीर की मृत्यु है, जिसकी आत्मा नचिकेता यम से ज्ञान पाकर इस मोक्षयोग को पूरा कर लेता है। नचिकेता रूप आत्मा भी यहां जातवेदाग्नि है अतः उसे यम ने नचिकेताग्नि नाम से पुकारा है। इस नाम का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता ही है और वह भी यम के साथ ही। नचिकेता यम से अग्नि के ज्ञान का आग्रह ही इस लिए करता है कि इस उत्तरायण के योग मार्ग में जाने के लिए इसी अग्नि ज्योति के ज्ञान के सहारे आगे बढ़ा जा सकत है और इसी लिए इस योग का नाम ही अग्निज्योति है। उधर अजीगर्त ने भी तीन पुत्रों में से मध्यम को ही शुनःशेपः को ही मृत्यु को दिया है। यहां भी अजीगर्त शरीर है, तीन पुत्र तीन प्राण हैं। शुनःशेप नाम ही सार्थक है। वेदों में शुनः नाम इन्द्र या मध्यम प्राण का है। यही योग कर्ता होता है। यहां पर मृत्यु या शरीर की निष्प्राणता वाजश्रवा या अजीगर्त की है, नचिकेता और शुनः शेप तो अमर हैं, जीवित हैं, बातें कर रहे हैं, ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, प्रार्थनायें कर रहे हैं, योग में ही रत हैं, वे मरे कहां, प्राण नहीं मरते। शुनःशेप की वरुण पाश से मुक्ति अजीगर्त रूप शरीर से मुक्ति है। लोग उलटा समझते हैं कि वरुण पाश मुक्ति से शुनःशेप जी गया। वास्तव में वरुण पाश ही इस शरीर का मुख्य बन्धन है। जब तक यह बन्धन है तब तक इस स्थूल शरीर में प्राण बँधे रहते हैं, बन्धन टूटा नहीं, प्राण छूटा, दूर उड़ा। विद्वानों को इन गाथाओं ने बहुत बड़ा धोखा खिलाया है। अजीगर्त का अपने खड्ग से शुनःशेप को मारने को तत्पर होना एक बड़ी भारी बात है। खड्ग सदा ज्ञानाग्नि कहलाती है, विद्या ज्ञान का प्रतीक है (गीता ४-४२)। अजीगर्त ने अपने खड्ग से अपनी अविद्या को काटा

है, शरीरस्थ अविधा को छाँटा है तभी तो शुनःशेप योग कर सकेगा। अविद्या साथ गई तो कदापि नहीं। यह इस ग्रन्थ का संक्षिप्त विवरण है। शेष ग्रन्थ में ही देखने का कष्ट करें।

उक्त सम्पूर्ण आद्योपान्त विवेचन से यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान युग तक प्रचलित वेदों के अध्ययन का जैसा वातावरण छाया हुआ है उसके समूचे दृष्टि कोण को तुरन्त ही एकदम बदल देने की महती और प्राथमिक आवश्यकता है। और ऐसे आमूल चूल परिवर्तन के लिए एक बार पुनः समस्त वैदिक वाङ्मय की व्याख्या इस उचित योग्य और वैदिक महर्षियों की परम्परानुसार करने का कठिन प्रयास तुरन्त हाथ में लेने की अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसे कार्य को प्रारम्भ करने की ही दृष्टि से और पथ प्रदर्शक रूप ग्रन्थ सामने रखने के लिए भी, इस चौथे अध्याय के चौथे पाद में कुछ मुख्य और प्रसिद्ध जैसे 'अस्यवामस्य', 'पुरुषसूक्त' का वैदिक भाष्य हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में दिया जा रहा है। आशा है यह कार्य शुभ शकुन का सिद्ध होगा और योग्य विद्वान् अपनी संस्कृति के उद्धार के लिए तुरन्त जुट जावेंगे।

आपने देख लिया होगा कि इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय, पाद, भाग और पृष्ठों या पंक्तियों में सब नई नई ही बातें आई हैं। यह प्रस्तुत ग्रन्थ नवीन विषयों की खोजें सामने रखता है, नवीन मौलिक विषयों का प्रतिपादन करता है, नए ज्ञानों की नई नई ज्योतियाँ प्रदान करता है और अपनी प्राचीन खोई अमूल्य संस्कृति निधि को बटोर बटोर कर उनको उनके उचित रूप में प्रस्तुत करता है। अतः यह तो सोम की तरह 'नवो नवो भवति जायमानः' का उदाहरण सा कण कण रूप में नव नव रूप में आपके सामने एक अपूर्व रूप में या दिव्य रूप में प्रकाशमान होता आ रहा है। इसका समस्त वातावरण मौलिकता नवीनता दिव्य दृष्टि और अनन्त रत्नाकरता के रूप में दीपमालिका सम जगमगाता हुआ सामने रखा गया है। शेष पूरा ग्रन्थ आपके सामने है, व्यक्तिगत दु:संस्कारों से दूर हटकर निष्पक्ष भावना से इनका अध्ययन कर देने की अभ्यर्थना है। इनकी विशिष्टता बढ़ाने के जो उचित सुझाव विद्वानों से प्राप्त होंगे उन्हें कृतज्ञता पूर्वक सहर्ष स्वीकार किया जा सकेगा।

बी १/१२८।१८, डुमराव बाग
अस्सी, वाराणसी—५
जुलाई १९६४-६७

हरिशङ्कर जोशी

विषय सूची

---

१. विशेष—इस शीर्षक के अन्दर पृष्ठ १४ की अन्तिम पंक्ति से पहली पंक्ति के '···विभागों का।' वाक्य के पश्चात् पृष्ठ १७ के द्वितीय और तृतीय परिच्छेद–जो 'ऐसी उदात्त···' से प्रारम्भ होता है—पढ़े जाँय, तदनन्तर पृष्ठ १४ की अन्तिम पंक्ति से पहले—'और यह धारणा' इत्यादि वाक्य से पढ़ा जावे।

(३) उपनिषदों में ईश से लेकर महानारायण तक सभी में केवल योग ही प्रधान विषय है। (४) इनके क्रमशः उदाहरण। (५) गीता में भी इसी योग का वातावरण मुख्य है, उपनिषदों का ही सार भरा है। (६) इसके ११ वें अध्याय में अर्जुन को आत्म दर्शन देने के व्याज से योगानुभूति का साकार चित्र दिया गया है (७) कृष्ण उत्तरार्द्ध है, सारथि बुद्धि है, अर्जुन पूर्वार्द्ध (८) आत्मा शर है, अमृत धनुष, कृष्णमृग लक्ष्य है। (९) यही कृष्णार्जुन युद्ध भी है। (१०) गीता के तत्वों का दिया क्रम भी योग परक या उलटा ही क्रम है। (११) ब्रह्म ही वेद है, ऋषि वेदविद् हैं, वही वेद्य है (१२) वेद ब्रह्म ही सर्वयज्ञमय है। (१३) यह वेद वृक्ष भी है, ऊर्ध्वमूलमधःशाख वृक्ष है (१४) यही वातावरण अन्य पुराणादि धर्मग्रन्थों में भी है (१४) अतः आजकल की प्रचलित वेद व्याख्या प्रथा इस परम्परा की एकदम प्रतिकूल गामिनी होने से नितान्त हेय है।

अध्याय १ पाद ३ —(औपनिषद युग के पश्चात् की) एक महती दुर्घटना २४–३५

(१) उपनिषद् युग में ही खोज खोज कर अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण मिलते थे। उपनिषदोत्तर काल में उनका नितान्त अभाव हो गया। अतः गीता पुराणों और धर्मग्रन्थों ने बार बार स्मरण किया है कि यह वैदिक ज्ञान बहुत युगों से नष्ट हो गया था। वैदिक वाङ्मय की यह बड़ी भारी दुर्घटना है जिसका अभी तक कम लोगों को ज्ञान है। इस दुर्घटना का उल्लेख प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थ कर गये हैं। लोगों ने इन संकेतों पर भी ध्यान नहीं दिया है। अतः पुराणों ने उन्हीं भावनाओं से पुराण रूप में वेदों की व्याख्या की है। (४) अतः वेदों का अर्थ इन्हीं ग्रन्थों में निहित है। यास्कादि के अनुयायी आंग्लादि भाषायी व्याख्याओं में इसका नामोनिशान नहीं है। (१९) उसी का संकलन इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है।

अध्याय १ पाद ४—पारिभाषिक प्रतारणा ३६–६६

(१) उपनिषदोंके पश्चात् लगभग ५०० वर्ष तक वैदिकअनूचान शुश्रवान्स ब्राह्मण देवताओं का नितान्त अभाव। (२) वेदार्थ की नई अटकलपच्चू व्याख्या और पारिभाषिक पदों के प्रतारणा के अर्थ देने का प्रारम्भ यास्क ने किया। (३) उसमें वैदिक परम्परा का नितान्त अभाव। (४) यास्क की भूलें। (४) प्रस्तुत ग्रन्थ को इन्हीं भूलों के सुधार के लिए प्रस्तुत किया गया है। (५) भ्रम निवारणार्थ वैदिक दर्शन की सूक्ष्म पृष्ठभूमि। (६) गीता का

'अन्नाद्धवन्तीत्यादिक' एतद्विषयक उल्लेख योगयज्ञ परक व्याख्या का प्रमाण है। (७) उक्त उल्लेख की अक्षरश: वैदिकी वास्तविकी व्याख्या। (८) तै० उप० के प्रमाण से 'अन्न' तत्त्व की व्याख्या। (९) वाक् प्राण: मन: व्याख्या की (१०) पर्जन्य सूर्य स्वर्भानु वृत्र नाभि यज्ञ आदि की वैदिक स्थिति। (१०) कर्म ब्रह्म अक्षर व्याख्या। (११) सोम की उचित व्याख्या। (१२) सोम वृत्र पर्जन्य का भेद। (१९) इन्द्र व्याख्या (१४) कोई देवता प्राकृतेय तत्त्व नहीं है। (१५) देवता तत्त्व की उचित व्याख्या (१६) अन्य पारिभाषिक पदों का संकेत (१७) उपसंहार अनुचित व्याख्या का मूल कारण पारिभाषिक पदों की प्रतारणा है (१८) पूषा देवता इन भ्रमात्मक धारणाओं वाली व्याख्याओं के पर्दे को चीर फाड़ कर फेंक दें। (१९) अग्नि सबको सन्मार्ग में ले जावे, उक्त व्याख्याओं से स्वयं लड़े। (२०) सबको सुबुद्धि दे, शत्रुबुद्धि विनष्ट करे। (२१) इसका दूसरा मार्ग है ही नहीं।

(१) योग व्याख्या (२) अङ्ग और प्राणों को नाना विध व्याख्या और नाम। (३) अधिदैवत व्याख्या। (४) वेदों के त्रिविध अर्थ। (५) वैदिक मंत्रों में प्रायोगिक योग प्रक्रिया के साक्षात्प्रमाण। (६) तीनों प्रकार के यज्ञों की समान पारिभाषिक पदावली—ब्रह्मा होता अध्वर्यु उद्गाता के गणो की सूची। (७) होत्रक, होत्राशंसिन; सप्तहोतारो दैव्या:, पञ्चाध्वर्यव: की व्याख्या। (८) वाक् चक्षु: श्रोत्रं प्राणा: मन: ऋत्विजों और अहं की व्याख्या। (९) त्रिविधाग्नि: तीन स्थानों में (१०) अग्नियज्ञ व्याख्या। (११) चार अग्नियों के यज्ञ की व्याख्या। (१२) इनके वैदिक मंत्रों में प्रमाण। (१३) शारीर योग का महायज्ञ। (१४) द्वितीय व्याख्या (१५) उत्तरायण दक्षिणायन योग, द्विचक्र योग। (१६) अरणी योग। (१७) पञ्च योग। (१८) नाडी योग। (१९) तत्त्वों की योग परक स्थिति। (२०) आत्मरथ। (२१) भोक्ता पुरुष (२२) परमपद या विष्णुपद व्याख्या (२२) प्रयाजानुयाजोपयाजा व्याख्या। (२३) 'चन्द्रमा मनसो जात' इत्यादिक योग। (२४) 'योग' शब्द और योग प्रयोग की व्याख्या के वैदिक प्रमाण। (५५) योग:क्षेम:। (२६) मुनय: वात-रशना और यतय:।

(१) देवता एक ही है, वह प्राण है, ब्रह्म है। (२) वह त्रिवृत् है, मन: वाक् प्राण रूप या ब्रह्मा रुद्र विष्णुरूप है। (३) इनकी योगपक्षीया विविध व्याख्या।

कुण्डलाकार कर मिला कर विष रूप तेल में आत्मा की वर्तिका को अमृत ज्योति से प्रदीप्त कर लेता है। (६) प्राणों के इस रूप का वेत्ता ही ब्रह्मविद् वेदविद् और स्वयं ब्रह्म है। (७) अपान से कुण्डलिनी का प्रारम्भ होता है। (८) अपान सिद्धि से योगी का आसन भूमि से ऊपर उठ जाता है। (९) यही इन्द्र का वज्र विष्णु का चक्र देवी का सिंह है। भृकुटि में चन्दन मन का स्थान सूचित करता है।

अध्याय ३ पाद १—योगमाया ११८–१२१

(१) योगमाया देवासुरों की है। (२) वाह्य शरीर असुर है, आभ्यन्तर कोश देव। (२) वे क्रम से अन्धकारमय और ज्योतिर्मय हैं (३) अन्तर्मुख प्रभा देवता है; बहिर्मुख प्राण असुर। (४) प्राण स्वयं न देव है न असुर, पर वे मनुष्य हैं नित्य परिवर्तन शील हैं। (५) देवासुरों का द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है (६) यही समुद्र मन्थन है (७) ये क्रियायें ही माया हैं जो अनन्तरूपी हैं, इन्द्रादि देव और असुर भी अनन्तरूपी हैं। (८) इन्हीं से इन्द्र मायी कहलाता है। (९) इन्द्र योगी है, रथ उसका शरीर है, प्राण उसके अश्व हैं, (१०) इसीलिए इन्द्र सब देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। (११) उसी ने सर्वप्रथम ब्रह्म की ज्योति के दर्शन किए। (१२) वही इसी लिए विद्दतिद्वारभेत्ता भी है। (१३) विद्दति द्वार को इसी का ब्रह्मरन्ध्र अन्तरिक्षोदर या कुहरं भी कहते हैं। (१४) यह कुटिला पुरीतत् या सुषुम्ना का मुख द्वार है। (१५) इन्द्र का कोई प्रत्यक्ष शत्रु नहीं है। (१६) ९९ दुर्ग-प्राणों के दुर्ग हैं, ये ही उसके क्रतु हैं, वह स्वयं तब शतक्रतु होता है।

अध्याय ३ पाद २(क) देवासुरों का स्वरूप १२२–१२४

(१) देव और असुर दोनों प्रजापति के पुत्र हैं, योग में असुर, सृष्टि में देवता ज्येष्ठ भ्राता हैं। (२) प्रत्येक देवता का एक प्रतिरूप असुर है। (३) सभी मुख्य देवताओं और असुरों की नामतः कार्यतः व्याख्या। (४) इनका नैरन्तर्य युद्ध वाज या अन्न और मनः या सोम के लिए होता है। (५) भौतिक प्रवृत्तिमय शरीर ही असुरों की गुहा है। (६) दैवी प्राणों का अपनाना गायों की चोरी है। (७) वृत्र का सौम्यभाग देव है, शरीर भाग आसुर्यं।

अध्याय ३ पाद २(ख)—इन्द्र कौन है ? १२५–१२८

(१) इन्द्र 'दैवं मनः' है, चान्द्रमस शरीरी वाङ्मय वज्री असुर हन्ता है। (२) वह मध्यमप्राण, विगलितमृत्यु, मर्त्यप्राणासुरों का मृत्युरूप है। (३) वह

अयास्याङ्गिरस दूर्नाम है (४) वही ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति हैं। (५) वही साम या उद्गीथ है। (६) वह महेन्द्र नामक कोई प्रथम योगी था, असुर भी पीडक थे, उनके आधार पर इनका तादात्म्य देवासुरों से किया गया है। (७) गजग्राह युद्ध एक ही शरीर के देवासुर संग्राम को भिन्नस्थानीय भिन्न शरीरी प्रतिद्वन्द्वियों के द्वारा वर्णित समझना चाहिए। इतिहास में ये सब इसी प्रकार के थे।

(१) सोम असपत्न और इन्द्र को इन्द्रिय या सोमरस है, वैदिक ब्राह्मण, देवताओं या दार्शनिकों का सर्वश्रेष्ठ प्रकाशमय तत्त्व है। (२) मंत्र की पूर्ण व्याख्या। (३) जड़ी बूटी घोटकर बननेवाला रस सोम नहीं है। उद्धृत मंत्र की व्याख्या देखें। (४) वेदों में वर्णित सोम की अलौकिक महिमा (अनेक उद्धृत ऋचाओं की व्याख्या) (५) सोम सर्वदेवता का वर्णन (५) सोमानुभूति वर्णन (६) अखिल ब्रह्माण्ड का रेतोरूप सोम (७) विष्णु वृष्ण का रेतो रूप सोम। (८) समुद्ररूप सोम (९) कलशरूप सोम। (१०) छन्दों के द्वारा ज्योतिर्मय सोम का स्थान निर्णय। (११) शुक्र रूप पीयूष रूप दिव्य रूप सोम। (१२) दाक्षायी अर्यमा सोम।

(१) सोमपान के अधिकारी देवता मनुष्य (प्राण) और पितर हैं। ये सब योगी हैं। योगी देवतादिक ही सोमपायी हैं। (२) देवता मनुष्य पितरों की सृष्टि और योग दोनों में परिभाषा। (३) योग से पुत्र ही पितर हो जाते हैं। (४) वामदेव की अनुभूति, अङ्गिरस पितर क्यों हैं ? (५) उत्तरायण दक्षिणायन के देव मनुष्य पितर। (६) सृष्टि में सोम तो दिव्य शरीर है जिसे पाकर देवतादिक विश्वेदेवता बन जाते हैं। (७) योग में सभी विश्वेदेवता हैं, पुनः सोमपान से अमृत हो जाते हैं (९) इन्द्र का सोमपान विद्दतिद्वार भेदन पूर्वक सोमज्योति सागर की डुबकियां लेना है, यह उद्धृत ऋचा से स्पष्ट है। (१०) शरीर में वाक् आदि के शरीर पूतिमय हैं। उनकी शुद्धि प्राणों के मेघ से की जाती है। अग्निवृषभ को खौलाया या चुवाया जाता है जिसका वर्णन उद्धृत ऋचा के अर्थ में देखें। (११) प्रकाश विन्दुरूप इन्दु का घूँट पीना इन्द्र का सोमपान है। (१२) मुख अग्निमात्र के पास है, प्राण पीने वाली शक्ति मात्र इन्द्र के पास, इनके ही द्वारा ही उक्त पीत सोम अन्य देवों को साकं मिलता है। प्रत्येक अलग

अलग नहीं पीता, पीने वाला एक है इन्द्र, वह भी अग्नि मुख से ही पीता है। यही इन्द्र की स्फटिक मणि में देवसभा है (१३) प्राण कोई भी हो मुख्य या अग्नि रूप सब मूलतः स्त्री रूप हैं, उक्त देवताओं की स्त्रियां या शरीर रूप हैं। (१४) जो योगी है वही इन्हें इन रूपों में देखता समझता या अनुभूत भी कर सकता है।

योग की तालिका १४६–१५२

(१) अन्नमय शरीर का अमृत शरीरी सोम से सम्बन्ध कैसे हो ? प्रश्न के उत्तर में (२) प्राणबन्धन सूत्र से दोनों के बँधे रहने से होता है। (३) दोनों वैद्युतीय शरीरी हैं, सन्धान प्रत्याधान (Negative Positive Charges) रूप हैं। (४) उद्धृत ऋचा में यह भाव स्वतः स्पष्ट है। वृह० उप० ने अधिक स्पष्ट कर दिया है। (५) यही दशरथ वसुदेव है जिनकी समाधि में राम कृष्ण उत्पन्न होते हैं (६) अखिल ब्रह्माण्ड इन दोनों इन्द्रसोम का सम्मिलित रूप है। (७) अग्नि मुख से इन्द्र प्राणसूत्र को इद्ध करता है। विद्टतिद्वार भेदता है, सोम ज्योति पीता है, अतः इन्द्र कहलाता है। (८) हैमवती भी सोम की ज्योति है ब्रह्म विष्णु। (९) उमा सहित ही सोम है श्री सहित सोम है (१०) वह वैद्युतीय स्वरूपी है। (११) वह रसमय है, (१२) संवित् मय है। अतः उसे संविदाना कहते हैं। (१३) यजमान की संवित् का वर्णन (योगादि के अनन्तर) उद्धृत ऋचायें देखें। (१४) यहाँ सोम राजा तत्त्व है (१५) जो योग नहीं करता उसका शरीर प्रतिक्षण सांसारिक धन्धों से रोता ही रहता है। (१६) पर योगी का रौद्र शरीर कभी नही रोता। (१७) योगभूमियाँ (१८) योग के पद (१९) योग की संविद्—ॐकार विद्या ऋग्यजुःसाममयी भूर्भुवःस्वर्मयी।

अध्याय ३ पाद ४ (आ) सोमपान की महिमा या स्थिति १५३–१५६

(१) सोमपान से कैसा अलौकिक आनन्द आता है ? उसके सामने अखिल ब्रह्माण्ड की सब सम्पत्तियां सम्पूर्ण साम्राज्य धूल के भी बराबर नहीं, यह सूक्तार्थ में अच्छी तरह पढ़ कर समझ लें।

अध्याय ४ पाद १—वेदों में वर्णित वसु रत्न रायः ब्रह्म ऋषि मंत्र दक्षिणा का अभिप्राय क्या है ? १५७–१६९

(१) रा रयि आदि नाम चन्द्रमा मनुष्य नामक प्राणों के हैं। (२) समुद्र मन्थन का समुद्र सोम है, अहि प्राण सूत्र, देवता रत्न। (३) मार्कण्डेय वर्णित रत्न नाम तीन स्थलों में। (४) गीता के विभूतियोग के तत्त्व भी रत्न ही हैं। (५) वसु नाम देवताओं के आत्माओं का है, योग में शरीर हैं।

(६) इसीलिए योग में देवताओं को रत्नधातम कहा है। (७) सरस्वती और महासरस्वती का स्तन भी रत्नधा कहा गया है। ये देवधा हैं। (८) धेनुएँ छान्दसी, द्यावापृथिवी रूपिणी और प्राणमयी हैं, कई प्रकार की हैं। (९) पशु द्विविध है पञ्चपशु और वायव्य आरण्य ग्राम्य पशु। (१०) सुत नाम सोम का है। (११) मंत्र योग से मननीय चित्र और उसका तद्वत् वर्णन है। (१२) श्रुतियां श्रोत्र तत्त्व की हैं। (१३) अतः वाक् प्राण चक्षु आदिक सब ब्रह्म कहलाते हैं। (१४) इनके पर्याय भी ब्रह्म के ही नाम हैं। (१५) इसके वैदिक प्रमाण। (१६) प्राण व्याख्या तुलना से प्राण महिमा। (१७) अध्ययन पाठ और कर्म काण्ड में ब्रह्म शब्द इन्हीं अर्थों के हैं। (१८) ऋषि नाम योगी तत्त्वों योगियों और प्राणों का है। (१९) देवजा ऋषि तत्त्व हैं। (२०) नवग्वा दशग्वा आङ्गिरस प्राण रूप ऋषि हैं। (२१) दक्षिणा दक्षिणायन की है। (२२) चार दक्षिणा दक्षिणायन के तत्त्व छन्द अमृत प्राण भौतिकामृतप्राण सोम और दिव्य शरीर हैं। (२३) दक्षिणाविद् की महिमा।

अध्याय ४ पाद २—सृष्टि और अतिसृष्टि का अन्तर १७०–१७८

(१) मूल सृष्टि अनाद्यनन्त मूला स्थूण रूपा द्यावापृथिवी नाम्नी है, (२) उसके दो भाग ऋतं बृहत् या ऋतं सत्यं है; (३) मध्य में ऊषा है, ये त्रैलोक्य है (४) त्रिपात् पूर्वार्द्ध मात्र है। (५) यह अजएकपाद सृष्टि वृक्ष या संवत्सर ब्रह्म है। (६) छान्दस भागों या सप्तकीय ऋतुओं में विकसित होता है। (७) सप्तव्याख्या सरणियां (८) अनारम्भणीय अग्नि। (९) छन्दोमयी सृष्टि, साध्यादेवाः। (१०) अग्निमय सृष्टि (११) वाक् गायत्री पूर्वार्द्ध (१२) विष्णुपरार्द्धर्च, त्रिपदविक्रमोत्तर ऊपर। (१३) सृष्टि में (प्राण अग्निप्राण) रुद्र मध्यमप्राण परिजातवेदा इन्द्र तृतीय प्राण। (१५) विष्णु चतुर्थप्राण। (१६) वही ईश, ईशान आदि ईश्वर हैं। (१७) पूर्वार्द्ध गुहा है, सृष्टि में। (१८) योग में इसके विपरीत उत्तरार्द्ध योग का पूर्वार्द्ध ही गुहा है। (१९) यहां सोम ही सब देवताओं का प्रतिनिधि है (२०) केशव विष्णु इसी शरीर की गुहा में प्राण सागर का शायी है। (२१) उसी की जागृति या उद्दीप्ति सप्तशती रात्रिसूक्त के रूप में करती है।

अध्याय ४ पाद ३—परम योग या मोक्ष योग १७९–१९४

(१) योग में पर नाम का भाग सृष्टि का पूर्वार्द्ध या गायत्री है। (२) इस के तत्त्वों की सिद्धि व्यतिक्रम से होती है तृतीय पादान्त से प्रारम्भ होती है। (३) विष्णु या सोम शारीरिक योग की अन्तिम सीढ़ी है। यह सृष्टि का वैश्वानर है। (४) त्रिपात्पुरुष गायत्र या अग्नि है, ॐकार विद्या है, विष्णु या

सोम है, उत्तरारणि है, शरीर अधरारणि। (५) इनके मन्थन से जातवेदा की प्रदीप्ति गुहा रूप में की जाती है। (६) द्विविध गुहा (७) पूर्वार्द्ध अमूर्त अशरीर है, उसकी अनुभूति भी अशरीरी प्राण तत्त्व करते हैं (८) अतः यह मृत्यु के उपरान्त का योग है। यही गीता कहती है। (९) योग के यही दो मार्ग हैं। (१०) सर्वप्रथम मरने वाला यम है। प्रमाण उद्धृत। (११) उसने इस योग या मार्गों को सर्व प्रथम खोजा। (१२) यम की वंशावली की व्याख्या। (१३) यम अग्नि है, यमी वाक् है, उसका शरीर है। (१४) यमयमी यमल ही पूषा है। (१४) नचिकेता भी अग्नि है, दोनों का कठीय संवाद भी ऋग्वेदीय है। (१५) सूर्या चतुर्विधा भी योग के चार रूप हैं सोम, चान्द्रमस (गन्धर्व), अग्नि यममय, अश्विनी प्राणमय। (१६) अग्नि विकास के दो विपरीत क्रम। (१७) मोक्ष योग की उत्तरोत्तर की सीढ़ियों के तत्वों की अनुभूति का क्रम। (१८) कठ में नचिकेता इसी योग की बात यम से पूछता है। (१९) वह वाजश्रवा का मध्यम प्राण है, वाजश्रवा की मृत्यु के पश्चात् योग करता है। (२०) शुनःशेष: अजीगर्त का मध्यमप्राण है, अजीगर्त की मृत्यु के उपरान्त मोक्ष योग करता है। दोनों में नचिकेता और शुनःशेप, क्रम से वाजश्रवा और अजीगर्त के मध्यमप्रारूप योगी है। (२१) शुनःशेप की वरुणपाश से मुक्ति मृत्यु है, जीवन नहीं। (२२) खड्ग ज्ञान या विद्या का प्रतीक है, विश्वामित्र श्रोत्र तत्त्व है (२३) दोनों की पुत्रत्रयी मुख्य प्राणत्रयी है।

वैदिक योगसूत्र

अध्याय १, पाद १

विद्वानों से विनय

'शत्रूणां बुद्धिनाशाय मित्राणामुदयस्तव'

(१) अल्पीयांस एव वेदविदो वेदनिर्माणकालेऽपि ।
(२) यथा--(क) 'पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः' ऋ० वे० (१-१६४-१६)
(ख) कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पिता सत्
(ऋ० वे० १-१६४-१६)
(ग) 'चक्षुष्मन्तो नु पश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः ।'
(सप्तशती रहस्य)

अनन्त अनादि-काल में निर्मित वेदों के विषय का वातावरण अपनी उदात्ततम भावनाओं से अनेक प्रकार से गुथे रहने के कारण प्रायः इनके निर्माण-काल में ही इनके सच्चे स्वरूप और लक्ष्य के ज्ञाता—जिन्हें 'वेदविद्' पदवी से घोषित किया जाता रहा—बहुत ही कम विद्वान् थे । इस तथ्य के साक्षीरूप प्रमाण इन्हीं वेदों के मंत्रों के वाक्यों में यत्र-तत्र या सर्वत्र बिखरे हुए स्वयं उपलब्ध हो जाते हैं । जैसे ऋ.वे. (१-१६४-१६) में लिखा है कि वेदों के मन्त्रों में जो रहस्य भरा हुआ रखा है उसे तो 'आखों' वाला' या इनके अर्थों की पूर्व परम्परा की श्रुतियों को अनूचान, शुश्रुवान् स्वरूप में जानने वाला ही स्पष्ट देख सकता है । ये आँखें क्या हैं ? इनका विवेचन ही इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है । मार्कण्डेय ऋषि ने भी दुर्गासप्तशती रहस्य में दुर्गा-रहस्य का विवेचन देते हुए इसी वाक्य को पुनः उद्धृत करके अपने ग्रन्थ के विषय के रहस्यों को खोज का संकेत करते हुए लिखा है कि जिन विषयों का प्रतिपादन दुर्गासप्तशती में किया गया है उन्हें केवल आँख वाले ही जान सकते हैं, इतर जन जो इसे नहीं जानते, वे इसे कदापि नहीं देख सकते । ऋग्वेद ने और आगे बढ़ कर कुछ-कुछ स्पष्टतर होने की चेष्टा करते हुए पुनः लिखा है कि वेदों के मंत्रों में जिन गहन विषयों का प्रतिपादन या चित्रण विचित्र ढंग से किया गया है, उसे तो वही माई का लाल या देवपुत्र ऋषि जान सकता है जो केवल 'कविः' या आँखों वाला योगी या दृष्टा ऋषि है । इस 'कवि' शब्द का अर्थ हमारे सभी प्रकार के धुरंधर विद्वानों ने 'कविता करने या रचनेवाला व्यक्ति' समझा है, पर वेदों में कवि नाम तो अग्नि का है जो योग का प्रथम या मुख्य तत्त्व है, अतः इसकी योग की

प्रक्रिया को 'कवीयमानः स ईमा चिकेत' (वहीं) लिखा है। अर्थात् जो व्यक्ति योगी है वही योग करते हुए वेदों के मन्त्रों में गूढ़रूप से निहित भावों को साक्षात् अपनी योग की आँखों से देख लेता है। और यह ठीक है कि कवि, काव्य या मंत्रों की रचना करता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु हमारे वैदिक ऋषि-रूप कवियों के मंत्रों की तुलना आजकल के या मध्ययुगीय कवियों की रचना से करना बालिशता की पराकाष्ठा है। इन गम्भीर रहस्यों भरे मन्त्रों में तो कविरूप ऋषियों के मननरूप योग से साक्षात्कार किया हुआ विषय भरा है। परम्परा के अनुसार 'ऋषि दर्शनात्' 'मन्त्रं मननात्' कहा जाता है कि ऋषिरूप कवियों या योगियों ने जो कुछ कहा है उसे अपनी मननशक्ति या योगदृष्टि से साक्षात् दर्शन करके लिखा है। अतः 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः' वे ऋषि या कवि हैं जिन्होंने अपने वर्णित विषय का योग द्वारा साक्षात्कार कर लिया था। इसीलिए मन्त्र की व्याख्या में स्वयं ऋग्वेद ने लिखा भी 'मन्त्रेभिः सत्यैः' (ऋ.वे.१-६७-५), अर्थात् ये मन्त्र तो साक्षात् सत्यरूप में देखे गये विषयों के चित्रों को उपस्थित करते हैं, जिसके पास इन ऋषियों की योगमयी कविता की ऐसी दृष्टि नहीं है उनके बारे में पुनः लिख दिया है 'न विचेतदन्धः' (ऋ. वे. १-१६४-१६) कि बिना योगदृष्टि वाला इन विषयों को नहीं देख सकता। लौकिक कवि तो औरतों के केश, कपोल, मुस्कान, आँख, स्तन, कटि, अंगुली, हाथ, पांव का; वृक्ष, फूल, बाग, बगीचा, नदी पर्वत का और बाह्य मनोविज्ञान का, सभी बाहरी वस्तुओं का वर्णन करता है। हमारे ऋषियों ने इन गन्दे विषयों की ओर तो झांका ही नही है। अतः वास्तविक कवि आभ्यन्तर अनुभूति का चित्रण करने वाला ही हो सकता है। अतः जो व्यक्ति वेदों में वर्णित योग की इन प्रक्रियाओं को जानता है वह अपने देवतारूप पिताओं से पुत्ररूप में उत्पन्न होने पर भी योग की प्रक्रियाओं द्वारा पुनः उन पितारूप देवताओं को अपनी समाधि में नया जन्म देता है, उद्दीप्त कर लेता है। अतः वह अपने पितारूप देवताओं का भी पिता बन जाता है इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में दिया हुआ मिलेगा (१-२)

(३) "यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते" (ऋ० वे० १-१६४-३९)

अन्यत्र इसी सूक्त से अक्षर ब्रह्म या एकाक्षर ब्रह्म के अक्षरों का वर्णन गिनती की विधि रहस्यमय या सांकेतिक या पारिभाषिक शब्दों में दे देने के पश्चात् लिखा है कि जो व्यक्ति इस विषय को नहीं जानता वह इन ऋचाओं की रट लगाकर या उलटा-सुलटा अर्थ करके क्या करेगा ? उसे इन वेदों के अमृत का स्पर्श तक नही हो सकता, उसके लिए इन वेदों पर कहना, लिखना, पढ़ना सब

व्यर्थ है। हां, जो इन विषयों को जानते हैं वे अवश्यमेव इन मंत्रों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए योग्य कहे जा सकते हैं (३)

(४) "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥" (ऋ०वे० १०-७१-४)

(५) "उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋ० वे० १०-७१-५)

इन्हीं सब बातों को दृष्टिपथ में रखकर उन चिन्तित और चिन्तक वैदिक ऋषियों ने पुनः उन लोगों पर चिन्ता प्रकट करते हुए लिखा है जो वेदों के उक्त प्रकार के साक्षात्-कृत विषयों के मन्त्रों के अर्थ को केवल प्राकृतेय पदार्थों या कर्मकाण्ड में अभिनीत प्रणाली में घटित करके वेदों का अनर्थ करते फिरते हैं, वे इन मंत्रों की वाणी में निहित रहस्यों को देखते या समझते हुए भी अनदेखा कर देते हैं। कर्मकाण्ड विधि तो योग प्रक्रिया की बाहरी अनुभूति या भक्ति या अभिनय है, रहस्य इनमें भी है, पर वे इन रहस्यों का विधिवत् कर्म करते हुए भी इनके उन वास्तविक रहस्यों से आँखें मूँद लेते हैं जो इनमें प्राणरूप में व्याप्त हैं। यह बात नहीं है कि उन्होंने इन रहस्यों के बारे में कभी कुछ सुना ही नहीं है। इन रहस्यों को तो वे ही श्रुतियां या मंत्र बार-बार उद्घोषित करते हैं और विदथ में भी सुनते-सुनाते हैं, पर इनके द्वारा किये जाने वाले कर्मकाण्ड या कर्म इनकी जीवनयात्रा का सुलभ मार्ग हो पड़ने के कारण ये ऐसे जिद्दी या हठी हो गये हैं कि वे इन मन्त्रों के रहस्यमय अर्थों को सुनते और जानते हुए भी उनको नितान्त अनसुना कर देते हैं। परन्तु जो व्यक्ति इन रहस्यों को जानने की खोज में, योग प्रक्रिया मे संलग्न रहता है, उनके सामने वे ही मन्त्ररूप श्रुतियां, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों को पहनी पत्नियाँ अपने पति को अपना सर्वाङ्ग खोलकर दिखला देती हैं, उसी प्रकार अपने मन्त्र या श्रुति शरीरी वस्त्र को खोलकर उनको आत्मारूप या अर्थरूप शरीर या रहस्य को अपने-आप दिखा देती हैं। अर्थात् श्रुति या मंत्रों के शब्दात्मक वस्त्रों में ढँके उनके रहस्यमय शरीर के ज्ञान या दर्शन करने की आँखें योग की आँखें हैं, उन्हें इन चमड़े की आँखों से नहीं देखा जा सकता। जिस व्यक्ति के पास ऐसी योगमयी आँखें होती हैं उसे उन मन्त्रों के प्यालों में भरे अमृत का स्थिरपीत या आकण्ठपीत योगी कहते हैं। इस प्रकार के योगी को कर्मकाण्ड के बाह्य योग के विधि-विधानरूप यज्ञों में और विदथ के गम्भीर, बलवान् शास्त्रार्थों में भी कोई विचलित नहीं कर सकता, उसे दोनों में एक ही प्रकार का रस या अमृत मिलता है। जो व्यक्ति इस प्रकार की अनुभूति से, योग माया की दृष्टि से शून्य है, रहित है, अनभिज्ञ है, वह व्यक्ति ऐसे प्राणमय यज्ञों

को या बाहरी कर्मकाण्ड या भीतरी योग दोनों को बाँझ गाय के समान प्रसव और पयः से रहित या ढकोसलों से भरे उटपटाङ् विधि-विधानों का जटिल तमाशा बनाते हुए, उन क्रियाओं या प्रक्रियाओं में उच्चरित वाणी को फलहीन, पुष्पहीन पतझड़ वाले कांटों से विद्ध वृक्ष के समान ठूँठ के आकार की शब्दावली सी पाता है। उसे इनके पुष्पों का अमृतमय मधु और रसमय योग का फल चखने का सौभाग्य शून्य मात्रा में भी प्राप्त नहीं। (४—५)

(६) "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे ॥"

(ऋ० वे० १०-७१-७)

उस वैदिक युग में यह बात भी नहीं कि सभी ऋषि एक ही स्तर के होते रहे। वे योग की आँखों वाले योगी, ऋषि तथा श्रुतियों को परम्परा से सुन-गुन कर समझने-समझाने वाले अनूचान शुश्रुवांस या 'अक्षण्वन्त और कर्णवन्त, ऋषि, परस्पर प्रेम से समभाव से रहते हुए भी 'मनोजवों' या योग प्रक्रियाओं तथा प्रतिभा के वेगों या उड़ानों में असमान ही होते रहे। उनमें से कुछ तो उस योग-सागर, वेदों के ज्ञानसागर में मुख तक डूबे-से थे, कुछ छाती तक। कुछ तो ऐसे गम्भीर योगी थे जो ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों वे तपी धूप में स्नान करने योग्य शुद्ध महासरोवर हैं। अर्थात् जो उनके पास फटक भी जाता था वह उनसे कुछ न कुछ प्राप्त करके ही लौटता था, वे ऐसे दिव्य आदर्शों और योग की विभूतियों के मूर्तिमान अवतार थे (६)

(७) "सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिशन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राब्णमिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिव.॥ (ऋ०वे० १०-८५-३,४)
अप्याधुनिका न ह्येतादृशा एव भवन्ति ?

इस प्रकार के सौभाग्यशाली वैदिक युग में ही, जैसा पहले बताया जा चुका है (उन्हीं दिनों में) जिस प्रकार सूत्र २ में कथित अक्षरब्रह्मवेत्ता ऐसे ही इने-गिने कुछ ही महर्षि होते रहे, उसी प्रकार वेदों में अतीव प्रसिद्ध तत्त्व या देवता सोम को भी उचित रूप से जानने या पहचानने वाले विद्वान् या अनूचान शुश्रुवान् ब्राह्मण देवता विरले ही थे। अतः उसी संहिता निर्माण युग में विद्यमान उन अधिक मात्रा में प्राप्त कोरे कर्मकाण्डियों की, जो ऐसे महत्व-पूर्ण सोम देवता या तत्त्व को केवल मदिरा या जड़ी-बूटी का रस या कर्मकाण्ड

में उसके लिए प्रयुक्त सिलबट्टा समझते चले आ रहे थे, फलतः भावी सन्तानों के लिए उनके ऐसे भयंकर दुरादर्श से अतीव पीडित और चिन्तित होकर ही, बड़ी तीखी और भद्दी खिल्ली उड़ाते हुए उन्हीं योगी महर्षियों ने स्वयं ही लिख दिया था—

"ये कर्मकाण्डी बेचारे (सोमलता, करीर, शमी प्रभृति) जड़ी-बूटी को घोट कर उसके रस को पीकर समझ लेते हैं कि उन्होंने सोम का पान कर लिया। परन्तु वैदिक मंत्रों में तथा परम्परा से प्रचलित योगी-ऋषियों में जिस तत्त्व या वस्तु को सोम नाम से जाना या माना जाता था, उसको हमारे खाने वाले मुख से कोई नहीं पीता या खाता था। जिस सोम की चर्चा वेदमंत्रों में आई है, जिसे वैदिक ऋषि सोमतत्त्व कहते रहे, हे सोम! वह बृहती वाक् के शरीर के नाना जटिल कोशों के आच्छादनों के विधानों के पिधानों से छिपा हुआ गूढ है, सुसंरक्षित तत्त्व है। ये लोग तो तुम्हारा नाम 'सिलवट्टा' सुनकर सचमुच में घोटने का सिलबट्टा समझ लेने से गवाँरों की तरह ठगे गये हैं, हे सोम! तुम्हें तो कोई ऐसा मिट्टी का पुतला, भौतिक संसार में डूबा, नहीं पी सकता या पा सकता।"

तब सोम के सम्बन्ध में इन महर्षियों की ऐसी परम स्पष्ट उक्ति को देखते हुए भी, आज तक के व्याख्याताओं ने इन्हीं कर्मकाण्डियों का अनुसरण करते हुए ही सोम को फिर भी मदिरा ही मान कर जो इतना बड़ा भारी परिश्रम कर लाखों पुस्तकें लिखी हैं उनका कोई महत्व या उनमें कोई सत्यता हो सकती है? कैसे? यदि आज लेखक के स्थान में वे ही योग की चक्षु वाले महर्षि इस ग्रन्थ को लिखते तो उन्हें रो-रो कर इन्हीं वाक्यों को फिर दुहराना पड़ता (७)

(८) "यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद।
आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्॥"

(ऋ० वे० १०-८८-१७)

वैदिक दर्शन के दो रूप थे—सृष्टिपक्ष और योगपक्ष। प्रत्येक पक्ष एक दूसरे के तत्त्वों से एकदम विपरीत दिशा से अपने दर्शन की व्याख्या देता रहा। प्रत्येक पक्ष के दो मुख्य भाग थे जिन्हें स्थूल रूप से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहा जाता रहा। और एक दूसरे के विपरीत दिशा से प्रारम्भ करने वाले होने से जो सृष्टिपक्ष का पूर्वार्द्ध है वह अतिसृष्टि (योग) पक्ष का उत्तरार्द्ध कहा जाता था और जिसे सृष्टि का उत्तरार्द्ध कहते रहे उसे योग का पूर्वार्द्ध। इन दोनों भागों के कई अन्य नाम भी हैं। उस संहिता निर्माण युग में भी जिस प्रकार अक्षरब्रह्म और सोम को जानने वाले विद्वान् इने-गिने ही रह गये थे उसी

प्रकार सृष्टि और अतिसृष्टि के उक्त प्रकार के दो प्रकार के विपरीतगामी भागों के जानकर भी बहुत ही थोड़े रह गये थे। अतः उद्धृत ऋचा में इन महामहत्त्वपूर्ण भागों की समुचित जानकारी के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करते हुए कहा गया है कि—सृष्टि और अतिसृष्टि के उक्त पक्षों का जिन्हें अवरः (पूर्वार्द्ध) और परः (उत्तरार्द्ध) नाम से पुकारा जाता है, हम यज्ञकर्ताओं में से कौन व्यक्ति भली-भाँति जानता है? हमारे पूर्वज महर्षिगण ज्ञान के सखा-भाव से रहते हुए जिनकी पूरी जानकारी के बल से इन पक्षों की पूर्ण अनुभूति और ज्ञान विभूति प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार के योगयज्ञ और वाजयज्ञ (वाक् यज्ञ) या सृष्टिज्ञान-यज्ञ या द्रव्ययज्ञ करते रहे उसके बारे में यहाँ उपस्थित जनों में से कौन बता सकता है?"—इन प्रश्नों को सामने रखने का मुख्य कारण उस युग में ही उक्त प्रकार के वैदिक सृष्टि और अतिसृष्टि के अनमोल दर्शन रत्नों के खो जाने की महती चिन्ता व्यक्त करना स्पष्ट है। वे इनका प्रचुर प्रचार चाहते रहे, विरलों की गुप्त पूँजी बनाना नहीं (८)

(९) "को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः।
कस्मै देवा आहवनासु होम को मंसते वीत होत्रः सुदेवः॥"

(ऋ० वे० १-८४-१८)

वैदिक ऋषियों की बड़ी ही पेचीली और जटिल लेखन-शैली ने—जिसमें योगयज्ञ, द्रव्ययज्ञ और वाक्-यज्ञ तीनों की व्याख्या को एकसाथ एक ही पारिभाषिक पदावली से गूँथ कर रख दिया है—प्रायः सभी प्रकार के भाष्य या व्याख्या या आलोचना लेखकों को बड़े भारी भ्रमजाल में फँसा डाला है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद १—१६४, १—८४ तथा १०—१२१ में आया या प्रयुक्त 'कः कस्मै' प्रभृति शब्दों द्वारा उत्तम्भित उत्तरगर्भित प्रश्नों की फुलझड़ियों का अवलोकन करें। यहाँ 'कः कस्मै' शब्द विदथ में बैठे लोगों के सामने प्रश्नरूप में होते हुए भी उन प्रश्नों का उत्तर उन्हीं वाक्यों या शब्दों में पूरा भरा हुआ रखा है। इनमें कर्मकाण्ड में प्रयुक्त 'हविः स्रुवा, घृत, होम आदि शब्दों का प्रयोग उन लोगों की खिल्ली उड़ाने के निमित्त है जो इन शब्दों का अर्थ पुरोडाश, घी डालने का चमचा, खाने का घी, आहुति देना मात्र समझते रहे। वास्तव में 'कः कस्मै' आदि शब्द 'कः प्रजापति' के द्योतक हैं, हविः सोम का, स्रुवा शरीर या ब्रह्माण्ड के आभ्यन्तर प्राण-सूत्र का, घृत भौतिकात्मा और होम प्राणों के संयमन (और लौकिक देह में उनके संजीवन की आहुतियों) का। वास्तव में अग्नि जब इस देह या ब्रह्माण्ड की परम आत्मा है तो उसको लौकिक घी, स्रुवा, अन्नादि से तो केवल पेटपूजा मात्र होगी। यह कैसा यज्ञ

है ? ऐसा नहीं है । बाहरी अग्निकुण्ड में अन्न-घी आदि को स्रुवा या हाथों से डालना भी क्या तमाशा नहीं है ? तब वास्तविक यज्ञ जिसके लिए उन ऋषियों ने एड़ी से चोटी तक का बल लगाकर अभूतपूर्व चमत्कार कर दिखाया था वह अग्नि, वह यज्ञ, वह स्रुवा, वह हवि, वह (कः) कर्ता, कुछ और ही, कुछ निराले, नये अन्तर्जगत् के, नित्य नव-नव रूप में प्रस्तुत होने वाले, केवल अनुभूति मात्र के पात्र और उन पात्रों में भरे इस ब्रह्माण्ड या जीवन के परम सुस्वादु, मधु और फलों से लदे सृष्टि और अतिसृष्टि के दिव्य वृक्षों के उन अनमोल फलों और मधुओं के अलौकिक रसमात्र हैं । इन सब बातों का जानकार मध्ययुगीयों या आधुनिकों में से कौन भाष्यकार या अनुवादक या समालोचक है ? भला आप ही तो बताइये । वेदों में ऐसी समस्याएँ एक दो नहीं, सैकड़ों हैं । इन सबको यहाँ भी नहीं दिया जा सकता, स्थानाभाव है, इनका समाधान कैसे हो सकेगा ? (९)

(१०) ये वै वेदविदृषयस्ते ब्रह्मविदो ब्रह्मवादिन एव ।

(११) तानथाप्याहुरनूचानाः शुश्रुवांसो ब्राह्मणदेवता इति च ।

(१२) यानाहुर्ऋषय इति ते सर्वेऽपि देवासः पितरो मनुष्याश्च ।

(१३) यथाङ्गिरस वशिष्ठ वामदेव विश्वामित्र भारद्वाज कश्यप जमदग्नि गोतमात्रिमनुविवस्वद्बृहस्पतिविश्वकर्मा प्रभृतयः ।

(१४) इन्द्रादयः सर्वे देवा अपि सृष्टिसम्बन्धे तपस्विन ऋषय इव तपन्ति स्वात्मानं सृष्टियज्ञाय ।

(१५) तेभ्यस्ततो जायन्तेऽन्ये देवाः सृष्टिविकासाय ।

(१६) येभ्यो ये देवा उत्पद्यन्ते सृष्टौ ते च पुनर्जायन्ते स्वेभ्य एव पुत्रादिभ्यो यथा 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्तीति' वै अत्र ते इन्द्रादय ऋषयो वै योगिनोऽतिसृष्टिकारिणः ।

एक और बड़ी जटिल समस्या है—जिसकी ओर आज तक कभी किसी भी विद्वान् ने ध्यान तक नहीं दिया, सामर्थ्य से बाहर होने के कारण, सम्भवतः। यह है वेदों में वर्णित 'ऋषि' सम्बन्धी समस्या । यह बताया जा चुका है कि वेदों के निर्माता ऋषियों को जब वेदविद् नाम से पुकारते थे तो वे पहले ब्रह्मवादी थे फिर वेदविद् । क्योंकि वेद नाम ब्रह्म का है, ब्रह्म नाम वेद का, यह आगे सोद्धरण बताया जा रहा है । ऋषि योग दृष्टि से देखने वाले थे, जो देखा उसका वर्णन वेद है, जिसे देखा उसकी अनुभूति की भी अपनी भाषा होती है, वह भाषा उसे छोड़ दूसरी नहीं हो सकती जिसमें इसकी अनुभूति का वर्णन है, अतः वेद और ब्रह्म दोनों एक ही है । इसीलिए वेद को शब्द ब्रह्म या शब्दों में वर्णित उस ब्रह्म

की अनुभूति की भाषा कहते हैं। इसी कारण इसे इतना पवित्र माना भी जाता हैं। अतः इनके ज्ञाता ऋषियों या वेदविदों और ब्रह्मवादियों को अनूचान शुश्रुवान्त्स, और ब्राह्मण देवता के नाम से भी पुकारते थे। यह कोई नई बात नहीं है, इन शब्दों से प्रायः सभी विद्वान् परिचित होंगे, भले ही वे इन शब्दों का उचित प्रयोग न करने के लिए सार्वजनिक दुर्बलता की हिचकिचाहट के प्रवाह में बह गये हों। पर इन ऋषियों के सम्बन्ध को एक बड़ी भयानक समस्या निम्न प्रकार से मुँह बाये खड़ी है जिसने आज तक के सभी व्याख्याकारों को पूरे का पूरा निगल ही डाला है; अर्थात् उनको इस ओर से सावधान होने का अवसर भी नहीं मिल सका है या उन्होंने इस गम्भीर विषय पर तनिक भी चिन्तन नहीं किया है। वह यह है—

जिन-जिन ऋषियों या महर्षियों को सूक्तों के निर्माता के रूप में उद्घोषित किया गया है उन्ही ऋषियों को उन्हीं के सूक्तों या मंत्रों में देवता या पितर या मनुष्य नामक देवताओं का तीन कोटियों में भी वर्णित किया गया है। जैसे अङ्गिरस ऋषि मंत्र रचयिता ऋषि भी हैं और इन्हीं को पितर नामक नवग्वा दशग्वा उप नामक तत्त्व भी कहा गया है। तथा इनके सम्बन्ध में ऐसे भी शब्द उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके भी तात्त्विक स्तर थे—जैसे, अङ्गिरसा अङ्गिरसस्तमा इत्यादि। इसी प्रकार वशिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र, भारद्वाज, जमदग्नि, कश्यप, गोतम, अत्रि, मनु, विवस्वान्, बृहस्पति, विश्वकर्मा प्रभृति को एक ओर से मंत्र और सूक्त रचयिता ऋषि कहा गया है दूसरी ओर इन्हीं को देवता या तत्त्व रूप में स्पष्टतया वर्णित किया गया है और इन्ही को देवरूप ऋषि या 'ऋषय सप्त दैव्या; (ऋ.वे. १०-१३-१-७) भी स्पष्टतया कहा ही गया है। वेदों में प्रसिद्ध जितने भी इन्द्रादि देवता हैं उनको सृष्टि या योग के सम्बन्ध में तप करने वाले, तपने वाले ऋषि नाम से भी समय-समय पर उद्घोषित कर रखा है और कहा गया है कि ये योग या सृष्टि यज्ञ के लिये ऋषिरूप में अपनी आत्मा का तपन आदि करते हैं, इनके इस प्रकार के तप के द्वारा अन्य देवताओं की सृष्टि या अतिसृष्टि का होना बताया है। इस सम्बन्ध में यह एक और बड़ी महत्वपूर्ण व्यवस्था भी की हुई मिलती है कि सृष्टिपक्ष से जिस देवता की सृष्टि या विकास अपने पूर्ववर्ती देवता से बताई गई है, योगपक्ष में इसके विपरीत जो देवता सृष्टि पक्ष में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ था अब योगपक्ष में उसी से उसका सृष्टिपक्षीय पिता पुत्ररूप में उत्पन्न होता है। ऐसे वचनों की वेदों में भरमार है जैसे 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' 'भुवो देवाना पिता पुत्रः सन्' 'स एष पिता पुत्रः' इत्यादि। यहाँ पर अग्नि, इन्द्रआदि देवता सृष्टि के विपरीत अतिसृष्टि या योग द्वारा अनुद्दीप्त पितारूप देवताओं को उद्दीप्त या उत्पन्न करके उनकी अनुभूति करने से उनके पिता

या पितर कहे जाते हैं (यह विषय आगे इसी ग्रन्थ में पूर्णरूप से व्याख्यात मिलेगा)। अतः इन देवताओं का वर्णन यहाँ पर साधारण योगी ऋषियों की तरह करके सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों पहेलियों को साथ-साथ निपटाया गया है। अब प्रश्न उठता है कि 'क्या आज तक किसी ने भी इस जटिल समस्या का समाधान खोजने-सोचने, समझने या समझाने का लेशमात्र भी प्रयास किया है ?' यदि नहीं तो इन लोगों ने किया ही क्या है, यही तो समझ से बाहर की बात प्रतीत होती है (१० से १६)।

(१७) वर्णनाय चैतेषां प्रहेलिकाना (मग्रिमाध्यायेषूत्तरितानां सर्वेषामितो दातव्यानां प्रश्नानां) द्विधा यावरपरविभागौ सर्वत्र निगदितौ कौ तौ ? यथा "अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्ध कतमः स केतुः।" (अथर्व १४-४-२२)

(१८) चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्येत्यादीनां वास्तविकः को रहस्यः ?
(ऋ० वे० ४-५८-३)

(१९) एकपाद् द्विपात्त्रिपाच्चतुष्पात्पञ्चपादादीनां वर्णनायाः क आधारः ?

(२०) के ते सुपर्णाः क एकः सुपर्णः कथं तेषां व्याख्या ?

(२१) काः गावः का गौः कः गौः का धेनुः को वृषभः।

(२२) कोऽश्वोऽश्वौ वा हरितौ वा कौ श्वानौ कथमिन्द्रं 'शुनं हुवेम' इति।

(२३) कथमग्निमाहुः 'पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातममिति' ?

(२४) कथं सोऽय 'मग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्' ?
(ऋ० वे० १०-५-७)

(२५) कथं सोऽय 'मग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य' प्रजापतिर्वा।

(२६) एवं सहस्रशः प्रश्ना येषां वलिवेदिराधुनिकानां पुस्तकेषु सर्वेषु।

उक्त प्रकार की कई पहेलियों को सुलझाने के निमित्त उन्हीं वैदिक ऋषियों ने अपने मंत्रों या सूक्तों मे कई ऐसे जटिल प्रश्नों को स्वयं उठा कर मंत्रबद्ध करके रख दिया है (जिनका उत्तर इस ग्रन्थ के अगले अध्यायों में विस्तारपूवक दिया जा रहा है)। ये वे प्रश्न हैं जिन्हें वैदिक ऋषि अपने दर्शन को पूर्णतः परिचित कराने की दिव्य चक्षु समझते रहे। जो इन प्रश्नरूप विषय के उत्तर की चक्षु ज्ञान या योगरूप विज्ञान से रखता था उसे अक्षण्वन्त या आँख वाला और जो सुनकर ज्ञानी होता रहा उसे कर्णवन्त' कहते थे। इन्हीं को दूसरे शब्दों में क्रम से अनूचानाः' और 'शुश्रुवान्सः' 'ब्राह्मण देवता' कहते थे। इन चक्षुओं और कर्णों को खोलने वाले प्रश्नों में से सर्वप्रथम प्रश्न उनके द्विधा-दर्शन के उन दो प्रकार के मुख्य भागों के बारे में यहाँ पर पुनः उन्हीं की ओर से पूछा जाता है कि वे कौन या कैसे भाग हैं ? जैसे अथर्व ने लिखा है कि आधे भाग से तो इस अखिल

भौतिक ब्रह्माण्ड की पूर्ण रचना की गई, पर वह दूसरा भाग जो अपनी उदात्ततम उद्दीप्ति से केतु, तारे या ध्वजा के समान जाज्वल्यमान है वह कौन या कैसा है ? दूसरा प्रश्न 'चत्वारि शृङ्गा स्त्रयो अस्य पादाः' इत्यादि बचनों की प्रसिद्ध ऋचा का ही है जिसका अर्थ यास्क ने कुछ और दिया है, महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कुछ और ही और सायण ने कुछ दूसरा ही। क्या ये सब ठीक हैं या सब अशुद्ध हैं ? सब तो ठीक हो नहीं सकते, भले ही सभी अशुद्ध हों। इसका उचित, वास्तविक, स्थिर, स्थित रहस्य क्या है ? तीसरा प्रश्न यह है कि वेदों में देवताओं का विवेचन एकपात्, द्विपात्, त्रिपात्, चतुष्पात्, और पञ्चपाद के रूप में अधिकांश में किया हुआ मिलता है यह सब जानते हैं। इस विचित्र वर्णना का मुख्य आधार क्या या कैसी या कौन-सी नवीन या प्राचीन शैली है ? इस सम्बन्ध में यह भी पूछना है कि वेदो में वर्णित वे नाना प्रकार के सुपर्ण या 'एक' 'महासुपर्ण' कौन हैं ? क्या हैं ? उनकी व्याख्या के लिए वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में स्पष्टतया दिये गये विषयों को समझने-समझाने का स्पष्ट आधार क्या है ? इसीप्रकार देवताओं को गौ, गाव, धेनु, गो आदि नामों से पुकारा गया है, क्यों ? बहुत से देवताओं को वृषभ बताया है। क्या हुआ इसका वास्तविक तात्पर्य ? किसी देवता को अश्व, किसी को हरितौ (दो), किसी को श्वान कहा है। और तो अलग रहा इन्द्र को जो सब देवताओं में श्रेष्ठ कहा जाता है, उसे भी श्वान नाम की टेर से पुकारा गया है, यह क्या गड़बड़ घोटाला है ? अग्नि को पुरोहित क्यों कहा गया है ? यह कैसा पुरोहित है ? इसे यज्ञ का देवता क्यों कहते है ? यह यज्ञ कौन है ? यह ऋत्विज भी क्यों या कैसा है ? इसी को होता भी क्यों और कैसे कहते हैं ? यह किस प्रकार के रत्नों को धारण करने वाला है ? यही क्यों है ? और देवता क्यों नहीं हैं ? इसको विद्वान् नाम से पुकारने का क्या तात्पर्य है, यह पञ्चभागीय सप्ततन्तवीय त्रिवृतीय यज्ञ का करनेवाला किस प्रकार है ? यह कैसा यज्ञ है ? किसका और कहां करता है ? यही ऋत से प्रथम उत्पन्न होने वाला क्यों है ? औरों ने क्या झख मारी है ? इसी प्रकार के हजारों प्रश्न और पहेलियाँ हैं जिनका उत्तर कहीं न कहीं वेदादिकों में ही स्पष्टतया उल्लिखित होने पर भी आज तक कोई भी विद्वान् उसको उचितरूप से प्रस्तुत करने का सामर्थ्य नहीं दिखा सका है। जिस व्यक्ति के पास इन प्रश्नों के उचित उत्तररूप दिव्य चक्षु और दिव्य कर्ण नहीं हैं जो इन हजारों प्रश्नोत्तरों का सहस्राक्ष पुरुष नहीं है, जो अपनी इन सहस्राक्षों से वेदों के सहास्राक्ष को नहीं देख सकता और अपने सहश्र कर्णों से उस सहस्रश्रोत्र पुरुष को नहीं सुन सका है, प्रत्येक विद्वान् इस मत से अवश्य सहमत होगा कि, उस व्यक्ति से वेदों के समुचित अर्थ प्राप्त होने की केवल एक दुराशामात्र होगी। फलतः वेदों के विषय का जो सत्य उक्त प्रश्नों

के उत्तररूप में अग्नि या प्रकाश के समान जाज्वल्यमान है वह इस प्रकार की दिव्य चक्षुओं और दिव्य श्रोत्रों से हीन अनेक विध व्याख्याओं के हिरण्मय पात्रों से नितान्त पिहित, तिरोहित और आच्छादित होकर उपनिषद् युग से अबतक सुषुप्त सी, मूर्च्छित-सी या घुटे दम की होकर जहाँ की तहाँ और ज्यों की त्यों ही रह गई है (१७ २६)।

२७—(क) अप्यस्त्यतीवोच्चकोटेः सभ्यताऽऽर्याणां तावत्प्राचीनानामपि ।

२८—(ख) सत्याः श्रुतयो ब्राह्मणान्येव यानि श्रुतितो लब्धानि ।

२९—ब्राह्मणान्याहुरग्रजानि वेदानां संहितानाम् येषां तानि वै पृष्ठभूमयः श्रुतयः ।

२९—यतो 'नापृष्ठभूमिकं किञ्चित्साहित्यं हि क्वचिद्भवेत् ।'

३०—अलिखितानि ब्राह्मणानि वै पृष्ठभूमयो वेदानाम् ।

३१—लिखनारम्भस्तु तेषां श्रुतिपृष्ठभूमिविनाशभयात् संहितानिर्माणा कालान्तरमेव यतः सहस्रशः श्रुतयो याश्च ब्राह्मणेषु स्थानरहितास्ताः स्मृतिषु पुराणादिषूपलभ्यन्तेऽन्यरूपेण ।

३२—तस्मान्मन्त्रब्राह्मणो वेदः पुराणं पञ्चमो वेदः ।

३३—तस्मादेव नो भेदो विषययोर्मन्त्रब्राह्मणयोर्व्याख्यानादतिरिक्तमाख्यानानां कर्मकाण्ड विधीनामत्यावश्यकीयानां सुविधायै पाठकानामेव ।

३४—तत्त्वत्पुराणेषु स्मृतिषु रामायण-महाभारतयोश्च ।

३५—उत्तरोत्तराणां निर्माणे मुख्यकारणं तु वदविदां ब्रह्मवादिनां योगिनां संख्यायाः संहितायुगस्याल्पीयसीतोप्यल्पीयसीतरादप्यल्पीयस्तमा सम्भवात् क्रमशः ।

३६—अत एवाहुर्ब्राह्मणा "न्यथ ये ब्राह्मणा शश्रुवान्सोऽनुचानास्ते मनुष्य देवाः।···मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रूवुषामनूचानानामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति॥"

(श० प० ब्रा० २-२-२-६)

३७—अतीवावश्यकीयं ज्ञातव्यमेतद्यदुपनिषत्स्वाररायकेषु च सर्वस्वीकृतज्ञानदर्शनभण्डारेषु नहि कश्चितन्नूतनो विषयो यो वेदेषु ब्राह्मणेषु च नहि लभ्यते। नहि तेषु कस्याश्चिन्नवीनाया भावनायाः काचि दप्युद्भावना, नापि ते स्वतन्त्रा ग्रन्थाः कथमपि, निबद्धत्वात्स्वेषु स्वेषु च वेदेषु ब्राह्मणेषु सुस्पष्टं चेति ।

एक से एक कई नई समस्यायें हैं । संहिताओं का साहित्य एक महान् सागर के समान अतीव विस्तृत है, यद्यपि सैकड़ों शाखाओं का ह्रास हो चुका है । इनकी संस्कृति में क्या नहीं है ? वास्तोष्पति के वर्णन में हर्म्य और प्रसादों का, इन्द्र-वृत्रादि वर्णनों में नगर, किले आदि का, प्रजा-राजा के वर्णनों में ग्रामादिकों का,

पणियों या बनियों का, सूर्या के वर्णन में रेशमी कपड़ों का, बर्हि या आसन्दी के वर्णनों में सिंहासन पीठ आसनादिकों का, स्त्रियों के 'सुवासा' या रमणीय वस्त्र धारण करने का, 'चतुष्कपर्दा' स्त्री के वर्णन से स्त्रियों के केशों की सजावट का, वशिष्ठों के केशभूषा का, उपानह, उष्णीष, अंगूठी, ग्रैवेय, हार, माला का, कई प्रकार के कई अश्व-वृषभ आदि से जुते हुए रथों का, जैसे अश्विनी के १०० बैल जुते रथ का, कृषि का, आध्यात्मिक (रजसो) विमान का, नाना प्रकार के व्यञ्जन-पुरोडास, अपूप, धाना आदि का, अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सरीसृप हस्ती, उष्ट्र, रासभ, वडवा, अज, अवि, अजा, कुक्कुट, सुपर्ण, गरुत्मान्, प्रभृतिका; सूती, कपड़े, ऊनी कपड़े, रेशमी कपड़े और उन के ताने-बाने से बुनने का, नाना प्रकार के रत्नों, लौहकार, स्वर्णकार, ताम्रकार, कांस्यकार, रजतकार और इनके धातुओं का, तथा ब्रह्मणस्पति की भट्टी की आग फूंकने की धौंकनी का, तीन लोकों, सात भुवनों, सात सागरों, सातों पर्वतों, अनेकों नदियों, अनेकों वनों, हिमालय आदि पर्वतों, वाहनों, नावों, महापोतों का–जैसे आदिति का शतारित्रा और स्वारित्रा नाव का, दूध, दही, घी, मलाई, मट्ठा, मक्खन, मांस प्रभृति का; साभाओं, सदों, संसदों, विदथों, आख्यान, व्याख्यान, ब्रह्मोद्य, प्रमोद, विनोद, पहेली, प्रश्न, कथोपकथन, लिखना (श.प.ब्रा. अथर्ववेद) पढ़ना, सुनना, मनन, गुनन निदिध्यासन, तपः, परिश्रम, आश्रम, पाठशाला, विद्याध्ययन, समावर्तन, नाना प्रकार के यज्ञ, अनुष्ठान, भक्ति-योग प्रभृति उच्चकोटि की समस्त संस्कृतियों का; विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का जैसे संहिता सम्बन्धी शाखाओं, प्रशाखाओं, उप-शाखाओं का; शास्त्र सम्बन्धी निरुक्तियां, व्याकरण, दर्शन, पुराण, गाथा, इतिहास, धर्म, नीति, समाज व्यवस्था, वर्ग, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदि का; अक्षर ब्रह्म के आठ अरब चौसठ करोड़ अक्षरों का, एक से लेकर एक आगे २० शून्य तक (१००००००००००००००००००००) की गिनतियों या संख्याओं का; संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, वर्ष के ३६० दिन, बारह मास, तेरहवें मास (३६५$\frac{१}{४}$ दिन के हिसाब से और उसी की सातवीं ऋतु)। और ७२० दिवरात्रों, मुहूर्तों, क्षिप्रों, एतर्हियों, इदानियों; प्राणों, अनाओं, निमेषों, लोमगर्तों, स्वेदायनों और स्तोकों के विभाजनों द्वारा एक अहोरात्र के ३२८०५०००० विभाजनों का; विषुवद्रेखा का; सौरमण्डल के (ऋ. वे. १-१५५-६) ९० अंश के चार भागों द्वारा ३६० अंशों का, ग्रहों, अतिग्रहों, राशियों और नक्षत्रों का; ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम सूक्तों और पूरे अथर्व में सोमलता प्रभृति जीवनामृत रूप उच्चकोटि की ओषधियों का; पूरे ब्राह्मण्ड के अनन्त खगोलों की सृष्टि की मौलिक रचना के दैविक, भौतिक, आध्यात्मिक, सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रम का; शरीर के बाहरी-भीतरी सूक्ष्म मर्मरूप विभागों का। और यह धारणा भयंकररूप से आत्मघाती है कि इन सबके ज्ञाता, जानकार मनीषियों तथा

आभ्यन्तर ब्रह्माण्ड की अलौकिक शक्तियों से अखिल ब्रह्माण्ड को हस्तामलकवत् देखने या साक्षात्कार करनेवाले कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने उनके मन्त्रों को कर्मकाण्डानुरूप ढालने के लिए इनके ब्राह्मण ग्रन्थों को लिखा हुआ यह है—ब्राह्मण ग्रन्थों का जितना भी विषय उपलब्ध होता है वह संहितायुग तथा उसके पूर्व युग में आर्य जनजाति की संस्कृति परम्परा रूप में, संहिता विषय की पृष्ठभूमि के रूप में, समस्त आर्य जाति में आख्यान, व्याख्यान, पुराण, इतिहास, दर्शन, ज्ञान विज्ञान और कर्मकाण्ड रूप में विखरी पड़ी हुई थी जिनके खेत में संहितारूप वृक्ष तथा उसमें शाखा-प्रशाखायें उगी थीं। अर्थात् उस युग में या संहिता निर्माण युग में ब्राह्मण ग्रन्थों का विषय सच्चे रूप में श्रुतियों के रूप में था, अलिखित, असंकलित था, परम्परा से प्राप्त होता जाता था। अतः इन्हें ही श्रुतियां कहते रहे। परन्तु संहिता निर्माण के कुछ काल पश्चात् जब इन श्रुतियों का ह्रास होने लगा, साथ में, जैसा पहले भी बताया जा चुका है, अनूचान शुश्रुवांस योगी-यतियों की उत्तरोत्तर कमी होती चली गई तो उस युग के महर्षियों ने कम से कम संहिता के तीन मुख्य स्तम्भों—सृष्टि, अतिसृष्टि और उनका बाह्याभिनय—में से अन्तिम को प्राधान्य देकर उसका सर्वाङ्गीण वर्णन देते हुए शेष दो स्तम्भों के सन्दर्भादि समस्त आवश्यक सामग्री को उसमें सम्मिलित कर 'आम के आम गुठली के दाम' की कहावत पूर्णतः चरितार्थ कर वेदों की सुरक्षा का एक ऐसा महान् अभेद्य किला बना दिया, जिसके अन्दर आजतक के समस्त वेद व्याख्याताओं में से कोई एक भी नहीं घुस सका, धन्य इन ब्राह्मण ग्रन्थों के संकलनकर्ता ऋषियों को, यही एक आवाज सब कुछ कह देती है। यह बात भी नहीं कि इन ब्राह्माण ग्रन्थों में प्रथम दो स्तम्भों पर कुछ लिखा ही नहीं। भई उपनिषद और आरण्यक तो इन्हीं के अन्तिम भाग हैं उनमें इस कमी की पूरी पूर्ति कर दी गई है। और आधा ब्राह्मणभाग दर्शनिक विवेचना देता ही है, तथा जहाँ कर्मकाण्ड का विवेचन है वहां भी तो अभ्यन्तर यज्ञ का ही वर्णन बाह्य ऋत्विजों के द्वारा नाटक की तरह प्रस्तुत किया गया है। अतः सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य मात्र दार्शनिक विषयों की व्याख्या से भरा पड़ा है। और किसी भी प्राचीन विषय को उससे अर्वाचीन युग में संकलित करना उसकी प्राचीनता को ठेस या ठोकर नहीं मार सकती। हाँ, यदि जिस प्रकार के आख्यानादि संहिताओं में मिलते हैं, उनसे इन ब्राह्मणों में उपलब्ध आख्यान भिन्न होते तो कोई कुछ कह सकता था। यहाँ तो दोनों के विषयों में नितान्त अभिन्नता है। संहितायें भी कर्मकाण्ड और उसके परिभाषिक शब्दों से रहित नहीं हैं। अतः अनैतिहासिक श्रुतिरूप ब्राह्मणग्रन्थ ही सच्ची श्रुतियां और संहिताओं की पृष्ठभूमियां हैं जिनकी ऐतिहासिक या संहिताओं के पश्चात् निर्मित आकृतियां या उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ साकार प्रतिमायें हैं। फलतः इन संहिताओं

की व्याख्या के लिए जिन महामनीषियों ने इन ब्राह्मण ग्रन्थों को साक्षात् और सर्वप्राचीन व्याख्या को सम्मान देना तो दूर रहा, इनकी ओर तनिक भी नहीं झांका है उनकी व्याख्यायें चाहे कितने ही बड़े प्रयासों या परिश्रमों से लिखी गई हों, प्रामाणिकता की कोटि से स्वयं दूर फिसल जाती हैं।

इन सच्ची श्रुतिरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में जो—वेदों की प्रामाणिक पृष्ठभूमियों की साकार प्रतिमायें हैं—जो जो शेष श्रुतियां स्थान न पा सकने के कारण छूटी रह गई थीं, उनको परम्परा से सुनते आनेवाले मनीषियों ने इतिहास, पुराण, स्मृतियों धर्मग्रन्थों में धीरे-धीरे संकलित करके रख दिया है। अतः छान्दोग्य ने 'पुराण पञ्चमो वेदः' ठीक ही लिखा दिया है क्योंकि इनमें भी वेदों का ही विषय उप-बृंहित होने के साथ शेष श्रुतियों का भण्डार भी मिलता है, महाभारत में भी इसी प्रकार का विषय है; अतः उसे भी 'भारतं पञ्चमो वेदः' कहते हैं। इस प्रकार हमें वेदों की खोई सम्पत्ति को खोजने के लिये केवल इन्हीं ब्राह्मणों, उपनिषदों और आरण्यकों तक ही सीमित नहीं रहना है वरन् इन (पुराणादिकों) से एत-द्विषयक जो कुछ भी सामग्री सुलभ हो सकती है उसका भी सदुपयोग अवश्य करना है। परन्तु ग्रीक और रोमन आर्य अपने साथ उस संहिताभाग को नहीं ले जा सके, जिसमें दर्शन था, और पारसीकों के जिन्दावेस्ता के देवरूप तत्त्वों की व्याख्या की श्रुतियाँ किसी ने ब्राह्मण रूप में प्रस्तुत ही नहीं कर सकी। अतः इन दोनों देशों के आर्य वैदिकदर्शन के अमृत से सदा के लिए वंचित रह गये। यह ब्राह्मण ग्रन्थों की बड़ी भारी विजय का सूचक है। विदेशी नवीन व्याख्याताओं की समझ में यह बात इसीलए नहीं आ सकी है कि उन प्राचीन वैदिक आर्यों की श्रुतिरूप उक्त सामग्री भारत को छोड़ अन्य देशों में अपने मूलदर्शन से उच्छिन्न होकर केवल किस्से, कहानी रूप में बिखरी हुई मिलने से वे इन्हें निराधार काल्प-निक और मनोविनोद की, बहुत हुआ तो नैतिक शिक्षा मात्र की सामग्री समझ कर लेजेन्डस और मिथ (काल्पनिक) कह कर टाल देने की अपने देशों की आदतों का यहाँ भी प्रयोग कर बड़े विचारक बनने का ढोंग उछालने लगे। इन कथाओं का उनके देशों में प्रचलित होना इस तथ्य को पक्की प्रमाणिकता प्रदान करता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की आख्यान गाथा रूप सामग्री संहिताओं के निर्माण काल से बहुत-बहुत प्राचीन है, उस युग की है जब कि भारत पारसीक आर्य तथा ग्रीक-रोमन आर्य एक वंशजों के रूप में साथ रहते रहे। भारत के पुराणों में जो कुछ भी सामग्री है वह न मिथ है, न लेजेंड्स्, न किस्से हैं, न फालतू कहानियाँ, इनमें ठोस वैदिक दर्शन के सच्चे स्वरूपों को सत्य से सत्य रूप में कूट-कूट कर भरा गया है। इनको यथास्थान निबद्ध कर देने का मूल कारण यह था कि संहिता युग के पश्चात् वैदिक युग के जैसे योगी-यती, अनूचान शुश्रुवान् ब्राह्मण देवताओं की

संख्या उत्तरोत्तर घटती ही जा रही थी। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में यह नियम भी बना दिया था कि कोई भी यज्ञ बिना ऐसे ब्राह्मणों के किया ही न जाय, या सदा ऐसे ही ब्राह्मणों को प्रमुख बनाकर किया जाय। वेदों में विप्राः, वीराः, अक्षण्वन्तः, कर्णवन्तः, अनूचानाः, शुश्रुवांसः, कविः, कारुः, ब्राह्मण देवता नामक योगियों, ज्ञानियों, यतियों, सिद्धों की नाना कोटियों का, (जैसा कि सूत्र ५ में पीछे बताया जा चुका है) सब वर्णन उपलब्ध है। अब शेष रह ही क्या गया? आजकल की नकली सभ्यता के फैशन, रेल, मोटर, वायुयान, कल, कारखानों-को छोड़ जो कुछ भी एक उच्चकोटि की सभ्यता वाली जाति या राष्ट्र के पास होना चाहिए वह सब तो वेद-संहितायुग के आर्यों के पास था ही।

ऐसी उदात्त, उच्चकोटि की सभ्यता को—जो अपने विषय में आज की फली-फूली, विकसित सभ्यता से भी लाखों गुने ऊँचे स्तर की है, जिसका अब तक उतनी पुरानी होने पर भी कोई जोड़ा नहीं है, अपने ही सम अद्वितीय है—जिस भद्र महाशय ने इन संहितओं को सबसे पहले गड़रियों के गाने, कहने का घृणित और उपहासास्पद साहस किया और उसी के ऐसे गर्हित संस्कार को प्रधानता देकर, जिन्होंने इन्हें अविकसित जातियों की प्रकृति को देख कर भय और विस्मय भरे गीतों का संग्रह समझ कर इनकी व्याख्या को तदनुरूप करने की चेष्टा की, उन्होंने इनकी क्या या कैसी व्याख्या की होगी उसका तो अब पाठक को ही स्वयं निर्णय कर लेना चाहिए। ये लोग तो प्रारम्भ ही से उलटे चल पड़े हैं, वेदों के ज्ञानभण्डार की दिशा ही दूसरी है, ये किसी और ही लोक की यात्रा को चल बसे हैं। वैदिक आर्य और प्रकृति से डरना! ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। यह प्रकृति बेचारी तो उन वैदिक आर्य, ऋषि, महर्षि, योगी, यतियों की हथेली में तितली या पुतली की तरह नाच-नाच कर उनका मनोविनोद किया करती रही, भला ये उससे भयभीत होने वाले थे! बिना आगा-पीछा देखे, बिना सोचे-समझे क्या मनसूह बातें कह दीं इन लोगों ने !!!

अस्तु, इस विस्तृत, पर संक्षिप्त भूमिका को प्रस्तुत करने का यहाँ पर मुख्य उद्देश्य यह पूछने का था कि जिस संहिता साहित्य में पूर्वोक्त अनन्त ज्ञानों का असीम भण्डार है उसकी पृष्ठभूमि क्या रही होगी? क्या कभी कोई भी साहित्य बिना पृष्ठभूमि के आविर्भूत हो भी सकता है? यदि नहीं तो इस विशाल संहिता-साहित्य की पृष्ठभूमि कहाँ है? यदि झटपट उत्तर चाहिए तो इस विशाल संहिता साहित्य की पृष्ठभूमि ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण नाम ब्रह्म या वेदविषयक श्रुतियों का है, ये ब्राह्मण परम्परा से श्रुत-प्रतिश्रुत होते चले आये, अतः श्रुतियाँ कहलाते हैं। इनका विशाल, महाविशाल भण्डार या इनमें निहित आर्यों के पूर्वजों की परम्पराओं और संस्कृतियों का सागर ही इन संहिताओं की मूल पृष्ठभूमि है।

पर आलोचकों के ओठ यह कहने या उलाहना देने के लिए फड़क रहे होंगे कि ये ब्राह्मण (ग्रन्थ) तो संहिता युग के पश्चात् नियमित रूप से सम्पादित किए गये थे। ठीक है, इसे कौन नहीं मानता। पर आप ध्यान से देखकर संहिताओं में वर्णित किसी भी विषय को क्यों न ले लें, उसकी ससन्दर्भीय, संगति-पूर्ण, साख्यान, सेतिहास, ससांस्कृतिक, सकाल, सदेश, सपात्ररूपी व्याख्या तब तक नितान्त असम्भव है जब तक हम इसके पात्रों के उक्त सन्दर्भादिकों को ब्राह्मण ग्रन्थों से टटोल कर, समझकर सामने न रख लें। दूसरी ओर इन संहिताओं का वर्ण्य विषय उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से रत्तीभर भी पृथक् नहीं है। जो ब्राह्मण ग्रन्थों में है वही संहिताओं में है, जो संहिताओं में है वही ब्राह्मण ग्रन्थों में भी। इसी अभिन्नता के कारण प्राचीनाचार्यों ने ठीक ही कहा था कि 'मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः'। इस परिस्थिति से अनभिज्ञ विद्वानों की यह धारणा है कि पहले संहितायें रची गई तदनन्तर ब्राह्मण (२९-३७)।

३८—यतस्तेषां निर्मातृभिस्तु दुन्दुभिभिर्घोषितं वारं वारं भवती'ति श्रुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।'

३९—आसूपनिषत्स्वारण्यकेषु तेषु च मध्ये या प्रथमेशावास्यमित्युपनिषत्सा तु यजुर्वेदस्य माध्यन्दिन्याः शाखायाश्चत्वारिंशोऽध्याय एव। तस्यां चान्यासां च वर्णनविषयेष्वनेका मंत्राः स्वेषां स्वेषां वेदानां ब्राह्मणानामेव च वाक्यानि समुद्धृत्य समुद्धृत्य तत्तद्विषयाणां दार्शनिकानामभीष्टानामृषीणां तेषां वेदानां ब्राह्मणानामेवोद्दलितोतप्रोताश्च।

४०—तस्माद्य एव देवा वर्णनविषया वेदानां ब्राह्मणानां त एवासूपनिषत्स्वारण्यकेषूपवर्णिताः संक्षेपेण साररूपेण तत्तद्दर्शनक्रमेण सन्दर्भेणावश्यकीयेन च सवेद-मंत्राः स्वस्वस्पष्टव्याख्योद्दलिताः स्थाने स्थाने।

४१—तथा च तैर्भर्त्सिता भवन्ति ते ये केवलं कर्मकाण्डाभिनयिनं द्रव्ययज्ञ-विधिमेव वेदार्थं मन्यन्ते स्म यथा—

(क) "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(ख) "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियान्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमंलोकं हीनतरं वा विशन्ति।

तपःश्रद्धे ये ह्युपचरन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यन्तरात्मा ।"

(मुण्डक २–८ से ११)

(ग) एवमेव गीतायाम्—

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।"

(२ । ४२-४५)

(घ) क्षम्यतामेतत्सर्वमाधुनिकवेदव्याख्यातृषु च पूर्णं घटितं भवति

४२—एपूद्धरणेसूपनिषद्भिर्गीतया च स्पष्टोक्तं भवति यद्वास्तविको विषयो वेदानां ब्राह्मणानां ग्रन्थानां योगदर्शनमेव सृष्टिदर्शनसहितं, हेयं च कर्मकाण्डं हीनतरं चाभिनयिकमात्रमेवेति ।

ओह ! हम तो पुराणों धर्मग्रन्थों तक चले आये हैं, पर अभी तो उपनिषदों के विषय की एक बड़ी भारी समस्या सामने खड़ी देख रही है कि मेरे बारे में तो कुछ कहा ही नहीं । यद्यपि इसके सम्बन्ध में धाराप्रवाह के अनुरूप जो आवश्यक वक्तव्य था वह तो दे दिया गया है, पर उस वक्तव्य से यह समस्या इसलिए पूरी नहीं सुलझी है कि आजकल के विद्वानों ने इनके बारे में एक ऐसी निर्मूल धारणा बना रखी है जिसका निराकरण किये बिना इन (उपनिषदों) के विषय की स्थिति का पूरा परिचय नहीं मिल सकता । जिस निर्मूल धारणा की यहाँ चर्चा की जा रही है वह यह है—आजकल के धुरंधर विद्वानों ने अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण को प्रबलता देने के अनुरोध से यह निष्कर्ष निकाल रखा है कि भारत के आर्यों ने दार्शनिक विचारणा का प्रारम्भ उपनिषद् युग में ही किया था, इसके पूर्व संहिताओं और ब्राह्मणों में या तो कोरा कर्मकाण्डीय विषय है या प्रकृति से भयभीत या विस्मित होने के संगीतमय उद्गार मात्र हैं, जैसा कि पिछले परिच्छेदों में कहा और प्रत्याख्यात भी किया जा चुका है । यह धारणा एक महान् धोखा है । यदि आपको आश्चर्य न हो तो यह कहना तिल भर भी असत्य नहीं है कि इन उपनिषदों में—जिन्हें आजकल के सभी विद्वान् बड़ी भारी कृपा करके समस्त ज्ञानविज्ञानमय दार्शनिक विषयों का भण्डार मानते आ रहे हैं--इन उपनिषत्कारों का अपना कोई नवीन विषय, अपनी कोई नवीन उद्भावना या नवीन विचारणा रत्तीभर भी नहीं है । इनमें जो कुछ भी लिखित,

व्याख्यात, वर्णित विषय है, वह मूलतः संहिताओं और इनके पूर्ववर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों का संक्षिप्त सारमात्र है। इन्होंने अपनी-अपनी शाखाओं में वर्णित विषय के मक्खन को बड़ी मार्मिक, हृदयस्पर्शी और सरल-सुबोध भाषा में अपनी नवीन शैली गद्य-पद्यमय भाषा में लिखा है, यह शैली या भाषा ही इनकी मात्र नवीनता है, विषय इनका अपना बिलकुल है ही नहीं। इस तथ्य को इनके निर्माता आचार्य छिपाकर भी नहीं रख गये हैं। वे बार-बार दुन्दुभिघोष या डंके की चोट से घोषित कर गये हैं कि "यह विषय उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, ऋषियों, महर्षियों से परम्परारूप या श्रुतिरूप में सुना है, उन्होंने यह बताया भी है, वही हम यहाँ दे रहे हैं।" इसीलिए उन्होंने सदा ही 'य एवं वेद' की दुहाई दी है कि वेद में ऐसा ही वर्णन है। यह तो इन्हीं उपनिषत्कारों ने स्थान-स्थान पर स्वयं स्वीकार कर रखा है, जिस तथ्य से उक्त सब आलोचकों ने अपनी आँखें बिलकुल मूँद ली हैं।

अब इनके वर्णित विषय की भी परीक्षा कर लें, जिससे उक्त तथ्य स्वयं सत्यता की कसौटी में चोखा उतर आवेगा। सबसे पहले सर्वप्रथम उपनिषद् 'ईशावास्य' को लीजिए। यह उपनिषद् तो स्वयं संहिता ही है। इसमें मुख्य विषय पूषा कपर्दी ईशान नामक देवता का विवेचन है। यह शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा का ४० वां अध्याय है। इसका मुख्य मंत्र 'अग्ने नय सुपथा राये' इत्यादि ऋग्वेदादि सभी संहिताओं और शाखाओं में भी उपलब्ध होता है। इसमें कपर्दी ईशान नामक पूषा देवता की प्रार्थना है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदों में भी ऋग्वेदादि के मंत्रों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या वैदिक दर्शनानुकूल बैठाई गई है। केन, कठ आदि में इन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवताओं का वैसा ही विवेचन है जैसा कि ऋग्वेदादि में मिलता है। ऐतरेय, मुण्डक, प्रश्न में भी इन्हीं देवताओं, प्राणों, इन्द्र, इदिन्द्र विदृतिद्वार भेत्ता रूप वैदिक महायोगियों (ऋग्वेदादि २-११-१६, १-१०१-५), देवयान, पितृयान आदि वेदविहित विषयों ही का प्रतिपादन है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक प्रभृति में साम, गायत्री, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, वाक्, प्राण, मन, चक्षु, श्रोत्र के योगयज्ञ सम्बन्धी व्याख्यान और वैश्वानरादि अनेकाग्नियों, मधुवाद आदि अक्षर ब्रह्म वर्णन आदि सब वैदिक विषय ही हैं। इसी प्रकार श्वेताश्वतर ने कठ के समान तत्त्वों के उलटे क्रम द्वारा योगप्रधान विषय को ही प्रमुखता दी है। फलतः इन सबमें जो-जो विषय संहिताओं और ब्राह्मणों में उपलब्ध होता है उन्हीं का सार दिया हुआ मिलता है। इन्होंने उन विषयों को दार्शनिक क्रम से उतार कर वेदों और ब्राह्मणों की व्याख्या की पूरी सहायता की है, क्योंकि इनका केन्द्रीभूत विषय उन्हीं मुख्य-मुख्य देवताओं का है जिनकी वर्णना संहितादि में प्रशस्तरूप में मिलती है, और उनके मंत्र ` क ` भी साथ-साथ दे रखा है। जिस प्रकार ऋग्वेदादि ने

कोरे कर्मकाण्डानुयायी लोगों को फटकारा था (सूत्र २ से ६ तक देखें) ठीक उसी प्रकार इन उपनिषदों के आचार्यों ने उन्हें बुरी तरह लताड़ा है। इसका स्पष्ट आशय यह निकलता है कि ऋग्वेदादि संहितायें ज्ञानमार्ग को उतना ही अधिक महत्व देती रहीं जितना ये उपनिषद् उनके पदचिह्नों में चलकर दे रहे हैं। ऋग्वेदादि के ऋषियों ने तो साधारणतः परिस्थिति का बोध कराया पर इन्होंने तो गालियां तक दे दी हैं। कह दिया है कि "ये तो अविद्या में रमे हैं, फिर भी अपने को पण्डित मानते हैं, ये नीच वृत्तियों का अनुसरण करते हुए बड़े मूर्ख हैं। अपने अनुयायियों को जैसे अन्धा अन्धे को ले जाता है वैसे ढकेलते जा रहे हैं। ये ऐसी अविद्या में फँसे भी अपने को कृतार्थ समझने की मूर्खता करते हैं। इन कर्मों में फँसे ये वास्तविक मार्ग को नहीं जान सकते, अतः कर्मफल क्षीण होते ही पतित हो जाते हैं। ये इष्टापूर्तादि को कर्म का अन्त मानते हैं, श्रेयः के मार्ग को ये मूर्ख नहीं जानते। कर्मकाण्ड का फल भोग कर ये हीन लोक में गिरते हैं। इसके विपरीत जो योगादि तपः करते तथा उसमें श्रद्धा रखते हैं वे शान्त ब्राह्मण भिक्षाचर्या या योगचर्या करके योग द्वारा सूर्य द्वार को भेदकर अन्तरात्मा पुरुष के अमृतमय लोक को प्राप्त हो जाते हैं।" इसी प्रकार इन उपनिषदों की सार-भूत गीता ने भी ऐसे कर्मकाण्डी लोगों को ठीक इसी भाषा में मूर्ख कह कर बुरी तरह भर्त्सित किया है। इस सम्बन्ध के गीता के श्लोकों का अर्थ तो प्रायः सभी को सुविदित ही होगा। अतः पुनरुक्ति व्यर्थ है।

क्षमा कीजिए, यदि इस ग्रन्थ को संहिताओं के महर्षि या उपनिषदों और गीता के महायोगी, महापुरुष लिखते तो वे आज भी आजकल के वेद व्याख्यातारों के लिए उनकी केवल कर्मकाण्डपक्षीय या नितान्त अनभीष्ट मात्र प्राकृतेय पदार्थविषया व्याख्या देखकर केवल उक्त प्रकार की भाषा का प्रयोग करने से ही तृप्त न होते, वरन् जिस प्रकार वैदिकों से उपनिषत्कार और उपनिषत्कारों से गीताकार उत्त-रोत्तर कटु से कटुतर भाषा का प्रयोग कर चुके हैं उसी क्रम से यहाँ वे और अधिक आगबबूला होकर और अन्त्यन्त बौखला कर, अति ही कटुतम भाषा को अपना-कर, उससे इन वेदों को दुर्वस्त्र रूप व्याख्याओं से मढ़कर दुर्वासा का रूप देने वालों ही की कृति की दुर्वासारूप घोर कृत्या को सुलगा कर उस भाषा की चिन-गारियों से उन्हें ही भस्म कर देते, इसमें तो लेशमात्र भी सन्देह नहीं; पर यह दुर्बल लेखक तो इन विद्वानों से नतमस्तक होकर यही प्रार्थना कर रहा है कि 'शत्रूणां बुद्धिनाशाय मित्राणामुदयस्तव' अर्थात् आप विद्वानों में से सभी में समीचीन सद्भा-वनाओं का चन्द्रोदय हो और सभी विपरीत भावनारूप भ्रातृव्यवर्ग तत्काल अस्ता-चल को पधारे (३८-४२)।

अध्याय १, पाद २

वैदिक परम्परा

(१) अथ सैषा योगमायामहिमापरम्परास्माकं वेदेभ्य आरभ्य ।

(२) या द्वितीयाध्याये प्रथमे पादेऽस्य ग्रन्थस्य सूत्राच्छतैकसहिताद्द्वितीया-'तद्यावन्ती' त्यत आरभ्य पञ्चदशोद्धरणानि यानि वेदेभ्यो दत्तानि योग-सम्बन्धीनि तान्यत्रावलोकनीयानि ।

(३) बाहुल्येन वेदेषु सूक्तानामेषां त्रयाणामग्नीन्द्रसोमानामेतत्सिद्धं यत्तेषु चर्षिषु चैतेषां देवतत्त्वानां योग एव प्रसिद्धमिति ।

बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे भारत वर्ष में वैदिक काल से लेकर अब तक निरन्तस्रोत से प्रवाहित होती चली आ रही योग परम्परा की महिमा पर प्रकाश डालने का समुचित प्रयत्न आज तक किसी भी विद्वान् ने किया ही नहीं है । इस योग पद्धति का नाम योग-माया भी है । सबसे पहले यह देखना है कि वेदों में या सूक्तों या अध्यायों में अग्नि सोम और इन्द्र का वर्णन इतनी बहुलता से क्यों किया गया है ? लोग इसे एक प्रथा सी समझ बैठे हैं । पर बात दूसरी है । ये तीनों तत्त्व रूप देवता मुख्यतः अतिसृष्टि या योग से ही सम्बन्ध रखते हैं । सृष्टिपक्ष में इनके अन्य प्रचलित या प्रसिद्ध नाम हैं जिन्हें कम विद्वानों ने समझ या खोज पाया है । वैदिक तत्त्वों को चाहे वे सृष्टि पक्ष के हों या अतिसृष्टि पक्ष के, एक अन्य प्रसिद्ध 'ऋषि' नाम से पुकारा गया है । ये दोनों पक्षों में तपः करते हैं, यह ब्राह्मण ग्रन्थों तथा मन्त्रों में बारंबार घोषित किया गया है । और सभी इन्द्रादि देवताओं को ऋषि नाम से भी पुकारा गया है । इसका मुख्य कारण यही है कि ये योगीरूप ऋषि तत्त्व हैं । इन तीन देवताओं की योग सम्बन्धी समाधि की नानारूपिणी अवस्थाओं का वर्णन किसी प्रकार पूरा हो ही नहीं सकता । अतः वैदिक ऋषि गण इनका वर्णन देते थकते ऊबते नहीं, यह विषय इनको इतना अधिक प्यारा है । इसके वर्णन से उस समाधि अवस्था के अमृत की बूंट पीते भला कौन थक सकता है ? इस ग्रन्थ के अगले अध्याय के १०२ वें सूत्र के 'तद्यावन्ति' शब्द से लेकर आगे के १५ सूत्रों में जो जो उद्धरण वेदों से उद्धृत किए गये हैं वे सब स्पष्टतः योग सम्बन्धी ही हैं। इस पर जो उंगुली उठावे उसे वेदों को छूने का अधिकार ही नहीं प्राप्त है ; चाहे कोई कुछ मनमाना लिख चुका हो, लिख रहा हो या लिखने के साहस में बैठा हो (१ से ३ तक) ।

(४) विश्वेदेवासोऽन्ये तु द्विविध-प्राणशरीरिणो योगानन्तरमेवोद्दीपिताः सन्तस्तैः रग्नीन्द्राभ्यां च सह सोमपानाय संवलिताः ।

(५) एवमेव ब्राह्मणेपूक्तं पूर्वम् ।

जितने विश्वेदेवता प्रभृति शेष देवता हैं (उक्त तीनों को छोड़कर) वे द्विविध प्राणों के शरीरों वाले हैं । इनको सोमपान का सौभाग्य तभो प्राप्त हो सकता है जब अग्नि और इन्द्र योग द्वारा इनके प्राणशरीरों को भपके को तरह खौला कर उनमें ज्योतिरूप उद्दीप्ति न लावें । तभी ये सब देवता अग्नि के साथ-साथ सोमपान के अधिकारी हो सकते हैं, पृथक् या स्वतन्त्र रूप से कभी भी कहीं भी नहीं । इसीलिए अग्नि और इन्द्र के सूक्तों या वर्णनों में सर्वत्र ही यही प्रार्थना की हुई मिलती है कि तुम अन्य देवताओं के साथ सोमपान या हविष्पान करो । इतना अवश्य है कि इन सब देवताओं के बिना अग्नि इन्द्रादि भी स्वतन्त्र रूप से अकेले अकेले सोमपान नहीं कर सकते । जब सोमपान होता है तब सदा सम्मिलित रूप में ही होता है । क्योंकि इन सबका ब्रह्माण्डीय शरीर ता एक ही है, पृथक्-पृथक् नहीं । इसी प्रकार के वर्णन ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी उपलब्ध होते हैं (४।५) ।

(६) उपनिषत्सु चेशावास्ये माध्यन्दिनयजुर्वेदस्य चत्वारिंशेऽध्याये पौष्णाग्नेः प्रार्थना या 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।'' इति तत्र हिररामयानि पात्राणि भौतिकाः प्राणास्तैः सत्यस्य सोमस्य मुखं पिहितं, तं तस्य सत्यधर्मस्य सोमस्य दृष्टये दर्शनायापावृणु योगेन तान् प्राणान्विध्वा विदृतिद्वारेणेति ।

अब उपनिषदों में वैदिक ऋषियों ने योग परम्परा को किस प्रकार गम्भीरतया सुरक्षित किया है उसका भी दृश्य देख लें ।

सबसे पहले 'ईशावास्य' को लीजिए । इसे उपनिषद् नाम से तो सभी पुकारते हैं, परन्तु यह तो स्वयं वेद है वेदांग नहीं, यह शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिनी शाखा का ४० वां अध्याय जो है । इस वेदाध्याय या उपनिषद् का देवता 'ईश' नाम से पुकारा गया है । यह ईश, वही कपर्दी या ईशान है जिसे पूषा नामक अग्नि या आदित्य कहते हैं । इसी लिए इस उपनिषद् के अन्त में पूषा से प्रार्थना की गई है कि हे पूषन् सत्य रूप ब्रह्म या सोम को तो भौतिक प्राणों के हिरण्मय रमणीय प्राणों ने आच्छादित कर दिया है, तुम उस आवरण का अनावरण कर दो जिससे हम उस सत्यधर्मा सोम का दर्शन कर लें । यह कार्य केवल योग से साध्य है, इसका अन्य कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं । हिरण्मय पात्र रूप प्राणों को विदृति द्वार से वेधन करके उस सोम के दर्शन के लिए लालायित ऋषि यह प्रार्थना कर रहे हैं (यह शुद्ध रूप से योग का वर्णन है)। (६)

(७) केने तु स इन्द्रः स्वयमेव विद्युदिव भासमानं ब्रह्मततमपश्यद्धैमवत्योमया संकेतितः सन्स यक्षः ।

केन उपनिषद् ने तो स्वयं लिखा है कि इन्द्र ने ब्रह्म तत्त्व को वैद्युतीय प्रभा की व्याप्ति रूपता में स्वयं अपनी (योग) दृष्टि से देखा जिसको हैमवती उमा ने उसे संकेतित किया था । वह यक्ष या यज्ञ पुरुष या योग यज्ञ से साध्य पुरुष ब्रह्म ही तो था (७) ।

(८) कठेऽपि यमः स्वयं परमः प्रथमो योगी यः स्वयं वदति यद् 'अनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्' ।
अत्रानित्यानि द्रव्याणि वै प्राणास्तेषामेव मन्थनेन योगात् नित्यं सोमं प्राप्तवान् सः ।

(९) तस्यामेवोपनिषदि प्राप्तौ यौ द्विविधौ तत्त्वक्रमौ च तौ योगस्यैव तेषां व्यतिक्रमेणैवोभयत्र दानाद्यथातिसृष्टौ यथा—

(१) "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यः परं मनः !
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः !
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः !
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः !!"

(२) "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥"

(अ० २ व० ३–७, ८)

(१०) सेमे द्विविधे योगप्रणाल्यौ कठयुगेऽतिप्रसिद्धे बुद्धिसत्त्वभेदाभ्यां यद्यप्यन्याश्च नाना योगविधयस्तत्रोल्लिखिता एव ।

कठ में यम तो सर्वप्रथम योगी है, परम योगी है, और वह स्वयं कहता है कि 'मैंने अनित्य द्रव्य रूप प्राणों के द्वारा नित्य तत्त्व रूप सोम या विष्णु या अग्नि को पाया ।' उसने प्राणों का मन्थन करके उनसे सोम का सवन किया । यम का योगयज्ञ मृत्यु के उपरान्त वाला पूर्वार्द्धीय अग्निमय यज्ञ है, यह पहले कहा जा चुका है । इसी उपनिषद् ने तत्त्वों के दो प्रकार के क्रम दिए हैं । ये दोनों क्रम व्यतिक्रम से दिए गये हैं । विद्वानों में से आज तक किसी ने भी इस पर विचार भी नहीं किया है कि यहाँ पर इनका यह क्रम इस व्यतिक्रम से क्यों दिया जा रहा है ? तत्त्वों का यह व्यतिक्रमीय क्रम योग प्रक्रिया का साक्षात् द्योतक है । इन्द्रियों से लेकर पुरुष तक तत्त्वों की सीढियों में योग प्रक्रिया में

किस प्रकार ऊपर ऊपर चढ़ा जाता है उनका ही वर्णन इनमें दिया गया है। अतः सम्पूर्ण कठ योगमाया का ही पूर्ण वर्णन देता है। योगक्रम यह है:—इन्द्रिय अर्थ-मन-बुद्धि-महत्-अव्यक्त-पुरुष (पराकाष्ठा परागति—शारीरिक योगमात्र में, नहीं तो इसके आगे भी अशरीरी योग या मोक्षयोग का भी क्रम है)। दूसरा क्रम यह है—इन्द्रिय-मन-सत्व-महत्-अव्यक्त-पुरुष (व्यापक अलिङ्ग-यह भी शारीरिक योग प्रक्रिया का ही क्रम है)। ये कठ उपनिषद् में प्राप्त योग की दो प्रसिद्ध प्रणालियाँ हैं। इस उपनिषद् में इन विषयों को छोड़ अन्य किसी भी विषय का वर्णन है ही नहीं; जो कुछ है वह इसी विषय को अधिक स्पष्ट करने मात्र के लिए (८ से १० तक)।

(११) प्रश्ने प्रथमे देवानामतिसृष्टेर्द्वितीये तृतीये (प्रश्ने) प्राणानां चतुर्थे तेषां योगस्य पञ्चमे ॐकारयोगस्य षष्ठे षोडशकलस्य प्रथमे चोत्तरायण-दक्षिणायनदेवपितृयानयोश्च यद् वर्णनं तत् सर्वं योगमार्गस्यैव विवेचनं ददाति।

प्रश्न उपनिषद् के प्रथम प्रश्न में प्रश्न-भूमिका है, देवताओं की अतिसृष्टि का और उनके यानों का वर्णन है, द्वितीय तृतीय में प्राणों का, चतुर्थ में उनकी योग प्रक्रिया का, पञ्चम में ॐकारीय विद्या का और षष्ठ में षोडशकल सोम या विष्णु का और उत्तरायण दक्षिणायन नामक योग के ही समस्त विषयों का विवेचन भरा पड़ा है। जो इस विषय को समझने में अशक्त है वह उसकी अपनी ही दुर्बलता है, विषय तो स्वयं सर्वत्र स्पष्ट है ही (११ क)।

(ख) तैत्तिरीयोपनिषदि च प्रथमायां वल्ल्यां लोकानां व्याहृतीनां या व्याख्या सा योगपरा स्पष्टा, द्वितीया वल्ली तु स्वयमेव ब्रह्मानन्दनाम्नी साक्षरब्रह्ममयी पञ्चकोशमयी योगमय्येव तृतीयाऽपि तेषां प्राणानां यद्विवेकं ददाति तद्योगायैव।

तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रथम वल्ली में लोकों और व्याहृतियों की जो व्याख्या दी गई है उनका साक्षात्सम्बन्ध यहाँ पर योग से ही है। द्वितीय वल्ली का नाम ही ब्रह्मानन्द वल्ली है जिसमें योग द्वारा ब्रह्म का आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है इसका ही विविक्त वर्णन है। इसमें योग से ब्रह्मानन्द तक पहुँचने तक साक्षर ब्रह्ममय पञ्चकोशों को पार करना पड़ता है। इन कोशों का विवेचन योग मार्ग का ही विवेचन देता है। लोग इसे इस रूप में न समझ सकने के कारण इसे सृष्टि पक्ष में घटित करके धोखा खाते आ रहे हैं। तृतीया वल्ली में उन्हीं पञ्चप्राणों के कोशों के विषय में जो क्रमिक विचारधारा प्रवाह में विचार किया गया है वह योगी को पहले ही से सावधान करने के लिए किया गया है।

इसका भी उल्लेख इस वर्णन में है कि कोई किसी को ब्रह्म समझे बैठा था कोई किसी को, उनको पूर्ण ज्ञान देना इस वल्ली का मुख्य उद्देश्य है। यह ज्ञान केवल योगमय ज्ञान ही है (११ ख)।

(१२) मुण्डकेऽपि प्रथमे परापरयोर्योगसृष्टिविषययोर्वणनं द्वितीये चाक्षरस्य ब्रह्मणः स्वरूपं दत्त्वा य 'आविः सन्निहितं गुहायां' तस्य वेधास्वत् वेधनोपाख्यानं स्पष्टं योगेन विष्णोः सोमस्य प्राप्त्यै प्रयत्नं यत्र 'प्रणवं धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' इति। स सत्यः सत्यमेव जयते नानृतमत एव।

मुण्डक उपनिषद् ने प्रथम मुण्डक में योग की भूमिका प्रस्तुत करने के ही लिए और साथ में सृष्टि पक्ष का भी वर्णन देने के लिए परा और अपरा विद्याओं का द्विविध वर्णन दिया है। द्वितीय के प्रारम्भ में ब्रह्म का विवेचन दे कर ब्रह्म का वेधन, आविः को धनुष से वेधने के समान विविक्त करके निःसन्देहतया योग पक्ष का वर्णन साकार चित्र रूप में प्रस्तुत किया गया है; इसको कौन नहीं मानेगा? यह वेधन ब्रह्मा के कमल नाल के वेधन के समान ही है, इसे भी न भुलावें कि पुराणों का यह वर्णन भी योग परक ही है। यह सोम या विष्णु को पाने का योगमय प्रयास है। इसमें प्रणव धनु है, आत्मा शर है, ब्रह्म (सोम या विष्णु) लक्ष्य है। यह योग का सत्य विवेचन है, सत्य की ही विजय होती है, अनृत की या नासमझी की कहीं भी नहीं (१२)।

(१३) ऐतरेयोपनिषदि च प्रथमे प्राणानां मध्ये मध्यमस्य मुख्यप्राणस्य चान्नग्राहितां संस्थाप्येन्द्रस्येदिन्द्ररूपेण वैदिकमतानुसारं (ऋ० वे० २-११-१६ १-१०-५) विदृतिद्वारस्य भेदनक्रियावर्णनं च स्पष्टं योगप्रक्रिया-विवेचनम्। अन्तिमे 'प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञानं ब्रह्मेति' वचने च सोम एव प्रज्ञा प्रज्ञानं वा येन प्रज्ञा प्रज्ञा भवति ज्ञानं च प्रज्ञानं प्रकर्षं ज्ञानम्।

ऐतरेय उपनिषद् में सर्वप्रथम सब प्राणों के मध्य, मध्यम-प्राण इन्द्र को मुख्य प्राण तथा अन्नग्राही निर्णीत करके उसे वेदोक्त इदिन्द्र नाम से पुकार कर (ऋ. वे. २-११-१६; १-१०१-५) उसके विदृति द्वार (वेधन मार्ग) का विवेचन दिया है। यह सब कुछ वैदिक योग प्रक्रिया से ही सम्बन्ध रखता है। अन्त में प्रज्ञानेत्र रूप' प्रज्ञानं ब्रह्म' का व्याख्यान उसी सोम रूप सर्वतश्चक्षुर्मय देव की विवेचना देता है। सोम ही प्रज्ञा या प्रकर्ष ज्ञान या अनुभूति है उसी से वास्तव में प्रज्ञा प्रज्ञा नाम पाती है, और प्रज्ञान प्रकर्ष ज्ञान हो जाता है (१३)।

(१४) (क) छान्दोग्यबृहदारण्यकश्वेताश्वतरगर्भादिषु तु ब्रह्मवादिनो वदन्ती-त्युक्त्वैव प्रायः सर्वो विषयःपरमयोगविषयस्यैव (यथा साम, रसो, गायत्री, प्राणाः, द्वे अक्षरे, देवमधु, चतुष्कलपादा, विभिन्नाग्नयो

वैश्वानरस्त्रिवृदादेशोऽहंकारादेश उत्तमःप्राणोऽक्षरब्रह्म, नानोपदेशा नाना प्रश्नोत्तराणीत्यादीनि) तथा च कतिपयोपनिषदां नामान्येव योगशीर्षकाणि ।

छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा गर्भ (मैत्रायणी कौशीतकी और) श्वेताश्वतर प्रभृतियों में तो विषय का प्रारम्भ ही 'ब्रह्मवादिनो वदान्ति' वाक्य से कर के प्रायः सभी विषय योगपरक ही वर्णित किया गया है, जिनमें से साम, सोम, रस, गायत्री, 'प्राणः', 'द्वे अक्षरे', देवमधु, उत्तरायण, दक्षिणायन, चतुष्कलपादा, विभिन्न अग्नियां, वैश्वानर, त्रिवृदादेश, अहंकाराऽऽदेश, उत्तम प्राण, अक्षर ब्रह्म, नाना उपदेश, नाना प्रश्नोत्तर प्रभृति मुख्यतः योग के ही विषय हैं । इसी प्रकर कई अन्य उपनिषदों के नाम ही योग के शोर्पक हैं जैसे ब्रह्मविन्दूपनिषत्, नादविन्दूपनिषत् इत्यादि (१४ क) ।

(ख) तदेतदावश्यकीयमेव ज्ञातव्यं यद्य एव विषयो येपूपनिपत्सूपलभ्यते स सर्वोऽपि वैदिकयोग एव यतः प्रायः सर्वासुपनिषत्सु बहवो मंत्रा वेदेभ्य उद्धृत्य योगानुकूलेऽर्थे च स्वयं तैरेव व्याख्याताः ।

(१५) एवमखिलमौपनिषदिकं दर्शनं मुख्यतो योगदर्शनमेव न ततोऽन्यत् किञ्चित् ।

यहाँ सबसे बड़ी बात जो अवश्यमेव ज्ञातव्य है वह यह है कि इन सब उपनिषदों में जो कुछ भी विषय वर्णित किया हुआ मिलता है वह वेदों और ब्राह्मणों में उपलब्ध वैदिक योग का ही विषय है । क्योंकि इन्हीं उपनिषदों ने अपने दिए योग विषय की पुष्टि के प्रमाण में प्रायः वैदिक ऋचाओं को ही उद्धृत करके उनका अर्थ भी योगपरक ही स्वयं वर्णित कर रखा है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों का मुख्य विषय एक ही है, वह योग ही है, अन्य सब बातें गौण हैं । स्पष्ट है कि इस प्रकार वेदों से लेकर अखिल उपनिषदों तक का मुख्य विषय योग ही है, अन्य कुछ नहीं, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता (१४ ख और १५) ।

(१६) उपनिषदां सारमय्यां गीतायां य आदौ मध्येऽन्ते च 'बुद्धियोगे त्विमाँ शृण्विति' वाक्यानां बुद्धियोगस्तस्याः क्षात्रो धर्मः सोमप्राप्तिधर्म एव ।

(१७) एकादशे यत् कृष्णस्य स्वात्मदर्शनं तद्योगसमाधेः साकाररूपमेव ।

(१८) कृष्णः कृष्णपक्षीयो विष्णुर्वृष्णिर्वा वृषन् वृषा वा कुरु पाण्डवयो युद्धभूमिस्तु दानव देव युद्धभूमिः ।

(१९) तद् 'यत्र योगेश्वरः कृष्ण 'स्तत्र' पार्थो धनुर्धरः' इति ज्ञेयम् ।

(२०) अत्र धनुर्धरोऽर्जुनो मुण्डकस्य प्रणवधनुष्मान् तस्यामोघास्त्रमात्मा "शरो ह्यात्मेति" "ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते" ऽस्य स्थाने कृष्णं तल्लक्ष्यमुच्यत इति बोध्यम्, यतः कृष्णो विष्णुरेव योगेश्वरो योगसाध्यो वा ।

(२१) सोऽयं कृष्णार्जुनयुद्धमित्यन्यत्र प्रसिद्धम् ।

उपनिषदों की सारमयी गीता ने प्रारम्भ में 'तुम इस विषय का वर्णन बुद्धि-योग के रूप में सुनो' कह कर पुन इस वाक्य को मध्य अन्त में पुनरुक्त करके जिस बुद्धियोग का वर्णन पूरे ग्रन्थ में आद्योपान्त किया है वह सोमप्राप्ति रूप क्षात्र धर्मरूप योग का ही वर्णन है। और ग्यारहवें अध्याय में भ० कृष्ण ने अर्जुन को जो स्वात्म दर्शन दिया है वह अर्जुन की योग समाधि का ही साकार और साक्षात् वर्णन है जिसका निरूपण अर्जुन ने 'पश्यामि देवान्' इत्यादि वाक्यों से स्पष्टत: स्वयं किया है। इसमें सन्देह करने का लेशमात्र भी अवसर नहीं है। यहाँ व्याख्याताओं और वातावरण हीन पाठकों की समझ का फेर मात्र ही समझना चाहिए। नहीं तो अर्जुन को 'दिव्य चक्षु' देने का आशय ही योग चक्षु का देना है। उसी योगचक्षु से वह अखिल ब्रह्माण्ड को हस्तामलकवत् देख रहा है। इसमें सन्देह की गुंजायश ही कहाँ है? वास्तव में गीता में कृष्ण और अर्जुन तो तत्त्व हैं जिनका परोक्षभूमिक योगमय वर्णन मनुष्य रूपों में किया गया है। इसी बात को न समझ सकने के कारण विद्वानों को गलत फहमी हो गई है। यहाँ तो कृष्ण स्वयं कृष्णपक्षीय सोम है, विष्णु है या वृष्णि या वृषा है, कुरुपाण्डवों की युद्ध भूमि, दानव देव रूप भौतिक प्राणों और उनके देवताओं का पारस्परिक नित्य का द्वन्द्व है। इन्हीं प्राणों और देवताओं का अखिल ब्रह्माण्डीय शरीर ही युद्ध भूमि है। इनमें कृष्ण तो योगेश्वर योग के अधिष्ठाता देवता सोम हैं और पार्थ या अर्जुन उसे वेधने वाला या वेधकर पाने वाला योगमय ज्ञान का धनुष धारण करने वाला है। जहाँ ये दोनों हैं वहीं योग में विजय श्री: और योगसिद्धि है, नहीं तो नहीं। यहाँ पर अर्जुन वैसा ही प्रणववान् धनुर्धर है जैसा कि मुण्डक ने वर्णित किया है, उसकी आत्मा उसका अमोघास्त्र है, ब्रह्म या विष्णु या सोम उसका एक लक्ष्य है। द्रोणाचार्य ने जिस पक्षी का वेधन इस अर्जुन से कराया था वह पक्षी भी यही सोम रूप सुपर्ण ही है। कथानक पूर्ण योगमय है। इसी ने द्रौपदी विवाह में जिस मछली का वेधन किया था वह भी इसी योग की एक कहानी है। पुराणों ने इस कथानक को इसी प्रकार के अनेक रूपों के कथानकों के द्वारा किया है। समझदार की कमी है, समझ की कमी है, विषय की नहीं। इसी कथानक को अन्त में कृष्णार्जुन युद्ध के नाम से भी बहुत कुशलता पूर्वक मुण्डक के वचन को साकार बनाकर वर्णित कर रखा है जो सर्वप्रसिद्ध है। कठिनाई केवल स्नायुओं में बल देने की है। (१६ से, २१ तक)

(२२) गीतायां योगस्तु विस्तरेणोक्त इति सर्वप्रसिद्धमेव।

(२३) योगप्राधान्यादत्रापि तत्त्वानां क्रमा उपनिषद्वद् व्यतिक्रमेणैव यथा:—

(१) "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धियो बुद्धेः परतस्तु सः।" ३–४

(२) "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।" ७–४

(३) 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।' (१३–५)

(२४) एवं समस्त प्राचीनवाङ्मय वेदो योगमय एव प्राधान्येन ।

यह कौन नहीं जानता कि गीता का मुख्य विषय योग है, यह तो सर्वविदित प्रसिद्धि प्राप्त विषय है । इस ग्रन्थ के योग प्रधान होने के कारण ही इसमें भी जहाँ कहीं भी तत्त्वों का क्रम दिया गया है वह सब भी सर्वत्र ही कठ की तरह व्यतिक्रमीय क्रम से या योग के क्रम से ही दिया गया है । ३-४३, ७-४, और १३-५ को मुख्यतः देखें और कठ के दिए क्रम से मिलाने का कष्ट करें । प्रथम में यह क्रम है :––'इन्द्रिय-मनः-बुद्धि-सः (सोम, विष्णुः पुरुषः); दूसरा क्रम यह है––"भूमि-आपः-अनल-वायु-आकाश-मनः-अहंकार-बुद्धि" और तीसरा क्रम यह है—महाभूत (पूर्वोक्त क्रम से ही) अहंकार (और महाभूतों के पहले ११ इन्द्रियाँ मनः सहित) । इस प्रकार गीता का समस्त वातावरण और व्याख्यान योग वर्णन मात्र से प्राधान्येन ओत-प्रोत है (२२ से २४ तक) ।

(२५) ब्रह्म वै वेदो 'वेदोऽसि येन त्वं देव वेदेति' (यजुः २-२१)

(२६) ऋषयो वै वेदविदो य एव वेदविदस्त एव ब्रह्मविदः ।

(२७) वेदैश्च सर्वैरहमेव (ब्रह्मैव) वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् (ब्रह्म) ।
(गीता १५-१५)

(२८) ते ऋषयो 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। (गीता ८-११)

(२९) ते 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।' (गी० ८-२४)

गीता में योग परम्परा के अन्य भी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिन पर दृष्टि दौड़ाने की शक्ति अब तक कम लोगों में पाई जाती है । वस्तुस्थिति यह है । वेद नाम संहिता रूप ग्रन्थों का नाम होने के साथ साथ ब्रह्म का भी नाम है । यह बात यजु के उद्धृत मंत्र से स्वयं स्पष्ट है जिसमें कहा है कि हे ब्रह्मन् तुम स्वयं वेद या ज्ञानमय हो ज्ञानरूप हो, जिससे तुम सबकुछ सर्वत्र ज्ञात रखने में समर्थ रहते हो । इसी लिए योगी ऋषियों का एक प्रसिद्ध नाम वेदविद् है । वेदविद् वही है जिसे ब्रह्मविद् कहते हैं । संहिता रूप वेदों में वर्णित शैली से भी वही ज्ञानमय वेदमय ब्रह्म ज्ञेय होता है, वही ऋषिरूप वेदान्त कृत् या औपनिषदिक ग्रन्थों तथा संहिता ब्राह्मणात्मक ज्ञान भण्डार का निर्माता भी है ।

और जो कुछ भी ज्ञान जिस किसी को भी होता है उसका ज्ञाता भी वही स्वयं ज्ञेय तत्त्व रूप ब्रह्म ही है। ज्ञान और ज्ञेय अन्ततोगत्वा एक ही में लय को प्राप्त भी हो जाते हैं। इसी लिए ऋषियों ने स्वयं लिख दिया था कि वेद तो स्वयं सर्वयज्ञमय हो हैं। यही वेद सबकी आखें हैं, यही उनका परम बल है, यही वेद उनका परम धाम है, और यही वेद उत्तम पुरुष रूप ब्रह्म भी है, उक्त प्रकार के ऋषियों के बारे में भी गीता ने लिखा है कि ये वेदविद् ऋषिगण जिस तत्त्व को 'अक्षर' नाम से पुकारते हैं जिसमें इनमें से वीतराग स्वभाव के योगी यति जन योग द्वारा लय को प्राप्त होते हैं या प्रवेश करते हैं, जिसकी कामना करते हुए वे संहिता ब्राह्मणोपनिषदादि और वेद ब्रह्म की चर्या या योगचर्या करते हैं उसे ही यहाँ पर संग्रह करके बताया जावेगा। और दूसरे में कहा है कि उत्तरायण के देवयान में जाने वाले ऋषिगण ब्रह्मविद् या वेदविद् जन या तपस्वी कहते हैं कि वे उस मार्ग से ब्रह्म रूप वेद को अवश्य पा जाते हैं। (२५ से २९ तक)।

(३०) 'ॐ तत्सदितिनिर्देशो........सततं ब्रह्मवादिनाम्' (गी० १७-२३, २४)

(३१) 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखं........यस्तं वेद स वेदवित्।' (गी० १५-१)

(३२) 'तस्माद्योगी भवार्जुन' (गी० ४-अन्तिम)

(३३) 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुनः।' (गी० ८-२७)
'योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्' (गी० ८-२८)

(३४) 'सर्वयज्ञमयो वेदः' (स्क० पु० ५-५४-१८)

(३५) 'वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम्।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तमम्॥''
(म० भा० शा० प० ३३५-२९)

इनको ब्रह्मवादी भी कहते हैं जिनका निर्देश ॐतत् सत् त्रिविध रूप का है। वे वेदविद् या ब्रह्मविद् या ब्रह्मवादी या योगी महर्षि जन इस सृष्टि को 'ऊर्ध्वमूलमधः शाख' वृक्ष कहते हैं जिसके छन्दों को पर्ण या सुपर्ण कहते हैं, यही सुपर्ण सोम को लाते हैं। जो इस सृष्टिवृक्ष को इस प्रकार जानता है वही वेदविद् है, वही योग जानता और कर भी सकता है। इसी लिए गीता ने ठोकपीट कर कहा है कि वह व्यक्ति केवल योगी ही है जो परमपद या सोम या विष्णु के पद को पा सकता है। इसी लिए अर्जुन को कठोर आदेश दिया है कि 'हे अर्जुन ! इसलिए यह परम आवश्यक है कि तुम सभी कालों में या नित्य ही योग से युक्त रहो या सदा ही योग में रमे रहो' (३० से ३५ तक)।

(३६) एवं सर्वेषु पुराणेषु स्मृतिधर्मग्रन्थेषु च।

(३७) इन्द्रवृत्रादीनां यानि युद्धान्याहुर्वेदादारभ्य पुराणपर्यन्ता ग्रन्थास्तानि च योगमायायुद्धान्येवेत्यग्रे विस्तरेण वक्ष्यते सप्रमाणम्।

इसी प्रकार हमारे यहाँ जितने भी रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति और धर्म ग्रन्थ हैं उन सब में भी उक्त प्रकार के ही वचन और विषय प्रतिपादित और उपलब्ध होते हैं। वेदों ब्राह्मणों तथा उक्त रामायणादि-पुराणादि ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ भी इन्द्र वृत्रादि का या देवासुरों के युद्ध का वर्णन मिलता है वे सब योग साधना में उपस्थित होने वाले अमृत और मर्त्य तत्त्व रूप देव और असुरों के एक शरीरस्थित तत्त्वों के निरन्तर संघर्ष का विवेचन देते हैं। इसका स्पष्ट और प्रमाण युक्त पूर्ण विवेचन आगे इसी ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक दिया जा रहा है, 'देवासुर युद्ध', 'योग माया' और 'इन्द्र वृत्र' शीर्षक देखें (३६–३७)।

(३८) अथ च वेदोक्तानां सर्वेषां देवानां सम्बन्धो येन केनापि प्रकारेण यत्सृष्टचाऽथवा योगसृष्टचाऽतिसृष्टचा वा सह दत्तो भवति वेदेषु ब्राह्मणेषूपनिषत्स्वारण्यकेषु च तस्मात्तेषामभिप्रायोऽर्थो वा नह्येव भवितुमर्हति तद्यदाधुनिकैरनभिज्ञैः परम्पराया वेदानां कृतो वल्बल्यते महत्स्वनन्तेष्वनर्थकेषु पुस्तकेषु मुद्रितेष्वांग्लादिभाषासु भारतीयासु वा नहि तेषां यशःपदादिभिया भेतव्यं सत्यानुसन्धानिभिर्वेदानाम्।

वेदों में, ब्राह्मणों में, उपनिषदों में या रामायण, महाभारतादि पुराणादि ग्रन्थों में जिन जिन देवताओं का वर्णन आता है उन सबका सम्बन्ध चाहे जिस किसी भी रूप में भी हो वह नित्य ही या तो सृष्टि पक्ष से है या अतिसृष्टि या योग पक्ष से। अतः इन देवताओं के सम्बन्ध में चाहे मध्ययुगीय आचार्यों ने संस्कृत में या आधुनिक युग के पौर्वात्य पाश्चात्य विद्वानों ने अंग्रेजी फ़्रेंच जर्मन आदि भाषाओं में इस खण्ड में वर्णित हमारी उस सनातन परम्परा से मुँह मोड़ कर अपनी अपनी निरर्गल कल्पनाओं के ढेरों से असंख्य और छोटे-बड़े, विशाल ग्रन्थों में इन देवताओं की जो कुछ भी वर्णना या व्याख्या दी या की है, चाहे वह कितने ही बड़े या छोटे विद्वान् की हो, किसी भी स्तर वाले की ही क्यों न हो, हमें उनके नाम और पद से भयभीत होना नहीं है, हमें सत्य की खोज की चिन्ता है, उनके नाम और पद की चिन्ता नहीं है, यद्यपि इन सब के अतीव महान् परिश्रम पर कृतज्ञ होने पर भी सत्यमार्गभ्रष्ट, अपने लक्ष्य से च्युत हो जाने के कारण वह कदापि भी स्वीकार्य नहीं हो सकता। यह स्वतः स्पष्ट है, कर कंगन को आरसी क्या? (३८)।

(३९) न च या मत्पूर्वैराधुनिकतमैः कतिपयैर्विद्वद्भिः स्वकल्पनाकल्पविकल्पकैर्व्याख्यानैर्यद्वेदविचारणा कृता सापि पूर्वोक्तेभ्यो विद्वद्भ्योऽप्यधिकभ्रमपूर्णत्वात् परम्परानुसृतेरनुसरणाभावाच्च कथमपि स्वीकारार्हा निर्मूलत्वात्।

इसी प्रकार मुझसे पूर्व के आधुनिक दयानन्द मधुसूदन आदि कई विद्वानों ने वेदों की व्याख्या को परम्परानुकूल वर्णित करने का मिथ्याऽभिमान कर अपनी अपनी कोरी कल्पनाओं के ढेरों से ढेरों पुस्तकें लिखी हैं उनमें भी कहीं भी हमारी उक्त गहन परम्परा स्पर्श तक नहीं कर पाई है, जिससे उनके प्रायः अधिकांश कथन और निर्णय नितान्त निर्मूल और निराधार हैं, अतः उन्हें भी किसी भी अंश में किसी भी प्रकार की मान्यता देने का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। इनका प्रयास पूर्वोक्तों से अधिक भ्रमात्मक है, अधिक अन्धकार-मय भी (३९)।

(४०) यतः समस्तप्राचीनो वाङ्मयविषयो वेदानां ब्राह्मणानामारण्यकानामुपनिषदां च योगप्रधान एवान्यो गौणोऽप्राधान्यं सृष्टेस्तयोश्चाभिनयिकव्याख्यानं द्रव्ययज्ञपरकं यन्नैतैरकुशलैः किञ्चिदपि ज्ञातं तदुक्तं पूर्वमेव।

क्योंकि समस्त प्राचीन वाङ्मय विषय चाहे वह संहिताओं ब्राह्मणों उपनिषदों आरण्यकों का हो या महाभारत पुराणादिकों का—मूलतः योग प्रधान वाला विषय है, इनमें सृष्टि विषय प्रायः गौण ही है। इन दोनों भागों के विषयों को शब्द रूप में वर्णित करने के स्थान में द्रव्यपरक यज्ञ के पात्रों द्वारा अभिनीत करने की उक्त ग्रन्थों की शैली को इन अकुशल विद्वानों ने लेशमात्र भी नहीं समझा है। यह तो कई बार बतलाया जा चुका है (४०)।

अध्याय १ पाद ३

एक महती दुर्घटना

(१) उपनिषन्निर्माणयुगेऽप्यल्पीयस्तमा एव वेदविदृषय इत्युक्तं छान्दोग्येन बृहदाररायकेन च यतः कतिपयराजानः केभ्याश्चिद् ब्राह्मणेभ्योऽप्यधिक ज्ञानिनो वेदानामिति ।

(२) उपनिषदामन्तिमे चरणे च, न जाने, कथंकारं तस्यास्तादृश्याः सर्वतो मुखीवेदविद्यायाः समूलह्रासोऽभवत्सुतराम् ।

(३) तदुक्तं गीतया 'सः कालेनेह महता योगो नष्टः परं तपः।"

(४) तथा च समर्थितं छान्दोग्य बृहदाररायकयोर्वचनम् यथा 'एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुरिति ।' ततो ब्रह्मविद्या ब्रह्मगुह्याविद्या 'राज विद्या राजगुह्यं' संजातेति चातीव कष्टकरम् ।

(५) वाल्मीकिनाऽप्युक्तं यच्छ्रुतयो विनष्टा इति ।
यथा— 'अहं तां मानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव'
(वा० रा० किष्किन्धा का० ६-५)

(६) एवं सर्वैः पुराणैरपि तासां श्रुतीनां परम्परायाश्च लोपसम्बन्धीनि वाक्यान्युदाहृतानि दृष्टव्यानि भागवतादिपुराणन्यादावेव ।

(७) तस्मात्सर्वेषु पुराणेषु लुप्ताना म लुप्तानां श्रुतीनां वेदानामाख्यानं व्याख्यानं दर्शनानामृषिभिः पात्रान्तरै र्नामान्तरै रथवा पर्यायान्तरैश्च सुरक्षणाय महान्प्रयासः कृतः कृतिसु यासु नहि नवीनो विषयः कश्चित् ।

यह तो सप्रमाण बताया ही जा चुका है कि संहिता और ब्राह्मणों के युग में वेदों के ज्ञानी बहुत ही थोड़े थे, पर उपनिषदों के युग में तो वेदों के इस गहन विषय के ज्ञानी इतने कम रह गये थे कि छान्दोग्य और बृहदाररायक दोनों उपनिषदों ने स्पष्ट घोषणा की है और इसके समर्थन में लिख भी गये हैं कि उनके समय कई ब्राह्मणों ने क्षत्रिय राजाओं से वेद विद्या का पाठ पढ़ा; अतः कई क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों से वेदों के अधिक अच्छे ज्ञाता थे। उपनिषदुत्तरकाल में न जाने कैसे इस सर्वतोमुखी वेदविद्या का एकाएक समूल ह्रास हो पड़ा ? वैदिक वाङ्मय के ज्ञान के सम्बन्ध में यह एक महती दुर्घटना घटी है। इसी के फल स्वरूप अभीतक वेदों का वह वास्तविक अर्थ लुप्त है। इस दुर्घटना का

संकेत गीता ने अपने स्पष्ट शब्दों में कर भी दिया है कि यह योग का विषय 'महता काल' या एक महान् युग की अवधि से कम से कम ५०० वर्ष से नष्ट या लुप्त हो गया। गीता ने उसी का नव नवोत्थान किया भी, वेदों के इस ज्ञान की परम्परा तब कुछ ही राजार्षियों के यहाँ परम्परा से सुरक्षित रह गई थी। इसका भी गीता उल्लेख कर गई है जिससे छान्दोग्य बृहदारण्यक के कथन की भी पूर्णतः पुष्टि हो जाती है। सम्भवतः इसी कारण तब इस वेद विद्या के योग विषयक ज्ञान को राजविद्या और राजगुह्य नाम से पुकारा है। (अध्याय ९) उधर वाल्मीकि ऋषि जी ने अपने रामायण (कि० कन्धा का० ६-५) में खोई हुई सीता को खोज लाने की प्रतिज्ञा करते हुए सुग्रीव के मुख से कहलवाया है कि मैं उस सीता को लुप्त श्रुतियों की तरह खोज कर ले आऊँगा। अर्थात् वाल्मीकि जी ने रामायण में लुप्त श्रुतियों को खोज खोज कर उन्हें अपने कथानकों के रूपों में ढाला था, क्योंकि उनके समय में भी हजारों श्रुतियाँ और उनका ज्ञान गीता के युग के समान नष्ट या लुप्त हो गया था, यह उनके वचन से स्वयं स्पष्ट है। इसी प्रकार के श्रुतियों या योग ज्ञान परम्परा के लोप हो जाने का संकेत करने वाले वाक्य प्रायः प्रत्येक पुराणादिक ग्रन्थों में मिलते हैं। उदाहरण में श्रीमद्भागवतपुराण के प्रथम अध्याय को देखें; यहाँ योग को 'काल-विप्लुत', या महान् युग की अवधि से नष्ट या लुप्त कहा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रामायण महाभारत पुराणादिक धर्मग्रन्थों या स्मृतियों में लुप्त और अलुप्त श्रुतियों के व्याख्यान को नवीन आख्यान रूप में नामान्तर पात्रान्तर या पर्य्यायान्तर के द्वारा करके उन्हें संरक्षित रखने का महान प्रयास किया गया है, इनमें अपना जोड़ा कोई नया विषय नहीं है, प्रायः सब विषय वैदिक और श्रुतियों का ही है, इस महती दुर्घटना ग्रस्त स्थिति के युग को 'अन्धयुग' कहना उचित है। सम्भवतः इसका राज्य ३०० से ५०० वर्षों तक रहा, उसके पश्चात् गीता महाभारत पुराणादि लिखे गये (१ से ७ तक)

(८) सैषाऽस्माकं वेदपरम्परा योगपरम्परा दर्शनपरम्परा ज्ञानपरम्परा तथा तेषां नाना संस्कृति परम्परा या न युज्यते त्यक्तुमाधुनिकानां वेदाऽविदुषा-मज्ञानान्धकारपटलपुस्तकालोचनानुवादादिप्रभावैः कनीयांसो वा गरी-यांसो वा ये के ऽपि वा ते स्युर्भारतीया वा ऽभारतीया वा ते सर्वेऽभारतीया अभारतीया (ज्ञान रहिता) एवाऽतिभारवती या तेषां भारती। परम्परा चास्माकमावालयुवावृद्धेष्वतीतादिदानींतनं पर्य्यन्तमविच्छिन्न प्रवाहेण सुरक्षिताऽभवदस्ति भविष्यति च।

इसका नाम है हमारी वेद परम्परा, वैदिक परम्परा, योगपरम्परा, ज्ञान परम्परा, नाना प्रकार की संस्कृति परम्परा–जिसे हम मध्ययुगीय और दो प्रकार

के आधुनिक युग के उक्त ज्ञान परम्परा से सर्वथा अछूते विद्वानों की अपनी अपनी अन्धकारपटलमय पुस्तक आलोचना अनुवाद व्याख्याओं के बदले किसी भी मूल्य पर कदापि भी नहीं छोड़ सकते, न यह भारत से छूट ही सकती है, चाहे इन ग्रन्थों के लेखक कितने ही बड़े या छोटे पुरुष क्यों न माने जाते हों चाहे वे भारतीय हों या अभारतीय या विदेशी, वे सबके सब ही अभारतीय ही हैं, उनकी व्याख्यायें भी अभारतीय या ज्ञानशून्या है, अतः सबके लिए भार रूप है। क्योंकि हमारी उक्त परम्परा तो प्रत्येक बाल युवा वृद्ध बालिका युवती वृद्धा के रग रग में आदि काल से अविच्छिन्न गुप्त प्रवाह रूप में किसी न किसी संस्कृति के अङ्गरूप में सुरक्षित होती चली आ रही है, इसे मिटाने वाले सब मिट गये, यह जैसी तब थी वैसी अब भी है, सदा ऐसी ही रहेगी (८)

(९) इदमेव महत्कारणं यदस्माकं देशे विदुषामविदुषां वा मनसि वेद इति शब्द श्रवण मात्रेणैव तस्मिन्महान् गूढोऽर्थो ऽस्तीत्येव या धारणाऽचिराच्चिरा दाधुनिक युगपर्यन्तं स्वाभाविकतया परम्परया पारमार्थिकतया चारूढा ऽऽकीलिताऽनुत्कीलनीयरूपेण सा सर्वांशे सत्या नित्या गूढविषया योग परम्परा कोशरूपैवेत्येव बोध्यम्।

यही एक सबसे बड़ा कारण है कि हमारे देश में चाहे कोई बड़ा विद्वान् हो या अपठित, 'वेद' इस शब्द को सुनते ही उसके मन में एक ऐसी अद्भुत भावना जागृत होती है जिससे वह यह सोचने को विवश रहता है कि इन वेदों में कोई न कोई महान् गूढ अर्थ या रहस्य भरा हुआ अवश्य है। यह धारणा आज की नई नहीं है, यह धारणा भी परम्परा से पीढ़ी पीढ़ी के पुरुषों से पैतृक सम्पत्ति के समान प्राप्त होती हुई वैदिक युग से आज तक अविच्छिन्न रूप में ऐसी गड़ी, कीलित, जड़ी है उसे कोई शक्ति नहीं उखाड़ सकती, क्योंकि यह धारणा सर्वांश में सत्य है, नित्य है, गूढ विषय वाली ही है, योगमय योग माया मय ही है। इस योग से ही तो यह ब्रह्माण्ड प्रकाशमय है। यह धारणा हमारी उस अद्भुत अलौकिक योग परम्परा का एक अभूतपूर्ण दिव्य कोश है। (९)

अध्याय १, पाद ४

पारिभाषिक प्रतारणा

(१) प्राचीनोपनिषत्कालानन्तरं प्रायशः पञ्चशत वर्ष यावत् सम्भवतः श्रौत्र-सूत्रयुगे तेषां वेदानां श्रुतीनां च ब्राह्मणानामारण्यकानामुपनिषदां च तथाविध—ज्ञानस्य ज्ञातृणामनूचानानां शुश्रूवुषां ब्राह्मणानां देवतानां नितान्तमभावो जातो यस्योल्लेखो यथाकृतं गीतया पुराणादिकग्रन्थैस्त-थोक्तं पूर्वम् ।

(२) तथोपलब्ध मौलिक ग्रन्थानां वेदादीनां वेदानामेव प्राधान्येन व्याख्याया प्रयासः कृतो यास्काचार्येण नैघण्टुकानां मध्येऽन्तिम; स्वनिरुक्ते निघण्टु-नामक वैदिक कोशस्य निर्वचनव्याजेन ।

(३) यद्यपि यास्केन निघण्टुव्याख्यानेन कतिपय कठिनानां वेदानां शब्दानां तत्तन् मन्त्र संक्षिप्त व्याख्यानेन च सह यः प्रयासः कृतः सः काल दृष्टया सन्नेव नवीन स्तत्कालाय तथापि तस्मिंस्तस्याः परम्पराया नितान्तमभावो विद्यते यस्या विवेचनं विगत पृष्ठेषूद्धृतमस्माभिः ।

परन्तु प्राचीन उपनिषदों के युग के पश्चात्, जैसा बताया जा चुका है, परिभाषिक प्रतारणा का राज्य वेदों के योग और सृष्टि विद्या के साथ-साथ हो गया था जिसका उल्लेख पहले १–६ में किया जा चुका है। या तब तक अनूचान शुश्रुवान्तस महर्षि उनकी लाज रखते आ रहे थे, क्योंकि उनके बिना कोई यज्ञ नहीं किया जाता था। लगभग ५०० वर्ष तक सम्भवतः श्रौत सूत्र युग में उक्त वेदों और श्रुतियों, ब्राह्मणों, आररण्यकों और उपनिषदों की उक्त अलौकिक विद्या या ज्ञान के ज्ञानी योगी यतियों का—जिन्हें अनूचानाः शुश्रु-वान्तसः, या अक्षण्वन्तः, कर्णवन्तः, कहते थे और अन्धपरम्परा के अनुयायियों को यज्ञों में संचालित करके ज्ञान परम्परा और योगपरम्परा को सुरक्षित रखते रहे—नितान्त अभाव हो पड़ा, जिसका उल्लेख छान्दोग्य बृहदाररायक, भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवतादि पुराणों, और रामायण महाभारत प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों ने पूर्वोक्त प्रकार से कर भी रखा है। क्योंकि उक्त महाभारतादि ग्रन्थों ने वेदों के विषय की तो पूरी व्याख्या की, पर उनकी व्याख्या मन्त्र मन्त्र की टीका रूप में नहीं दी। लोग उनके ग्रन्थों को वेदों का नवीन साहित्य समझते रहे, अतः इन्हें वेद भी कहा जाता है। वास्तव में यह वेदों का नवावतार था। उन्होंने यह

चाल सब की आलोचना से बचने के लिए अपनाई। पर अब वेदों की मंत्रशः व्याख्या करने वालों या ऐसी व्याख्याओं का नितान्त अभाव हो ही गया। अतः उस अन्धयुग में वेदों के तथा उनके अङ्गरूप ग्रन्थों में से ब्राह्मणादिकों की व्याख्या के नवीन प्रयत्न, कुछ ऐसे ही कर्मकाण्डी श्रौत सूत्री निरूक्तादि शास्त्र कारों ने, करने का प्रयास किया जिन्हें वेदों और ब्राह्मणों तथा उपनिषद् आरण्यकों के अर्थ सम्बन्धी कर्मकाण्डी पक्ष को छोड़ उस रहस्यमय दर्शनमय योग मय पक्ष का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं रह गया था। वस्तुतः अब अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः ऋषियों की सम्पत्ति अन्धों और बहिरों के—जिनकी वर्णना इस अध्याय के प्रथमपाद के प्रारम्भिक सूत्रों में की गई है—हाथ में पड़ गईं। बधिया बैठ गई, सर्व सत्यानाश का यहीं से सूत्रपात हो गया। अनेक निरुक्त लिखे गये, जिनका आधार निघण्टु नामक वैदिक शब्दों का कोश रहा, इनमें से अन्तिम नाम यास्क का है जो अपने समय के धुरंधर विद्वानों में से एक रहे, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इनके युग में निरुक्त वैयाकरण ऐतिहासिक याज्ञिक शिक्षा प्रभृति के हठवादी सम्प्रदाय खड़े हो गये थे जिनके कुछ वचनों के उद्धरण, इन्होंने स्वयं दिए हैं। इनमें वैदिक कालीन 'सहस्तोमाः सहच्छन्दसः सहप्रमा ऋषयः' 'सह नाववतु' 'सह नौ भुनक्तु' की एकता मतैक्यता का सर्वथा अभाव भी——उक्त प्रकार के अन्धे बहिरे पन के ही कारण हो गया था, जिससे समस्या सुलझने के स्थान में उत्तरोत्तर उलझती ही चली गई। पर वेदों के अर्थ की गुप्त गंगा ने इन्हें दुत्कार कर छोड़ कर, नया मोड़ लिया और वह तब पुराणदि रामायण महाभारतादि में सुनसान रेगिस्तान में जैसी अब तक ज्यों को त्यों बहती चली तो आई है पर उसके विश्लेषक 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः' ऋषियों के अभाव से इन्हें जो उलटे अन्धविश्वास की खाई या गर्त माना जाता है, और उन्हें—जिन्होंने इनकी महत्ता का, ज्ञान प्रकाश का सर्वथा नाशमार रखा है—ज्ञान का भण्डार; यह है यहाँ की उलटी गंगा। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग के उन अनूचान शुश्रुवान्त्स अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः महर्षियों के किसी भी इस प्रकार के ग्रन्थ को उपलब्धि के अभाव में हमें वेदों के विषय में अर्थ करने के आधार का सर्वप्रथम या सर्वान्त ग्रन्थ यही यास्क का निरुक्त मिलता है जिसे सभी विद्यार्थियों को, इस विषय में प्रवेश के लिए पढ़ना नितान्त आवश्यक है, इसमें वैदिक शब्दों की कई निरुक्तियां ब्राह्मणदि ग्रन्थों में उपलब्धों के समान होते हुए भी कई तो बहुत ही बेकार हैं, शब्दजाल हैं, अर्थों में तो मात्र कर्मकाण्डीय पक्ष है, पर यह भी तो एक पक्ष है ही, साथ में इसमें प्रसिद्ध वैदिक मंत्रों के अर्थ के अन्दर घुसने की पर्याप्त सामग्री है; यद्यपि इनके दिए सभी अर्थों में सर्वत्र ही उचित संशोधनों की नितान्त आवश्यकता होने पर भी

वे संशोधनों के आधार तो हैं। क्योंकि इनके निर्देशक गुरु वर्ग तो वही भद्र पुरुष कर्मकाण्डी हैं जिन्होंने अनूचान शुश्रुवान्सों के नितान्त अभाव में वेद ज्ञान मर्म रहित रहने पर भी वेद व्याख्या की गद्दी जवरदस्ती समाल ली थी। ऐसी दशा में इन लोगों ने वेदों की कैसी व्याख्या की होगी यह अब किसी से छिपा नहीं रह गया होगा। इसी कारण इसमें हमारी उस अमूल्य निधि और गुप्त गंगा रूप में बहती चली आई वैदिक पूत परम्परा का नितान्त अभाव है जिससे हमें वेदों के अमृतमय रस पीने का भरा पात्र मिलता है; अतः इसी निरुक्त को वैदिक अर्थ का अन्तिम प्रमाणिक ग्रन्थ मान कर हाथ में हाथ रख कर बैठ जाने को यदि मूर्खता की चरम सीमा कहा जाय तो यह अत्युक्ति नहीं वास्तविकता होगी। विद्वानों के मस्तिष्क का द्वार ज्ञान के लिए सदा खुला ही रखना आवश्यक है (१ से ३ तक)।

(४) कस्यां कोटयां सा व्याख्या तस्य पतति कर्मकाण्डीययज्ञीयायां वैतिहासिकायां वाऽन्यास्यां कस्यांचिद्वा नैतत्स्पष्टम् नैषाऽऽसु कासुचित्सुसा पूर्णतया पतति।

(५) दैवतकाण्डे तु नह्येको देवो योऽनुगतस्तेन, नह्येवेन्द्रो नो वृत्रो नो गावो नो पणयो नोऽग्निर्नो सोमो वा चन्द्रमा नान्ये वा ये मुख्याः। यथा सुपर्णः पशव श्छन्दांसि साध्या देवा ऋषयः पितरः प्रभृतयः।

(६) 'मानस्तस्यैको देवो यो न लभ्यते कास्मिंश्चिदपि वेदे।

(७) इन्दो र्वणनमश्वस्य व्याख्याने च ददाति।

(८) वृत्रं स मेध इति मन्यते इन्द्रं चाग्निरिति सोमं मदिरेति सूर्यं चन्द्रमसं च य आकाशस्थितं स्थूल ज्योतीरूपं प्रत्यक्षमेव? तथैवान्येषां देवानां व्याख्येत्यादि।

(९) सर्वमेतदस्माकमुद्धत प्रसिद्धप्रश्नानां सर्वविदितपरम्परायाश्च समाधान हीनमिति तु निर्विवादमाश्चर्यमेतद्यत्कथं सह्यमभूद्यावधीति।

(१०) ईदृश्याः प्रतिपथगामिन्या वेद व्याख्याया स्तस्यैकमेव महत्कारणं समुपलभ्यते यत्तेनान्यैश्च वेदानां ब्राह्मणानामाररायकनामुपनिषदां च परम्परा नुगतार्थस्थ ज्ञानाय नोपलब्धः कश्चित्तादृगनूचानः शुश्रुवान् ब्राह्मणदेवता गुरु र्यादृगासन् मन्त्रब्राह्मणादि युगेषु; नैव च स्वयं तस्यासीत्काचिच्छक्ति स्तेषां ग्रन्थानां सागरस्य समन्वयाध्ययनेन परस्परसंगतिपूर्वकेन च सम्पूर्ण मन्थनं कृत्वा तेषां त्रिविध दर्शनानां नाना रत्नानि समुद्धर्तुमेकतारतम्येन सूत्रे मणि गण इव प्रोतानि कर्तुं यथा कृतमस्माभिरत्रान्यत्र च वैदिक विश्वदर्शने विदुषां सर्वेषां त्यक्त्वात्मगत पूर्वजडसंस्काराणां निष्पक्षविचारणार्थमेव।

अस्तु यास्क की दी हुई वेद व्याख्या किस कोटि में रखी जाय ? इसका निर्णय करना भी सरल नहीं है। न तो यह पूरी कर्मकण्डीय ही है, न याज्ञिक ही है, न ऐतिहासिक ही है, न पूरी नैरुक्त, न नैघण्टुक। यह इनमें से किसी भी कोटि में पूर्णतः नहीं समाती। दैवत काण्ड में इन्होंने देवताओं की जो व्याख्यायें दी हैं, उनमें अनूचानता और शुश्रुवान्त्सता का नितान्त अभाव है। और तो अलग रहे तीन मुख्य देवताओं अग्नि इन्द्र सोम—में से इनकी समझ में एक भी नहीं आया है, अन्य वसुरुद्रादित्यादिकों की चर्चा चलाना हो व्यर्थ है। क्योंकि इन्हें इनमें से न तो सुपर्णो का, न पशुओं या छन्दों का, न साध्यादि देवों और ऋषि, पितर प्रभृतियों में से किसो का भी समुचित ज्ञान है। इन्होंने 'मानः' नामके एक देवता की व्याख्या दी है जो वेदादिकों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इन्दु के वर्णन को इन्होंने अश्व के वर्णन के अन्दर घसीटा है। वृत्र को ये मेघ मानते हैं, इन्द्र को अग्नि ही कहते हैं, इनके भेद का इन्हें ज्ञान नहीं है, सोम को ये मदिरा ही समझते हैं, कहीं आकाश का चमचमाता चन्द्रमा भी इनका सोम है, सूर्य को भी ये सौरमण्डल का ही सूर्य समझते हैं। अग्नि को ये लकड़ी या कण्डी से जलने वाली ही आग समझते हैं और 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्रदितिः परि' की व्याख्या में ये अदिति और दक्ष को 'देवधर्मेणेतरेतर जन्मानौ' अर्थात् 'देवता होने से एक दूसरे के जन्मदाता हैं' कह बैठे हैं। इनके देवताओं के विभाजन की कोटियाँ स्थान और उनके एक दूसरे के विरोधी व्याख्यान भी निर्मूल और निराधार ही हैं। साथ में जिन प्रसिद्ध प्रश्नों को और परम्परा के श्रोत को पहले दिया जा चुका है उनमें से इनके ग्रन्थ में न एक का भी समाधान मिलता है न उनका परम्परानुगत ज्ञान। इस प्रकार इनकी इन देवताओं की सब व्याव्यायें देवता रूप की न होकर केवल प्राकृतेय पदार्थ सम्बन्धी ही अधिक हैं। यद्यपि कहीं कहीं इन्होंने आधिदैवत आध्यात्मिक अर्थों की चर्चा भी की है, पर ये विषय इनकी समझ से दूर की सी ही प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार की सैकड़ों अन्य वातें भी हैं जिन्हें वे अपने पाण्डित्य के आवेश मे उगल बैठे हैं जिनको कोई भी समझदार, वैदिक परम्परा का ज्ञानी और अभिमानी, उक्त परम्परा हीनता के कारण किसी भी भाव स्वीकार नहीं कर सकता। यही बड़ा भारी आश्चर्य है कि यह व्याख्या अब तक सिर ऊँचे उठाये खड़ी है, इसका पर्दाफाश तो बहुत ही पहले हो जाना चाहिए था, पर श्रौत्रियों की बाढ़ में से बच कर निकल आने वाला कोई वालमुकुन्द अवतार सा विद्वान् नहीं पैदा हुआ, यही सबसे बड़ा दुःख है, यह सब हुआ ही क्यों ? यदि हम इस तथ्य की खोज में निकलते हैं तो हमारे सामने उसी प्राचीन युग, संहिता ब्राह्मण आररायक और उपनिषदों के युग में प्राप्त अनूचानाः, शुश्रुवान्त्सः, अक्षण्वन्तः

कर्णवन्तः ब्राह्मण दैवताओं का इनके युग में नितान्त अभाव हो जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण उपस्थित नहीं होता। ऐसा होने पर भी विद्वान् का तो सदैव यही प्रयत्न होना चाहिए कि वह जिस विषय पर लिखने जा रहा है उसके सम्पूर्ण वाङ्मय का आद्योपान्त गम्भीर अध्ययन मन्थन चिन्तन कर उसमें जो रत्न छिपे हैं उन्हें एक एक करके बीन कर उनको 'सूत्रे मणि गण इव' पिरो कर ज्ञान रत्नों की हार बना दे जिसे जो पहने वही देव रूप में स्वयं कान्तिमान् तेजस्वी बन जाय। पर इस प्रकार की शक्ति का उस युग के विद्वानों में इस लिए अभाव हो पड़ा था कि वे नैरुक्त, नैघण्टुक, नैगम, याज्ञिक, ऐतिहासिक, वैयाकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष आदि के साम्प्रदायिक कबूतर खानों में बन्द हो गये थे, वे वहाँ ऐसे बन्द थे कि अन्यत्र ताकने झाकने का अवसर, सुविधा, चलन, प्रथा और परिपाटी ही समाप्त हो चुकी थी। यहाँ तो अपने-अपने शास्त्र को जैसे भी हो दूसरे से ऊँचा कहने कहलवाने और मानने मनवाने की ही होड़ लगी थी, ऐसा वातावरण वाला कभी भी वास्तविकता की ओर नहीं फटक सकता, इसे कौन नहीं जानता ? कौन मना कर सकता है ? यह तभी सम्भव हो सकता है जब विद्वान् अपने या दूसरे शास्त्रों के व्यक्तिगत या सम्प्रदायगत जड़ संस्कारों की तह से ऊंचे उठकर, उच्चधरातल से सबका निरीक्षण और परीक्षण एक विहङ्गम दृष्टि से करके, सबकी अच्छाइयों और बुराइयों को हस्तामलकवत् साक्षात् देखकर जो निष्पक्ष निरपेक्ष सत्य निर्णय स्वयं उपस्थित हो उसे साहस के साथ सामने रखने की ऐसी वज्र की कड़क भरी और बिजली की कौंध सी चमकने वाली चेष्टा करे कि सब के सब अपनी-अपनी हेकड़ी भुलाकर उसे अनायास स्वीकार करने में विवश होते हुए, हर्ष और प्रफुल्लता से ज्ञान की अमृत वृष्टि में स्नान करने लगें जैसा कि इस ग्रन्थ तथा अपने अन्य 'वैदिक विश्व दर्शन' और वैदिक ब्रह्म सूत्र नामक ग्रन्थों में करने का प्रयास किया जा रहा है, जिन पर विद्वानों से उक्त प्रकार से ही विचार कर देने की विनीत प्रार्थना भी है (४ से १० तक)।

(११) अथाप्यस्ति कठोरा पृष्ठभूमि र्भ्रमस्य यास्कस्य सर्वेषां च येऽनुचराश्च तस्याधुनिके मध्ये वा युगे वा तेषु वर्णनेषुत्विन्द्र वृत्रादित्यादीनां वेदेषूपलभ्यन्ते।

(१२) यद्यपि वर्णितास्ते सर्वे देवा विस्तरेणाग्रे तथाप्यल्पमिह सन्दर्भपूर्त्यै दीयते तद्यत्तन्महद्भ्रमस्य मूल कारणम्।

(१३) महर्षिभि र्वेदादीनां यत्प्रतिभानं कृतं सृष्टि मूलकं तन्मुख्यतो 'मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।' (बृह. उप., ३-१, ऋ. वे १०-५१७ यजु: १३-३, दृष्टव्यं च वैदिक विश्वदर्शने तत्त्वनिर्णयाध्याये ब्रह्मसूत्रे च मम)

(१४) तयो र्द्वयो र्भागयो र्मध्ये प्रथमे पूर्वार्द्धे या सृष्टिः साऽनारम्मणीयाऽमृताऽमूर्ता यत्त्यच्च प्राण रूपा शक्ति पुञ्ज रूपा सत्यपि त्रयीमयी त्रिविधा त्रिपदा त्रिपादा वा तामाहु 'रेकं सदेतत्त्रयमिति' (बृह. उप-१-६-१)

(१५) द्वितीयार्द्धे च तस्मात्पूर्वार्द्धात्प्रारभ्यते पुनस्त्रिविधा सृष्टिर्नाम रूपं च कर्म चेति, सा वै आरम्भणीया मूर्ता मर्त्या सच्च स्थितं च, येषां चोक्थानि च वाक् चक्षुरात्मा च, तेभ्य एव क्रमशो वाचो रूपाणि कर्माणि चोत्तिष्ठन्ते (बृह-उप-३-६-१) ।

(१६) तस्याश्चेतस्याः स्थित्याः वर्णनं तु गीतया वै दत्तं यदुभययोः सृष्टि योग पक्षयोः क्रमं च ददाति युगपदेकैकेनैव श्लोकेनार्द्धविपरीतक्रमेण यथा——

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।"
तस्मा त्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥"
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।
यस्त्वात्मरति रेवं स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्ट स्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

(३–१४ से १७ तक)

(१७) अत्रस्थोद्धरणस्य गीतायाः सन्दर्भौ यज्ञ एव स यज्ञश्चात्मरतिरात्म तृप्तिरात्मतुष्टि र्वेत्यन्तिमे श्लोके चेहोक्त त्वाद्योग यज्ञ एवेति सुस्पष्टम्

(१८) अस्य निर्णयस्य पुष्ट्यर्थे यः क्रमोऽत्रोदाहृत स्तत्त्वानां सोऽतिसृष्टेरेव योगस्यै वेति चापि संशय हीनम् ।

(१९) सत्यप्येवं सुस्पस्टेऽभाग्य वशेनैषामतीव महत्ववतां दार्शनिकश्लोकाना मर्थोऽपि सर्वैं व्याख्यातृभि स्तादृगेव भ्रम पूर्ण प्रवृत्या ऽऽहितया चानुचित या परम्परया यास्कादारभ्य एवाऽत्यन्तात्यन्तमसङ्गतो यो विहित स्तस्यैष उद्धारः ।

अब च उक्त प्रकार के अभाग्यशाली अभाव और सामर्थ्य तथा विवशता हीन वातावरण वाले भटके विद्वानों को वर्गलाने वाला एक और वलवान् या जबरदस्त कारण भी स्वयं वेदों की भाषा में विद्यमान था, यद्यपि विद्यमान तो नहीं था, क्योंकि वैदिक ऋषियों ने अपने अमृतमय वाङ्मय को जाति जीवन का अभिन्न अङ्ग तथा अमर बनाने के लिए एक ऐसी चुनी पारिभाषिक पदावली का प्रयोग अपनाया था जिससे एक ही वाक्य के तीन भिन्न-भिन्न अर्थों की गंगायें,

विना शब्दों को तोड़े मरोड़े या इधर-उधर किए ही स्वयं तीन विभिन्न लोकों-- स्वर्ग अन्तरिक्ष और भूमि--में तीन पृथक् रङ्गों—योगयज्ञ सृष्टियज्ञ और द्रव्य-यज्ञ में बहती रही, जिसे जिसमें स्नान करने की इच्छा हो, वह उसी के किनारे चला जाय, इसमें कोई रूकावट नहीं थी, क्योंकि उन्हें इन तीनों ही की रक्षा अभीष्ट भी। परन्तु इनमें से अधिक लोग द्रव्ययज्ञ परक अर्थ वाले मार्ग के और यज्ञानुष्ठान विधान के अनुयायी थे जिसमें ज्ञान साक्षात्कारानुभूति का अभाव रहने के कारण उस युग के अनूचान शुश्रुवान्तस ब्राह्मणदेवता इस प्रकार के इस मार्ग के इन अनुयायियों को उस प्रकार से बराबर फटकारते डांटते भी रहते थे जिनके उद्धरण इस अध्याय के आदि में ही दे दिए जा चुके हैं। ज्ञानी और योगी सभी युगों में कम रहे, रहें गे, और उक्त प्रकार के ऐसे ही लोगों का भेडियाधसान प्रायः बहुमत बहुसंख्या में रहा और रहेगा भी, ऐसे ज्ञानियों के गूढ़ ग्रन्थ इस प्रकार के लोगों के लिए होते भी नहीं। प्रत्यक्ष है इस दृष्टि से वेदों या उपनिषदों का अध्ययन करने वाले हैं ही कितने ? इस ग्रन्थ से इनकी संख्या बढ़ाने का प्रयास अवश्य किया जा रहा है।

ऐसी परिस्थिति में वेदों में प्रयुक्त एक ही शब्द तीन वस्तुओं का संकेत करने वाला निश्चय पूर्वक रहा। उदाहरण के लिए पृथिवी इन्द्र, वृत्र, यम, सूर्य चन्द्रमा नदी पर्वत समृद्र अग्नि आपः, वायु आदि शब्दों का अर्थ कर्मकाण्डीय द्रव्य यज्ञ में अवश्यमेव क्रम से वज्रधारी, मेघ, मृत्यु, सौरमण्डल के चमचमाते ग्रह तारे, पानी, बहने वाली नदियां, पत्थर मिट्टी के पहाड़, खारे पानी के सागर, जलने वाली आग, पीने का पानी बहने वाली वायु ही रहे। यह कर्मकाण्डीय परम्परा, केवल आभ्यन्तर योगयज्ञ और मौलिक सृष्टि यज्ञ के देव रूप पात्रों के आभिनयिक पात्र थे। आजकल इनका नाटक सिनेमा बनाया जाय तो इनके आभिनयिक पात्र पुरुष और स्त्रियाँ होंगी। इन लोगों ने तो इतने बड़े ब्रह्माण्ड को रंग मंच बनाया है, यह कम बड़ी बात नहीं है। पर इसमें नाटक मात्र है, नाटक मात्र की रूपरेखा की सत्यता है। इसमें वह सत्यता नहीं है जिसको प्रदर्शित करने के लिए इनका इतना बड़ा आयोजन किया जाता है। इसका नाम अन्धपरम्परा अवश्य है, हुआ करे, यदि यह मार्ग न होता, ये याज्ञिक न होते तो हमारा समस्त वैदिक वाङ्मय जितना भी उपलब्ध होता है वह भी अन्य अनुलब्ध शाखाओं की तरह, कभी का नष्ट हो गया होता। इस दृष्टि से इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह बहुत ही कम होगी। यह पद्धति हिन्दू जनता से इन लोगों ने क्या स्वयं वैदिक ऋषियों ही ने ऐसी चिपका दी है कि कोई शक्ति इसे हिन्दू जाति से पृथक् नहीं कर सकता, जो लोग इसके विरोध में चिल्लाते फिरते हैं वे केवल इन अभागे वेदों के ही नहीं, वरन् हमारी इस सर्व प्राचीन

वैदिक संस्कृति हिन्दू जाति के और अपने स्वयं अपने ही आत्म हत्यारे हैं, क्योंकि संस्कृति ही जाति राष्ट्र और प्रजा की जीवनामृत होती है ।

यह तो हुआ, पर 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की कहावत अपना फल चखाये बिना नहीं रह सकती । इस मार्ग का प्रचुर प्रचार रहते हुए भी उपनिषदों के युग तक इनकी प्रतिष्ठा की रक्षा उस युग के अनूचान शुश्रुवान्त्स ब्राह्मण यज्ञानुष्ठान काल के विदथ में ब्रह्मोद्य वचनों के द्वारा बनाये रखते रहे । अतः तब तक ये मूँछों में ताव देकर खूब खाते पीते मस्त रहे । पर इनकी अति ने ऐसे अनूचानों और शुश्रुवान्त्सों का कालान्तर में नितान्त अभाव कर दिया । अब इस मार्ग के लोगों की आखें खुलने लगी, अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः तो रहे नहीं, पर लालसा बनी रही कि हम भी उनके उन योग और सृष्टि यज्ञ सम्बन्धी गम्भीर रहस्यों को भी जानते रहें । पर अब 'वे दिन गये चचा के राज' की कहावत ने राज्य जमाया । ये लोग अब वैसी ही मनगढंत अटकलें भिड़ाने लगे जैसी यास्क ने निरुक्त में लिखी और सायण ने वेद भाष्य में नये वेदान्त या नये सांख्य के अनुरूप भिड़ाई हैं । यास्क ने कई ऐसे प्राचीन लेखकों के उचित उद्धरणों को उतारते हुए भी, न उन्हें समझा, न समझने की शक्ति ही दिखाई है, वह उस अन्धयुग के अन्धकार का ही प्रभाव है, अतः गुरु और सामर्थ्य हीन होने से, इन्होंने 'दुबे गये चौबे बनने बन गये छग्गे' की तीसरी कहावत को साकार रूप दे दिया । अब न कोरा कर्मकाण्डो अर्थ रह गया, न वे शेष पूत दो अर्थ; अब अटकलों के जाल में फंसे कर्मकाण्डी अर्थ की एक सबसे बड़ो खतरनाक नई प्रथा चल पड़ी । इससे वे प्रश्न और वह परम्परा जिन्हें पहले दिया गया है सब के सब अछूते रह गये । पाश्चात्यों ने वेद इन्हीं से पाये, उन्होंने प्रायः इन्हीं का अनुसरण किया है, परन्तु इनकी अटकलों के बदले उन्होंने वैदिक दर्शन से उच्छिन्न अनेक ग्रीक रोमन पारसीक गाथाओं के आधार या सहारे से देवी देवताओं के वारे में अपनी दूसरे प्रकार की मनगढंत कल्पनाओं के ढेरों से मोटे मोटे ऐसे थोथे पोथे लिख डाले, जिनमें न तो वैदिक परम्पराओं का कोई भी अंश मिलता है, न वैदिक वातावरण ही । इन्होंने एक और विचित्र बात की है, इन्होंने वैदिक पारिभाषिक पदावली के अर्थों को तुलनात्मक भाषा विज्ञान के सहारे लगाने की अवैज्ञानिक प्रथा को अपनाया । पारिभाषिक पदों का अर्थ ऐसे कोई कभी नहीं निकाल सकता, उसके लिए वैदिक वाङ्मय का मंथन ही एक मात्र मार्ग है । इनका एक और अनुचित दृष्टि कोण है । इन्होंने यह तय कर लिया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की उचित व्याख्या नहीं दे सकते । इस मत को अपनाने के तीन मुख्य कारण रहे, एक तो यह कि ये ग्रन्थ इनकी समझ में अच्छी तरह

नहीं आये, दूसरे वे इनको कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के कर्म में मंत्रों से प्रयोग करने की शैली मात्र समझते रहे, तीसरे इन ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ पर दार्शनिक विषय पर प्रकाश डालकर देवताओं की यथार्थता का विवेचन दिया गया है, उसे वेदों में ही विशद रूप से वर्णित पाने की या खोजने की इनमें सामर्थ्य ही नहीं रही, ये संहिताओं और ब्राह्मणों के विषय की, तालमेल से, तुलना से, उनमें एकरूपता खोजने की ओर अपना ध्यान आकर्षित ही नहीं कर सके। ऐसा न कर सकने के कारण 'नाच न आवे आँगन टेढ़ा' की कहावत को चरितार्थ करते हुए इन्होंने एक ऐसा अवाञ्छित नारा लगाया कि 'इन ब्राह्मणों के युग के लेखक वेदों के वास्तविक अर्थ को नितान्त भुला बैठे थे।' यही धारणा इनकी महती प्रतारणा का मुख्य कारण है। ब्राह्मणादिकों में वेदों के तीनों अर्थों की तीनों धारायें गंगा यमुना सरस्वती की तरह साथ-साथ बहती हुई मिलती हैं। इसी दृष्टि कोण ने इन्हें वेदों और ब्राह्मणों, आररायक और उपनिषदों में एक सूत्र में गुथे, एक रूप में वर्णित देवता विषय की एकता तारतम्पता समीचीनता की खोज की ओर प्रवृत्त होने से ही एकदम रोक दिया। केवल इतने और ये ही कारण इनको इस ओर प्रवृत्त होने से रोकने वाले नहीं थे। इनको इस ओर जाने से रोकने वालों में से दो अन्य—सामाजिक और राजनीतिक—कारण सबसे महाबली रहे। इन पाश्चात्यों की सभ्यता और संस्कृति में उन उच्च कोटि के विषयों का, जो हमारे वेदों ब्राह्मणों आररायक उपनिषदों में कूट-कूट कर भरे मिलते हैं, जिन्हें हम तपोयज्ञ या सृष्टियज्ञ और अतिसृष्टि यज्ञ या योग यज्ञ कहते हैं, नितान्त अभाव है। जिनकी सभ्यता और संस्कृति में ये विषय हैं ही नहीं, जिनका इन्होंने कभी नाम तक नहीं सुना है, भला उस ओर प्रवृत्त होने या शंका करने का इनके पास कोई उपयुक्त वातावरण ही कहां से होता। हाँ जो विषय, गाथाओं का विषय इनके ग्रीक रोमन या पारसीक सभ्यताओं में ब्राह्मण उपनिषदों के से दर्शनों से उच्छिन्न होकर केवल बुढियों की सी कोरी कल्पनाओं के भ्रमसागर सी थी उनका इन्होंने जो उपयोग किया वह भी नष्ट दर्शन मूलक होने से और अधिक भ्रामक बन पड़ा यह कहा जा चुका है। हमारे उपनिषदों को पढ़कर इन्होंने इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए था, पर इन्हें भी ये, एक तो वेदों और ब्राह्मणों से नितान्त नवीन उद्भावना वाले मानने वाले बन गये, दूसरे इनको इनका इनके गुरु भारतीय ही अच्छी तरह नहीं समझा सके थे तो ये इसे उन्हीं से पाकर आगे कैसे जाते। उपनिषदों में वास्तव में क्या विषय भरा पड़ा है यह लेखक के १० उपनिषदों के भाष्य, तथा इनके भाष्यों की विस्तृत भूमिका में देखने का कष्ट किया जाय, शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है। इन पाश्चात्यों के यहाँ दर्शन जैसी वस्तु की प्रथम विचारणा प्लेटो और सौक्रेटीज के

समय में प्रारम्भ हुई, अतः ये यह भी समझते आ रहे हैं कि भारत में भी ऐसी विचारणा इन्हीं दो के समय के आस-पास से प्रारम्भ हुई है। भारत में राज्य करने के राजनीतिक प्रभुत्व ने इन्हें भारत की इस विषय की सर्वप्राचीनता स्वीकार न करने को बाध्य करके इन्हें वेदों ब्राह्मणादिकों की ऐसी गहन विद्या की खोज में जाने से सदा के लिए नितान्त विरत कर भविष्यदर्शी वैदिक ऋषियों की वचनावली के अनुसार जैसी अधेन्वा अफला अपुष्पिता महा कृतियों का प्रयास कराया वह सबके सामने है, इन सब कारणों से वेदों में वर्णित वे सब प्रश्न और परम्परायें जिनको पहले दिया है उनमें से इनके पास एक का भी समाधान नहीं मिलता। ये उन्हे पहेली कहकर छोड़ गये हैं जिससे हजारों मंत्र और सूक्त इन्हें अविज्ञात ही रह गये, यह ये सब स्वयं कहते हैं। अतः क्या था क्या होपड़ा है, कुछ कहना ही नहीं आता। वेद व्याख्या की इस धारा की क्रमिक दशा तो ठीक वैसी ही होपड़ी है जैसा कि तुलसीदास जी लिख गये हैं—

**जैसे—"ग्रह गृहीत पुनि वात बस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइहि वारुणी कहहु कवन उपचार॥"**

अब उक्त वर्णित तथ्य की सत्यता को कसौटी में कसनेके लिए एक सर्व प्रसिद्ध विषय दृष्टान्त रूप में वर्णित कर दिया जाता है जिससे सब को अवश्य-मेव यह पक्का विश्वास हो जावेगा कि जो रोना यहाँ रोया गया है वह सचमुच में एक निर्भ्रान्त, ज्वलन्त और नग्न सत्य है। इस अध्याय के प्रथम पाद के १६ वें सूत्र में प्रश्नों की फुलझडियों के क्रम में वैदिक ऋषि प्रणीत अपने दर्शन के जिन दो मुख्य भागों के बारे में लिखा गया है उन्हें क्रमसे अमृत मर्त्य अमूर्त मूर्त, त्यत् सत् और यत् स्थित नाम से पुकारते रहे। इन दो भागो में से जो सृष्टि या अतिसृष्टि पूर्वार्द्ध में होती है उसे वे अनारम्भणीय अमृत अमूर्त, यत् और त्यत् नाम से पुकारते थे। यह सृष्टि प्राण रूपा होती हुई भी त्रयीमयी त्रिपादामृता, कहलाती थी, अतः इसे तीन भागों में विभक्त होते हुए भी 'एक मय' सृष्टि ही कहते थे। उत्तरार्द्ध में उस पूर्वार्द्ध से त्रिविध सृष्टि का विकास होता है जिनको यहां पर नाम रूप और कर्म नाम से पुकारने लगते हैं। यहाँ से भौतिक सृष्टि का प्रारम्भ होता है। अतः इस सृष्टि का नाम आरम्भणीय सृष्टि है। इसे मूर्ता मर्त्या सत् और स्थित नाम से घोषित किया गया है, इन तीनों के मुख्य बीज रूप मूल स्रोतों के नाम, क्रमसे वाक् चक्षुः और आत्मा है जिनसे नाम रूप और कर्मों की क्रमिक सृष्टि होती है। इस स्थिति का विवेचन उपनिषदों या वेदों के विषय की सारभूता भगवद्गीता ने सृष्टि और अतिसृष्टि के दोनों पक्षों का विवेचन एक ही वाक्य से देने की चेष्टा में अतिसृष्टि रूप योग

यज्ञ के क्रम को दे दिया है, उसके उलटे चलने से सृष्टि यज्ञ के तत्त्वों का क्रम स्वयं उपलब्ध हो जाता है। गीता का मुख्य विषय योग यज्ञ ही है यह यहां उद्धृत श्लोकों के अन्तिम श्लोक के शब्दों—आत्मरतिः, आत्मतृप्तः, आत्मन्येव सन्तुष्टः'—से निर्भ्रान्त रूप में स्पष्ट है। और इस दिए हुए क्रम को अतिसृष्टि और सृष्टि का एक दूसरे में परिवर्तनीय और प्रवर्तित चक्र भी स्पष्ट कहा ही है। वह दिया हुआ चक्र यह है-भूतानि-अन्नं-पर्जन्य-यज्ञ-कर्म-ब्रह्म-अक्षर (ब्रह्म)।

यद्यपि पिछले परिच्छेद मे वर्णित विषय से गीता के इन श्लोकों और इस चक्र के विषय का प्रतिपादन, स्वयं स्पष्ट हो जाना चाहिए था, परन्तु आज तक के सभी व्याख्याताओं ने, चाहे कोई भी क्यों न हो, इसकी व्याख्या वैसी ही नितान्त भ्रामक रूप में प्रस्तुत की है, जिसकी चर्चा इस प्रसंग में कई परिच्छेदों से यहां होती आ रही है। इस भ्रम को दूर करने की चेष्टा और प्रयास से इससे सम्बद्ध सैकड़ों अन्य भ्रान्तियों के दूर भग जाने की सम्भावना समझ कर ही इसे दृष्टान्त रूप में चुना गया है। सौभाग्य से इन श्लोकों में दिये गये अतिसृष्टि और सृष्टि क्रम के जिन जिन तत्त्वों के नाम 'अन्न' से अक्षर तक गिनाये गये हैं वे सब के सब वेदों के सूक्तों मंत्रों ब्राह्मणों ओर उपनिषदों में प्रयुक्त उनके दर्शन के तत्त्वों के परिभाषिक नाम ही हैं। अतः इसकी व्याख्या चार मुख्य काम एक साथ कर देगी, इन पारिभाषिकों पदों की यथार्थ व्याख्या, इनका सृष्टि और अतिसृष्टि के क्रम को तात्त्विक व्याख्या, गीता के इन श्लोकों के अर्थों का उद्धार करके इसकी पुनः वैदिक व्याख्या के लिए आकर्षित करना (क्योंकि विना इन बातों को जाने बूझे सभी लोग गीता के भाव लिखने को व्यर्थ में झपटते दीखते है) और इस उद्धार से लोगों की आज तक की की हुई वेदादिकों की भ्रामक व्याख्या की तह को, तथा इसके पारिभाषिक शब्दों को उचित रूप से पहिचान कर, पुनः प्रकाश में लाने की चेष्टा में संलग्न करना (११ से १९ तक)

(२०) अत्रोक्तं भव'त्यन्नाद्भवन्ति भूतानीति।' न हि खाद्यान्नादिभिः कानिचिद्भूतानि भवन्त्युद्भवन्ति जायन्ते वा। नहि भवन्तीति शब्दस्य जीवन्ती त्यर्थोऽत्राग्रे 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धोति वाक्ये भवतीत्यस्य स्थाने तूद्भव इति वचनात्तथा पंचमी विभक्त्या 'यतो वै इमानिभूतानिजायन्ते' इति वत् दार्शनिकसृष्टेः क्रमदानाच्च नहि कदाचिदपि खाद्यान्नमित्यत्र संदर्भः सम्भवेद् यतोह्युपरिष्टात्सूत्रोद्धृततैत्तिरीयवचन पुष्टिश्चात्र प्रमाणममोघम्। भूतानि चात्मानः प्राणा, न तु प्राणिनो नापि महाभूतान्येव। तानि भूतानि वा ते चात्मानश्च 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तदिश इत्यधिभूतमि' ति—तैत्तिरीयोपनिषदि (१–७) चोक्तम् स्पष्टम् येषामात्मानस्त्वग्निर्वायुरादित्य-

श्चन्द्रमा नक्षत्राणीति' च तत्रैवोल्लिखितम् । तेषां प्राणाः क्रमश एव वाक् प्राणश्चक्षु मनः श्रोत्रमिति च स्पष्टम् पृथिव्यादयः । यदेतदन्नमिति तन्मनो 'ऽन्नमयं हिमन' इति च छान्दोग्ये (६–१) स्पष्टोक्तम् । अन्नमदिति वागिति च या 'यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमाध्रियत' (बृह. उप. १–२) तथा सैव वाग्वै अत्रिरदतीत्यदितिरत्रिर्वा 'ऽत्तिर्ह वे नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवतीति' (बृह. उप. २-२-३) तस्य च सप्तान्नानि सप्ता-ऽक्षितयस्त एव सप्त प्राणा वै ऋषयः सप्तः सृष्टवृक्षे 'तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्व बुघ्ने' (उभयत्रोक्तस्थानयो) द्रष्टव्यान्यदितिरत्रिरन्नमजोऽजा' शीर्षकानि 'वैदिक विश्व दर्शने' मम ।

(२१) अथ चोक्तं तैत्तिरीये (२-२) य 'दन्नं ब्रह्म । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नम् ।'

(२२) 'सोऽमन्नमयः कोश एव मनोमयः प्रणामयो विज्ञानमय आनन्दमयश्च पञ्चधा (बृह. उप. तै. २) पृथक् पृथगेकमयश्च पञ्चात्मा ।'

(२३) वेदेषु यत्रकुत्रापि चैतदन्नं पदं तस्य नानार्थवाचका हविरादयः शब्दा वा आयन्ति तेषामेष एवाऽर्थोऽभीष्ट इति च निःसंशयम् ।

अब उद्धृत उद्धारण की वास्तविक व्याख्या दी जाती है––

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि'—इस पाद में आये वैदिक शब्द 'अन्न' और 'भूत' ने सभी व्याख्याताओं को बुरी तरह से ठग दिया है । इन सभी लोगों ने इनका अर्थ लौकिक संस्कृत और कर्मकाण्ड में प्रयुक्त वस्तुओं या हवियों को समझने की भयंकर भूल की हैं । स्पष्ट है कि खाद्यान्न से भूतों या प्राणियों की किसी भी प्रकार उत्पत्ति नहीं हो सकती । यहां 'भवन्ति' धातु रूप का अर्थ अन्न शब्द के पञ्चमी विभक्ति से उद्गमार्थे पञ्चमी होने से उत्पत्ति मात्र है, न कि अन्न के द्वारा जीवित रहते हैं, क्योंकि यहाँ पर उक्त विभक्तिक सन्दर्भ के साथ साथ दार्शनिक सृष्टि विकास का क्रम दिया गया है । आगे चलकर केवल 'भवन्ति' न कह कर 'संम्भवः' 'उद्भवं' आदि रूपों को इसी लिए दिया भी गया है, सन्दर्भ और भाव सर्वत्र एक ही सा होने से इस भवति भवन्ति आदि का अर्थ सम्भवति सम्भवन्ति उद्भवति उद्भवन्ति ही स्पष्ट रूप से है । यहां पर' भूतानि' शब्द भी न तो प्राणियों का वाचक है न महाभूतों का, यह शब्द तो वेदों में 'पञ्चात्मानः' पञ्चकोशाः' पञ्चप्राणा प्रभृति मात्र का वाचक है । यह तै. उप. और बृह. उप के उद्धृत वाक्यों के इस आशय से स्वयं स्पष्ट हो जावेगा । तै. उप. ने लिखा है कि भूत तत्त्व ये हैं–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशायें और आवान्तर दिशायें । वहीं पर यह भी लिखा है कि इनके देवता रूप आत्मायें अग्नि वायु आदित्य

चन्द्रमा और नक्षत्र हैं। इनके प्राणों का नाम 'वाक् प्राण: चक्षु मन: और श्रोत्र हैं। फलत: जो पृथिवी आदि तत्त्व हैं वेही वाक् आदि हैं। इन्हीं का नाम भूत तत्त्व हैं। अन्न क्या तत्त्व है? इसके उत्तर में छान्दोग्य ने लिखा है कि मन: तत्त्व अन्नमय है, और बृहदाररायक ने अधिक स्पष्टतया लिखा है कि अन्न नाम अदिति नाम्नी वाक् का है। इससे जो जो विकास होते गये उन्हें यह निगल कर अपने गर्भ में रखती गई। इस प्रक्रिया को अदन या खाना कहकर इस को अदन अत्ति क्रिया शालिनी अन्नं नाम्नी वाक् कहने लगे। इसी 'अत्ति' अदन अर्थ के धातु से अत्रि नामक ऋषि का नाम अत्रि भी पड़ा। अत्रि नाम भी अन्नं का पर्याय हैं 'अत्तीति अत्रि' व्युत्पत्ति है, वाक् का ही नाम है, यह भी सर्वात्ता या सर्वभक्षी या सर्व संरक्षिका (गर्भ में रखकर) है। इस प्रकार की अन्न और अत्रि नाम्नी इस वाक् ब्रह्माण्ड रूपिणी के सात अक्षितियां अजरामर रहने वाले सप्तान्न या सप्तप्राण या सप्तर्षि कहलाते है जिनको ऊर्ध्व मूलमध:शाखसृष्टि वृक्ष के मूल में ध्यानमग्न बैठे बताया गया हैं। इनका विस्तृत विवेचन 'वैदिक विश्व दर्शन' के 'अदिति अत्रि अन्नं अज शीर्षक में देखें। तै, उप, ने आगे चल कर लिखा है कि यह अन्नं तत्त्व तो ब्रह्म हैं और इसी अन्न रूप ब्रह्म से उक्त प्रकार के भूत तत्त्वों की उत्पत्ति या विकास होता है। साथ में यह भी कहा है कि यह 'अन्नं ब्रह्म' भूत तत्त्वों में सबसे ज्येष्ठ है और इस अन्न की वही व्युत्पत्ति दी है जो पिछली पंक्तियों में दी जा चुकी है। अत: उसने और अधिक स्पष्टता या उग्रता के साथ लिख दिया हैं कि जिसे अखिल कोटि ब्रह्माण्ड का मौलिक मनोमय कोश या मनो ब्रह्माण्ड कहते हैं वही अन्नमय कोश या अन्नमय मनो ब्रह्माण्ड है। यह कोरा कोश नहीं है, यह मनोमय तोहै ही, साथ में प्राणमय भी है, विज्ञानमय भी है, आनन्द मय भी है। अत: यह पञ्चधा होते हुए भी एक ही अन्नमय कोश ही कहलाता है, अन्य कोश इसी से इसी में, इसी के अत्तिया अदनरूप गर्भ में, भूत रूप या आत्मा रूप में, उत्पन्न विकसित पुष्पित और फलित या आनन्दित होते हैं। वेदों में जहां कहीं भी इस अन्नं या इसके पर्याय वाची शब्दों का प्रयोग किया हुआ मिलता हैं, विश्वास कीजिए, वहां वही, सर्वत्र उसका वही अर्थ अभीष्ट है जो यहां पर सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। इसमें कहीं भी संशय का स्थान नहीं (२० से २३ तक)।

(२४) तस्यैवाच: पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयग्नि: यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्नि: (बृ. उप. १-५) यतो 'यावद्ब्रह्म विष्टितं तावती वाक् (ऋ. वे. १०-१६४-१०)।

(२५) 'मनसो द्यौ: शरीरं ज्योतीरूपं यावदेव मनस्तावती द्यौ स्तावानयमादित्य:। (बृह. १-५-१२)।

(२६) 'यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्' (ऐ० उप० ३–१)
'मन आकाश:' 'मनसो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं पादः
'आकाशस्याग्निर्वायुरादित्यो दिशः पादाः' (छा०उप०३–१०)
'समानः प्राणो वै मनः पर्जन्यो विद्युत्' (छा० उप० ५–२४)
'मनो ब्रह्म तस्योपासना चानन्दः' (बृ० उप० ४–१)

(२७) पर्जन्यस्तु प्रथमभौतिकान्नस्यामृतस्याच्छादनरूपं पटलमादित्यमुखे 'स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ' 'तया स्त्रिया आकाश आपूर्यत एव' ('सः ईशावास्यः') 'सोऽह्लो जातत्वादहमितिपदवाच्योऽभूत्'
(बृ० उप० १–४)

(२८) योऽयमादित्यः स पर्जन्यस्तस्मा 'त्पर्जन्यादन्नसंभव' इति ।

(२९) अस्ति चास्याः स्थित्या आसुररूपाया वर्णनमुपलब्धमृग्वेदेऽपि स्वयमित्थम्
(५–४०–५–९)

"यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूह्ळं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥
....
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत् ।
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन् ॥"

अथ शतपथब्राह्मणे च–"स्वर्भानुर्ह आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध, स तमसा विद्धो न व्यरोचत, तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपाहतार्थः स एषोऽपहतपाप्मा तपति ।" (५–२–६–२)

(३०) अयमेव स्वर्भानुर्देवरूपे पर्जन्यो वाऽऽसुररूपे तु वृत्रो वा भौतिकासुरः स्वर्भानुर्वा,

(३१) ईदृशः पर्जन्यो न कदाचिदपि लौकिको मेघो भवितुमर्हति तस्य जगतस्तस्थुषश्चात्मत्वादिति सुस्पष्टं स्पष्टवर्णनया ।

(३२) अस्य पर्जन्यस्य देवरूपस्य सर्वश्रेष्ठवर्णनं चर्ग्वेदे सप्तमे मण्डले शतैकतमे सूक्ते वाशिष्ठे चैवम् (७–१०१)

"तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन्गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति ॥
....
स्तरीरु त्वद्भवति सूत उ त्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता तेन पुत्रः ॥
यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।
त्रय कोशास उपसेचनासो मध्वश्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥

स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।

(३३) योऽयं त्वाष्ट्रोवृत्र इत्युच्यते सा 'वाग्वै त्वष्टा' (श० प० ब्रा०)
सा वागात्मा भौतिकी वागात्मा तस्यां जातस्त्वाष्ट्रः सः ।

पर्जन्यादन्नसम्भवः—इस पद के 'पर्जन्य' शब्द ने हमारे सभी भाष्य टीका अनुवाद समालोचना के लेखकों के मस्तिष्क में दुर्दिन का सा अन्धकार भर कर उन्हें सबसे बड़ा धोखा दिया है। यह तत्त्व वैदिक दर्शन का एक महा महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसीलिए इसके सैकड़ों प्रकार के विवेचन मिलते हैं। पिछले परिच्छेद में जिस अदितिमयी अन्न नाम्नी वाक् का विवेचन दिया जा चुका है उसे वैदिक ऋषि पृथिवी (तत्त्व) शरीरिणी ज्योती रूपिणी अग्नि आत्मा वाली कहते थे, जितनी व्याप्ति मयी तत्त्वरूपिणी पृथिवी या दर्शन का उत्तरार्द्ध होता है उतनी ही व्याप्ति उसकी ज्योतिर्मयी शरीर की आत्मा रूप अग्नि का भी कहा गया है। अतः यहां तक कह दिया है कि जहां तक (भौतिकात्मीय) ब्रह्म व्याप्त है वहां तक यह वाक् भी व्याप्त है अर्थात् वाक् और ब्रह्म दोनों एक दूसरे में अभिन्नतया व्याप्त हैं, चाहे जहां तक भी व्याप्त हों। परन्तु जिससे यह वाक् आविर्भूत होती है उसका नाम अनिरुक्त या अमृतमय मनः है जिस का शरीर द्यौ या दर्शन का अमृतमय पूर्वार्द्ध है और स्वरूप ज्योती रूप है, जितना व्यापक यह मनस्तत्त्व है उतनी ही व्याप्तिमयी वह द्यौ इसका शरीर भी है, और इन दोनों के सम्मिलित स्वरूप का ही नाम आदित्यः या सूर्यः है। अतः जितना व्यापक यह मनस्तत्त्व है जितनी व्याप्तिधर्मा वह द्यौ है, उतना ही व्यापक यह आदित्य भी है। जिसे यहां मनस्तत्त्व कहा गया है उसी का नाम वेदों में प्रयुक्त 'हृदय' भी है, और इसी मनः या हृदय का नाम आकाश (अन्तरिक्ष) भी है। अन्तर इतना है, मनोरूप तत्त्व के पादों का नाम वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रं है तो आकाश के पादों का अग्नि वायु आदित्य और दिश् है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनः या हृदय तो शरीर हैं और आकाश इनकी आत्मा या दैवी स्वरूप। यह मनः, पञ्चधाप्राणों में समान प्राण का प्रतिनिधि है जो अन्य सब प्राणों में समभाव से या साम भाव से या साम्य भाव से रहता है। अतः इसी का नाम साम प्राण भी तो है। इस को तो साक्षात् ब्रह्म नाम से कई क्या सभी उपनिषदों ने घोषित भी किया है, जिस तत्त्व को आनन्द रस कहते हैं वह इसी मनः या हृदय के कटोरे में भरा रहता है या भरा जाता है (योग द्वारा)। इसी समान प्राण रूप मनः या हृदय तत्त्व में पर्जन्य और विद्युत् दोनों तृप्ति पाते हैं, संच पाते हैं, शान्ति पाते हैं, सुख या आनन्द लेते हैं। अब प्रश्न उठता है यह पर्जन्य वास्तव में है क्या वस्तु या तत्त्व ?

सृष्टि क्रम में पिछले परिच्छेद में वर्णित पूर्वार्द्धीय द्यौः शरीरी मनः के ज्योतिर्मय रूप से जब उत्तरार्द्धीय पृथिवी शरीरिणी वाक् के तेजोमय अग्नि रूप में विकास होने के पहले उस मनो ब्रह्माण्ड रूप आदित्य नामक तत्त्व को प्रजापति रूप में अपने को एकाकी पाकर भय हुआ, उसने साथी के होने की मनसा या इच्छा की, वह मनोमय था अतः इच्छामय ऋषिरूप में परिणत हो गया। उसकी इस कामरूपता ने या मानसिक इच्छा शरीर ने ज्योंही अपना पूर्ण विकास पाया, तब देखने में क्या आया कि वह मनोमय ब्रह्माण्ड अब उस काम कामना या इच्छा रूप शरीरिणी स्त्री से ऐसा संलिप्त या व्याप्त सा हो गया कि वह अर्द्ध नारीश्वर की तरह स्त्रीपुमान्परिष्वक्त शरीरी सा एक अजीब रूप में परिणत हो गया। उस स्त्री रूपिणी देह से उस मनः का ज्योतिर्मय हृदय या आकाश, चान्द्र-मस कान्तिमयी पर्जन्यता से पूर्णतः आच्छादित हो गया। यही पर्जन्य मयी मनो-मयी हृदय व्यापिनी स्त्री वह है जिसे पृथिवी शरीरिणी और तेजोमय अग्नि की आत्मा वाली वाक् कहा जा चुका है। इस सम्मिलित स्वरूप को ही ईशावास्य उपनिषद् का ईशा वास्य या ईश्वर का आच्छादनयुक्त शरीर और पूर्वार्द्धीय अहः या दिन नामक भाग से उत्पन्न होने के कारण 'अहम्' या 'भौतिकता-मयम्' भी कहते हैं। इस प्रकार की स्थिति के उस आदित्य रूप मनोब्रह्माण्ड के ऊपर आच्छादन रूप चांदनी के समान छाया हुआ तत्त्व ही देव रूप में या चन्द्रमा रूप में पर्जन्य तत्त्व कहलाता है। इससे अदितिमयी अन्नमयी तेजोवती अग्निमयी पृथिवी शरीरिणी अन्ननाम्नी वाक् का अभ्युदय होता है। अतः कहा है 'पर्जन्या-दन्नसम्भवः' इति। अर्थात् इस पर्जन्य के अमृतमय शरीर से प्रकाश किरण रूपिणी प्राणमयी वाक् या अन्न की वर्षा, वर्षा की बूँदों की तरह अमृत रस रूप में दन-दनाती, छनछनाती, उछलती-कूदती उत्पन्न या आविर्भूत होती है।

इस स्थिति का वर्णन केवल गीता या उपनिषदों में ही नहीं वरन् ऋग्वेदादि संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विस्तारपूर्वक दिया हुआ मिलता है। प्रत्येक देवता का एक अप्रतिरूप या आसुर रूप होता है। इस पर्जन्य के आसुर रूप के कई नाम हैं जिनमें से एक नाम स्वर्भानु है जिसे ज्योतिष में राहु भी कहते है, क्योंकि यह राहु या छाया के समान आच्छादित कर अन्धकार फैला-देता है, पर पर्जन्य तो शीतल चन्द्रमा की चाँदनी छिटकाता है। ऋग्वेद में इस स्वर्भानु का वर्णन इस प्रकार है—"हे आदित्य या सूर्य तुम्हें जिस स्वर्भानु ने तमोरूप धारण कर के आच्छादित किया, उसने अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड को ऐसा मुग्ध या मोहजाल में जैसे डाल दिया कि इसके अखिल ब्रह्माण्डों या भुवनों का पृथक् पृथक् ज्ञान का होना ही असम्भव हो गया। पर तुम्हारे मनोरूप इन्द्र ने अपनी तेजस्विता की शक्ति से इस ब्रह्माण्ड के दिव्य या प्रकाशमय

कोश के चारों ओर आच्छादन रूप में वर्तमान अन्धकार को दूर हटा दिया। तब उत्तरार्द्धीय दैवीवाक् रूप अत्रि ने अपने चतुर्थ चरणीय स्थान से त्रिपादामृत रूप तुम्हें इस अन्धकार के हट जाने पर देखा या ज्ञात या अनुभूत कर सका। या जब अत्रिरूप वाक् ने उक्त प्रकार से त्रिपादामृतीय दिव्यलोकीय सूर्य को अपनी आंख के समान धारण किया तब वह स्वर्भानुमय अन्धकारमय आच्छादन भी स्वयं हटा हुआ मिल गया। अतः यह कहा जाता है कि उस त्रिपादामृतीय सूर्य को जिस स्वर्भानु ने अपने आच्छादनमय अन्धकार से ढक लिया था, उस त्रिपादामृत रूप को केवल चतुर्थ चरणीय चतुष्पाद् ब्रह्मरूप अत्रि अपने शरीर में चक्षुरूप में धारण करके ही, ज्ञात या अनुभूत कर सका, अन्य नहीं कर सके।''

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण ने भी लिखा है कि—''स्वर्भानु एक आसुरी शक्ति थी, उसने सूर्य को अन्धकार से घेर लिया। जब सूर्य इसके अन्धकार से घिर गया तो उसका प्रकाश नहीं दिखाई देने लगा। इसके इस अन्धकार को सोम और रुद्र ने विनष्ट किया, तब यह अन्धकारमय पाप के नाश हो जाने से प्रकाशमान प्रतीत होता है।'' इसमें सोम दैवीवाक् अत्रि ही है रुद्र इसकी आत्मा अग्नि। यहाँ वर्णना का प्रकारान्तर है, तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।

अब हमारे सामने वस्तुस्थिति स्पष्ट है। जिसको यहां पर स्वर्भानु कहा जा रहा है वही तो अत्रि अन्नं या वाक् का अन्धकारमय शरीर है। यही शरीर चक्षुरूप दैवी या सूक्ष्म शरीर या दिव्य चक्षुरूप शरीर पर्जन्य है। इस दिव्य चक्षुरूप पर्जन्य नामक शरीर की तारिका में सूर्य या आदित्य नामक त्रिपादामृत की ज्योति समाती है। ज्यों ही इस पर्जन्य रूप चक्षु की तारिका में त्रिपादामृत की ज्योति समा गई त्योंही उस अत्रि अन्नं या वाक् की स्वर्भानुमय अन्धकारता स्वयं नष्ट हो गई, इसीको स्वर्भानु की माया या अन्धकारता का हनन मारण या विनाश कहा जाता है। यह स्वर्भानु देवताओं की अमृत ज्योति को अपने स्थूल शरीर के सूक्ष्म रूप या पर्जन्य रूप चक्षु की ज्योति ग्राहिणी तारिका में धारण करता है। अतः पुराणों ने इस कथानक को राहु का ठग कर देवताओं में बैठ कर अमृतपान करके उसके सिर कटवाने की कथा गढ़ दी है, यह कोरी कल्पना नहीं वरंच वास्तविकता है। यहां सिर कटाने का आशय अपनी अन्धकारतारूप सिर को कटा कर उसे देवरूप में प्रकाशमय बनाना मात्र है। सूर्य को अन्धकारमय शरीर से आच्छादन करने में जब इसे इस स्वर्भानु नाम से पुकारते हैं, तब सूर्य या आदित्य को इन्द्र नाम से पुकारने के समय इसी स्वर्भानु को वृत्र कहते हैं। वृत्र, इन्द्र को अपने अन्धकारमय

शरीर से आच्छादित करता है तो इसको प्रकाशित करने वाला दिव्य चक्षु सूर्य न होकर सोम होता है। इन्द्र का सोमपान इसी पर्जन्य रूप दिव्य चक्षु, या सोम या चन्द्रमा नामक चक्षु में विष्णु नामक आदित्य की ज्योति को धारण करना है। इन दोनों प्रक्रियाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। इन्द्र तो योग का पूर्वार्द्धीय आदित्य है, और पर्जन्य का आदित्य सृष्टि का पूर्वार्द्धीय आदित्य है। सृष्टिकाल में पर्जन्य या चक्षु है, योगकाल में सोम या चन्द्रमा, पर्जन्य में मनोरूप सूर्य की ज्योति है; सोम में विष्णु की, इन्द्र मनोमय है, वह इस सोम ज्योति का पान करता है और अपने वृत्रमय भौतिक शरीर का अन्धकार नष्ट करके उसे प्रकाशमय करता है, मारता नहीं। अतः श. प. ब्रा. (१-३-३-१७) में कहा है कि जब इन्द्र ने वृत्र को मारने की चेष्टा की तो वृत्र ने ललकार कर कहा—भई ऐसा न करो, मुझे मारकर तुम स्वयं नहीं रह सकोगे, मेरी मृत्यु के माने तुम्हारी भी मृत्यु है। इन्द्र की समझ में बात आगई उसने उसे मारा नहीं, उसके सूक्ष्म भाग को सौम्य या सोम नामक चक्षु में परिणत करके उसके प्रकाश से उसके आसुर्य भाग को प्रकाशित किया; तब इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि उसी के आसुरी शरीर या स्थूल भौतिक शरीर से की। अतः स्वर्भानु या वृत्र तो इस अखिल ब्रह्माण्ड के भौतिक स्थूल शरीर हैं उनको ऐसा-वैसा साधारण तत्त्व या असुर समझने की भूल कोई कभी भी न करे। हां वृत्र को 'त्वाष्ट्र' या त्वष्टा का पुत्र कहा जाता है। त्वष्टा नाम तो सचमुच में वाक् का है। यह श. प. ब्रा. ने स्पष्ट कहा है। दिव्य शरीरिणी अमृतमय भौतिकता को वाक् कहते हैं तो इसी की मर्त्य रूप अन्धकारमय देह को वृत्र। अतः वृत्र को त्वाष्ट्र कहते हैं।

इस प्रकार के अलौकिक पर्जन्य नामक तत्त्व की देवरूप या आत्मारूप या प्रकाश कोश या जगच्चक्षुर्मय वर्णना स्वयं ऋग्वेद ने निम्न प्रकार से दे रखी है। जरा इसे ध्यानपूर्वक पढ़ने का कष्ट तो करें—

"इस पर्जन्य ने त्रिपादामृत रूप पूर्वार्द्धीय आदित्य या सूर्य के तीन पादों की तीन वाक् नामक उग्रा ज्योतियों का दुहन किया, या अपनी चक्षुर्मयी देह में धारण किया। उसने भौतिकात्मीय प्राणरूप वत्स को जन्म देकर या प्रकाशित करके, ओषधि नामक अमृतमय सोममय प्राणों को अपने गर्भ में रखकर वाग्ब्रह्म रूप वर्षणशील वृषभ का रूप धारण करके अखिल द्यावा पृथिवी रूप मौलिक ब्रह्माण्डीय शरीर को अपनी गतिविधिमय रौरवता से गुञ्जायमान या ओ३म्कार ध्वनिमय या सततक्रियामय बना दिया। यह तो महापोत या कर्णधार के समान इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के चक्र को स्वयं स्वतन्त्र रूप से

संचालन करने में नित्य रत है। यह अन्नमय वाङ्मय शरीर को वाष्पमय सोममय आपः के समान प्रतिक्षण ग्रहण करता है, उसी से अपने शरीर के पूर्वार्द्धीय पिता सूर्य, उत्तरार्द्धीय माता भौतिकी वाक् और इनसे उत्पन्न भौतिकात्मीय प्राण रूप पुत्र या वत्स को परिपुष्ट करता है। इस प्रकार इसके इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक शरीर में अखिलकोटि भुवन रूप खगोलादि के सब प्रकार के मौलिक बीज संरक्षित हैं जिनको प्राणित रखने के लिए पूर्वार्द्धीय त्रिपादमृत के द्यौ नामक ज्योतीरूप शरीर के तीनों भाग प्राणरूप आप को बराबर सींचते रहते हैं। जिनको वे उक्त भाग सींचते है वे भी तीन कोश हैं जिन्हें अन्नमय, मनोमय और प्राणमय कोश कहते हैं। इन्हीं कोशों मे वे पूर्वार्द्धीय अमृतमय प्राण अपनी मधुमती वृष्टि को निरन्तर करते रहते हैं। यह पर्जन्य इस प्रकार अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के बीजरूप सोम ज्योति को धारण करके उससे निरन्तर मधुमयी वृष्टि करने वाला वृषभ है, उसकी वृष्टिरूप बीजों को धारण करने वाली प्राणरूप अमृता अक्षितिरूपा गाये हैं जिन सबके एक सम्मिलित अखिल ब्रह्माण्डीय कोश के अन्तर्वहिः वह आदित्य या सूर्यरूप स्थावर जङ्गम सभी की आत्मा सर्वतः व्याप्त रहता है। हे पर्जन्य ! इस महामहिमा वाले तुम मेरे ऋत रूप दिव्य चक्षुरूप शरीर को सदा सैकड़ों हजारों वर्षो तक सुरक्षित रखने की महती कृपा करो, और तुम्हारे इस दिव्य चक्षुरूप शरीर में जिन त्रिपादामृतीय अनन्त, अमृतमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, चेतनामय देवों का निवास है वे भी मेरे इनके प्रतिरूप शरीर के विभिन्नाङ्गों को उसी प्रकार सदा सहस्रों वर्षो तक सुरक्षित रख देने की महती कृपा करो। अब सोच विचार कर वतलाइये क्या इस प्रकार की वर्णना वाला यह पर्जन्य नामक तत्त्वरूप देवता कभी भी किसी भी दशा में आकाश में छाकर पानी बरसाने वाला बादल या मेघ हो भी सकता है ? यह तो इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के स्थावर जङ्गमों के मौलिक शरीरों का एकमय आत्मा है। हां लौकिक मेघ के समान अमृतमय प्राणों का वर्षक होने मात्र से इस तत्त्व की रूपक में इस लौकिक मेघ समान वर्णना की हुई देखने मात्र से इसे आकाश से पाताल में घसीटकर इन लोगों ने अपनी कितनी वड़ी भारी बुद्धिमत्ता का परिचय दे दिया है ? दंग रहना पड़ता है !!! कर्मकाण्ड में तो सभी वस्तुएँ लौकिक ही गृहीत होती हैं, उसका तो यहां प्रश्न ही नहीं। यहां तो केवल सृष्टियज्ञ (तपोयज्ञ) और अतिसृष्टियज्ञ (योगयज्ञ) की चर्चा चल रही है जो कर्मकाण्डीय यज्ञ का मूल आधार और वास्तविक रहस्य है, जिनके लिए यह कर्मकाण्डीय द्रव्ययज्ञ मात्र अभिनयरूप में, मानसिक पवित्रता के लक्ष्य से ('यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' गीता) किया जाता है (२४ से ३३ तक)।

(३४) अथ 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' इति ।

(३५) नायं यज्ञो प्रज्वलिताग्नेः कर्मकाण्डीयस्तेन वर्षिणां पर्जन्यानामुत्पत्तिरसम्भवात् क्वचिदपि ।

(३६) 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' (ऋ०वे० १-१६४-३५)

(३७) (क) स नाभिश्च मनो ब्रह्माण्डमयोऽखिलभौतिकमौलिकब्रह्माण्डस्य शरीरस्य चाध्यात्मिकस्य कटाहस्तस्मिन्नापोमया प्राणा अग्निमयेन रुद्रेण तापिताः सन् यं वाष्पमूर्ध्वमायच्छंति, सः पर्जन्यः तस्मात्सोमरस वृष्टिर्योगे; सृष्टौ तु तद्विपरीतं यतं सोमात्पर्जन्यः' इति मुण्डके (२-)

(३७) (ख) नाभौ यज्ञे येषां वै आहुतिर्योगे दीयते ते प्राणा एव यथा—
"अपाने जुह्वति प्राणान्, प्राणान्प्राणे तथा परे ।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः ।।" गीता

(३७) (ग) सृष्टौ तु देवर्षयस्तपन्ति चार्पयन्त्यात्मनः स्वानाहुतिरिव प्राणानां विकासाय ।

(३८) यो योगे नाभिः स योनिः सृष्टौ तस्मान्नाभेर्यज्ञात्तादृशोऽभूतपूर्वः पर्जन्यो जायते ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यः—यज्ञ क्या है ? यह समझना टेढ़ी खीर है । लोग तो कर्मकाण्ड विधि से जो कर्म किया जाता है उसी को यज्ञ समझते हैं । और यहाँ पर यह कहा गया है कि यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति होती है । तब इस आग जलाकर उसमें घी अन्न हवि की आहुति देकर उक्त प्रकार के महत्वपूर्ण पर्जन्य नामक तत्त्व की उत्पत्ति कैसे होगी, कुछ समझ में नहीं आता ! विद्वानों से प्रश्न किया जाय तो उनसे प्रायः जो उत्तर उपलब्ध होता है वह यह होता है कि यज्ञाग्नि से जो धुवाँ निकलता है उससे अनावृष्टि काल में बादल बनता है, तब वृष्टि होती है । और संस्कृत पढ़े लिखे तथा निरक्षर जनता इस उत्तर को बिलकुल ठीक समझती है । तब आगे बढ़ना व्यर्थ है । गीता के जितने बड़े-बड़े नामी भाष्य, टीका, अनुवाद और आलोचना ग्रन्थ अब तक उपलब्ध होते हैं उन सबने भी इस पद का तथा इसके साथी पूर्वपश्चात् के पदों की ऐसी ही व्याख्या देकर बड़ी-बड़ी ख्यातियाँ भी प्राप्त की हैं, जिससे समस्या विद्वानों की ओर भी झपट जाती है । अस्तु यज्ञ मुख्यतः तीन प्रकार के हैं जिनमें सृष्टियज्ञ और योगयज्ञ दो ही वास्तविक यज्ञ है, कर्मकाण्डीय यज्ञ नकली या अभिनयात्मक है । इसमें वह विषय जो प्रथम दो में पूर्णतः घटित होता जाता है, किसी भी प्रकार पूरा घटित नहीं हो सकता, इस पद का इस यज्ञ से सम्बन्ध भी केवल लौकिक रूप से है, इस लौकिक यज्ञ में इसका आशय इसी कुटिल कठिनाई से जबरदस्ती करके ही किया जा सकता है । **"आप विश्वास कीजिए कि वेदों के भाष्यादि को यास्क सायण और विदेशी, स्वदेशी सभी-**

विद्वानों ने आज तक, जितने जैसे, भी जिस किसी भी भाषा में लिखे हैं उन्होंने ऐसे अधिकांश पारिभाषिक पदों के अर्थों को द्रव्ययज्ञ या प्रकृति में प्रायः ऐसी ही जबरदस्ती से भिड़ा रक्खा है। जब इस प्रकार की व्याख्या कहीं-कहीं ऐसे भी नहीं बैठ सकी तो वहाँ पाश्चात्यों ने स्वीकार भी किया है कि इसका आशय ठीक नहीं लगा। इनका वास्तविक अर्थ तो वही सृष्टि-योगपक्ष में ठीक बैठ सकता है, उस ओर ये देखने के आदी ही नहीं हैं।" अतः यह ज्ञातव्य नहीं है कि लौकिक यज्ञ में इसे ऐसी जबरदस्ती करके, बलात्कार करके, बैठाकर इन टीकाकारों, पण्डितों या अनभिज्ञ जनता की समझी, मानी बात को अवश्य मान लिया जाय। हमें इसके वास्तविक रहस्य को ही खोजना है। ऐसे धुएँ से तो, जब सारे ब्रह्माण्ड में एक ही साथ आग लगे तभी शायद पर्जन्य बन जाय, अन्यथा कदापि भी नहीं, कहीं भी नहीं।

बस, बस होता भी ठीक ऐसा ही है। यज्ञ नाम तो विकास का है, यज् धातु अकर्मक है 'स्वयं यजस्व पृथिवीमुतद्याम्' (ऋ. वे. १०-८१-४,५) में इसका अर्थ देखें। प्रत्येक तत्त्व विकासरूप एक-एक यज्ञ है। इनमें विकास पाने वाला मुख्य तत्त्व तेजोवती वाग् या अग्निमयी, अन्नमयी वाक् या अग्नि है। इसकी अखिल ब्रह्माण्डीय महाभट्टी सदा चढ़ी ही रहती है, चाहे किसी स्तर पर हो। हमारे शरीर में भी इसकी यह सदा जलती भट्टी कभी ठंडी नहीं रहती, जीवन तक। द्यौ वा द्यावारूप दिव्य ढकने से ढकी, इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक-रूपरेखा-रूप पृथिवी नामक महाकटाह के अन्तर्गत मनोरूप हृदय के आकाश में भरे प्राणरूप आपः या जलों के महासागर में वडवाग्नि को तरह विद्यमान तेजोवती अग्नि से खौलते हुए उस प्राणमय आपः से जो भापरूप प्राणों का सार-रूप अमृतमय अनन्त तारिकाओं का पुञ्जरूप धुआँ सा स्वयं स्वच्छ निर्मल स्फटिक शिलासम होने से अपने में पूर्वार्द्धीय द्यावा के त्रिपादामृतीय सूर्य की चमकती ज्योति से अनन्त प्रकाशमय धूल की किरणों के स्वरूप में प्रस्तुत होता है, उसका नाम है पर्जन्य, उक्त समस्त क्रिया का नाम है यज्ञ। इस यज्ञ की कई अन्य प्रकार की व्याख्यायें भी हैं जैसे 'यो यज्ञो विश्वतन्तुभिस्तत एकशतं देव कर्मभिरायत। इमे वयन्ति पितरो च आययु प्र वयाप वयेत्यासतेतते।' (ऋ. वे. १०-१३०-१)। इसके अनुसार अखिल सृष्टि को एक कपड़े के थान के समान बुनना ही यज्ञ है, इत्यादि।

इस यज्ञ की सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों पक्षों में एक दूसरे के विपरीत प्रक्रिया चलती है। जिसका वर्णन किया गया है वह सृष्टिपक्ष का यज्ञ है। योगपक्ष

में सोम से—विष्णु ज्योति से आनन्दमयानुभूति की वृष्टिकारक को पर्जन्य कहते हैं। यहां सोमरस वृष्टि ही पर्जन्य है। इसीलिए मुण्डक ने लिखा भी है कि सोम से पर्जन्य की उत्पत्ति होती है। योग में इस यज्ञ का नाम नाभि है। जैसा कि स्वयं ऋग्वेद में लिखा भी है इसमें अखिलकोटि भुवनों के मौलिक बीज समाये रहते हैं। इसी नाभि नामक यज्ञकुण्ड में प्राणों की आहुतियां दी जाती हैं; प्राणों को अपान में या अन्य मर्त्य प्राणों को मुख्य मध्यम प्राण में झोंक दिया जाता है अथवा प्राणों और अपान की गतियों को रोककर उनको प्राणायाम-कुण्ड में पकाया या खौलाया जाता है। सृष्टिपक्ष में इसके विपरीत देवरूप तत्त्व ऋषिरूप तपस्वी बनकर अपने-अपने दिव्य शरीरों को एक-एक करके गला-गला कर अलग-अलग प्राणों के ठप्पों में उतर कर प्राण रूपों में परिणत होते हैं; या देवता अपनी दीप्तियों की आहुतियां चढ़ाकर उन्हें कम दीप्तिवाले प्राणों के शरीर में प्रविष्ट करते जाते हैं। अतः जिसे योगपक्ष में नाभि कहते हैं उसे सृष्टिपक्ष में योनि कहते हैं। इसी योनि के गर्भ में देवता अपनी-अपनी दीप्तियों की पर्जन्यरूप वृष्टियों के द्वारा ही प्राणों की मौलिक सृष्टि करते हैं। फलतः इन प्राणों की सृष्टि का पूर्वरूप ही यह अभूतपूर्व पर्जन्य है (३६ से ३८ तक)।

(३९) अथ 'यज्ञः कर्मसमुद्भव' इति—योऽयं यज्ञः स पर्जन्यः सः कर्ममयः "कर्मणामात्मेतदुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति तदेतेषां सामैतद्धि सर्वैं कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्म तद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति॥ (बृह.उप. १-६-३)।

(४०) तस्मादेवोक्तं 'कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धीति'।

'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'—यज्ञ का सम्पादन यों ही नहीं होता, इसमें अनेक प्रक्रियायें कर्मरूप में की जाती हैं जैसा कि पीछे के परिच्छेदों में यज्ञ के सम्पादन की विधियां दी गई हैं। विना इन क्रियारूप कर्मों के यज्ञ नहीं हो सकता यह तो सब जानते हैं; परन्तु यहां पर इसका उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि कर्म नामक तत्त्व का मूलस्रोत कुछ और ही है, जो-जो अङ्ग-प्रत्यंग या विभाग कर्म कर रहे हैं, वे किसी एक पृथक् तत्त्व की सतत क्रियाशीलता को अपने-अपने अंगों या विभागों में व्यक्त मात्र कर रहे हैं, अङ्ग इनके हैं, इनको क्रिया में प्रवृत्त और कर्ममय बनाने का कार्य इनसे किसी अन्य तत्त्व का है। इस तत्त्व का नाम आत्मा है, यह चाहे कोई किसी भी प्रकार का अङ्ग-प्रत्यङ्ग या विभाग या उपविभाग क्यों न हो, उन सबसे एकसार, एकरूप में, एक ही क्षण में समभाव से प्रवृत्ति, निवृत्ति, किसी को प्रवृत्ति किसी को निवृत्ति, जैसा चाहे जिससे जैसा चाहे या न चाहे वैसा कराता रहता है। अतः इन कर्मों को

पराधीनता को समझाने के निमित्त ही यहां पर कर्म से यज्ञ का उद्भव या सम्पादन बताया जा रहा है। लोक में सबको यही दृश्यमान कर्म ही यज्ञ का प्रधान कारण प्रतीत भी होता है, इसलिए भी। तब इन कर्मों का वास्तविक कर्ता-धर्ता-हर्ता है कौन ? इसके उत्तर में कहा है—(३९ से ४०)

(४१) ब्रह्म वै सोमश्चन्द्रमा यः सविता सूयते चराचरम्।
स आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ज्योतीरूपः।

(४२) ब्रह्माक्षरसमुद्भवमिति तु सोमो वै अक्षररूपस्य उत्तमपुरुषस्य विष्णोरमृतस्य ज्योतीरूपत्वे समुद्भवतीति।

(४३) स 'प्राणोऽमृतो नाम रूपे सत्ये ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' 'तदेतदमृत(मक्षर)म् सत्येन छन्नं' (तत्रैव)। तदेव वै "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।" (ई० उ०)

(४४) 'यद्वा हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' (यजु० ४०- ईश उप० बृह० उप छा० उप०)

(४५) यतोऽत्र विपरीतः क्रमस्तस्माद्योगपक्षस्यैवं विधिनात्तरहस्यमेव वर्णनम् सर्वम्।

'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'—यह कर्म ब्रह्म से विनिःसृत होता है। इसी ब्रह्म को आत्मा कहते हैं। देव तत्त्वों में ब्रह्म नाम किसका है ? अभी इसे जानने वाले सम्भवतः न मिल सकें, और यह ब्रह्म नाम किस कोटि के तत्त्वों का है ? इस पक्ष के जानकार भी ढूँढ़कर कोई मिल सके या नहीं कहा नहीं जा सकता। ब्रह्म नाम भूतात्माओं की मुख्यात्मा का है। यह अधिभूत तत्त्व है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' नामक, या मनोब्रह्म प्राणोंब्रह्मादि व्याख्यायें अधिभूत हैं। यह देवपक्ष में सविता प्रसविता चन्द्रमा सोम प्रजापति कहलाता है। यही 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहलाता है। यह केवल त्रिपादामृत की ज्योतिरूपता को चान्द्रमस स्फटिक शिलारूप अमृतभौतिकात्मा में प्रकाशित रखने वाला तत्त्व है। इसी सम्बन्ध से चान्द्रमस या सोमीय दिव्य शरीर से उत्पन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप प्राणादि इस केन्द्रबिन्दुरूप शक्तिपुञ्ज की सतत क्रियाशीलता को अपने अङ्गों की कर्ममयता में परिणत करते हैं।

विशेष—इस विषय में यह सूचित करना या पूछना आवश्यक है कि आजकल जिन छह आचार्यों के मध्ययुगीय वेदान्तों का प्रचलन है, क्या उनमें से कोई एक भी इस ब्रह्म की इस यथार्थ स्वरूपता का तनिक भी ज्ञान रखता है कि नहीं ? यह आप कभी उन्हीं से पूछकर अजमा लें, यहां इस रगड़े-झगड़े में पड़ने की फुरसत नहीं। यहां इस ब्रह्म का जन्म तो एक और तत्त्व से हो रहा है, इस-

लिए भी उक्त प्रश्न उठाने को कहा था। इस ब्रह्म का जन्म अक्षर (ब्रह्म) से होता है जैसे—

'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'—इस अक्षर (ब्रह्म) की माया निराली है। इसके कई रूप हैं। योग में इसे एकाक्षर (ब्रह्म) या '-'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म' कहते हैं जैसा कि गीता ने (८–२१ में) कहा है। यहां पर इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड की मौलिक कोशात्मारूप देवताओं के एकमय एक 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिॐ सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' अर्थात् अनन्त शिर, आंख, पांवों के मौलिक बीजरूप होते हुए भी वह केवल 'एक' के रूप में केवल दश मुख्य देवताओं के विभिन्नाङ्गमय एक शरीररूप में प्रस्तुत होता है जिसका वर्णन ऋग्वेद ने 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यास्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' के रूप में देकर यह भी कह दिया है कि जो इस अक्षर को नहीं जानता वह वेदों को व्यर्थ में पढ़कर क्या करेगा। जो इसे जानते हैं वेही वेदों के पढ़ने-पढ़ाने, समझने और इसपर लिखने के अधिकारी हैं। इसमें ये देवतारूप अक्षर जिस प्रकार एक दूसरे के कोशों में ओतप्रोत रहते हैं उनका वर्णन बृह. उप. में याज्ञवल्क्य ने मेरी पूर्वजा गार्गी के उत्तर में विस्तारपूर्वक दे दिया है और इस योगसूत्र ग्रन्थ के अन्त में 'समाधि का साकार वर्णन' नामक पाद में विस्तारपूर्वक दे दिया गया है।

सृष्टिपक्ष में इसे अनन्ताक्षर (ब्रह्म) कहते हैं जिसे पुनः कई शैलियों से वर्णित किया जाता है जैसे संवत्सर ब्रह्म, और गौरी सहस्राक्षरावाक् के (अक्षर के बदले) सलिलानि के रूप में। संवत्सर ब्रह्म के अक्षरों की गणना अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात, मुहूर्तादि अनन्त विभाजनों से तथा सलिलाक्षरों के अक्षरों की गणना एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी सहस्राक्षर के गुणनखण्डों के परस्पर गुणन से की जाती है। इसका विवेचन 'ऋचो अक्षर' शीर्षक में वैदिक विश्वदर्शन ग्रन्थ में सविस्तर दिया है, देख लीजिए। वस्तुस्थिति यह है। एकाक्षर ब्रह्म और अनन्ताक्षर ब्रह्म 'परमे व्योम' या योग की परमावस्था के मनोब्रह्माण्डीय आकाश में या विशिष्ट प्रकार के ॐकारीय एकाक्षरी रूप में ही अनन्ताक्षरों के बीजों के एक बीजरूप में, समष्टिरूप में रहता है। इससे विष्णु की या आदित्य की ज्योतिरूप सोमरस टपकता है जिसे इन्द्र या वेधा उक्त दश प्राणीय देवताओं के साथ पीता है। यहां इस योग स्थिति में इस अक्षर से यही सोम क्षरित होता है। पर सृष्टिपक्ष में वही आदित्य नामक सूर्य में जो पर्जन्यरूप दैवी भौतिकामृत है उसमें अनन्ताक्षरीय विभाजनों या व्यष्टि का बीजारोपण हो जाता है। इसे त्रिपादामृत युक्त चन्द्रमा या अनन्ताक्षर ब्रह्म कहते हैं।

अक्षर (एकाक्षर) ब्रह्म दोनों पक्षों में एक ही तत्त्व है, उनके नाम विष्णु और सूर्य भिन्न-भिन्न हैं। पर सृष्टिपक्ष का चन्द्रमा त्रिपादामृत युक्त अनन्ताक्षरों में क्षरित होनेवाला है यह भी रसरूप या अश्रुरूप है, और भौतिक सृष्टिकारक रसरूप प्रतिविम्बग्राही अश्म या स्फटिकशिलारूप भी है। योग में यह सोमरस ज्योतिर्मयरूप केवल आनन्दानुभूतिक रसरूप है। यही इनमें अनन्तर है। अतः सृष्टिपक्ष में या योगपक्ष में यह अनन्ताक्षरी चन्द्रमा नामक ब्रह्म या प्रजापति या सोमज्योतिरूप आनन्दमय अनन्ताक्षरीय रसमय विन्दुरूप सोम ब्रह्म उत्पन्न या आविर्भूत होता है। अतः कहा है कि 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इति। इस ब्रह्म का नाम प्राण है। यह शरीररूप स्वर्भानु या वृत्र के बाह्य भौतिकाकर्षणों की प्रवलता से आभ्यान्तर के प्रवेश के द्वार को बन्द करके या आच्छादित करके छिपा देता है। योगी-यति इसी आवरण को योग से अग्निरात्मा को उद्दीप्त करके उस अमृतमय सोमज्योति के दीपक को जलाकर उसका निरन्तर पान करते हैं। बाह्याकर्षणवाले शरीर का नाम सत्य है या चमकीला-दमकीला हिरण्मय पात्र या रंग-विरंगी नागिन-सा है। इस सत्य से वह प्राण आच्छादित है। यही ईशावास्य का आशय है। इसी के अनावरण की प्रार्थना पूसा ईशान से वहां की गई है। गीता ने यहां पर विपरीत क्रम दिया है। विपरीत क्रम नित्य ही योग का पक्ष होता है। अतः इस योग की स्थिति का थोड़ा विवरण यहाँ अन्त में दे दिया है (४१,४५)।

(४६) य एवं वेद यदित्थं पारिभाषिकानां वैदिकानां पदानामर्थान् न हि लौकिकसंस्कृतसमा नापि गाथा तुलनात्मका नापि तुलनात्मकभाषाविज्ञानविषयाः स वेदविद्।

(४७) नहि सोमो वै मदिरेति चोक्तमृषिभिः पूर्वैः स्वयमृग्वेदे यस्योद्धरणं सूत्रे षष्ठे प्रस्ताविकेऽग्रे तथा 'कः सोमः 'किं सोमपानमि'ति शीर्षकद्वये पूर्णं प्रतिपादितं निष्पादितमध्येतव्यमेव।

(४८) योऽयं देवरूपे सप्राणज्योतीरूपः सोमः स एवासुररूपे आवरणस्वरूपेऽसुरो "वृत्रोह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी स इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम" (श. प. ब्रा. १-१-३-३) 'स यद्वर्तमान; समभवत्तस्माद्वृत्रो नाम (श. प. ब्रा. १-५-२-१) अतिष्ठन्तो नामनि वेशानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं। वृत्रस्य निर्ण्य विचरन्त्यायो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥" (ऋ. वे. ०-३२-१०)

(४९) स्पष्टमेवैवं चोक्तं 'वृत्रो वै सोम आसीत्' (श. प. ब्रा. ४-१-४-७)।

(५०) स एव हि 'वृत्रो यच्चन्द्रमा सो अस्यैव भ्रातृव्यजन्मेव' (श. प. ब्रा. १-५-३-१८)

(५१) तस्माद्वृत्रो वै शरीरसुंदर वा सोमस्य चन्द्रमसो मनसो वेन्द्रस्य वा दैवी रूपस्याप्रतिरूपस्तमो रूपोऽसुर इतीन्द्रशत्रुरिति भ्रातृव्य इति चोच्यते ।

(५२) योऽयमासुरो वृत्रः स एव देवस्य पर्जन्यस्य प्राणस्य चाप्रतिरूप आवरण-मयः परमापोमयः प्राणमयः प्राणानां शरीराण्येवायः स्तन्मयस्तस्य वधा-त्तस्मादेवापः प्राणा प्रस्रुवन्ते दैव्याः 'निरुद्धा आपः पणिनेव गावः' (ऋ० वे०-१-३२-११) उन्मुच्यन्ते ।

(५३) तस्मान्नहि कदाचिदपि 'वृत्रो वै मेघ इति' सुनिश्चितम्।

इस प्रकार इस दृष्टान्त के द्वारा अब यह स्वतः स्पष्ट हो गया होगा कि वेदों के दार्शनिक पारिभाषिक पदों का अर्थ न तो उनके लौकिक संस्कृत के समान है, न ग्रीक रोमन पारसीक देशों में दर्शन से उच्छिन्न गाथाओं का वैदिक गाथाओं से तुलना करके ही प्राप्त हो सकता है और न तुलनात्मक भाषाविज्ञान से उनके स्रोतों को खोजने मात्र से ही । अतः जो लोग वेदार्थ को वेदों के मन्थनात्मक अध्य-यन मात्र से ही उचित रूप से देने में समर्थ हैं वेही इनके जानने वाले हैं, इनकी यथार्थता से परिचित हैं और वेही वेदविद कहला सकते हैं ।

वेदों के अर्थ को अपने धरातल से गिराने वाले उक्त प्रकार की अवाञ्छित और अनभीष्ट प्रणाली में इन्द्र, सोम और वृत्र की छिछली व्याख्यायें भी एक महान् कारण हैं । कर्मकाण्ड में सोम का सेवन मदिरा के रूप में ही होता रहा इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती, यह नग्न सत्य है, पर जहां यह सत्य है वहां यह भी नितान्त सत्य ही है कि वैदिक ऋषि जिस तत्त्व को सोम, असली सोम नाम से पुकारते थे वह कर्मकाण्डियों के पीने या घोटने वाला सोम नहीं था, वह कुछ और हीं अद्भुत अलौकिक तत्त्व था; यह भी तो वे ही ऋषि इस अध्याय के प्रथम पाद, सूत्र छह में उद्धृत वचन द्वारा स्वयं कह गये हैं; इस ज्वलन्त तथ्य को कौन माई का लाल मिटाने की हिम्मत कर सकता है । इस ज्वलन्त सत्य के बारे में एक दूसरा ज्वलन्त प्रश्न उठता है । जब ऋषियों ने इस सोम के बारे में इतनी स्पष्ट भाषा में इसका विवेचन स्वयं दे दिया था तो इस विषय पर तो इन खोजी व्याख्याकारों को सैकड़ों प्रबन्ध लिख कर इसकी वास्तविकता सामने लानी थी, यह क्यों नहीं किया गया ? इसका स्पष्ट आशय यह है कि इनकी नियत में कुछ दाल में काला अवश्य है । उन ऋषियों की दृष्टि में या उनकी अनुभूति में यह सोम किस प्रकार का था .इसका विषय बहुत विस्तृत है कुछ पीछे बता दिया गया है, शेष आगे 'कः सोमः' 'किं सोमपानम्'

'सोमपानमहिमा' तीन मुख्य पादों में विस्तारपूर्वक दिया मिलेगा। इसी के पूर्व इन्द्र तत्त्व की भी व्याख्या वास्तविक रूप में दी हुई मिलेगी।

रह गया वृत्र। इसने सभी व्याख्याकारों को बहुत ही अधिक परेशान किया है, क्योंकि इसके बारे में इन्होंने व्यर्थ ही में माथापच्ची करके अनेक उपहासास्पद मतों की डींगें मारी हैं। कर्मकाण्ड में वृत्र को मेघ मान भी लिया जाय तब भी सृष्टियज्ञ और योगयज्ञ में इसे इस रूप में उसी प्रकार कदापि नहीं माना जा सकता जिस प्रकार कर्मकाण्डीय मदिरात्मक सोम को सृष्टि और योगयज्ञों का सोम नहीं माना जा सकता। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस वृत्र को साक्षात् सोम नाम से भी पुकारा है जिसका उद्धरण यहाँ पर सूत्ररूप में प्रस्तुत है। और जिस प्रकार पर्जन्य का प्रतिपक्ष या आसुर रूप स्वर्भानु है ठीक उसी प्रकार सोम का प्रतिपक्ष वृत्र है। इसी दृष्टिकोण से वृत्र को सोम या सोम का प्रतिपक्ष कहा गया है जैसा कि पहले भी अंकित किया जा चुका है। और इस वृत्र की जो व्याख्या वैदिकमंत्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्यक्ष रूप में दी हुई मिलती है उसको न जाने ये व्याख्याकार ताक में रखकर क्यों अपनी मनगढ़ंत कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाने चले, यह सबसे अधिक आश्चर्य की बात भी है, और विद्वानों की आँखों में पट्टी बाँध देने का अतीव गर्हित कृत्य भी है, क्योंकि विद्वान् का कार्य तो सत्य का अनावरण करना है न कि इस प्रकार सत्य को ढक कर, छिपाकर अपने मनमाने मत की थोथी प्रतिष्ठा की धाक जमाने की चेष्टा करना। विश्वास कीजिए इन लोगों को वेदों के अन्य विषयों में भी ऐसी सत्य को छिपाने की एक परम्परा सी ही बनी प्रतीत होती है, चाहे वे उन्हें समझने की स्वाभाविक दुर्बलता के शिकार बने रहे हों या इन वर्णनाओं को भूल से अपने यहाँ की दर्शनहीन मिथ या लेजन्डस समझ कर छोड़ गये हों, या संहिताओं को ब्राह्मणों से स्वतन्त्र पृथक् समझने की महती भूल से उनकी पारस्परिक एकतामूलक सुविधा का लाभ उठाने के स्थान में दोनों के एक शरीर को काट कर इन दोनों की हत्या करना ही अभीष्ट रहा हो, या कोई और बात रही हो, या हमारी संस्कृति को नीचा दिखाना चाहते रहे हों, कुछ न कुछ शंका की बात अवश्यमेव है, इसमें सन्देह नहीं। अस्तु ऋग्वेद में वृत्र का प्रसिद्ध वर्णन इस प्रकार का है—
"उस वृत्र का शरीर दशों दिशाओं की उस पराकाष्ठा तक फैला हुआ या व्याप्त था जिसकी अन्तिम छोर कहां है, किस तरह समाप्त होती है इसका अबतक किसी को ज्ञान या भान ही नहीं हो सका है; उसके उस शरीर में प्राणों का आपोमय शरीर ऐसी स्थिति में विचरण कर रहा था जिसको उस समय तक वृत्र या केवल आवरणकर्ता एक कोशमय इस व्युत्पत्ति से सार्थक नाम देने के

अतिरिक्त किसी और उपयुक्त नाम से भी नहीं पुकार सकते थे। इस प्रकार का उसका यह वास्तविक नामकरणरहित शरीर इन्द्ररूप प्रकाशमान् तत्त्व के बिलकुल विरोधी (शत्रु) रूप अन्धकार सा और गति-विधिहीन होने से शव सा सोया था, इतना ही कहा जा सकता है।" (ऋ. वे. १-३२-१०)

इसी प्रकार श. प. ब्रा. ने भी लिखा है "वह वृत्र इस अखिल ब्रह्माण्ड के त्रिपादामृत स्वरूप को सर्वत: व्याप्त कर शव की तरह सोया था; क्योंकि इसने द्यावा और पृथिवी नामक दर्शन या सृष्टि के दोनों मौलिक भागों को व्याप्त कर दिया था; और ऐसी स्थिति में शव की तरह सोया था; इसी आवरण या व्याप्त करने के कारण इसको वृत्र नाम से पुकारते हैं" (४-१-४-७)। जिसने सबको वृत्त की तरह व्याप्त किया वह वृत्र है।

उक्त व्याख्याओं की पुष्टि में वृत्र को सोम भी कहा है और चन्द्रमा भी, क्योंकि सोम और चन्द्रमा इस वृत्र की आत्मायें हैं, वृत्र नाम तो इस सोम या चन्द्रमारूप आत्मा के खोल या शरीर का है। हमारा शरीर भी वृत्र है, हमारा दिव्य शरीर सोम या चन्द्रमा; यह अखिलकोटि भौतिक ब्रह्माण्ड भी वृत्र ही है, इसका आभ्यन्तर सौम्यभागीय दिव्य शरीर सोम या मन या इन्द्र या चन्द्रमा; जिसका विवेचन श. प. ब्रा. ने अन्यत्र दिया है, कथा पीछे दे दी है, पर्जन्य-स्वर्भानु वर्णन देखें। वास्तविक वस्तुस्थिति इस प्रकार की है। त्रिपादामृत रूप आदित्य या सूर्य मनोमय कोश में है, यह चक्षुकोष है, यह कोश सोम या चन्द्रमा के कोश में बन्द है, इसे द्वितीय चक्षुकोष कहते हैं, इसके बाहर अश्रुमय दैवी प्राणों के आपोमय पर्जन्य का कोश है, इसके बाहर वृत्ररूप मर्त्य प्राणों का आपोमय कोश वृत्र नाम से सुप्रसिद्ध है। यह वृत्र अखिलकोटि ब्रह्माण्ड को इस प्रकार अपने उदरस्थ रखता है, अत: श. प. ब्रा. ने लिख भी दिया है 'वृत्रो वै उदरं' या वृत्र सबका उदररूप गर्भ या कोश है। इसीलिए वृत्र के वध या मन्थन से प्राणों का वह आपोमय शरीर जो बन्द पड़ा था उससे फूट कर निकलने का वर्णन वेदों या ब्राह्मणों में प्राय: सर्वत्र मिलता है। इस प्रकार यह दृढ़रूप से निश्चित हो जाता है कि वेदों में वृत्र का जिस प्रकार का वर्णन दिया हुआ मिलता है, और वह जिस लक्ष्य से मुख्यत: किया हुआ सामने आता है, वह वृत्र किसी भी भाँति मेघ या बादल या कोई छेड़खानी, मारपीट करने वाला राक्षसी प्रवृत्ति का मानव नहीं है, वह वह तत्त्व है, जो इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक शरीर है (४६ से ५३ तक)।

(५४) यदि वृत्रो नास्ति मेघस्तर्हीन्द्रोऽपि नहि लौकिको झंझावातो न तडिद्वान्न वज्रवान् न मेघहन्ता वा नैव लौकिकसूर्य:।

(५५) कोऽसाविन्द्रः स इति त्वग्रेऽध्याये तृतीये विस्तरेणोक्तं यथा—

(५६) स मनः स वेधाः स विदृतिद्वारभेत्ता स इदिन्द्रः स मध्यमः प्राणः स इध्मः स वैद्युतोयधर्मा स वज्रवान्नस्थिमता तेजोवताऽग्निना जातवेदसाऽखिलकोटि-मौलिकब्रह्माण्डस्य शरीरस्य च महायोगी च सैव सोमपा तेनैव देवा अपि सोमपायिनः । (ऋ० वे० २–११–१६, ऋ० वे० १–१०१–५;४–१–१६४–४) इत्यादि ।

(५७) एवमग्निप्रभृतीनां देवानां विषयेऽपि बोध्यम् मम ग्रन्थानामवलोकनलोचनैः ।

(५८) तस्मान्नैव वै देवानां मध्ये कश्चिदपि यः प्राकृतेयः पदार्थोऽस्या लौकिक्या पृथिव्याः स्यात् सा पृथिवी या वैदिकै ऋषिभिरभिमता पृथिवीति शब्देन च नेयमपि लौकिकी पृथिवी, सा त्वाधारभूता मौलिकतत्त्वानां दर्शनस्य वैदिकानामृषीणां छन्दोमयी दैवी भौतिकात्मनोऽमृतरूपाऽक्षितिरजराऽजा द्यावा नाम्नोऽमृतस्य पूर्वार्द्धस्य परार्द्धरूपा साक्षाद्देव वसुंधराऽनाद्यनन्ता ।

(५९) एवमश्वाः श्वानौ गावो ब्रह्माः पर्वताः समुद्राः पर्वताः सुपर्णा ऋतवः संवत्सरः पक्षा वृक्षा मासा अहोरात्राणि प्रभृतीनि च रूपकमात्राणि देवानामात्म-गतीनाम् । न हि तैः संकेतिताः लौकिकाः पदार्थाः ।

(६०) तस्माद्युक्तमेवोचितमपि यथोक्तं भगवता मनुना—'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितमिति' (१२-११९)

(६१) एकस्यैवात्मनः सप्तस्तराण्येव सप्तमुख्या प्राणाः सप्त काशाः सप्त मुख्याः देवास्तेषामेव नाना भेदरूपीयया व्याख्यया त एवानन्तरूपा देवाः सर्वे चाऽऽत्मान एवेति चासन्दिग्धं संबोध्यम् ।

उपसंहारः--

वेदों में इन्द्र और वृत्र का वर्णन सर्वत्र ही पक्ष-प्रतिपक्ष स्वरूप में किया हुआ मिलता है । अतः जब वृत्र मेघादि नहीं है तो इन्द्र भी इस मेघ का जोड़ीदार लौकिक सूर्य मेघहन्ता तूफान वज्रवान् विद्युद्वान् आदि में काई वस्तु किसी भी प्रकार नहीं हो सकता । तब यह इन्द्र कौन है, कैसा है इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे एक स्वतंत्र अध्याय में दिया जा रहा है, देखिए । यहाँ संकेतमात्र के लिए संक्षेप में बता दिया जाता है कि यह इन्द्र सभी तत्त्वों में से मुख्यतः महायोगी तत्त्व है । यह मुख्यतः योग का तत्त्व है, यह अखिल ब्रह्माण्डीय मनः वेधाः, विदृतिद्वार का भेत्ता, इदिन्द्र (ऋ. वे. २-११-१६, १-१००-५) मध्यम प्राण, इध्म, ऐन्ध, वैद्युतीयशरीरी, वज्रमय, भौतिक दिव्य शरीरधारी, अस्थिवान् तेजोवान् जातवेदा अग्नि की सहायता से अखिलकोटि मौलिक

ब्रह्माण्डीय शरीर का महायोगी, सोमपा और सभी देवताओं को सोम पिलाने वाला महतोमहीयान् तत्त्व है। इसी प्रकार अग्नि प्रभृति पृथक् पृथक् देवताओं की भी व्याख्यायें समझ लेनी चाहिए या मेरे ग्रन्थों में तथा आगे देख लीजिए।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए अब यह भी सुनिश्चित हो गया होगा कि वेदों में वर्णित देवताओं में से कोई भी न तो प्राकृतेय पदार्थ हैं, न इस लौकिक पृथिवी मात्र से सम्बद्ध कोई अन्य वस्तु। वैदिक ऋषियों ने पृथिवी नाम से जिस तत्त्व का संकेत किया है वह हमारी यह लौकिक मिट्टी सागर पर्वत नदी वाली भी नहीं है। वह पृथिवी तो इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक तत्त्वों को धारण करने वाली प्रथमाधारभूत तत्त्व है। जिसकी व्याख्या छन्दोमयी, अक्षरमयी, पादमयी मान्यताओं से की जाती है। यह भौतिकात्मा दिव्यात्मा की अमृतमयी अक्षितिवती अजरा अमरा अनाद्यनन्ता, द्यावा नाम के पूर्वार्द्ध की परार्द्धरूपा या अमृत शरीररूपा, साक्षात् रूप से देव रूप वसुओं या रत्नों को धारण करने वाली सार्थक वसुंधरा है। इसी प्रकार अश्व, श्वान, गावः, नदी, पर्वत, समुद्र, सुपर्ण, ऋतु संवत्सर, पक्ष, वृक्ष, मास, अहोरात्र प्रभृति जितने भी तत्त्व हैं वे सब उक्त प्रकार की पृथिवी से सम्बद्ध हैं, न कि इस लौकिक पृथिवी से, हां इन्हें इन लौकिक पृथिवी के नदी पर्वतादि के रूपक के रूप में गृहीत किया गया है, स्वयं पृथिवी भी रूपक का पात्र है। इनके द्वारा ऋषियों ने देवताओं और आत्मा की गतिविधियों का विवेचन दिया है, न कि इस लौकिक पृथिवी का इतिहास भूगोल आदि। ऋषियों का लक्ष लौकिक पदार्थों का संकेत करना कहीं नहीं है। इसीलिए भगवान् मनु ने स्पष्ट कह दिया था कि सभी देवता आत्मा रूप के हैं, और इन्हीं आत्मा रूप देवताओं में यह अखिल सृष्टि आधारित है। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा नक्षत्र पृथिवी तो देवता ही हैं और नदी पर्वत वृक्ष सुपर्ण संवत्सर आदि भी सभी देवता ही हैं। अतः ये सब आत्मा रूप हैं न कि लौकिक स्थूल या प्राकृतेय पदार्थ। एक ही आत्मा के सात स्तर हैं, उन्हें षडुर्वी सप्तपृथिवी सप्तनद्यः सप्तपर्वता आदि कहा गया है। ये सात मुख्य प्राणों की व्याख्यायें देते हैं। इन सात प्राणों के शरीरों में निवास करने वाले तत्त्वों को देवरूप आत्मा कहते हैं। इन्हीं प्राणों की नानाविधस्तरीय व्याख्या को लेकर अनेक प्रकार के देवी-देवताओं का विवेचन दिया गया है। ये सब के सब आत्मा के विभिन्न स्तरों की व्याख्यायें सृष्टि और अतिसृष्टि दो प्रकार से प्रस्तुत करते हैं जिन्हें समझने का प्रयास किया जाय तो यह विषय स्वयं नितान्त असंदिग्ध रूप में विश्वास का भाजन बन जावेगा, इसमें सन्देह की भूमि ही नहीं है। जो कुछ

भी हो वेदों के सभी देवता निश्चित रूप से आत्मा रूप के हैं, इसे कभी न भूलें, यह नितान्त असन्दिग्ध विषय है।

(६२) तस्मादुपनिषत्कालोत्तरवर्तिनो लुप्त वैदिक दर्शन परम्पराकावराका यास्कादि प्रभृतितः सायणोव्वटमहीधरान्ताः प्राचीना भारतीयास्तथा तेषामनुसरणशीलाः स्वस्वोद्भावनाभारवाहिनः सर्वे ये केचिद्वाऽऽधुनिकाः प्राचीना वा कियन्तोऽपि गरीयांसो लघीयांसो वा स्युस्ते 'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसो (गीता १५-११) वास्तविकमर्थं वेदानामतः सर्वतो वञ्चिता, देवानां व्याख्यां लौकिकार्थेषु पारिभाषिक शब्दान् गृहीत्वा कुर्वन्तः। केचिदन्ये तु लौकिक शास्त्राणां साहित्य व्याकरण नवीन वेदान्त न्यायादीनां प्रणेतृणां मस्तिष्कानां व्याख्यायां मग्नाः सन्तः कथं कारं जीवन्तीत्येवाद्भुतमाश्चर्यम्।'

(६३) यास्काद्यावधिपर्य्यन्तं तथा रूपायां व्याख्यायां कृतायामपि नानाभाष्यानुवादालोचनात्मकैर्लघु बृहद्ग्रंथैः स्वयं तैरेवोद्घोषितं यत्सहस्राणामपि मन्त्राणां सूक्तानां चार्थो नावगतं स्तैः किञ्चिदपि—यद्यपि नैकस्यापि मंत्रस्य सूक्तस्य वार्थं उचितपरम्पराऽभावात् नावगतं केनचिदपि तेषां—मूलं कारणं यस्य वेदानां देवानां वा नाम्नां लौकिक प्राकृतेय पदार्थ ग्रहण-ग्रहणम्। तेभ्यस्तु तेनैव ग्रहणेन—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखं चिराय।

(६४) हे ग्रन्थ विषयशरीरी देव ! 'तत्वं पूषन्नपावृणु' (महाविस्फोटकेन) (अस्मभ्यं महत्या कृपया) 'सत्य धर्माय दृष्टये' (ऋ. वे., यजुः)

(६५) तस्माद्विद्वद्भ्यः सर्वेभ्यः प्रगत्यगतिशीलेभ्यः प्राचीनार्वाचीनपद्धति परायणेभ्यो भारतीय विदेशिभ्यः पौनः पौन्येनेयमभ्यर्थना यदस्य ग्रन्थस्य विषयस्य पूर्व परम्पराविधि प्रमाण शरीरस्याध्ययनं विगलित स्वात्म दृढ संस्कारमनसा निष्पक्ष दृष्टिकोणेन विधायास्माकं महता कालेन नष्टप्राय योगस्य दर्शनस्य साकार दर्शनाय तस्य नवोत्थानाय पुनरुज्जीवनायोद्धारार्थं वाऽवश्यमेव प्रयतव्यम्।

(६६) "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥"
(सर्वासु संहितासु सर्वब्राह्मणेषु च, ईश. बृह. उपनिषदादावपि)

(६७) "शत्रूणां बुद्धिनाशाय, मित्राणामुदयस्तव।"
यतो हि "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" (यजु. पु. सू.)

उपसंहार :—

अब आपने भलीभांति देख लिया होगा कि वेदों की व्याख्या में अतीव सत्यता से जुटे वे विद्वान् जो उपनिषदों के युग के पश्चात् हुए हैं, चाहे वे यास्क, सायण, महीधर, उव्वट प्रभृति हों या इनके अनुयायी स्वदेशी विदेशी एक से एक बढ़कर बड़े विद्वान् हों, चाहे आधुनिक हों या अर्वाचीन, कितनी ही ख्यातिप्राप्त हों या अज्ञात नाम के, उन्होंने वेदों के पारिभाषिक पदों को लौकिक संस्कृत के अर्थानुकूल तथा लौकिक प्रकृति के पदार्थों का संकेतक समझकर, बहुत बड़ा प्रयास करते रहने पर भी, होश हवाश उड़े व्यक्तियों की तरह (अचेतसः) जिस पथ का अनुसरण करना था उसे एकदम छोड़ अनभीष्ट दिशा की ओर भटक पड़ जाने के कारण, उस तथ्य को, उस सत्य को और उस अमृत को पान में नितान्त ही असमर्थ रह गये जिनको हमारे महर्षियों ने अपने छन्दोमय सूक्तमय संहितामय ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषन्मय नानाविध के पात्रों में छलछलाकर भर दिया था।

दूसरी विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इतने विस्तृत युगों के इतनी महती संख्या के विद्वानों के द्वारा एड़ी से चोटी का बल लगाकर इतना अथाह परिश्रम कर लेने पर भी (उन्हीं ने) स्थल-स्थल पर यह लिख दिया है कि इस शब्द का, इस वाक्य का, इस पद का, इस सूक्त का, इस देवता का हमें समुचित ज्ञान नहीं हो सका। ऐसे स्थल, ऐसे विषय एक-दो नहीं सहस्रों हैं। और जिनका ये ज्ञान हो गया है कहते या समझते हैं, वह कैसा हुआ है, यह भी अब किसी से छिपा नहीं रह गया होगा। हां, जिसे ये हम समझ गये हैं, कह रहे हैं उसे भी वैसा ही जबरदस्ती घटित करके समझा है जैसा 'यज्ञाद्भवतिपर्जन्यः' के अर्थ को द्रव्ययज्ञ परक व्याख्या में घटित करने का उपहासास्पद प्रयास किया जाता है; (सूत्र ३४ से ३८ देखें पीछे) और वैदिक ऋषियों का मुख्य लक्ष्य तो सृष्टि-यज्ञ और अतिसृष्टि का उद्घाटन करना था, इनके विवेचन के क्रम में कई ऐसी बातें आगई हैं, और अवश्य ही आनी चाहिए भी जिन्हें हम द्रव्ययज्ञ में किसी प्रकार घटित नहीं कर सकते। अतः ये इनकी समझ में नहीं आये, क्योंकि इनकी आँखों में लौकिक संस्कृत के अर्थ का और प्राकृतेय पदार्थो सिद्धान्त का ग्रहण लगा हुआ रहा, अतः ठगे रह गये और जो वेदों का अमृतमय सत्य था वह जहां का तहां ही रह गया, और ये लोग अपनी ऐसी विस्तृत व्याख्या रूप हिरण्मय पात्रों को उसके ऊपर दिनों दिन एक के ऊपर दूसरे को परतों की तरह रखते हुए उसे रसातल तक की गहराई में पहुँचाकर ढकते-ढकते गये, ढकते ही गये। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द से लेकर मधुसूदन ओझा और उनके

चेले-चाटियों तक सभी कट्टर आर्यसमाजियों की कृतियां सबसे खतरनाक ढक्कन हैं। इनके समझे सुधार रूप विचार नासमझी की पराकाष्ठा होने से विचारणीय तक नहीं हैं। इसीलिए कोई समझदार इनकी ओर झांकता भी नहीं।

अतः वेद भगवान् के ऐसे गूढ रहस्यों के अनावरण का समस्त भार उसी के प्रसिद्ध देवता भगवान् ईश ईशान नामक कपर्दी पूषा के ही ऊपर छोड़ कर उससे ईशावास्योपनिषद् की तरह यह प्रार्थना करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा चारा ही नहीं है कि "हे पूषन् ! हे वेदभगवान् ग्रन्थ ! तुम्हीं अपने ऊपर लगे इन अनन्त तहों के ढक्कनों को महाविस्फोट से उड़ाकर अपने सत्य रूप दर्शन का दर्शन देने के लिए हमारे ऊपर महती कृपा करो।"

इसीलिए सभी विषयों के विद्वानों से—चाहे वे प्रगतिशील विचारों से सम्पन्न हों या प्राचीन पद्धति के अनुयायी, किसी भी अर्वाचीन विचारधारा के हों या सनातनी, भारतीय हों या अन्य देशी—पुनः-पुनः नम्रतापूर्वक निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ में संकलित, परम्परा श्रुतिस्मृति पुराणोक्त प्रमाणों से सर्वतः पुष्ट विषय का अध्ययन, अपने-अपने आरूढ पूर्व संस्कारों से तटस्थ होकर, निष्पक्ष, निरपेक्ष रूप से करके, युगों-युगों से खोई हुई अपनी अमूल्य सम्पत्ति रूप इस सत्य और वास्तविक दर्शन का—जिसका हम सभी को गर्व और गौरव प्राप्त है—पुनर्नवोत्थान और जीर्णोद्धार करने की महती कृपा करें।

अन्त में उसी अखिल ब्रह्माण्डीय अन्तरात्मा रूप पूषा नामक अग्नि से पुनः प्रार्थना है :—"हे देवताओं के अग्रणी ! अखिल कोटि ब्रह्माण्ड की अन्तरात्मन् अग्ने ! उठो ! जाग जाओ ! कब तक सुसुप्ति में रहोगे ? हम सबको उस अमृतमय सोमज्योतिर्मय धन के उत्स के पास ले जाने के लिए सन्मति रूप सन्मार्ग से, विवेक से, ज्ञान से लेते चलो। तुम तो स्वयं ज्ञानमय, ज्योतिर्मय, प्रकाशमय, शुद्ध, नित्य बुद्ध, प्रबुद्ध, ससंज्ञ, सचेतन हो, हमें भी अपने इन्हीं सब लक्षणों से विभूषित करके ऐसा बनाओ जिससे हम सब सदा ही सभी सत्कर्मों में ही प्रवृत्त होवें; और इस पर भी जो कोई भी पापाचारविचारादिक हमको इस पथ और कार्य में निरत रहने में बाधक, घातक हो या वर्गलाने की चेष्टा करने आवे उससे भी तुम अपने सम्पूर्ण बल से लड़ो, उसे परास्त करो, निरस्त करो; जिसकी कृतज्ञता में हम सब और हमारे सब प्राण तुम्हारी प्रार्थना पहले से भी और अधिक मन लगाकर और अधिक मात्रा में करने को स्वयं विवश से रहें॥ सबको सन्मति दे भगवान्॥ क्योंकि हमारी जितनी भी अज्ञान, भ्रम और मोहकारिणी शत्रुरूपिणी बुद्धियां हैं, उन सबका सर्वथा

विनाश के लिए तथा जितनी ज्ञानज्योतियों को उद्दीप्त करने वाली मित्ररूप मतियां या बुद्धियाँ हैं उनके चन्द्रोदय के लिए ही जो सद्भावना की बलवती प्रेरणा जागृत होकर प्रदीप्त हुई उसी की दिव्य ज्योति का प्रकाशपुञ्जरूप यह ग्रन्थ-दीपक आपके सामने प्रस्तुत है ।

"शत्रुणां बुद्धिनाशाय मित्राणामुदयस्तव ।"

क्योंकि उस अमृतयय ज्ञान की प्राप्ति का दूसरा मार्ग है ही नहीं ।

अध्याय २ पाद १

वेदों में योग के पारिभाषिक पद, सामग्री और प्रमाण

(१) अथातो नानायोगा यत्रोत्तरार्द्धः पूर्वार्द्धः पूर्वार्द्धश्चोत्तरार्द्धः ।

(२) योगश्च पुरुषस्य त्रिपादामृतस्याविष्कारो ज्योतेः ।

(३) आत्मा घृतं शरीरं पात्रम् ।

(४) अङ्गानि च वर्तिका तान्येवाध्यात्मम् ।

(५) तानि द्विविधाः प्राणास्ते च ब्रह्माणि ।

(६) प्राणोदानव्यानापानसमानाः प्राणाः ।

(७) वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं मनस्त्वक् प्रभृतीनिच प्राणा एव ।

(८) अन्नं सप्तान्नं भूतानि धियो वाचो गिरो गौर्गावश्चर्षणयो मतयः कराः पाणयो वह्नयो ब्रह्म ब्रह्माणि यज्ञो मेधा मेधमङ्गिरोऽङ्गिरसो गातारो ध्यातारः स्तोतारो धातारो विराजमाना ऋत्विजोऽनुष्ठातारो यजमाना आत्मा प्रभृतीनि च नामानि वैतेषां प्राणानामेव वेदेषु ।

(९) प्राणश्चाक्षुषः पार्थिवोऽपानो मध्ये समानो वायु व्यानस्तेज उदानः (प्रश्न. उप. ३) ।

(१०) प्राणश्चक्षुषि द्यवि चादित्ये च ।

(११) व्यानः श्रोत्रे चन्द्रमसि दिक्षु च ।

(१२) अपानो वाचि पृथिव्यामग्नौ च ।

(१३) समानो मनसि पर्जन्ये विद्युति च ।

(१४) उदानो वायौ त्वचि वाकाशे च ।

(१५) अथाधिदैवतम् ।

(१६) प्राणस्य वायुर्वाचोऽग्निश्चक्षोः सूर्योमनसश्चन्द्रमा श्रोत्रयोर्दिशश्चात्मानो-देवाश्च ।

(१७) प्राणा वै मर्त्या देवाश्चामृताः ।

अब वेदों में प्राप्त नाना योगों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है । इस योगप्रक्रिया में जिसे सृष्टिप्रक्रिया में पूर्वार्द्ध कहते हैं उसे उत्तरार्द्ध, और उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध कहते हैं । पुरुष की सर्वाङ्गीण त्रिपादामृत ज्योति की अनुभूति या साक्षात्कार का नाम योग है । इस ज्योति का घृत आत्मा है, शरीर

दीपक-सा पात्र है, और अङ्ग या पञ्चात्मायें जिन्हें अध्यात्म या प्राण कहते हैं वे सब वर्तिकायें हैं। इन अङ्गों या आत्माओं को दो प्रकार के प्राणों के नाम से पुकारा जाता है और इन्हीं को वेदों में 'ब्रह्माणि' (अकृण्वत) इत्यादि नाम से वाक्यों से पुकारा भी गया है जिसका अर्थ लोगों ने ऋचा या मंत्र मात्र लगा लिया है। प्रथम प्रकार के प्राण—प्राण, उदान, व्यान, अपान और समान हैं। द्वितीय प्रकार के प्राण—वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्रं, मनः, त्वक् (मज्जा, अस्थि, हस्त, पाद, शिरः, मुख, जिह्वा, नाभि, हृदय) इत्यादि हैं। वेदों में इनको धी धियः वाचः, गिर, गौ, गावः, चर्षणि, चर्षणी, मति, मतयः, करा, पाणयः, वह्नयः, ब्रह्म ब्रह्माणि, यज्ञं मेधा मेधं, अङ्गिरः अङ्गिरस, गातारः, ध्यातारः, स्तोतारः, धातारः, विराजमाना ऋत्विजा, अनुष्ठातारः, यजमानः, आत्मा इत्यादि अनेक नामों से पुकारा गया है। इन शब्दों के अर्थ वाले शब्द तथा इनके वे पारिभाषिक नाम जिन्हें आगे दिया जावेगा भी इनके संकेतक हैं।

पञ्चप्राणों में प्राण चाक्षुष पुरुष है, अपान पार्थिव या भौतिक, समान मध्यवर्ती, व्यान वायु और उदान तेज है। प्राण का निवास चक्षुः, द्यौ और आदित्य (सूर्य) में है, व्यान का श्रोत्र चन्द्रमा और दिशाओं में, अपान का वाक्, पृथिवी और अग्नि में, समान का मन पर्जन्य और विद्युत् में और उदान का त्वचा वायु और आकाश में।

अधिदैवत व्याख्या में प्राण का आत्मा या देवता वायु है, वाक् का अग्नि, मनः का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशायें और चक्षु का सूर्य। प्राण मर्त्य हैं पर देवता या आत्मा अमृत या अमर्त्य हैं। (१-१७)

(१८) यज्ञो वै द्विविधः सृष्टिरतिसृष्टिश्च।

(१९) नित्यैर्यदनित्यानन्त ब्रह्माण्ड रचना स यज्ञः सृष्टिः।

(२०) (क) यदनित्यैर्द्रव्यैः प्राणैर्नित्यानां देवानां सृष्टिरनुभूतिर्वा सातिसृष्टिः (कठ. बृह.)

(ख) ते (जरितारः) पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ० वे० १-८९-९)

(ग) 'कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पिता सत्' (ऋ० वे० १-१६४-१६)

(घ) 'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्' (ऋ. वे. १-६९-१) 'त्वं पुत्रो भवसि यस्ते विधत् (ऋ. वे. २-१-९)

(२१) सर्वेषु वेदेषु वै अस्या अतिसृष्टेर्योगस्य रहस्यमोतं प्रोते च यन्नानुपश्यन्ति धीरा आधुनिकाः सर्वे तद्विषयः पीडाया ऋषीणां पूर्वेषाम्।

(२२) पदे पदे मंत्रे मंत्रे सूक्ते सूक्ते वेदानामर्थास्त्रिविधाः ।

(२३) ते च तपोयज्ञार्थः सृष्टेर्योगयज्ञार्थोऽतिसृष्टेर्द्रव्ययज्ञार्थः कर्मकाण्डस्य श्रोत्रियाणाम् ।

योग एक यज्ञ है, वह मुख्यतः दो प्रकार का है। जिसे क्रम से सृष्टि यज्ञ और योग या अतिसृष्टि यज्ञ कहते हैं। जिन ब्रह्मादि सूर्यादि नित्य तत्त्वों से अनित्य तत्त्वों का उत्तरोत्तर नाना विकास होता है उसे सृष्टि यज्ञ कहते हैं। परन्तु जिन अनित्य तत्त्वों से योग द्वारा नित्य तत्त्वों की सृष्टि करके अनुभूति की जाती है उसे अतिसृष्टि या योगयज्ञ कहते हैं। समस्त वैदिक वाङ्मय इन्हीं दो प्रकार के सृष्टि और अतिसृष्टि यज्ञों के वर्णन से ओतप्रोत है। खेद है, जिन्हें इनके अब तक के किसी भी भाष्यकार, अनुवादक या आलोचक ने नहीं समझ पाया है। अतः वे सब इनको पहेली समझ कर इनका अपना-अपना समझा असंगत अर्थ या व्याख्यान कर गये हैं। यह वैदिक ऋषियों को अतीव पीडा पहुंचाता होगा।

वैदिक वाङ्मय के पद-पद में, मन्त्र-मन्त्र में और सूक्त-सूक्त में तीन अर्थों की त्रिवेणी या त्रिवृत् एकसाथ गुँथी मिलती है। वे हैं (१) ऋषिरूप तत्त्वों का तपोरूप यज्ञ जिसे सृष्टि यज्ञ कहते हैं जहाँ प्रायः ऐसा लिखा होता है 'सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत' इत्यादि ऐसे स्थलों में सर्वत्र इसी सृष्टि यज्ञ का स्पष्ट विवेचन दिया मिलता है। (२) इसके विपरीत, इसी की उलटी प्रक्रिया का तप या श्रमण अतिसृष्टि का विवेचन देता है जिसके कर्ता स्वयं वे ऋषि हैं जिन्होंने वैदिक वाङ्मय का निर्माण प्रतिमंत्र किया है। इस प्रकार के विवेचनों में उलटी सृष्टि होती है। जो सृष्टि-प्रक्रिया में पुत्र था वह अब पिता हो जाता है; क्योंकि यह पुत्र अपने पितारूप देवता की ज्योति को योग द्वारा उद्दीप्त करके उसे जन्म-सा देता है। अतः वह पुत्र ऋषि या कवि ही अपने पितारूप देवता का पिता बन जाता है, यह साकार सत्य है। इन दोनों को सदा अमर रखने के लिए (३) तीसरे प्रकार का बाह्य अभिनेय द्रव्य यज्ञ या पात्रादि के अवलम्बन या प्रक्रियाओं के आधार का कर्मकाण्डरूप यज्ञ है जिसका विवेचन या विधि-विधान सब उक्त दो प्रकार के यज्ञों की ही विशद व्याख्या दृश्य पट या मञ्च द्वारा सा प्रस्तुत करता है। ज्ञानी के ज्ञान की अभिज्ञता या कुशलता का प्रमाण इसी कर्मकाण्डीय यज्ञ विधानों को उक्त रूप से अच्छी तरह समझ सकने पर ही उपलब्ध हो सकेगा (१८–२३)।

(२४) महर्षिभिर्वैदिकैर्योगिन दृष्टमनुभूतं च देवतत्त्वं साक्षाद्धस्तामलकवद्यथा चोक्तम् तैः—

(२५) 'को ददर्श प्रथमं जायमानं' (ऋ वे. १-१६४-४) 'अपश्यं गोपामनिपद्यमानं' (१-१६४-३१)
'अपश्यं ग्रामं वहमानम् (ऋ. वे. १०-२७-१९) 'नराशंसं सुधृष्टमपश्यं सप्रथस्तमं' [ऋ. वे. १-१८-८२)
'अपश्यं त्वा चेकितानम्' (ऋ. वे. १०-१८३-१) 'अपश्यं त्वा मनसा-दीध्यानाम्' (ऋ. १०-१८-२)
'अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्' (ऋ वे. १-१६४-१)
"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं जनिमानि विश्वाः ।
शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ॥" (ऋ. वे. ४-२७ १)
'गर्भ एतच्छयानो वामदेव एवमुवाच' (ऐ. उप. २; बृह. उप. २-५-७)
अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिता भूत् । अहं सूर्यमुभयतो-ददर्शाहं देवानां परमं गुहायत्' (यजुः ८-९)
एवं ऋग्वेदे ४-२६, ४-४२, १०-४८, १०-४९, १०-१२५, १०-१४५ सूक्तेषु च द्रष्टव्यम् ।

(२६) एतेषां त्रिविधानां यज्ञानां पारिभाषिका पदावली समानैव यथा—

(२७) होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणः प्रयाजानुयाजोपयाजाश्च क्रमशोगणशश्चतुर्णामिका-दशानां च ।

(२८) होता प्रशस्ता वा समस्ता वा मैत्रावरुणो वा अच्छावाग् ग्रावस्तु द्ग्रावग्राभो वा चत्वारो होतारो होतृगणस्यर्ग्वेदिनाम् ।

(२९) अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता चाध्वर्यवोऽध्वर्युगणस्य यजुर्वेदिनाम् ।

(३०) उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्यं चोद्गातार उद्गातृगणस्य सामगानाम् ।

(३१) (क) ब्रह्माब्रह्मणाच्छंष्शी चाग्नीध्रोवाग्नीद्वाग्निमीधो वा पोता च ब्रह्मणो ब्रह्म-गणस्याथर्वणाम् ।

(३१) (ख) उपलब्धान्येवैतेषां नामान्यर्ग्वेदादिषु निम्न स्थलेषु—
होताध्वर्युरवयाजः प्रतिप्रस्थाता वाऽग्निमीधोऽग्नीध्रोवर्ग्वेदे १०-६१, १-९४-६, १-१५-२, ३, २-५-९, १०-९१-१०, १-१० १ मंत्रेषु; ग्राव ग्राभो ग्रावस्तुद्वा समस्ता मैत्रावरुणः प्रभृतीनि चर्ग्वेदे यथा 'मोषु ब्रह्मेव तन्द्रायुर्भव' (८-९२-३०), तस्य ब्रह्मोद्यज्ञातृत्वं "१०-८५-३, १६, ३५, ३६; १०-७१-११, १०-११७-८" स्थलेषु, 'अग्निर्वै ब्रह्मा'१०-१४३-२ मंत्रे, अङ्गिरसो वै ब्रह्मा ७-७-५ मंत्रे, तेषां संख्या च 'अध्वर्युभिः'पञ्चभिः'३-७-५

मंत्रे, होतुर्नाम तु शतशआयातमेव यथा सप्त होतृणां' 'सप्तहोतारः' 'सप्तहोता'; केषुचित्स्थलेषु होतु नाम वै शंसः शंस्यं वा (१·१५·७), १·१० सूक्ते होतारो वै अर्किणः उद्गातारश्च गायत्रिणः, १-१०-१ मंत्रे 'ब्रह्माणः' शब्द ब्रह्मणोऽर्थे बृहस्पतिर्वै ब्रह्मा १० ८५-३, १६, ३५, ३६ मंत्रेषु, सप्तहोतृणां नामानि च काक्षीवतो नाभानेदिष्टस्य १०·६१, १०-६२, १-१८·१, २, १-५१-१३, १-११६-७, १-११७-६; ४-२६-१ सूक्तेषु मंत्रेषु च, ऋतुयाजादीनां २-१५, २-२७ सूक्तयोः, अग्नीध्राऽस्तुश्रौषट् होता यक्षतां, १-१३९-१० मंत्रे 'प्रेदं ब्रह्मेति' निविदा वै वैश्वदेव शस्त्रं ४·१८-१७, १-९६-२, १-८९-३, ४ मंत्रेषु, निगदाश्च १-५१-६३ मंत्रादिषु।

(३२) देवाश्च प्राणाश्चैव होत्रादयः सृष्टेरतिसृष्टेश्चानुलोमविलोम क्रियाभिः।

(३२) एषां चत्वारो होतारो होतृगणस्य वै होत्रकाः।

(३३) पोतानेष्टाग्नीध्रस्त्रयो होत्राशंसिनः।

(३४) ते त्रै 'सप्तहोतारो दैव्याः' 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता' वा।

(३५) अर्किणो गायत्रिणश्चोद्गातारो ये वा स्तोतारो ध्यातारो वा स्तोमिनो वा।

वैदिक महर्षियों ने प्रत्येक देवता तत्त्व तथा सृष्टि और अतिसृष्टि के तत्त्वों को साक्षात् हस्तामलकवत् देखा था या अनुभूत किया था, यह वे प्रायः छिपाकर नहीं रख गये। वे बार-बार याद दिलाते हुए से निम्न वाक्यों को उगल गये हैं जिनके आधार पर उन्हें 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' या मन्त्ररूप यन्त्ररूप उक्त दो प्रकार की यज्ञयोग प्रक्रियाओं की उन्हें साक्षात् अनुभूति होती रही, यह आज तक सभी मानते आ रहे हैं। उन ऋषियों में से प्रायः सभी लिख गये हैं–(१) कि मैंने उस अनश्वर पञ्च पञ्च प्राण रूप गायों के स्वामी को साक्षात्करके देखा है। (२) मैंने प्राणों के ग्राम या समूह को अपने में ढोते उस पुरुष को देखा है। (३) मैंने तुमको अपने मन से ज्ञान करते या अनुभूति लेते साक्षात् देखा है। (४) मैंने प्राणों की समाधि में मन के द्वारा तुम्हें साक्षात् देखा है। (५) मैंने उस वाम या वामन पुरुष के चतुष्पाद स्वरूप में उस सप्त भौतिकात्मीय प्रजारूप प्राणों से युक्त प्रजापति को साक्षात् देखा है—इसी प्रकार ऋ. वे. १-१८-९, ४-२७-१, ४-२६, ४-४२, १०-४८, १०-४९, १०-१२-४; १०-१४५ (बृ० उप २·५-) और यजु ८-९ प्रभृति मंत्रों को देखें। वामदेवजी ने भी कहा है "गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वाः। शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्।।" (ऋ. वे.) गर्भ एतच्छयानो वामदेव

एवमुवाच ।।" (ऐ. उप. २–) कि मैंने गर्भ में रहते हुए अपने को लोहे के सैकड़ों सीकचों से बनी पुरी में बन्द-सा पाया और वहां से बाज की तरह झपट कर बाहर निकल आया। यह वामदेव ऋषिरूप 'वाक्' नामक प्राण तत्त्व है जिसका नाम 'अस्य वामीय' सूक्त में दो बार 'वामस्य' रूप में (१,७) आया है, दूसरे स्थान में इसे पक्षी या महासुपर्ण भी कहा है जिसका संकेत उक्त ऋचा श्येन नाम से दे रही है।

वैदिक ऋषियों की सबसे बड़ी चातुरी इसमें है कि उन्होंने अपने मंत्रों में निहित उक्त तीन प्रकार के मुख्य यज्ञार्थों की संकेतक पदावली एक ही बना दी। इस पारिभाषिक पदावली की एकता ने उत्तरकालीन आचार्यों या भाष्य, टीका, अनुवाद, समालोचना के लेखकों की आँखों में धूल झोंक देने का-सा बड़ा सफल प्रयास कर दिया। ऐसे लेखक ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के इस पारिभाषिक पदावली के त्रिविध व्याख्यान को पढ़कर भी बिना समझे ही या बिना पढ़कर ही वेदों या उपनिषदों की व्याख्या करने के लिए टूट पड़े। उधर स्वयं वेदमंत्रों में उक्त पदावली की सर्वत्र दी हुई त्रिविध प्रयोग की दुहाई को भी पढ़ने या समझने का इन्हें सौभाग्य न मिला तो यह वेदों का तो नहीं, इन्हीं का तथा इनके अनुयायियों का दुर्भाग्य कहा जा सकता है। क्योंकि वेद तो अब भी—जितने सुरक्षित हैं—वैसे ही अक्षुण्ण और अपने त्रिविध अर्थ की हीरकमाला की ज्योतियों से वैसे के वैसे ही चमक रहे हैं, कोई न देख या पहिचान सके तो वेदों का क्या दोष ?

वास्तविक वेदार्थ-प्रकाशिका त्रिविधार्थ धारिणी पदावली निम्नलिखित है। यह पदावली प्रत्येक यज्ञ में भिन्न-भिन्न तत्त्वों या वस्तुओं का संकेत करती है। प्रत्येक यज्ञ के कर्मचारी चार गणों में विभक्त किए जाते हैं। उन गणों के नाम (१) ब्रह्मगण, (२) होतृगण, (३) अध्वर्युगण और (४) उद्गातृगण हैं। अथवा इनके केवल तीन ही विभाग किए जाते हैं जिन्हें (१) प्रयाजा, (२) अनुयाजा और (३) उपयाजा कहते हैं। प्रथम विभाजन में प्रत्येक गण में चार-चार कर्मचारी या ऋत्विज (जरितार, बाधतः) होते हैं द्वितीय में ११, ११। प्रथम विभाजन प्राणमय ऋषिमय तत्त्वों के विषय से संबंध रखता है तो द्वितीय ३३ देवताओं के विभाजनीय विकास या वियोग और योग से। प्रथम विभाजन के गणों के ऋत्विजों के नाम इस प्रकार हैं।

१–ऋग्वेदी होतृगण—(१) होता, (२) प्रशस्ता या समस्ता या मैत्रावरुण, (३) अच्छावाक् और (४) ग्रावस्तुत् या ग्रावग्राभ।

२-यजुर्वेदी अध्वर्युगण—(१) अध्वर्यु, (२) प्रतिप्रस्थाता, (३) नेष्टा और (४) उन्नेता ।

३–सामवेदी उद्गातृगण—(१) उद्गाता, (२) प्रस्तोता, (३) प्रतिहर्ता और (४) सुब्रह्मण्यम् ।

४-अथर्ववेदी ब्रह्मगण—(१) ब्रह्मा, (२) ब्राह्मणाच्छंशी (३) अग्नीध्र या अीद् या अग्निमीध और (४) पोता

ऋग्वेद में इनके नाम जिन जिन स्थलों में उपलब्ध हैं उनकी सूची सूत्रों के साथ दे दी है, देखें ।

यज्ञ या सृष्टि और अतिसृष्टि से देवता या पुराणरूप ऋषितत्त्व ही होत्रादि होते हैं । इनकी प्रक्रियायें मात्र एक दूसरे के विलोमगामिनी और विलोम-परिणामिनी होती हैं । इनमें से होतृगण के चार ऋत्विजों को होत्रका कहते हैं । नेष्टा, अग्नीध और पोता इन तीनों को होत्राशंसिनः (होत्राशंसी) कहते हैं । दोनों वर्गों के ये सातों ऋत्विज 'सप्तहोता' या 'सप्तहोतरः' या 'सप्तहोतारो दैव्याः' कहलाते हैं । अर्किणः नाम 'गायत्रिणः' का है । गायत्रिणः नाम गायत्री छन्द के मन्त्रों के साम को गाने वालों का है । इन्हें उद्गातार, स्तोतारः, ध्यातारः या स्तोमिनः भी कहते हैं । (२४–३५)

(३६) प्राणाश्च द्विविधाः पञ्चपञ्चाध्वर्यवः पृथक् पृथक् ।

(३७) सर्वे देवाः सर्वे प्राणाः सर्वाणि तत्त्वानि चर्त्विजा ब्रह्माण्येव वा पृथक् पृथक् योगे ।

(३८) सोमाभिषवनेऽनुभूतौ चाग्निर्होता आदित्योऽध्वर्युश्चन्द्रमाब्रह्मा पर्जन्य उद्गाता आपो होत्राच्छंशी रश्मिश्चमसाध्वर्युः ।

(३९) "वाग्यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽग्निः स होता" ।

(४०) "चक्षुर्वैयज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोवसावादित्यः सोध्वर्युः" ।

(४१) "प्राणो वै यज्ञस्य उद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता" ।

(४२) "मनो वै यज्ञस्थ ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा" । (बृ० उ०)

(४३) "योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि सोऽहमेवाहं जुहोमि" । (नारा० उप०)

(४४) "अहं वाव सृष्टिरस्म्यहं हीदं सर्वं ततः सृष्टिरभवद्भौतिकी" ।

(४५) "पुरुषो वै अहं स्ततः प्रजापतिश्चाहंनामा तौ द्वौ पूर्वार्द्धपरार्द्धौ" ।

(बृ० उ० १ ४-५-५)

(४६) अह्नो वै अहम् तौ द्वौ वै द्वे प्रतिष्ठे ।

(४७) यद्वहंनाम्नी सृष्टि स्ततो "ऽथाहंकारादेशः" । (छा० उप० ७-२५)

(४८) "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम् यदिदं किञ्च" । (छा० उप० ७-२५)

(४९) "तदहममुमहमेव सर्वं जुहोमीति विश्वकर्मा प्रजापतिवत्" ।

प्राण दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के प्राणों को—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान कहते हैं। इनका विवेचन पञ्चपशव:-पुरुषपशु, अश्व, गो, अवि, और अजा रूप में किया जाता है। दूसरे प्रकार के प्राणों को—वाक्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रम् प्राणः कहते हैं। इनका वर्णन वाचः, गावः, गिरः, धियः, मतयः प्रभृति नामों से किया जाता है। प्रथम प्रकार के पञ्चपशुओं में वाक् और मनः को जोड़कर, सप्ताश्व, सप्तरथ आदि नामों से पुकारा जाता है। ये सब शरीर-रूप हैं, वाहन हैं, आसन हैं, वस्त्र हैं, सूत्र हैं, आपोमय हैं, अन्नमय हैं, अदितिमय हैं, मनोमय हैं, यशः, श्रवः, धनं, रायः हैं। इन्हीं की आहुतियां दी जाती हैं, इन्हीं को दीप्त-उदीप्त किया जाता है। वेदों में इन्हीं का व्याख्यान अधिक आता है। इन दोनों प्रकार के पांच-पांच प्रकार के जोड़ों को पञ्च-अध्वर्यु नाम से भी पुकारा जाता है या पञ्च-ऋत्विज या जरितारः कहा जाता है। ये ही उक्त चार प्रकार के होतृगण, अध्वर्युगण, उद्गातागण और ब्रह्मगण का कार्य करते हैं। इन ऋत्विजों का मुख्य कार्य अपने-अपने देवता की दीप्ति करना होता है। सबके देवता दीप्त होते ही समाधियोगयज्ञ को प्रस्तुत करके इनके शरीरोद्दीप्त सोम का पान करने लगते हैं। यही वैदिकों का वास्तविक सोमपान है। वेदों में जब बारंबार यह कहा जाता है कि ये या यह सोम प्रस्तुत है तब इन्हीं द्विविध प्राणों की ऐसी ही योगसमाधिरूप स्थिति का संकेत किया हुआ समझना ही वेदों को उचित रूप से समझना कहला सकता है। साथ में जब यह कहा हुआ मिलता है कि 'ब्रह्माणि कृणुत या अकृणुत' इत्यादि तब 'इन्हीं प्राणों की ऐसी योगसमाधि स्थिति की गई है' यह समझना भी साथ में नहीं भूलना चाहिए। प्रत्येक तत्त्व या देवता या प्राण एक-एक ब्रह्म है। ये सब ब्रह्म ही मिलकर एक अखण्ड ब्रह्मज्योति को जगाते या जलाते हैं। ब्रह्म माने ऐसे स्थलों में मंत्र छन्दः कहना केवल कर्मकाण्डीय यज्ञ में ही घटित होता है; इस रहस्यार्थ या वास्तविक अर्थ में कदापि नहीं।

कर्मकाण्डी ऋत्विज जिस अभिनेय सोमयाग को यज्ञानुष्ठान रूप में, नाटक रूप में अभिनीत करते हैं, वह वास्तव में उक्त प्राणरूप ऋत्विजों का प्रात्य-क्षिक प्रतिनिधित्व करके इन अप्रत्यक्ष प्राणरूप ऋत्विजों की आभ्यन्तर योग-मय प्रक्रिया का ही प्रदर्शन करते हैं। जिनका ये इस प्रकार अभिनय या प्रति-निधित्व करते हैं उनका विवेचन इन्हीं कर्मकाण्ड की विधियों में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है :—कि सोमाभिषव याग या सोमानुभूतिक आभ्यन्तर यज्ञ में—अग्नि ही होता है, आदित्य अध्वर्यु है, चन्द्रमा ब्रह्मा है, पर्जन्य उद्गाता है,

२-यजुर्वेदी अध्वर्युगण—(१) अध्वर्यु, (२) प्रतिप्रस्थाता, (३) नेष्टा और (४) उन्नेता ।

३-सामवेदी उद्गातृगण—(१) उद्गाता, (२) प्रस्तोता, (३) प्रतिहर्ता और (४) सुब्रह्मण्यम् ।

४-अथर्ववेदी ब्रह्मगण—(१) ब्रह्मा, (२) ब्राह्मणाच्छंशी (३) अग्नीध्र या अीद् या अग्निमीध और (४) पोता

ऋग्वेद में इनके नाम जिन जिन स्थलों में उपलब्ध हैं उनकी सूची सूत्रों के साथ दे दी है, देखें ।

यज्ञ या सृष्टि और अतिसृष्टि से देवता या पुराणरूप ऋषितत्त्व ही होत्रादि होते हैं । इनकी प्रक्रियायें मात्र एक दूसरे के विलोमगामिनी और विलोम-परिणामिनी होती हैं । इनमें से होतृगण के चार ऋत्विजों को होत्रका कहते हैं । नेष्टा, अग्नीध और पोता इन तीनों को होत्राशंसिनः (होत्राशंसी) कहते हैं । दोनों वर्गों के ये सातों ऋत्विज 'सप्तहोता' या 'सप्तहोतरः' या 'सप्तहोतारो दैव्याः' कहलाते हैं । अर्किणः नाम 'गायत्रिणः' का है । गायत्रिणः नाम गायत्री छन्द के मन्त्रों के साम को गाने वालों का है । इन्हें उद्गातार, स्तोतारः, ध्यातारः या स्तोमिनः भी कहते हैं । (२४–३५)

(३६) प्राणाश्च द्विविधाः पञ्चपञ्चाध्वर्यवः पृथक् पृथक् ।

(३७) सर्वे देवाः सर्वे प्राणाः सर्वाणि तत्त्वानि चर्त्विजा ब्रह्माण्येव वा पृथक् पृथक् योगे ।

(३८) सोमाभिषवनेऽनुभूतौ चाग्निर्होता आदित्योऽध्वर्युश्चन्द्रमाब्रह्मा पर्जन्य उद्गाता आपो होत्राच्छंशी रश्मिश्चमसाध्वर्युः ।

(३९) "वाग्यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽग्निः स होता" ।

(४०) "चक्षुर्वैयज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोवसावादित्यः सोध्वर्युः" ।

(४१) "प्राणो वै यज्ञस्य उद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता" ।

(४२) "मनो वै यज्ञस्थ ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा" । (बृ० उ०)

(४३) "योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि सोऽहमेवाहं जुहोमि" । (नारा० उप०)

(४४) "अहं वाव सृष्ठिरस्म्यहं हीदं सर्वं ततः सृष्टिरभवद्भौतिकी" ।

(४५) "पुरुषो वै अहं स्ततः प्रजापतिश्चाहंनामा तौ द्वौ पूर्वार्द्धपरार्द्धौ" ।
(बृ० उ० १ ४-५-५)

(४६) अह्नो वै अहम् तौ द्वौ वै द्वे प्रतिष्ठे ।

(४७) यद्वहंनाम्नी सृष्टि स्ततो "ऽथाहंकारादेशः" । (छा० उप० ७-२५)

(४८) "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम् यदिदं किञ्च" । (छा० उप० ७-२५)

(४९) "तदहममुमहमेव सर्वं जुहोमीति विश्वकर्मा प्रजापतिवत्" ।

प्राण दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के प्राणों को—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान कहते हैं। इनका विवेचन पञ्चपशव:–पुरुषपशु, अश्व, गो, अवि, और अजा रूप में किया जाता है। दूसरे प्रकार के प्राणों को—वाक्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रम् प्राणः कहते हैं। इनका वर्णन वाचः, गावः, गिरः, धियः, मतयः प्रभृति नामों से किया जाता है। प्रथम प्रकार के पञ्चपशुओं में वाक् और मनः को जोड़कर, सप्ताश्व, सप्तरथ आदि नामों से पुकारा जाता है। ये सब शरीर-रूप हैं, वाहन हैं, आसन हैं, वस्त्र हैं, सूत्र हैं, आपोमय हैं, अन्नमय हैं, अदितिमय हैं, मनोमय हैं, यशः, श्रवः, धनं, रायः हैं। इन्हीं की आहुतियां दी जाती हैं, इन्हीं को दीप्त-उदीप्त किया जाता है। वेदों में इन्हीं का व्याख्यान अधिक आता है। इन दोनों प्रकार के पांच-पांच प्रकार के जोड़ों को पञ्च-अध्वर्यु नाम से भी पुकारा जाता है या पञ्च-ऋत्विज या जरितारः कहा जाता है। ये ही उक्त चार प्रकार के होतृगण, अध्वर्युगण, उद्गातागण और ब्रह्मगण का कार्य करते हैं। इन ऋत्विजों का मुख्य कार्य अपने-अपने देवता की दीप्ति करना होता है। सबके देवता दीप्त होते ही समाधियोगयज्ञ को प्रस्तुत करके इनके शरीरोद्दीप्त सोम का पान करने लगते हैं। यही वैदिकों का वास्तविक सोमपान है। वेदों में जब बारंबार यह कहा जाता है कि ये या यह सोम प्रस्तुत है तब इन्हीं द्विविध प्राणों की ऐसी ही योगसमाधिरूप स्थिति का संकेत किया हुआ समझना ही वेदों को उचित रूप से समझना कहला सकता है। साथ में जब यह कहा हुआ मिलता है कि 'ब्रह्माणि कृणुत या अकृणुत' इत्यादि तब 'इन्हीं प्राणों की ऐसी योगसमाधि स्थिति की गई है' यह समझना भी साथ में नहीं भूलना चाहिए। प्रत्येक तत्त्व या देवता या प्राण एक-एक ब्रह्म है। ये सब ब्रह्म ही मिलकर एक अखण्ड ब्रह्मज्योति को जगाते या जलाते हैं। ब्रह्म माने ऐसे स्थलों में मंत्र छन्दः कहना केवल कर्मकाण्डीय यज्ञ में ही घटित होता है; इस रहस्यार्थ या वास्तविक अर्थ में कदापि नहीं।

कर्मकाण्डी ऋत्विज जिस अभिनेय सोमयाग को यज्ञानुष्ठान रूप में, नाटक रूप में अभिनीत करते हैं, वह वास्तव में उक्त प्राणरूप ऋत्विजों का प्रात्य-क्षिक प्रतिनिधित्व करके इन अप्रप्यक्ष प्राणरूप ऋत्विजों की आभ्यन्तर योग-मय प्रक्रिया का ही प्रदर्शन करते हैं। जिनका ये इस प्रकार अभिनय या प्रति-निधित्व करते हैं उनका विवेचन इन्हीं कर्मकाण्ड की विधियों में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है :—कि सोमाभिषव याग या सोमानुभूतिक आभ्यन्तर यज्ञ में—अग्नि ही होता है, आदित्य अध्वर्यु है, चन्द्रमा ब्रह्मा है, पर्जन्य उद्गाता है,

आपः ब्राह्मणाच्छंशी है तथा रश्मियां (आभ्यन्तर प्रकाश की झिलमिलाती चिनगारियां) ही चमसाध्वर्यु हैं ।

अथवा—वाक् ही (योग) यज्ञ का 'होता' है जो यह वाक् है वही अग्नि भी है, वही अग्नि 'होता' है । चक्षु ही इस यज्ञ का अध्वर्यु है, जिसे यहाँ चक्षु कहा है वही आदित्य है, वही अध्वर्यु है । प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है जिसे यहां प्राण कहा है उसे ही वायुः कहते हैं, वही यज्ञ का उद्गाता है । मनः ही यज्ञ का ब्रह्मा है, जिसे यहां मनः नाम से पुकारा गया है वही चन्द्रमा है, वही इस आभ्यन्तर (योग) यज्ञ का ब्रह्मा है । जो मैं हूँ वह ब्रह्म ही हूँ, मैं अपने में अपना ही हवन करता हूँ । 'मैं' या 'अहं' नाम सृष्टि का है । 'मैं' या 'अहं' ही अखिल सृष्टि है । इसी 'अहं' से अखिल भौतिक सृष्टि विकसित हुई है । पूर्वार्द्ध की सृष्टि का नाम 'अहः' या प्रकाशमय, ज्योतिर्मय, अमृतमय सृष्टि है उसी से प्रजापति नामक 'अहं' सृष्टि उत्पन्न हुई जिसने पूर्वार्द्ध को परार्द्ध या भौतिकी सृष्टि में परिणत या विकसित कर दिया । अतः 'अहन्' या 'अहः' या 'अह्नः' (दिन या प्रकाशरूप पूर्वार्द्धीय) सृष्टि से इस 'अहम्' या 'मैं' नामक अहंकारात्मक भौतिक सृष्टि प्रादुर्भूत हुई । ये दोनों 'अहः' और 'अहं' इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड की 'द्वै प्रतिष्ठे' या 'दो मूल आधार' भूततत्त्व हैं । जिसे 'अहं' नाम की सृष्टि कहते हैं उसी से अहंकार का आदेश या यह 'मैं हूँ' इत्यादि की भावना जागृत हो जाती है । उस अवस्था में वह पूर्वार्द्धीय अमृतमय ज्ञानचेतना प्रकाशमय 'अहः' नामक सृष्टि को तादात्म्य रूप से या सायुज्य रूप से जब योगी अपनी 'अहं' नामक आत्मा में आत्मस्थ या ऐक्य की अनुभूति करता है तब उसे यह भान या प्रतीति या अनुभूति होती है कि "मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पश्चिम में हूँ, मैं ही पूर्व में हूँ, मैं ही उत्तर में हूँ, मैं ही दक्षिण में हूँ, मैं ही जो कुछ भी है वह सब कुछ हूँ", इत्यादि । और वह सृष्टि विकासकाल में अपने को अपने में ही सम्पूर्णरूप से आहुति-रूप में समर्पित कर देता है । 'अहं' की आहुति 'अहः' रूप में दी जाती है, तब नये-नये अग्रिम विकास क्रमशः होते चलते हैं । यही कार्य विश्वकर्मा भौवन नामक प्रजापति या ऋषि ने सृष्टि संचालन के लिये किया था (३६-४९)।

(५०) आहुतिर्वै ; आह्वानमुद्गानं स्तवनं गायनं ध्यानं प्राणानां भूतानामात्मनां वा ।

(५१) यज्ञोऽयं योगस्य च बहुधा साध्यः ।

(५२) त्रयो वै अग्नयो ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निश्च । ये च क्रमेण शुभाशुभविवेकं, रूपाणां दर्शनं खाद्यपीतादीनां पाचनं च कुर्वन्ति ।

(५३) त्रीणि च स्थानानि भवन्ति मुखे आवहनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः ।

(५४) तत्रात्मा यजमानो, मनोब्रह्मा, लोभादयः पशवो, धृतिर्दीक्षा सन्तोषश्च बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, हवींषि कर्मेन्द्रियाणि, शिरः कपालं केशा दर्भा मुखमन्तर्वेदिश्च । (गर्भ० उप० १-५)

(५५) यद्वा चत्वारोऽग्नयः ।

(५६) "तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्ररश्मि परिवृत एकर्षिभूत्वा मूर्द्धनि तिष्ठति, स च दर्शनाग्निर्नाम तस्मात्" ।

(५७) "चतुराकृति राहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति स च-शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति" ।

(५८) "अर्द्धचन्द्राकृति दक्षिणाग्निभूत्वा हृदये तिष्ठति"

(५९) कोष्ठाग्निर्नामाशितपीत लीढ खादितानि सम्यक् व्यष्ट्यां श्रपयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति" । (प्राणाग्निहोत्र उप०)

वेदों में इस 'आहुति' का संकेत 'आह्वान' उद्गान, स्तवन, गायन, ध्यान, शब्दों से किया गया है, जिनके कर्ताओं को पञ्च-पञ्च प्राणभूत या आत्माओं के नाम से निर्दिष्ट किया गया है, यद्यपि धरातलीय अभिधामूलक पदों में काव्यकर्ता ऋषि और उनकी वाणी मंत्र ही सामने प्रतीत होते हैं पर उनका वास्तविक रहस्य यही है, वह इस वातावरणीय विश्लेषण से दूसरा हो ही नहीं सकता ।

जिस प्रकार के यज्ञ का विवेचन यहां पर किया जा रहा है वह एक प्रकार का नहीं वरन् अनेक प्रकार का है। जैसे कहीं पर तीन ही—अग्नियों को मानकर यज्ञ का विवेचन दिया जाता है। उन तीन अग्नियों के नाम ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि हैं। दर्शनाग्नि रूपों का दर्शन कराती है। ज्ञानाग्नि शुभाशुभ का विवेक करती है, कोष्ठाग्नि-पाचनादि क्रिया करती है। इनके तीन स्थान हैं, मुख में आहवनीय अग्नि का निवास है, उदर में गार्हयत्य अग्नि का और हृदय में दक्षिणाग्नि का। इन अग्नियों के यज्ञ में आत्मा ही यजमान है, मन ही ब्रह्मा है, लोभादि पशु हैं, धृति और सन्तोष दीक्षा हैं, बुद्धीन्द्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियां ही हवियाँ हैं, शिर ही कपाल है, केश ही कुश हैं और मुख ही अन्तर्वेदी है ।

अथवा चार अग्नियां मानी जाती हैं। इनमें प्रथम अग्नि सूर्याग्नि है, वह सूर्यमण्डल की आकृति की, सहस्ररश्मि वाली एक ऋषिरूप में शिर में अधिष्ठित रहती है। इसी का नाम दर्शनाग्नि है। आहवनीय नामक अग्नि चतुर्मुखी

होकर मुख में निवास करती है। वही शारीराग्नि बनकर जरा पाचनदि क्रिया करती हुई दत्त या आदत्त हवियों का आदान-प्रदान करती रहती है। दक्षि-णाग्नि अर्धचन्द्राकृति के रूप की है और इस रूप में वह हृदय में रहती है। कोष्ठाग्नि को ही गार्हपत्य अग्नि कहते हैं। यह खाये, पिये, चूसे, चाटे, निगले वस्तुओं या पदार्थों को व्यष्टि और समष्टिरूप में पचाती हुई नाभिदेश में निवास करती है (५०-५९)।

(६०) अथ शारीरो योगस्य महायज्ञः ।

(६१) अत्र यूपरशना शोभितस्यात्मा यजमानो, बुद्धिः पत्नी, वेदा महर्त्विजः ।

(६२) अहंकारोऽध्वर्युश्चित्तं होता, प्राणो ब्राह्मणाच्छंशी· व्यानः प्रस्तोताऽपानः प्रतिप्रस्थातोदान उद्गाता, समानो मैत्रावरुणः ।

(६३) शरीरं वेदि, नासिकोत्तरवेदि, मूर्द्धा द्रोणकलशः ।

(६४) पादो रथो, दक्षिणहस्तः स्रुवः, सव्यहस्त आज्यस्थाली ।

(६५) श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारापोता ।

(६६) तन्मात्राणि सदस्या महाभूतानि प्रयाजा भूतान्यनुयाजाः ।

(६७) जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकौ तालुः शंयोर्वाकः ।

(६८) स्मृतिर्दयाक्षान्तिरहिंसा पत्नी संयाजाः ।

अब शारीर महायज्ञों का विवेचन दिया जाता है। इस यज्ञ में यूप की रस्सी से बंधे हुए पशु के समान आत्मा ही यजमान है, बुद्धि उसकी पत्नी है, वेदाः या ज्ञान ही उसके महाऋत्विज हैं, अहंकार उसका अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ही ब्राह्मणाच्छंशी है, व्यान प्रस्तोता है, अपान प्रतिप्रस्थाता है, उदान उद्गाता है, समान मैत्रावरुण है। शरीर वेदि है, नासिका उत्तरवेदि है, शिर द्रोणकलश है, पाद रथ है, दक्षिण हाथ स्रुवा है, बायाँ हाथ आज्यस्थाली है, दो श्रोत्र दो आघारपात्र हैं, दो आँखें आज्यभाग हैं, ग्रीवा धारापोता है, तन्मात्रा सदस्य हैं, महाभूत प्रयाजा हैं, भूतात्मायें अनुयाजा हैं, जिह्वा इडा है, दांत और ओठ सूक्तवाक् हैं; तालु शंयोर्वाक् है और स्मृति, दया, क्षान्ति तथा अहिंसा पत्नी संयाजा हैं (६०-६८)।

(६९) अथवा ॐकारो यूप, आशा रशना मनो, रथः, कामः पशुः, केशा दर्भाः ।

(७०) बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रियाणि हवींषि ।

(७१) अहिंसा इष्टयस्त्यागो दक्षिणाऽवभृथं च मरणात्तल्लीनात् ।

(७२) सर्वाह्यास्मिन्देवताः शरीरेऽधि समाहिताः ।। (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्)

अथवा—ॐकार यूप है, आशा रस्सी है, मन रथ है, काम पशु है, केश कुश हैं, बुद्धीन्द्रियां यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियां हवियां है, अहिंसा इष्टियां हैं, त्याग

दक्षिणा है, अवभृथ तल्लीनता या मृत्यु है। इस प्रकार सभी देवता इसी शरीर में सन्निहित हैं (६९–७२)।

(७३) यद्वात्मा यजमानः श्रद्धापत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हि र्वेदः शिखा हृदयं यूपः कामः आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता।

(७४) दक्षिणा (भौतिकी) वाग्घोता प्राणा उद्गाता चक्षुरध्वयुर्मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीद्।

(७५) यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिः सा यदस्य विज्ञानं तज्जुहोतीत्यादि (प्राणाग्नि० उप०)

अथवा—आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर ईंधन है, उरः वेदि है, रोएँ कुश हैं, शिखा ही ज्ञान है, हृदय यूप है, काम ही घृत है, मन्यु पशु है, तपः ही अग्नि है, और दम शमयिता। इसमें दक्षिणा (भौतिकी) वाक् होता है, प्राण उद्गाता है, चक्षुः अध्वयु है, मन ब्रह्मा है, श्रोत्र अग्नीध्र है। जो धारण किया जाता है वह दीक्षा है, जो खाता है, वह हविः है जो पीता है वह सोमपान है, जो रमण करता है वही उपसद है, जो संचरण, उपचरण, विचरण करता है वही प्रवर्ग्य है, मुख ही आहवनीय है, व्याहृति (बोलना) आहुति है, जो इसका विज्ञान है वही हवन है। इन सब को देने का मुख्य प्रयोजन यह है कि वैदिक योग की परम्परा इन उपनिषदों के युग तक अक्षुण्ण धारा में बहती चली आती रही और यज्ञ के मुख्य कर्ता केवल उक्त देवता ही हैं, न कि मानव जाति के मनुष्य। समस्त वेदों में यही वातावरण सर्वत्र व्याप्त है, उसी के अनुशीलन की प्राथमिक आवश्यकता है (७३–७५)।

(७६) योगो वै उत्तरायणे गमनमतिसृष्टौ।

(७७) सृष्टौ तु दक्षिणायने गमनम्।

(७८) 'द्वे ते चक्रे' 'द्वे सृती अशृणुवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्'।
(ऋ. वे. १०-८५-१५ १०-८८-१५)

(७९) ते द्वे अरणी ययो'र्जन्मञ्जन्मन्निहितो जातवेदाः'। (ऋ. वे. ३-१-२३)

(८०) "आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्यानं निमर्थनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥" (बृह० श्वे० उप०)

(८१) "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥" (कठ. उप०)

(८२) "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेति तामाहुः परमां गतिम्॥ (बृह. उप.)

(८३) "शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासांमूर्धानमभिनिसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥" (छा. उप)
तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि तासु व्यानश्चरति, अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्यलोकम् (प्रश्न)

(८४) "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम् । सत्त्वादधिमहानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥" (कठ०)

(८५) "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धे-रात्मा महान्परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥" (कठ०)

(८६) 'यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतति पुनस्तत्रैवायाति' सर्वं 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा. उप.)

(८७) आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषियांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

(८८) ··· ··· ···"तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ.)
"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥
(ऋ. वे. १-२२-२०)

(८९) "ता वां वस्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥'
(ऋ. वे. १. १५४-६)
(अयासोऽयनाः ; तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थ-मवभाति भूरि-–निरुक्त—२–६)
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सहा बुद्धिश्च न विचेष्टेति तामाहुः परमां गतिम् (कठ. २-२)

(९०) तस्याग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
(मुण्डक)

(९१) 'स जनास इन्द्र' ' इत्यषेद्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता (ऋ. वे. (ऋ. वे. २-१२-१) (नि० १०-१०)

योगप्रक्रिया में दक्षिणायनीय भौतिकात्मीय त्रिपञ्चकीय अन्धकारमय रात्रिरूप प्राणों के द्वारा उत्तरायणीय पूर्वार्द्धीय अमृतज्योतिर्मय लोक में जाना या अतिसृष्टि करना अर्थात् उन प्राणों में उनके देवतारूप ज्योतियों को अरणीयों से अग्नि को उद्दीपित करने के समान जागृत करना या उद्दीप्त करना पड़ता है। अतः इस योग (त्रिपञ्चक आत्माओं का संघर्षीय योग) को अतिसृष्टि या सृष्टिप्रक्रिया के विपरीत क्रम की सृष्टि कहते हैं। सृष्टिप्रक्रिया में इसके विपरीत उत्तरायण या पूर्वार्द्ध से दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध की ओर ही विकास चलता है। इन दो प्रकार की सृष्टियों को वैदिक ऋषियों ने द्वे स्रुति या द्वे चक्रे (दो मार्ग, दो अयन या दो चक्र) नामों से पुकारा है। इन दो चक्रों, पाटों या मार्गों को दो अरणियाँ समझिए। इन्हीं को देवमार्ग (उत्तरायण) तथा पितृ और मनुष्य (तत्त्वों) का मार्ग (दक्षिणायन) कहते हैं। इन दो अरणिरूप रूप दो मार्गों में जातवेदा नामक ज्ञान और चेतनामयी अग्नि जन्मजन्मान्तरों तक एक ही रूप में सदा विद्यमान रहती है।

योगी लोग दक्षिणायनीय भौतिकात्मीय आत्मा को अधरारणि और पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृतीय ज्योतिरूप ओंकार नामक तत्त्व को उत्तरारणि बनाकर उन्हें ध्यानादि प्रक्रिया से निर्मथित करके उससे देव रूप ज्योति का विकास या अतिसृष्टि करके उसकी अनुभूति में नित्य मग्न रहते हैं। ध्यानादि प्रक्रिया में प्राण तत्त्व तो ऊपर की ओर और उसे अपान नीचे की ओर खींच कर ये दोनों देवासुरों के समुद्रमन्थन की प्रक्रिया को दुहराते हुए से मध्यस्थित समान रूप वामन की प्रादुर्भूति करके विश्वेदेवताओं की उपासना में लगा देते हैं। इस प्रक्रिया में नाडियों और कुण्डलिनी को स्ववश में लाना पड़ता है। हृदय में १०१ मुख्य नाड़ियां हैं, उनमें से एक कुटिलमुखी सुषुम्ना ऊर्ध्वगामिनी है, उसी के द्वारा प्राणापान के द्वन्द्व में जब प्राण विजयी होकर ऊर्ध्वगमन करने में समर्थ होता है तब वह अमृत तत्त्व की प्राप्ति कर सकता है, अन्य नाडियाँ इसी की ज्योति से स्वयं जगमग सी हो जाती है। वैसे नाड़ियों की संख्या बहुत अधिक है। १०१ नाडियों में से प्रत्येक में ७२००० नाडियाँ हैं जो सब मिलकर ७२००७२० हो जाती हैं। इनमें मुख्यतः व्यान प्राण का संचार होता है। जिसके जैसे कर्म पुण्य, पाप, उभयात्मक-हों उसे वैसा ही लोक मिल सकता है। ऊर्ध्वगामी प्राण उदान या तेजः स्वरूपी होकर ऊर्ध्वगमन करता है। इस प्रकार जब पञ्चपञ्च त्रिविध प्राण निश्चल हो जाते हैं, मन भी अविचल हो जाता है, बुद्धि भी चेष्टाहीन हो जाती है, तब ऐसी स्थिति को 'स्थिरा धारणा' या 'परमगति कहते हैं।

इस 'परम गति' या 'स्थिरा धारणा' की प्राप्ति एकदम नहीं हो जाती। इनकी कई सीढ़ियाँ है। इन्द्रियों से मन परे है, मन से सत्व, सत्य से महत् नामक आत्मा; महत् आत्मा से अव्यक्त और उस अव्यक्त से पुरुष या त्रिपादामृत की ज्योति जिसका कोई लिङ्ग या रूप या शरीर नहीं होता। अथवा-इन्द्रियों से उनके अर्थ या गुण परे हैं, उनसे मन परे है, उससे बुद्धि परे है, बुद्धि से महत् आत्मा परे है, उससे अव्यक्त परे है, उससे परे पुरुष है। इससे आगे अनुभूतु होने योग्य कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं। अतः यही योग की पराकाष्ठा है, इसी को 'परागति' या 'परम गति' या 'स्थिरा धारणा' कहते हैं। ये सब तत्त्व मनोब्रह्माण्ड रूप हैं, इनका बन्धन उस पुरुष की डोरी से है, यह मन उस डोरी में एक पक्षी की तरह बँधा हुआ है, अतः इस मन को 'प्राण-बन्धनं हि मनः' कहा जाता है। मन रूप पक्षी इस डोरी से बधा रहते हुए जहाँ जहां जाता हैं वह इसी रस्सी से बँधा हुआ सा जाता है, इधर उधर भटकने के पश्चात् वह पक्षी की तरह वहीं अपने निश्चित प्रबद्ध स्थल में आ जाता है।

हमारा यह शरीर एक रथ के समान है। आत्मा इस रथ का अधिष्ठाता स्वामी है, बुद्धि इस रथ का सारथि है। मन घोड़ों के मुख में बँधी लगाम या रस्सी है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इन इन्द्रियों के जो विषय हैं उनका यह आत्मा मन के द्वारा उपभोग करता है, यह विचार औपनिषदिक ऋषि मनीषियों या योगियों का है। बड़े दु:ख के साथ लिखना पढ़ता है कि आधुनिक विद्वान् भोक्ता पुरुष को योग का पुरुष न समझ कर, सृष्टि विकास का मानकर, सांख्य योग का खण्डन करते हुए अपनी ऐसी बडीभारी भूल का प्रत्यक्ष उद्घाटन कर उपहासास्पद बनने का श्रेय लेते हैं। ध्यान रहे पुरुष या सोम का भोक्ता नाम इसी योग का अपना पृथक् नाम है। जब योगी सोम का पान करता है तो सोम भी उस योगी के आत्मेन्द्रियमन आदि का भोग करता है, यह भोग सब करते हैं, आत्मेन्द्रिय मन भी सोमपान की उन्मादकता रूप भोगपाये बिना नहीं रह सकते। इस उपभोगावस्था का ही नाम विष्णु का 'परमं पदं' या 'परा गति' कहा जाता है। ऋग्वेद के ऋषि-मुनियों ने भी इसी भाव को लिखा है कि मैं उस लोक के प्रासादों को प्राप्ति की कामना करता हूँ जहाँ पर प्राण रूप गायें अयनवृत्त के मध्यस्थल में अनेक शृंगों या किरणों से शोभायमान रहती हैं, जिसको प्रसिद्ध देवता विष्णु या आनन्दवर्षण शील देवता का अतीव विराज-मान परम पद कहते है। यह 'परम पद' परार्द्धच या यहाँ योग पक्ष होने से पूर्वार्द्ध के समीप का संकेतक है। ऋग्वेद १-२२-२०,२१ ने तो स्पष्ट लिखा है

कि इस परम पद को समिद्ध करने वाले, जागृत करने वाले योगी यति अपनी समाधि में वैसे ही स्पष्ट देखते हैं जैसे हम खुली आखों से आकाश में ज्वलन्त सूर्य को देखते हैं। कठ उपनिषद् ने स्पष्ट कह दिया है कि परमपद या परमा गति नाम प्राणों की योग की वह स्थिति है जब सब प्राण स्थिर हो जावे, केवल आत्म दीप मात्र जलता रहे।

उस योग यज्ञ पुरुष का शिर तो पूर्वार्द्ध रूप गायत्री का पति अग्नि देवता है, सूर्य और चन्द्रमा दो ब्रह्माण्डीय आंखें हैं, दिशायें श्रोत्र हैं, विवृता या निरुक्ता वाक् वेद या ज्ञान ज्योति हैं। वायु उसका प्राण है, अखिल विश्व उसका हृदय है, उत्तरार्द्ध उसके पांव हैं और वह स्वयं सर्वभूतात्माओं का अन्तरात्मा सर्वाभ्यन्तरीय पञ्चम कोश हैं। अन्य कोशों को अन्नमय प्राणमय ज्ञानमय तेजोमय आदि कहते हैं। इस प्रकार के वर्णन या 'सजनास इन्द्रः' के सम्बन्ध की जैसी गाथायें उन ऋषियों की आभ्यन्तर अनुभूतियों का सत्य वर्णन आख्यान रूप में देती हैं। (७६—९१)

(९२) प्रयाजानुयाजोपयाजा वै देवास्त्रैष्टुभैश्च्छादसाक्षरैस्त्रयत्रिंशत्।

(९३) तेषामेकादशाक्षरभागास्त्रयाणां पञ्च वा त्रयोवा नव वान्येषाम्।

(९४) आग्नेया वा छान्दसा वार्तवा वा ते सर्वे। (ऐ. ब्रा. २-१८)

(९५) ते सर्वे चात्मानस्तस्मादात्मान एव प्रयाजानुयाजोपयाजा "अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्यदेवमृत्विजम्, (श. प. ब्रा. ११-१-६ शा.)

(९६) देवा वै स्वयं होत्रादयो 'होतारं रत्नधातमम्।" (ऋ. वे. १०-५०-८, ९
"अहं होता न्यसीदम्" (ऋ. वे. १०-५२-२)
"अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।"
(ऋ वे. १०-५२-४)

(९७) अवान्तरदिशो वै पत्नी संयाजाः द्वौ बाहू द्वावूरू च।

(९८) पञ्चपञ्चप्राणा वै प्रयाजाः।

(९९) सूर्यसोमावाज्यभागाववाङ्प्राणः स्विष्टकृत्।

(१००) त्रीणिशिश्नानि त्रयोऽनुयाजाः।

(१०१) याज्यानुवाकः मासं हविरेताः षोडशाहुतयः षोडशकलस्य।
(श. ब्रा. ११-१-६-२६ से ३५ तक)

(१०२) तद्यावन्ति वै तत्वानि वा यावन्तो वा देवाः सर्वे योगिनो वियोगिनश्च ते।

जब योगपक्ष में प्रयाजा अनुयाजा और उपयाजा रूप ऋत्विजों का वर्णन या विधान दिया मिलता है तो वहां पर प्रायः त्रिष्टुप् छन्द के ११,११, अक्षर

रूप तत्वों के तीन पादों को ही प्रयाजा अनुयाजा उपयाजा और कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक की संख्या ११,११ है, सब मिलकर कुल ३३ प्रसिद्ध देवताओं के सम्मिलित योग यज्ञ का वर्णन देते हैं। इन्हें छान्दस देवता रूप प्रयाजा-नुयाजोपयाजा कहते हैं। इन्हीं को आग्नेय प्रयाजानुयाजोपयाजा भी कहते हैं। परन्तु इन ऋत्विजों का वर्णन ऋतुसंख्यामुसार भी दिया हुआ मिलता है, और ऋतुओं की संख्या ५, ६, ७, तक मानी गई है। इतनी ही संख्या के ये ऋत्विज भी माने जाते हैं; कोई कोई इनकी गणना बृहती के छन्दाक्षरों में करके प्रत्येक दल के ऋत्विजों की संख्या ९, ९ भी मानते हैं। ये सब प्रकार के ऋत्विज तो आत्मा रूप हैं; अतः ये प्रयाजानुयाजोपयाजा सब के सब आत्मा रूप तत्त्व ही हैं। ये आत्मायें स्वयं देवता रूप हैं, अतः इनको यज्ञ का देवता ऋत्विज, होतारः कहा है। कहीं अग्नि को ही यज्ञकर्ता-पञ्चयाम त्रिवृत सप्ततन्तु रूप यज्ञ का कर्ता कहा है, कहीं 'मैं ही होता हूँ' वाक्य भी स्पष्ट दिया है। इसी को भूतात्मा रूप रत्नधातम या रत्नधारणकर्ता भी कहा गया है। अवान्तर दिशाओं का इन देवताओं की पत्नियां बताया है।

पञ्चप्राण भी प्रयाजा है, सूर्यसोम आज्यभाग है, अवाङ् प्राण (अपान) स्विष्टकृत् है। तीन शिश्न (उत्तरार्द्धीय तीन पाद) भी तीन अनुयाजा कहलाते हैं। याज्यानुवाक मांस है, षोडश आहुतियां हवि हैं। इस प्रकार जितने भी देवता हैं वे सब के सब योगी भी हैं और वियोगी या सृष्टिकारक भी हैं। (९२–१०२)

(१०३) तस्माद्योगे 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोः द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्॥

वेदों में अधिकांश ऐसे मंत्र हैं जिनमें केवल योगपरक अर्थ ही प्राप्त होता हैं। व्याख्याकारों ने उनका अर्थ भी घसीट कर सृष्टि सम्बन्ध में घटित करके समझने वालों को यह समझने और मानने को विवश कर रखा है कि वेदों में सचमुच में बहुत सी वेतुकी और अनर्गल बातें अवश्य लिखी गई हैं। पर वात बिलकुल इसकी उलटी है। वेदों के ऐसे मन्त्रों का जो वास्तविक भाव है वह इनके पल्ले ही नहीं पड़ा है, उससे ये लोग नितान्त अनभिज्ञ और बहुत दूर भटके हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कुछ मंत्रों को दिया जाता है। पुरुष सूक्त के 'चन्द्रमा मनसो जात' इत्यादि कई ऋचाओं का लक्ष्य योग सम्बन्धी अतिसृष्टि का विवेचन देना हैं और दिया भी है। व्याख्याताओं ने

इनको बिलकुल नहीं समझा है :—प्रस्तुत मंत्र में लिखा है कि मनः से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। यह मनः योगी का मनः है जो योग द्वारा इस मनः से इस मनः के देवता चन्द्रमा की उद्दीप्ति करता है, इसी प्रकार वह अपने चक्षुः या चाक्षुष आत्मा से सूर्य नामक तत्त्व की जागृति करता है, प्राण नामक आत्मा से वायुः, मुख या वाक् से अग्नि और इन्द्र, नाभिः या मध्य स्थान से अन्तरिक्ष आत्मा सेतुर्विधरण, योग के शिर या पूर्वार्द्ध से द्यौ, श्रोत्र से दिशायें और लोक, (चतुर्थ) पाद से भूमि। इत्यादि। यहां पर मर्त्य प्राणों से—मनः चक्षुः, प्राण, वाक्, नाभिः, शिर, श्रोत्र और पाद से अमर्त्य या देवता नामक तत्त्व—चन्द्रमा (सोम) सूर्य, वायु अग्नि (इन्द्र भी) अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशः, और भूमि (उत्तरार्द्ध) क्रमसे उत्पन्न हुए या जागृत या दीप रूप में उद्दीप्त हुए। ये सब सृष्टियाँ अतिसृष्टियाँ हैं जिन्हें योगी अपने इसी शरीर के मर्त्य प्राणों से और द्वारा, इन अमृत या अमर्त्य देवताओं को जागृत या उद्दीप्त करके इनकी आत्मीय ज्योति के सागर में आनुभूतिक ज्योतिष्मती डुबकियों में मग्न रहता है। कहाँ तो वेद मंत्रों का यह साक्षात्कार करने का अर्थ है, कहां इन व्याख्यातारों का वह मनहूस अर्थ ? जिसका यहां कोई सम्पर्क भी नहीं है। इन ऋचाओं का तथा ऐसी अन्य हजारों ऋचाओं का (जैसे ऋ वे. १–५०-पूरा सूक्त) कोई दूसरा अर्थ है ही नहीं, केवल यही योगपरक अर्थ है, यह निर्विवाद वस्तु है, ज्ञान मार्ग हठ मार्ग से दूर रहना चाहिए। यह तो योग मार्ग है। इसी प्रकार के कई और सूक्त हैं जैसे ऋ. वे. ४–२६, १०–४८, १०–४९, १०–१२५, ४-४२, १०–१५९, १०–१८३ इत्यादि। इनमें योग-मार्गी अतिसृष्टि के अतिरिक्त और कोई दूसरा विवेचन नहीं है (१०३)।

(१०४) "तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥"
(ऋ. वे १·२२-२१)

(१०५) "कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन सत्यं नासत्योपयाथः।"
(१-३४·९- ऋ. वे.)

(१०६) "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरितं परितस्थुषः रोचन्ते रोचना दिवः।"
(ऋ. वे. १·६ १)

(१०७) 'युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विवक्षसारथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा।'
(ऋ. वे १·६-२)

(१०८) 'स घा नो योग आ भुवदिति' (ऋ. वे. १ ५-३)

(१०९) 'यस्मादृते न सिद्धयति यज्ञो विपश्चित चना स धीनां योगमिन्वति'
(ऋ. वे. १-१८·७)

(११०) 'योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवा महे । सखाय इन्द्रमूतये'
(ऋ. वे. १-३०-७, यजु ११·१३)

(१११) 'युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥'
(यजु. ११-२)

(११२) 'युक्ताय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यत सविता प्रसुवाति तान् ।' (यजुः ११-३ श्वेताश्व. उप.)

(११३) 'युजे वां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।'
(ऋ. वे. १०-१३-१)

(११४) 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।'
(यजुः ११-५ श्वे. उप.)

(११५) योगो वै क्षेम; क्षेमो वै यज्ञो वा । (ऋ. वे. ५-८११, श्वेताश्व उप, यजु. ११-४)

(११६) योगिनो वै 'मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला' इत्यादि ।
(ऋ. १०-१३६-२३३)

(११७) यद्वा योगिन एव 'यतयो मुनयो वा 'येषामिन्द्रो मुनीनां सखा ।
(ऋ. वे ८-१७-९४)

योग के इसी प्रकार के वातावरण या विवेचन देने वाले कुछ संकलित मंत्रों का अर्थ भी यहाँ उदाहरणार्थ और पक्ष पुष्ट्यर्थ और दे दिया जाता है इनमें योग प्रक्रिया के वर्णन के साथ साथ योग दर्शन का नाम और व्युत्पत्ति भी दी गई है, जिन मन्त्रों में से कई को उपनिषदों और अन्य संहिताओं ने केवल योग दर्शन की प्रक्रिया और सन्दर्भ में उद्धृत कर यह प्रमाणित कर दिया है कि वेदों में योग का छलछलाता सागर है । जैसेः-ऋ. वे. १-२२-२१ में लिखा है कि (हमारे योगी ऋषियों के) प्राण रूप योगी ऋषि जागृत रहकर योग प्रक्रिया में संलग्न होकर विष्णु के उक्त परम पद को समिद्ध करते हैं या उद्दीप्त करते हैं । यहाँ की उद्दीप्ति पिछले परिच्छेद में वर्णित प्राणों द्वारा अपने आत्मा रूप देवताओं की अतिसृष्टि करना ही है, अन्यत् कुछ नहीं, यह स्वयं स्पष्ट है। इसी प्रकार १-३४-९-में पूछा है बतलाइये कि कब वाजिनो या प्राण का योग, रासभ के या रसमय ब्रह्म के साथ हो सकेगा, जिससे हे नासत्य ! तुम उस सत्य नामक अमृत तत्त्व या विकासमय यज्ञ या यज्ञस्थल को प्राप्त हो सकोगे ? 'युञ्जन्ति ब्रध्न मरुषं' इत्यादि का अर्थ तै. ब्रा. (३-९-४) ने स्वयं दे रखा है जिसका आशय स्पष्ट है कि ब्रध्न नाम के आदित्य से या सूर्य तत्त्व से अरुष नामक अग्नि और चरितं नामक वायु

देवता, परितस्थुष आसन वाले इन ऋषियों से संयुक्त या संबद्ध हो जाते हैं। तब इनके शरीर के आभ्यन्तर लोकों में स्वर्गीय ज्योति बिखर पड़ती है; यह साक्षात् रूप से योग क्रिया का ही वर्णन है। इसी प्रकार का आशय अन्यत्र काम्या हरी या मर्त्यामर्त्य प्राण रूप अश्वों को उस ब्रध्न नामक सूर्य तत्त्व से संयुक्त करते हैं, करके लिखा है। साथ में यह भी कहा है कि इन दो प्राणों को अगल बगल में जोता गया है; जब ये नर नामक विश्वानर सूर्य को वहन करते हैं तब वे रक्त वर्ण के तेजोमय प्रकाशज्योतिर्मय तेजोवती वाक् के लोहित वर्ण वाले से लगते हैं। 'स घा नो योग आभुवत्' में तो स्पष्टतया प्रार्थना की है कि वह इन्द्र हमारे योग में साधक हो या साध्य हो इत्यादि और १-१८-७ के मंत्र में तो ब्रह्मणस्पति के बारे में लिखा है कि उसके बिना तो कोई योगादि यज्ञ सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह ज्ञानमय तत्त्व है, सब प्राण ज्ञानमय होते हैं, उनका योगसाधक यही एक देवता है। १-३० ७ के मंत्र में तो और अधिक स्पष्टता है कि हम प्रत्येक योग प्रक्रिया मे प्रत्येक यज्ञ में तेरा आह्वान करते हैं, क्योंकि तुम्हीं बलशाली संरक्षक हो, आभ्यन्तर योग यज्ञ में हम तुम्हारे बल या शक्ति की, तथा ब्राह्म यज्ञ के ब्रह्मोद्य में वाग्यज्ञ के बल की मुहुर्मुहुः प्रशंसा करते हैं। यजुर्वेद (११-२) ने तो योग की प्रक्रिया को 'सवे' य 'प्रसवे' या अतिसृष्टि के रूप में देकर लिखा है कि 'हम एकाग्र मन से सविता देवता की अतिसृष्टि स्वर्गीय शक्ति या ज्योति के लिए करते हैं'। फिर ११-३ में कहा है कि सविता देवता योग द्वारा स्वर्ग की ओर जाते हुए प्राणों को उनके देवताओं से सम्बद्ध करके स्वर्गीय ज्योति उत्पन्न कर के, फिर उन उन देवताओं की ज्योतियाँ जगमग कर देता है (प्रसुवाति तान्)। आगे ११-५ में यम को योग की पथ्या का मार्गदर्शक कह कर लिखा है कि हम तुम्हारी जागृति का योग करते हैं और ११-४ में तो योग प्रक्रिया का स्पष्ट व्याख्यान दिया है। लिखा है कि वैदिक दार्शनिक योगी ऋषिगण ज्ञानमय बृहद्ब्रह्माण्डमय तुम्हारी अनुभूति के लिए अपने मन तथा प्राणों (धियः) का योग करते हैं। यजुर्वेद के ये मन्त्र एकही क्रम में है, अतः यहाँ का पूरा वातावरण ही योगमय है, इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं हो सकता।

वेदों में योग का नाम 'योग क्षेम' भी है क्योंकि योग ही कल्याण या श्रेयः की एकमात्र प्रक्रिया है जैसे 'योगक्षेमो नः कल्पन्ताम्' (यजु. २२-२२)। यजुर्वेद ने इसी उपक्रम में प्राणादि पञ्चप्राणों, तथा वागादि पञ्चप्राणों, दिशादि देवताओं, आपः, वाताः अग्निप्रभृति, नक्षत्र आदि समस्त देवताओं का आवाहन किया है। ऋग्वेद (७-५४-४) ने 'पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं

पात स्वास्तेभिः सदा नः' में योग और क्षेम दोनों को पृथक् पृथक् कहा है, पर ये यहाँ पर क्षेम नाम यज्ञ अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं, योग क्षेम माने तब 'योग यज्ञ' स्पष्टतया हो जाता है। यही भाव ऋ. वे (७-८६-८) में "शं नः क्षेमे शमु शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः, सदा नः" में दिया हुआ मिलता है। ऋ. वे. (१०-१६६-५) में भी 'योग क्षेम' शब्द एक साथ योग यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होकर यह भी स्पष्ट घोषणा करता है कि मैं तुम्हारे योगयज्ञ या योग क्षेम को करके तुम्हारे मूर्धन्य रूप को अतिक्रमण कर सकूं या पहुँच जाऊं जिससे मैं उत्तम ज्योतिका बन जाऊं। "योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयास-मुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम् ॥"

वेदों में योगियों के नाम मुनि और यति दिये गये हैं जिनको गन्दे कपड़े रूप मर्त्य भौतिक शरीरधारी भी कहा गया है। 'उनके दैवी तेजस्वी ज्योति-रूप दिव्य शरीर में मर्त्य भौतिकात्मीय शरीर कृष्ण वर्ण का या गन्दा सा प्रतीत होता है, यह लिखकर जितनी अद्भुत उपमा दी है उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। "मुनयो वात रशनाः पिशङ्गा वसते मला। वातस्या नु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत"॥ "अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्। मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥" "वातस्याश्वो वायोः सखाथ देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥" (ऋ. वे. १०-१३६-२,३,४)। 'इन्द्रो मुनीनां सखा' (ऋ. वे. ८ १७-१४)। इन मन्त्रों में योग की प्रक्रिया का जितना दिव्य वर्णन हो सकता है वह सब उपलब्ध है। इनमें उन मुनियों को भौतिकात्मीय कृष्ण या मलिन वस्त्र रूप शरीरधारी ही नहीं कहा गया है वरन् वातरशना, वातस्य अश्वा, वायोः सखा, देवस्य सौकृत्याय सखा, 'अन्तरिक्षेण पतति' सब रूपों को प्रकाश में से देखने वाले और दोनों समुद्रों-पूर्वार्द्धीय अमृत और उत्तरार्द्धीय मर्त्य—को पार करने वाला बताया गया है। यह भी कहा है कि ऐसे ही मुनि देवताओं को प्रिय या इष्ट हैं।

वेदों में योगियों के 'यति' नाम के प्रमाण ये हैं "तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्व चित्तये। येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्व माविथ॥" (ऋ० वे० ८-३-९)। "य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥" (ऋ० वे० ८-६ १८) (१०४ से ११७)।
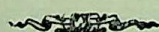
अध्याय २ पाद २

अथातः प्रायोगिको योगो योग नद्रा च

(१) 'एको देवः प्राणः स ब्रह्म' (बृह. उप. ३-९)

(२) स त्रिवृन्मनोवाक्प्राणानाम् ।

(३) त्रिवृद्वै त्रयी ब्रह्मरुद्रविष्णूनां ते 'त्रयोदेवास्त्रयो लोकाः' ।

(बृह. उप. ३ ९)।

(४) मनो वै ब्रह्मा वाग्रुद्रः प्राणो विष्णुः ।

(५) मनो वै ब्रह्मा वाग्घोता प्राण उद्‌गाता सृष्टावतिसृष्टौ (योगे) च ।

(६) ब्रह्मा स्वयं सृष्टियज्ञस्य ब्रह्मा पुरोहितो रुद्रो होता विष्णुरुद्‌गाता वा यस्माद्य उरुगाय इति नाम्ना प्रसिद्धश्च ।

(७) यद्वा चन्द्रमा वै ब्रह्माऽग्निर्होता प्राण उद्‌गाता वा ।

(८)-(क) मनो वा चन्द्रमा वा ब्रह्मा वा प्रजापतिः सृष्टिकर्ता सविता संचालकश्च ।

अब यहां से प्रायोगिक योग और योगनिद्रा पर विचार किया जाता है ।

देवता तो केवल एक है, उसका नाम प्राण है, उसी को ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है । वह त्रिवृत् है, जिसमें मनः वाक् और प्राण तीनों एक साथ हैं । इसी त्रिवृत् का नाम त्रयी या ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु है । इन्हीं को तीन देव या तीन लोक कहते हैं । इनमें से मनः तो ब्रह्मा है, वाक् रुद्र है और प्राण विष्णु है । यज्ञविधान में (योग में भी) मन को ब्रह्मा ऋत्विज, वाक् को होता और प्राण को उद्गाता कहते हैं । उक्त नाम के ऋत्विज सृष्टियज्ञ और योगयज्ञ दोनों के हैं । इस प्रकार ब्रह्मा देवता ब्रह्मा नामक ऋत्विज है, रुद्रदेवता होता है और विष्णु उद्गाता है । इसीलिए विष्णु का नाम उरुगाय भी प्रसिद्ध है । इनको दूसरे नामों से पुकारें तो यों भी कह सकते हैं—चन्द्रमा (मनः) ब्रह्मा है, अग्नि होता है, प्राण या मातरिश्वा उद्गाता है । यह मनः या चन्द्रमा या ब्रह्मा ही प्रजापति है सृष्टिकर्ता सविता है और सृष्टिसंचालक देवता भी है (१ से ८ (क) तक)

(८)–(ख) यद्वा ब्रह्मा योगं करोति कमलनालं विध्यति तदा स इन्द्र इदिन्द्रः स मनः स इध्मः स योगी स विहृतिद्वार भेत्ता तस्मात्स मध्यमः प्राणः सस्तनयित्नुरेवेन्द्रः' (बृह. उप. ३-९)

(९) 'अग्निर्वैरुद्रो' 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता' सः प्रथमः प्राणः सैवा'ऽग्नि-
विद्वान्यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्' ।
(ऋ. वे. १०-५२-४)

(१०) 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः' ।
(ऋ. वे. १०-८१-१)

(११) यस्मात्स सृष्टौ पूर्वान्तित्त्वान्जुहोति चातिसृष्टौ च प्राणांस्तस्मात्स
संहर्ता चैकीकर्ता वा होता वा देवानां प्राणानां वा ।

(१२) स वाक् स 'महान्देवो वृषभो रोरवीति' (ऋ. वे) स 'वाग्वै विश्व-
कर्मा ऋषिः' (श. प. ब्रा. ८ १-३-९)

जब ब्रह्मा योग करता है, कमल नाल (प्राणसूत्र) का वेधन करता है तब इसे इन्द्र या इध्म या इदिन्द्र या मनः या विद्दतिद्वार भेत्ता कहते हैं । अतः यह मध्यम प्राण है । यह वैद्युतीय शरीरी इन्द्र है, इसी को प्रजापति और यज्ञ भी कहते हैं, यज्ञ नाम पशुओं या प्राणों का है जो देवताओं को अपने शरीर में ढोते हैं ।अग्नि का ही नाम रुद्र भी है, वही सर्व प्रथम यज्ञ का तपन करता है उसके सात प्राण होतार या ऋत्विज हैं, यही सर्वप्रथम प्राण है । यही अग्नि विद्वान् या ज्ञानमय प्रकाशमय है । यही पञ्चपादों में सप्ततन्तुओं या सप्तपदों के सप्तप्राणों से अपने पूर्व त्रिवृत् सहित यज्ञ (योग या सृष्टि) का प्रथम आरम्भ-कर्ता है । इसीलिए इस अग्नि को ऋत या पूर्ण दर्शन के मौलिक रूप का प्रथमोत्पन्न तत्त्व कहा जाता है । यही अग्नि विश्वकर्मा (वाक्) की तरह अपने में निहित अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड का हवन करता है, यही पिता कहलाता (अग्नि रूप में वाक् रूप में माता) है । क्योंकि यह सृष्टिपक्ष में पूर्वार्द्धीय तत्त्वों का और योग में उत्तरार्द्धीय तत्त्वों का हवन करता है, इसीलिए इसे संहर्ता या एकीकर्ता या देवताओं का और प्राणों का होता कहा जाता है । इसी को वाक् वृषभ रूप में महादेव महान्देव और महारवकारी वृषभ भी कहते हैं ('चत्वारि श्रृङ्गा' देखें) (८ (ख) से १२ तक) ।

(१३) य उत्तमः प्राणः सः सोमः पवमानो योऽयम्पवताऽध्यर्द्धः स विष्णुः स
पुरुषोत्तमः सोऽन्तरात्मा मध्यवर्ती शरीरामृतयोः स चक्षुः स द्रष्टा स
ज्योतिः । (छा. उप. ६, बृह. उप.)

(१४) तमेव 'उद्वयं स्तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरं । देवं देवत्रा सूर्यम-
गन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ (ऋ. वे. १-५०-१०)

(१५) तमेव 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।''
(ऋ. वे. १-५०-१)

(१६) 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' (यजुः) स एव 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा जगतस्त-स्थुषश्च ।।' (ऋ. वे. १-११५-१)

(१७) 'आदित्यानामहं विष्णुः' (गी. १०-२१) स एव 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्' (ईश उप. १)

जिसको 'उत्तमः प्राणः' कहते हैं वही 'एको देवः प्राणः' है, नाना रूपों में वही सोम है वही विष्णु है, वही पुरुषोत्तम है, वही अन्तरात्मा है, वही सोमात्मा है, वही चक्षुः है, वही द्रष्टा है, वही ज्योति है। यही पवमान सोम है, इसी को अध्यर्द्ध या सबका अधिक प्यारा देवता कहते हैं। इसी को गायत्री के उपस्थान द्वारा, तमः के परे उत्तरार्द्ध के उत्तर (पूर्वार्द्ध) की ओर ज्योतिर्मय रूप में उत्तम (प्राणीय) ज्योति के देव रूप में देवयजनकर्ता ऋषिमुनि या प्राण प्राप्त होते हैं, वही जातवेदा है जिसकी प्रकाशकिरणें उसे अखिल सृष्टि को देखने के लिए सूर्य की तरह अन्तरिक्ष के ऊँचे मण्डल में ध्वजा रूप में स्थापित कर देती हैं। वही चक्षु है, देवताओं का प्राण रूप है, उसी से शुक्र रूप सोम या चन्द्रमा का रस रूप ज्योति टपकती है। इसे मित्र वरुण और जातवेद की चक्षुः कहते हैं, यह द्यावा पृथिवी और आन्तरिक्ष तीनों लोकों की एक सम्मिलित सर्वचक्षुर्मय, सर्वतः चक्षुर्मय चक्षुः है, सर्वत्र चक्षु रूप में व्याप्त है। इन सर्व वर्णनाओं के रूप में इसे सूर्य या स्थावर जङ्गम का द्रष्टा या चक्षुर्मयी आत्मा कहते हैं। गीता में आदित्यों में जिस आदित्य को विष्णु कहा गया है वह यही सूर्य या सविता या सोम नाम का ही आदित्य है, (१३ से १७ तक)।

(१८) यतः स उत्तमः प्राणः 'प्राणाश्चापोमयाः' (छा. उप, ६-५) पाता जीव-यिता पालयिता तस्मात्स पाता संरक्षिता जीवानां जीवयिता चान्त-रात्मा सृष्टेरतिसृष्टेर्वा ।

(१९) तस्य प्राणस्यापःशरीरं वा नरो नारो नृषद्वा तस्मात्स नरो वा नर-वान्वा नारायणो वा ।

(२०) या वा आपः सा वाक् तेजोवती, आत्मा तस्याः सोऽग्निः स रुद्रस्तन्मा-दग्निर्वा रुद्रो वा तस्य प्राणस्य शरीरम् । (श. प. ब्रा. ६-१-१.९)।

(२१)-(क) तस्य शरीरस्य वाचामपामग्नेर्रुद्रस्य वा पुष्करस्य समुद्रस्य कमलस्य सहस्रदलस्यवाऽदितेर्मध्ये नाभौ योनौ वै मनो वा वेधा वेन्द्रश्चन्द्रमा वा, यस्यान्नमय मदितिमयं शरीरं स्फटिकमयम् ।।

(२१) (ख–'द्वौ देवौ त्वन्नं प्राणश्च' (बृह. उप. ३-९) 'अन्नं मनः प्राणा-श्चापोमयाः' (छा. उप. ६-५) 'अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठं, श्रेष्ठः प्राणः प्राणानाम्' (तै. बृह. छा. उप.)

क्योंकि यह उत्तम प्राण आपोमय शरीरी है, जिससे यह सब को प्राणवान् शरीर देता है, जीवित रखता है, पालता है इसीलिए इसे पाता या पालयिता या संरक्षक, जीवन देनेवाला, जीवित रखनेवाला या अन्तरात्मा कहते हैं। यह बात सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों प्रक्रियाओं में एक सी रहती है। इस प्राण का शरीर आपः है जिन्हें नर या नार या नृ (ना) या नृषद् कहते हैं, और उस प्राण या वि॰णु को भी नरनारायण या आपोमय प्राणसागरवासी कहते हैं। जिन्हें आपः कहते है वही तो वाक् है, वह तेजोवती तेजः शरीरिणी है। इसकी आत्मा ही अग्नि है और जो अग्नि है वही रुद्र है। अतः अग्नि या रुद्र या वाक् ही उस प्राण का शरीर है। उस शरीर के या वाक् के या अग्नि या रुद्र के पु॰कर या समुद्र या अदितिमय वाक् के मध्य में या योनि में ही सहस्रदल कमल सम मनः या वेधाः या इन्द्र या चन्द्रमाः का अदितिमय अन्नमय स्फटिकमणिसम शरीर है। वे येही दो मुख्य प्राण हैं, मध्यम और उत्तम जिनको अन्न और प्राण कहते हैं। मनः अन्नमय है प्राण आपोमय हैं, (१८ से २१ तक)।

(२२) पूः (शरीरं) करोतीति पु॰करं (श. प. ब्रा.), सम् उत् रमत इति समुद्रः, कम् अलं वाऽलंकारं वा यस्य शरीरस्य तत्कमल, सहस्रारं सहस्रदलं प्राणानामाराणां दलम्।

(२३) (क)–तस्य सहस्रारस्य कमलस्य वेधसो नालस्यायामो विस्तारोऽनन्तोऽशेषस्तस्य शेष एव शेषो भौतिकतायास्तस्य शेषेऽन्ते शय्यायामेवोदरस्य ब्रह्माण्डस्य शेते सोऽन्तरात्मा यस्माद्वृत्रो वै अन्नमुदरमन्नादश्च (श. प. ब्रा.)।

(२३) (ख) हृदयं वै तस्य सहस्रमुखफणा यस्मादूर्ध्वगामिनी या पुरीतत्कुटिला नाडी सैव कमलनालं विद्दति-द्वारं वा।

(२४) शरीरं वै गुहा, स गुहा प्रविष्टः स गह्वरेष्ठः स गुहाहितः स गूढः।

यहाँ पर एक और ज्वलन्त सत्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आज तक किसी ने भी इस विषय पर प्रश्न भी नहीं उठाया कि ऋग्वेद में या अन्य संहिताओं में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के इतने बहुत ही कम सूक्त या मंत्र क्यों हैं और अग्नि इन्द्र सोम के इतने अधिक सूक्त क्यों है ? इसका मुख्य कारण यह है कि वेदों में इनके मुख्य प्रतिनिधि देवता क्रम से इन्द्र, सोम और अग्नि हैं जिनकी वर्णना वेदों के दो तिहाई से भी अधिक भाग, मात्रा और विस्तार में हुई है। यह सब इन्हीं ब्रह्मा विष्णु रुद्र नामक मध्यम उत्तम प्रथम प्राणों का ही वर्णन है। पुराणादिकों ने ठीक इसके विपरीत शैली अपनाई है, इनमें ब्रह्माविष्णुरुद्र के वर्णनों का

ही अथाह सागर है, पर इन्द्र सोम और अग्नि का नाम मात्र भर, ठीक उसी अनुपात में जिस अनुपात में वेदों में ब्रह्माविष्णुरुद्र का है। यह वैपरीत्य का प्रमाण उक्त सिद्धान्त की पूर्ण पुष्टि कर देता है।

पुष्कर की व्युत्पत्ति पूः नामक शरीर को रचने या करने वाला है, जो समन्तात् ऊर्ध्वगामी होकर रमण करता है वह समुद्र है, कं या आपः जिसके लिए पर्याप्त या अलंकार है वह कमल है, सहस्रार सहस्र दल रूप मनः या नाभि है, अरायें प्राणों की हैं। उस सहस्रार कमल की नाल या प्राण सूत्र का आयाम अनन्त है अशेष है, उसमें जो भौतिकता का शेषांश है उसकी आंत की शेषाकार शय्या में वह अन्तरात्मा शयन करता है। क्योंकि इस ब्रह्माण्ड में यह शेष रूप आँत ही इस शरीर रूप पृथिवी या भौतिकता की जीवनी का मुख्य कोश या उदर है, यह अन्न या भौतिकता का बना भी है, उसी अन्न का अन्नाद सर्पवत् स्व सन्तान या विकास का भक्षक भी है, इसी कारण इसे अहि अपादहस्त सर्वभक्षी कहा भी जाता है। भौतिक ब्रह्माण्ड का मूल आधार पोषक जीवन यही है, शरीर रूप पृथिवी के विकास का भार भी इसी के सिर में है। ब्रह्माण्ड शरीर के इस आंत रूप शरीर का मुख हृदय रूप अन्तरिक्ष है जो सहस्रमुख है जिससे हजारों नाड़ियां सर्वतः बहती हैं, वही इसकी सहस्र फणा हैं। इस हृदय से ऊर्ध्वगामिनी जो पुरीतत् कुटीला नाड़ी है वह ब्रह्मा या मन या इन्द्र का कमलनाल या विदृति द्वार या वेधित मार्ग है। इसी के अन्त में इस ब्रह्माण्ड शरीर की आभ्यन्तर गुहा है, वह अन्तरात्मा इसी गुहा में प्रविष्ट है, गह्वरेष्ठ है या गुहा में निहित सुरक्षित या गूढ है (२२ से २४ तक)।

(२५) शरीरं वै वेदिर्वा 'यावती वेदीस्तावती पृथिवी' (श. प. ब्रा. १-२-३-७) सा वाक् 'यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'
(ऋ. वे. १०-११४-८; बृ. उप)।

(२६) पृथिवी वै परार्द्धचा 'विष्णुः परार्द्धचः' (श. प. ब्रा. ३-१-३-१)।

(२७) तस्मिन्परार्द्धे तस्यां वेद्यां गूढः सन् स 'यज्ञो ह वै देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार' (श. प. ब्रा. १-१-४-१)।

इस ब्रह्माण्डीय शरीर ही का नाम वेदि है जितनी बड़ी वेदि है उतनी ही बड़ी भौतिकात्मा रूप पृथिवी भी है, इसी का नाम भौतिकी वाक् है, जितना बड़ा विस्तृत या व्यापक ब्रह्म है उतनी ही बड़ी यह वाक् भी है। यह वाक् रूपा पृथिवी परार्द्ध कहलाती है। विष्णु इसी का वासी है; अतः उसे भी परार्द्धच या उत्तरार्द्धीय ही कहते हैं। इस परार्द्ध रूप पृथिवी नामक वाक् शरीरिणी

वेदि में वह यज्ञ पुरुष विष्णु निगूढ रहता है, अतः कहा है कि वह यज्ञ रूप विष्णु पूर्वार्द्ध के देवताओं से निकल कर कृष्ण मृग या कृष्ण पक्ष रूप में उत्तरार्द्ध में पृथिवी या वेदि या वाक रूप शरीर में विचरण करने लगा। इसका मुख्य आशय यह है कि उस मृग को कोई दक्ष योगी योग धनु से उसे वेध कर, नहीं अपना सका। यह देवताओं की परीक्षा थी। (सू २५ से २७ तक)।

(२८) तस्मिन्परार्द्धे तु 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च'
(गीता १६)

(२९) तस्मात्कारणद 'थ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति'
(श. प. ब्रा. १-२-३-१)

(३०) सैषावस्था तस्य योगनिद्राभिधा योऽयमेवं तस्यां वेद्यां गूढः।

(३१) तस्य प्रबोधनं जागरणं वा साध्यं योगेनैव केवलम्। यतस्तदा श्रोत्रजौ द्वावसुरौ राजसं मनस्तामसं शरीरं च मधुकैटभौ नाम्ना प्रसिद्धौ दैवं मनः ब्राह्मणमेव हन्तुमुद्यतौ (दुर्गा. स. १-६७, ६८)।

(३२) तस्मात्तस्य प्रबोधनार्थायोभौ देवौ वेधारुद्रौ मनः शरीराणि (प्राणा वा) योगाभ्यासरतौ सन्तौ तमुद्बोधयत उद्दीपयतो वा ॥

(३३) एतस्मादेव योगो वै वैष्णवधर्मो विष्णुर्वा 'यत्र योगेश्वरः कृष्ण' इति प्रसिद्धः।

(३४) तौ ब्रह्मरुद्रौ तु योगिनावृत्विजो ब्रह्मा होतारौ, जरितारौ प्रयाजानुयाजौ वा योगीश्वरौ वा।

इस परार्द्ध लोक में दो प्रकार की भूत (प्राण) सृष्टि होती है जिनमें से एक को दैवी भूत कहते हैं, दूसरे को आसुर भूत। अतः यहां पर आसुर भूतों ने कहा कि यह तो हमारी सृष्टि है, यहां देवताओं का क्या काम, यह सारा भुवन हमारा ही है (वास्तव में शरीर तो है ही)। जब भूत सृष्टि प्राधान्य पाकर अपने ही को इस लोक का स्वामी समझने लगती हैं, उस समय वह प्राण रूप विष्णु उसी शरीर में वेदि में, पृथिवी में नितरां गूढ हो जाता है, तब इसी अवस्था को विष्णु की योग निद्रा कहते हैं। उसके योग से तो वे असुर जीवित हैं पर उसे प्रकट नहीं होने देते, सारा जगत् इसी स्थिति में ही है। उसका प्रबोधन या जागरण केवल योग मात्र का साध्य विषय है। योग करने का स्मरण सबसे पहले मनो रूप ब्रह्मा ऋत्विज को आता हैं, पर वह संचालक है कर्ता तो अग्नि या रुद्र या इनके प्राण हैं। इस लिए असुर, मन को ही योगयज्ञ के ब्रह्मा ऋत्विज (संचालक) को ही अधमरा कर देते हैं। इसी भाव को दुर्गा सप्तशती ने देते हुए कहा है कि विष्णु के कर्णमलोद्भूत या पञ्चप्राणों

(वाक् मनः चक्षुः प्राण श्रोत्रं) में से श्रोत्र या श्रव्य या भौतिकात्मीय आकाश के मल रूप या अप्रतिरूप या अकल्याणकर रूप से उत्पन्न दो असुर वाक् और मनः के आसुर शरीरी उठ खड़े हुए। वे मनोरूपब्रह्मा यज्ञ-संचालक को ही दबोचने दौड़े। अतः जब वाक् (रुद्र) और मनः (ब्रह्मा) दोनों पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा तो ब्रह्मा ने रुद्र या अग्नि को जागृत किया और योग द्वारा चुपके से विष्णु की शेष शय्या तक आ डटे और उसे उद्दीप्त या प्रबुद्ध या जागृत करने लगे। इस लिए अब तक के वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों का योगमार्ग वैष्णवधर्म है, इसीलिए विष्णु या कृष्ण को योगेश्वर प्रसिद्ध नाम से पुकारा भी जाता है। ब्रह्मा और रुद्र (या अग्नि) योग यज्ञ के तो मनः और शरीर या प्राण रूप ऋत्विज हैं या जरितार है या प्रयाजानुयाज हैं या योगी हैं योगेश्वर नहीं, हाँ इन्हें योगीश्वर कहा जाता है (२८ से ३४ तक)।

प्राण ही का नाम सूत्र है, इसी सूत्र का नाम विष्णु या सोम है। ब्रह्मा इसी सूत्र से अनन्त सूत्र बनाकर विश्वकर्मा या विश्व त्वष्टा कहलाता है। वह कः रूप में प्राण सूत्र के गर्भ में मनोरूप शकुनि या पक्षी के रूप में प्राणों की डोरी से जकड़ा है; अतः हिरण्य गर्भ या प्राणमय स्वर्णमय सूत्र की डोरी या गर्भ में जकडा रहता है। वह सोम या विष्णु के उस प्राणमय सूत्र को धारण किए रहता है, अतः धाता या प्राणसूत्र धाता कह जाता है, उसी से नाना रूप सृष्टि करने पर वह विधाता बन जाता है, तब वह स्वयं सूत्र धारी बनकर अन्य प्राण रूप पक्षियों को अपने मनोरूप पक्षी की डोरी में बाँधता या धारण करता है। इसीलिए कहा गया है कि मनो रूप ब्रह्मा प्राण रूप विष्णु के डोरों के बन्धन वाला है, और वही मनोरूप शकुनि अन्य प्राणरूप पक्षियों को अपनी डोरी में बाँधे रहता है। अर्थात् ब्रह्मारूप सुपर्ण के सूत्र में रुद्र, वाक्, अग्नियाँ या प्राण रूप अन्य सुपर्ण, जिनकी संख्या पांच सात आदि है, बंधे रहते हैं। यही बन्धन इनका सांसारिक बन्धन कहलाता है। क्योंकि योग में उद्दीप्ति की आवश्यकता है; अतः वह कः प्रजापति अग्नि को सदा साथ रखता है। गीता ने इसी आशय को कहने के लिए लिखा है कि सब कुछ मेरी प्राण रूप डोरी में मणियों की तरह पिरोया हुआ है। अथर्ववेद ने भी यही लिखा है, जो व्यक्ति उस प्राण सूत्र को जाने जिसमें यह अखिलकोटि ब्रह्माण्ड और जीव पिरोये हुए हैं, और जो इन ब्रह्माण्डों और जीवों या प्राणों को एक में बाँधने वाले ब्रह्मा या मनोरूप सूत्र तथा इस मनः के बन्धन के प्राणसूत्र को जानता है वही उस महत् ब्राह्मण या ब्रह्म का सच्चा ज्ञानी है। (३५ से ३७ तक)

उक्त प्राण सूत्र में बंधे ब्रह्मा और रुद्र या मनः और प्राण श्रमित और अभितप्त होकर अपना योग या साक्षात्कार करने का प्रयत्न करते हैं। मनो-रूप ब्रह्मा उस सूत्ररूप कमलनाल या पुरीतत् का वेध करने या उसके विहृति द्वार को खोलने के कारण ही वेधाः कहलाता है; वही विहृति द्वारभेत्ता इदिन्द्र या अभितप्त कर खोलने वाला इध्म नामक इन्द्र है। वही वेधाः नामक ब्रह्मा या इन्द्र रुद्र या अन्य प्राणों सहित उस सूत्र रूप नाल या पुरीतत् के आभ्यन्तर भाग से चलता हुआ उस प्राण रूप विष्णु के परम पद को प्राप्त हो जाता है जिसको वेदि रूप गुहा में निगूढ कहा जाता है। यह वेदि इन्हीं वेधा और रुद्र के एकीभूत शरीर या योगियों के शरीर में ही शरीर की अन्तिम सीमा में ही सर्वत्र व्याप्त होने पर भी वहां पर विशेष रुद्र या केन्द्रीभूत रूप में ज्ञान विवेक प्रकाश ज्योति के स्रोत रूप में ही रहती है, उसी को उन्हें उत्तप्त करके अपनी अरणियों को रगड़ करके प्रज्वलित करना पड़ता है। इस मार्ग द्वारा खोजते जाते हुए उन्हें उस तक पहुँचने की जो सात परिधियाँ बतलाई जाती हैं, वे दिखाई पड़ती या अनुभूत होती हैं। इन सात परिधियों में तीन तो उस प्राण विष्णु की सोम ज्योति से ऊपर हैं और तीन उधर ही हैं जिस मार्ग से होकर ये गये। वह प्राण रूप सूत्र का केन्द्रविन्दु या आरम्भणीय स्थान उन दोनों के मध्य में गुहा में गुप्त है।

इन्हीं तीन परिधियों को पार करने के बारे में विष्णुसूक्त (ऋ. वे १.२१) में कहा है कि विष्णु ने इन तीन परिधियों को तीन डगों से नाप लिया, उन्हें हँसी खेल में ही लाँघ लिया, पूरे योग के पूर्वार्द्ध को पृथिवी नामक भाग को आच्छादित कर दिया, जिसमें उनकी ज्योति की धूल चमचमाती चमकने लग गई; जिससे वह पृथिवी नामक भाग उनके तीन पादों की धूल की चमक से ज़गमगा उठी (अंधड़ के समान अंधेरा नहीं हुआ)। अन्य योगियों के लिए यह महा कठिन कार्य है, औरों की कौन कहे, ब्रह्मा और रुद्र के लिए भी यह मँहगा ही पड़ता है।

अध्याय २ पाद ३

योगनिद्रा

(१) अथातो योगनिद्रा ।

(२) "तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एता-वुभावन्तावनु संचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ।"

(बृह. उप. ४-३-१८)

(३) ताभ्यां वेधा रुद्राभ्यां 'त्रिः (पूर्वाः अत्रतूत्तरा एव) 'सप्त समिधः कृताः' (पु० सू०) तस्य पुरुषस्य प्राणस्य सुपुप्तस्योद्दीपनाय दर्शनायानुभूत्यै वा मार्गे मार्गयमाणे ।

(४) अत्र त्रिः (पूर्वाः) सप्तसमिधस्तु त्रिरुत्तरा एव यतो योगे 'ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराचस्ताँ उ अर्वाच आहु.' (ऋ. वे. १-१६४-१९)

अब आगे उस प्राणपुरुष की योगनिद्रा का विवेचन दिया जाता है । यहाँ पर यह निद्रा शब्द पारिभाषिक है न कि कोशानुकूल अर्थ वाला भाषा में प्रयुक्त नींद अर्थ रखने वाला । इसका आशय 'प्रशान्त महासागर' सम है । यह कोई प्राणी शरीरी नहीं है । यह तो अखिल ब्रह्माण्डव्यापी प्राणों का नित्य उर्मिमय व्याप्त सागर है । इसका एक केन्द्रविन्दु अवश्य है, वह इसके मध्य में है । अपने उस मध्यवर्ती अन्तरिक्ष या नाभि नामक चतुर्थ सप्तक वाले स्थान से जिस प्रकार महामत्स्य सागर के दोनों किनारों तक चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी उस प्राण सागर के दोनों किनारों की ओर आता जाता रहता है, जब वह पूर्वार्द्ध की सीमा की ओर जाता है तो उसे सुषुप्त कहते हैं जब वह उत्तरार्द्ध की सीमा की ओर आता है तब उसे प्रबुद्ध या जागृत कहते हैं। पूर्वार्द्ध तो केवल एकमय है उस ओर जो कोई जाय वह उसी से घुलमिल व्याप्त हो जाता है । यह प्राण भी उसी में व्याप्त हो उसी की एकता में घुल जाता है । ऐसी अवस्था को ही योगनिद्रा कहते हैं । इस प्रकार की क्षणिक योग निद्रा गम्भीर चिन्तन में लगे ध्यानमग्न व्यक्ति में भी पाई जाती है जब वह इस स्थिति में बाहरी बातें देखते सुनते हुए भी नहीं देख या सुन पाता है । उस पुरुष को दक्षिणायन की ओर लाने के लिए उन वेधाः और रुद्र (अग्नि) ने (२३) तेईस सीढ़ियाँ पार कीं । यहाँ पर जिन २३ तत्त्व रूप समिधों को उद्दीप्त करने को कहा गया है वे योग पक्ष के होने के कारण दक्षिणायन के तीन सप्तकों

के ही समिध हैं। क्योंकि यह निश्चित नियम है कि सृष्टि पक्ष में जो भाग या तत्त्व पूर्वार्द्ध या अवञ्चि कहलाता है वही योगपक्ष में परार्द्ध या पराञ्च कहलाता है, और जो सृष्टि पक्ष में पराञ्चया उत्तरार्द्ध है वही योगपक्ष में पूर्वार्द्ध कहलाता है। यहां पर जिस समुद्र की बात हो रही है वह मध्यवर्ती चतुर्थ सप्तकीय सागर है (१ से ४ तक)।

(५) अपि स स्वपिति ? न हि कदापि न हि; यदि सः स्वपेत् सर्वं सुपुप्तं मृतं च भवेत्, न कोऽपि न रुद्रोऽपि जीवेत्, का वार्ता चान्येषां लौकिकानाम्।

(६) स बृहत्पाण्डरवासा सोमो राजा नान्तः क्षीयते (बृह. उप. २-१-१)

(७) सैषैतादृशी सुषुप्तिस्तस्य भवति :—

(अ) यद्वैतन्नपश्यति पश्यन् ह्येतन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् नतु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्।

(आ) यद्वैतन्न जिघ्रति जिघ्रन् ह्येतन्न जिघ्रति नहि घ्रातुर्घ्राते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यज्जिघ्रेत्।

(इ) यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन् ह्येतन्न शृणोति नहि श्रोतुः श्रुतेः विपरिलोपोविद्यतेऽविनाशित्वान्नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात्।

(ई) तद्वै तन्न रसयति रसयन् ह्येतन्न रसयति नहि रसयितु रसयतेः विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न्नतु तद्द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्।

(उ) तद्वै तन्न वदति वदन् ह्येतन्न वदति नहि वक्तु र्वक्ते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्।

(ऋ) तद्वै तन्न मनोति मन्वानो ह्येतन्न मनुते नहि मन्तु र्मते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् मन्वीत।

(ॠ) तद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन् ह्येतन्न स्पृशति नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेः विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् स्पृशेत्।

(ऌ) तद्वै तन्न विजानाति विजानन् ह्येतन्न विजानाति नहि विज्ञातुर्विज्ञाते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद् विजानीयात्।

(ॡ) यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्......।

(ए) सलिले-एको द्रष्टा द्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः।

(ऐ) एषा अस्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः।

(ओ) 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।''

(ऋ. वे. १-१५४-६)

''तां वां वास्तू......वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि'' (ऋ. वे. १-२२-२०)

अब प्रश्न उठता है कि क्या वह प्राण सचमुच में सोता ही है? नहीं नहीं, कदापि नहीं। यदि वह सो जाय तो समस्त ब्रह्माण्ड सो जाय, मृताण्ड या मार्ताण्ड बन जाय; तब न तो वेधाः ही जीवित रह सके होते, न रुद्र ही, अन्य लौकिकों की बात ही कौन कहे। वह शुक्लाम्बर ज्योतिधारी सोम राजा कभी भी विकृत नहीं होता, सदा अक्षिति या निर्विकार या एकसा रहता है। उसकी सुषुप्ति इस प्रकार की होती है—वह सोये हुए पुरुष के समान यद्यपि नहीं देखता, पर वह देखते हुए भी नहीं देखता, क्योंकि उसके देखने का द्वार बन्द है, शरीर सुपुप्त है, वह स्वयं नहीं, वह शरीर के पर्दे के अन्दर जागृत है, ज्योतिर्मय रूप में देदीप्यमान है, क्योंकि उस द्रष्टा की दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता, वह नित्य है, अविनाशी है। दूसरी बात यह है कि उस समय वह अकेला ही है, कोई दूसरा है ही नहीं, उसने उस समय अपने को द्वितीय शरीर द्वार वान् से पृथक् कर दिया है, जब कोई दूसरा है ही नहीं तो वह देखे भी तो किसे, कोई उससे पृथक् अलग हो भी तो, शरीर है तो उसे उसने पर्वत गुहा की चट्टान सा ओट में लगा दिया है। इसी चट्टान को तोड़ना उसकी जागृति पाना है, शरीर में अपने में, उसकी जागृति की वह ओट वाली ज्योति बिखराना ही योग है, योग प्रक्रिया है। इसी प्रकार सूंघना सुनना रस लेना बोलना मनन करना स्पर्श करना जानना इत्यादि के बारे में भी समझ लेना चाहिए, उससे कोई दूसरी वस्तु पृथक् होती तो उसे सूंघता, सुनता, रसलेता बोलता मनन करता स्पर्श करता या जानता। उसकी घ्राण श्रवण रसन वचन मनन स्पर्श और ज्ञान की शक्तियों का नाश नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी और अविकारी है, वह स्वयं गन्धमय शब्दमय रसमय वाङमय मनोमय स्पर्शमय और ज्ञानमय है, अकेला है। उससे पृथक् कोई दूसरा है ही नहीं जिनकी वह अनुभूति करे। जहां पर एक दूसरे से पृथक् रहते या होते हैं वहां एक दूसरे को देख सकता है। जब इस प्राण सागर में वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म अपने प्रतिबिम्ब सहित द्वैत रूप को धारण करता है, तब कहते हैं कि यह उस प्राण सागर के दोनों किनारों में आता जाता रहता है, यही ब्रह्म लोक है। यही परम गति है, यही परम सम्पदा, परम संविदा है, यही उसका परम लोक है, यही उसका परम आनन्द या प्राणों को देने की शक्ति है। जब योगी इस ज्योतिर्मय सागर के छोर पर पहुँच जाता है तो वह अपना द्वैत भाव प्रतिबिम्ब रूप भाव खोकर उसी ज्योतिर्मय सागर में एकता पा जाता है। इसका वर्णन ऋग्वेद ने देते हुए लिखा है कि योगी (सूरयः) जन उस विष्णु या ब्रह्म तत्त्व को आकाश में दिखाई पड़ने वाले सूर्य की तरह प्रकाशमानरूप में अपनी दैवी चक्षु को खोल कर नित्य ही देखते हैं। दूसरे स्थल में लिखा है कि हम ऋषि गण उस ब्रह्म-

लोक की यात्रा करने की इच्छा रखते हैं जहां पर अनन्त शृङ्गों वाली छान्दसी और वाक् अदिति आप: रूप प्राणों के ज्ञानमय शरीर रूप धारोष्ण दूध को दुहने वाली गायें विद्यमान हैं जिसे विष्णु का परम पद भी कहते हैं इत्यादि। (५ से ७ ओ, तक)।

(७) (औ) एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

(बृह. उप. ४-३-२३ से ३२ तक)

तस्य 'एकांशेन स्थितो जगत्' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'

(गीता)

"स एकीभवति, न पश्यतीत्याहुः
,, ,, ,, न जिघ्रती ,,
,, ,, ,, न रसयती ,,
,, ,, ,, न वदती ,,
,, ,, ,, न शृणोती ,,
,, ,, ,, न मनुतइ ,,
,, ,, ,, न स्पृशती ,,
,, ,, ,, न विजानाती ,,

उसी मध्यवर्ती प्राण सागर की आनन्दमय लहरियों के एक मात्र अंश से समस्त अन्य भूत तत्त्व उपजीवित रहते हैं, उसी के एक अंश से यह आखिल कोटि ब्रह्माण्ड स्थित या निर्मित भी हुआ है। अतः भ. कृष्ण या विष्णु ने ही कहा भी है कि इस जीव लोक में जो जीवन या जीवता है वह सनातन और नित्य है, अमर है, अविनाशी है और मेरे उक्त प्राण सागर के अमृत की बूंद की एक मात्र मात्रा या अंश से निर्मित हुआ है। जब सब प्राणों का एकीकरण, संहार या ऐक्य हो जाता है तब कहते हैं कि वह नहीं देखता है, ऐक्य के कारण ही कहते हैं कि वह न तो सूंघता है, न चखता है, न बोलता है, न सुनता है, न मनन करता है, न स्पर्श करता है, न ज्ञान करता या समझता है। वहां तो सबका ऐक्य या संहार हो चुका है, कौन देखे, किसे, देखे, सूंघे, चखे, बोले, सुने, मनन करे, स्पर्श करे या समझे; वहां तो एक ही ही है, दूसरा है ही नहीं। योगी की समाधि में यही स्थिति रहती है, शरीर ही सुषुप्त सा रहता है पर उसके भीतर हजारों सूर्यों के एक साथ उदय होने के समान एकमय प्रकाश रहता है, वह सोता नहीं सदा जागृत ही रहता है अविकारी अविनाशी जो है। (७ 'औ')।

मोक्षयोग के लिए प्रस्थान—

(९) तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं (कौस्तुभश्चन्द्रकान्तमणिर्वा) प्रद्योतते ।

(१०) तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्द्ध्नोर्वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ।

(११) तदुत्क्रान्तं प्राणोऽनुक्रामति ।

(१२) प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ।

(१३) स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ।" (बृह० उप० ४-४-१, २)

(१४) 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।" (गीता ८-२१)

उस प्राण पुरुष का हृदय का अग्रभाग, या मध्यवर्ती (योगपक्ष में) नाभि (या सृष्टि पक्ष में योनि) सोम ज्योति रूप में चन्द्रकान्त मणि या कौस्तुभ मणि के समान (मनः की स्फटिक शिला में) चमकता है । जब यह पुरुष मोक्ष योग करने के लिए इस शरीर को छोड़ने लगता है तो वह इसी मणिप्रकाश के रूप में इस शरीर से निकल जाता है । यह या तो चक्षुओं के द्वारा या शिर का भेदन करके निकलता है अथवा शरीर के अन्य अङ्गों के द्वारा भी निकल जाता है । इस मणिप्रकाश के रूप के चलने पर इस मणि प्रकाश का मूलस्रोत प्राण भी साथ-साथ निकल पड़ता है । इस प्राण के निकलने पर इसके साथ अन्य सभी प्राण – वाक मनः चक्षु श्रोत्रं प्राण त्वक हस्तपादादि शक्तियां सब साथ साथ एक साथ युगपद् निकल पड़ती हैं । तब वह प्राण विज्ञान रूप केवल शुद्ध ज्ञानमय रूप का ही रह जाता है । इस स्थिति में उसके साथ एक तो उसकी विद्या या ज्ञान रह जाता है, दूसरा उसके किए कर्मों की मौलिक प्रकृति । इन्होंने ही उसको इस जन्म में पूर्व प्रज्ञा या जन्म समय के मौलिक संस्कार बन कर नये शरीर में निर्मित किया था । यह इस लिए कहा जा रहा है कि योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष पाना या पुरुषाप्ति है । सोमाप्ति के अनन्तर वरुण जातवेदा मित्र रुद्र अग्नि आदि अमृत तत्त्वों की प्राप्ति के लिए इस मधुसागर या सोम सागर को भी पार करना पड़ता है । इसे पार करने में इस भौतिकामृत सोमसागर ज्योति शरीर का भी त्याग करना पड़ता है, उसे केवल प्राण रूप में पार जाने की क्षमता है, शरीर सहित नहीं जैसा कि गीता ने भी कहा है ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥" (८—) यह योग की महती परमा गति या महापरमागति है । इसमें अमृत बन कर अमृत का आस्वादन करना पड़ता है (८ से १४ तक) ।

(१५) एकः स महासुपर्णः 'स हंसः' सः 'परमहंसो' वा ।

(१६) तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहृत्य पक्षौ संल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति । (बृह० उप० ४ ३-१९)

(१७) "शतं चैका हृदयस्य (मध्यस्थानस्य कमलस्य) नाड्य स्तासामूर्धान (कमलदण्डस्यान्तः मार्ग) मभिनिःसृतैका (यया ब्रह्मामनः, रुद्राग्नि-श्चागच्छतम्) । तयोर्ध्वमायनमृत्व (विष्णुत्व) मेति विष्वङ्ङ्न्या-उत्क्रमणे भवन्ति ।।' (छा० उप० ८-६)

(१८) तासामूर्ध्व गामिन्या सुषुम्नया पुरीतत्या कुटिलया गत्या गच्छन्त्या ब्रह्म कमल दण्डान्तर्गतया ब्रह्मरुद्रौ मनोवाचौ वा प्रयान्तौ स्वयं स्वस्मिन् रममाणं विष्णुमन्तर्मुखं तेजो रूपं प्राप्नुवतम् ।

(१९) सैषा तस्य सदा जाग्रती सुषुप्तिः ।

उस परिस्थिति में वह प्राण तत्त्व एक महासुपर्ण या परम हंस या हंस के समान शुक्ल वर्ण का है, उत्तरार्द्ध में वही कृष्ण वर्ण हंस था । जिस प्रकार श्येन या सुपर्ण आकाश में चारों ओर घूम फिरने के पश्चात् थक कर अपने पक्षों को समेट कर एक घोंसले में बैठ जाता है इसी प्रकार वह योगी की आत्मा भी या वह प्राण पुरुष भी उस मध्यवर्ती प्राण सागर के कूलों में भ्रमण करता हुआ थका मादा सा होकर शान्त बैठ जाता है । उस समय उसमें कोई कामना नहीं रह जाती, न वह तब सोता ही है । वह तब निष्क्रिय जागृति में रहता है: नितान्त इङ्गित हीन निश्चल दीपशिखा सम देदीप्यमान रहता है । इसी को 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ते' कहते हैं ।

जहां पर योगयज्ञ का मनो रूप ब्रह्मा ऋत्विज बैठा है वही हृदय है, मध्यस्थान है, नाभि है । उससे १०१ नाडियां इतस्ततः प्रवाहित होती हैं जिनमें से एक पुरीतत् या सुषुम्ना ऊर्ध्वगामिनी है जिसके द्वारा वह ब्रह्मा और अग्नि-रूप रुद्र गये थे । उसके द्वारा ऊर्ध्व को जो प्राप्त हो सकता है वही अमृतत्व या सोमत्व को प्राप्त होता है, अन्य नाडियां सर्वतः प्रवाहिणी होकर प्राणों का सर्वत्र संचार करती रहती हैं । कमल नाल रूप इस पुरीतत् या सुषुम्ना के ही द्वारा वे ब्रह्मा और रुद्र, मनः वाक् की वैद्युतीय लहरों के रूप में उस विष्णु के तेजोरूप को प्राप्त हुए जो उक्त रूप में निर्वात दीप सम निश्चल ज्योतिर्मय या अन्तर्मुख था । इसी अवस्था को उसकी सदा जाग्रती सुषुप्ति कहते हैं (१५ से १९ तक) ।

(२०) प्राप्ते विष्णौ तेजोरूपे मनो वेधा वा जातः प्रचेता, चेतयिता च प्राणानां रुद्रस्याग्नेर्वाचः शरीरस्य ।

(२१) स वेधा ब्रह्मा सविता प्रसविता (चन्द्रमा) बभूव, रुद्रस्य प्राणेषु वागग्निर्जाता रसश्च, चक्षुः सूर्यः, प्राणोवायुः, श्रोत्रं दिशश्च शब्दश्च ।
(२२) एवं ते सर्वे 'देवा यद्यज्ञं तन्वानामबध्नन्पुरुषं पशुम्' ।
(२३) 'यदबध्नन्पुरुषं पशुं तं तदा सर्वे देवाः सर्वे प्राणाश्च जाग्रता अभूवन् ।
(२४) तस्मात्सुषुप्तिर्वास्तविका तु देवानां प्राणानामेवान्तर्मुखे विष्णोर्ज्योतिषाम् ।

उस तेजोरूप विष्णुज्योति या सोम को पाकर मनः नामक वेधाः प्रचेता या चेतयिता या ससंज्ञ होकर प्राणों में चैतन्यता प्रदान करने वाला बन गया, ये प्राण रुद्राग्नि रूप शरीर के या वाक् के पृथक् पृथक् अङ्ग थे । तब वह वेधा सविता या प्रसविता भी कहलाया, यही चन्द्रमा रूप स्फटिकशिलासम मानसिक शरीर है जिसमें आदित्य रूप विष्णु का तेज प्रतिबिम्बित होता है । तभी रुद्र के प्राणों में से वाक् में अग्नि का, चक्षु में सूर्य का, प्राण में वायु का, श्रोत्र में दिशा या शब्द का प्रस्फुरण हो गया । इस प्रकार इन सब देवताओं ने अपने अपने में उस पुरुष का प्राणयिता प्राण रूप या पशु रूप प्रतिबिम्ब बांध लिया, अपना लिया । तब सभी देवता तथा सभी प्राण युगपद् जागृत हो गये । अतः सुषुप्ति तो वस्तुतः इन्हीं देवताओं की रही, उस पुरुष की नहीं ; विष्णु तो अन्तर्ज्योतिष्क होकर अन्तर्मुख था सुषुप्त नहीं (२० से २४ तक) ।

(२५) देवेषु च ब्रह्मा रुद्रौ सदा जाग्रतौ विष्णुवत् ।
(२६) यदि तौ जाग्रतौ नाभविष्यतं कुतः कथं वा विष्णोर्ज्योतिषां प्राप्त्यै वै अयतिष्यतम् ।
(२७) तस्मादेतद्यजुषाऽप्यनूक्तं भवति (३४–५५)—"सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ।
(२८) सप्त ऋषयो वै सप्त प्राणा रुद्रस्य वाचोऽग्नेः शरीरे, ते च सुप्ताः । तांश्च रक्षन्ति तेषां देवास्तेषां सदश्च त एवाप्रमादं यथा स्यात्तथा रक्षन्ति । ते च प्राणाः स्वपन्ति स्वानामपां शरीरेषु । स्वपन्त एव तास्वप्सु ते सृष्टावतिसृष्टौ चान्तर्बहिर्मुखं ज्योतिः प्राप्नुवन्ति, तादृश्यौ सृष्टीः कुर्वन्तीत्यर्थः । तेषुतेषु च तौ द्वौ देवौ ब्रह्मारुद्रौ सत्रसदौ च सदा अस्वप्नजौ च भूत्वा तान् संचालयतो जीवयतो रक्षयतश्च ।

देवताओं में भी ब्रह्मा रुद्र दोनों ही विष्णु के समान सदा जाग्रत ही रहते हैं, सदा सक्रिय, सतत क्रियाशील ही रहते हैं । यदि ये जाग्रत न होते तो किस प्रकार वे विष्णु की जागृति की चेष्टा में योगादि क्रिया करते ? इसीलिए इनके बारे में यजुर्वेद में लिखा भी है:—"सात प्राण रूप ऋषि इस अखिल कोटि

या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में निगूढ रहते हैं। इनकी रक्षा इनकी आत्मा रूप देवता पृथक् पृथक् करके इस शरीर या ब्रह्माण्ड को सुरक्षित रखते हैं। इन प्राणों के शरीर रूप आपः अवश्य में सदा सोते रहते हैं, इन्हें क्षण क्षण में स्मरण दिला दिला कर इनसे काम लिया जाता है, ये सोते सोते ही नाना लोकों के रूपाकारों में यदृच्छा नियति से परिवर्तित होते रहते हैं। इन सब में दो देवता नित्य जाग्रत रहते हैं, कभी स्वप्न या शयन का नाम नहीं लेते, वे इस शरीर या ब्रह्माण्ड के मुख्य अधिष्ठाता देवता हैं। वे ही इस शरीर या इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड को जीवित भी रखते हैं। फलतः यह स्वयं सिद्ध हो हो जाता है कि वास्तव में निद्रावस्था में रहने वाले तत्त्व यही आपः या इनके आपोमय कोश हैं, जिनके अन्दर की देव रूप ज्योतियाँ सदा जागृत ही रहती हैं, जलती ही रहती हैं। इनकी स्थिति ठीक उसी जाज्वल्यमान बल्ब के समान है जिसके बाहर एक अपारदर्शी कागज का पूरा ढक देने वाला या आच्छादित करने वाला पक्का पर्दा लगा दिया गया हो (२५ से २८ तक)।

अध्याय २ पाद ४ (अ)

योगिनां देवानाम्

(१) वाग्वै रुद्रोऽग्निर्वै रुद्रः शरीरं भूमिर्वेदिर्वा विष्णोः ।

(२) विष्णुर्वै वेद्यां रुद्रे निगूढ़ो गुहायाम् योगे ।

(३) सृष्टौ तु द्यावा वै गुहा तस्यां निगूढा वेदिर्भूमी रुद्रो वा ।

(४) वेधा वा ब्रह्मा वै मनो रुद्रस्य शरीरस्य वेद्या भूमेः पृथिव्या वाचो वा ।

(५) अष्टमूर्ती रुद्रस्तस्मादष्टभिः प्राणैः ।

(६) (क) ते चाष्टौ द्वन्द्वाः-वागग्नी, आपः सर्वौ, ओषधि पशुपती, वायूग्रौ, विद्युदशनी, भवपर्जन्यौ, चन्द्रमा प्रजापती महादेवौ ।

(६) (ख) आदित्येशानौ वै ईश ईश्वरो महेश्वरः कुमारो नवमः ।

(७) तदेतेषां प्रथमाः प्राणा द्वितीया देवा वा वसवो वाऽग्नयो वा ।

अब देवताओं का योग करने वाला शरीर कैसा है ? उनकी क्या क्या विशेषताएँ हैं ? इस पर विचार किया जाता हे । जिसे रुद्र कहते हैं वह तो वास्तव में वाक् है जो रोती है, उसकी आत्मा अग्नि है, तेजोवती है, वाक् तेजोवती होती है । यही विष्णु की भूमि या वेदि या शरीर है । वह विष्णु इसी रुद्र रूप रोदसी या भूमि या वेदि में गूढ है । यह ध्यान में रहे कि गुहा शब्द जहां कहीं भी वेदों में प्रयुक्त हुआ है वह योग प्रक्रिया मात्र का ही सूचक है । वेदों में इसका वर्णन वृत्र रौहिण शुष्ण जल आदि के तथा योगी देवताओं के सम्बन्ध में आता है । असुर इस गुहा को ढक देते हैं तो देवता उस ढकने को तोड़ फोड़ देते हैं, यही इनकी प्रक्रिया में अन्तर है योग की गुहा या वेदि यही रुद्र शरीर है । सृष्टि पक्ष में द्यावा गुहा है । उसमें यह वेदि या भूमि या रुद्र शरीर या वाक् निगूढ या मौलिक रूप में रहता है । जिसे वेधा नामक ब्रह्मा या इन्द्र कहते हैं वह उक्त रुद्र शरीर भूमि वेदि या पृथिवी या वाक् का मनः है । यह रुद्र अष्टमूर्ति है, ये आठ उसके मुख्य प्राण हैं । इन आठ प्राणों के आठ द्वन्द्व है वाक् अग्नि, आपः सर्व, ओषधि पशुपति, वायु उग्र, विद्युद अशनि, भव पर्जन्य, चन्द्रमा प्रजापति और आदित्य ईशान इन सब का सम्मिलित स्वरूप आदित्य-ईशान या ईश या ईश्वर कहलाता है । इन द्वन्द्वों के प्रथम प्रथम तो प्राण हैं द्वितीय द्वितीय उनके पृथक् पृथक् देवता, वसुरुद्रादित्य या विभिन्न अग्नि रूप आत्मायें (१ से ७ तक) ।

(८) योगी वै रुद्रः स होता संहर्ता कच्छववत्तावुभावतिसृष्टौ योगे वा (न तु मारयति संहारयति वा)

(९) स चाग्निरूपेण विरुध्यति वा विरोधयति वा स्वमनसं ब्रह्माणं स्वच्छन्दं बहिर्मुखं यदृच्छया यथाकल्पं यथाकल्पनं वा सृष्टिं कुर्वाणं स्वकीयामथ च 'युञ्जतेमन उत युञ्जते धियो' (ऋ० वे० यजु० ३७-१) योगे ।

(१०) रुद्रस्य मनसो ब्रह्मणो यादृश्यो यावत्यो वा कल्पनाः कल्पा वा तादृश्यस्तावत्यः सृष्टयः ।

(११) कदेतत्त्वमकार्षीरिति प्रश्नात्स मनो ब्रह्मा कन्नाम्ना कुत्सितनाम्ना 'क' इति नाम्ना वा प्रसिद्धोऽभूत् (ऋ. वे. १-१०५-पूरा) ।

(१२) (क) यस्मात्तेन स्वेन कल्पकेन 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखं' तस्मात्स हिरण्यगर्भः (रुद्रगर्भः) पृश्निः सम्प्रश्नश्च ।

(१२) (ख) तस्य सृष्टे 'रष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्मयः कोशः, स्वर्गो ज्योतिषा वृतः; ।।' यस्यां वसति विष्णू रममाणो रामः ।

वास्तविक योग कर्ता तो रुद्रमय शरीर है जिसमें उन उन प्राणों का एकत्र समावेश है । वही इन प्राणों का होता या संहर्ता या एकी कर्ता है, मारने वाला संहार करने वाला नहीं है । रुद्र देवता तो सबका संरक्षक पालक पोषक और शरीर धारक है । वह यह कार्य योग और सृष्टि दोनों स्थितियों में द्विमुख सर्प की तरह करता है । वह इस योग करने के लिए अपने इस शरीर में ही रहने वाले एक प्राण रूप मनः या मनोरूप ब्रह्मा को बहिर्मुख होकर यदृच्छा से अपनी मनमानी मनगढंत कल्पनानुसार सृष्टि करने से रोकता है या उसका पूर्ण विरोध कर के योग में जुटा देता है, साथ में प्राणों को भी योग में ढकेल देता है । सृष्टि पक्ष में इस रुद्र के मनः के जिस जिस प्रकार की जितने स्वरूप की कल्पना या कल्प विकल्प होते हैं उस उस प्रकार की और स्वरूप की सृष्टियां सामने आती हैं । यही मनः 'पृश्निः' या 'सर्वरूपधारी' है । रुद्र ने जब यह कहा—अरे तुमने यह कैसा कर दिया ? इस प्रश्न (कद) से कुत्सितार्थ वाची शब्द से वह 'कः' नाम से प्रसिद्ध भी हो गया । वह 'संप्रश्न' नाम से भी इसी लिए पुकारा जाता है (ऋ. वे. १०–१२९) वह कः या मनः अपनी कल्पना मय रंगीली या हिरण्यमयी प्राणमयी भौतिक बहुला सृष्टि के पर्दे से सत्य रूप सोम या विष्णु को ढक देता है, अति निगूढ कर देता है, अतः उसे हिरण्यगर्भ कहने लगे । हिरण्यगर्भ माने जो प्राण रूप विष्णु या सोम को अपने प्राण सृष्टिगर्भ में छिपा देता है । अथर्व वेद ने ऐसी प्राणमयी मुख्यप्राण गूहिनी सृष्टि को आठ चक्रों नौ द्वारों वाली अयोध्या (राम या विष्णु की) पुरी बतलाया है

जिसके अन्तर्गत पर्दे में वह ज्योतिष्मान् स्वर्गीय प्राण: या सोम या विष्णु छिपा या ढका रह जाता है, तिसपर भी वह राम उस पुरी में रमण ही करता रहता है अत: राम भी कहलाता है। (८ से १२ ख तक)

(१३) रुद्रस्याग्नेः शरीरिण्यो वाचो यद्बृहती रूपं यावद्ब्रह्म व्याप्तिरूपं तस्मादुप बृंहणादुत्पन्ना तस्यैव कल्पमयं मन एव ज्ञानमित्याचक्षते प्रज्ञा वा ।

(१४) (क) या वै रुद्रस्य नदी रूपा वाक सा 'गौरीर्मियाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी । अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥' (ऋ. वे. १-१६४-४१)

(१४) (ख) तस्यास्तक्षणाज्जातस्त्वष्टा (वाक्) सविता वा सहस्रशीर्षा वा विश्वकर्मा वा प्रजापतिश्चन्द्रमा वा-यथा —

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥'

(यजु. पु. सू.)

(१५) या वै वाक् बोधमयी वानुभूतिमयी कवियित्री रसमयी सरस्वती या प्रबोधयति प्रजनयति पालयति प्रकल्पयति सरसयति च देवान् ज्ञानरूपान् बुधान् स्वे गर्भे सा वै विद्या, तस्या वै जातश्चतुर्ज्ञानमयश्चतुर्विद्यामयश्चतुष्प्राणमयश्चतुर्मुखो चतुर्वेदमयो ब्रह्मा, प्रणवशरीरः ।

(१६) तत्र वाग्घोतर्चां चक्षुरध्वर्युर्यजुषां प्राण उद्गाता साम्नां मनः श्रोत्रं ब्रह्माऽथर्वणां ज्ञानं ददाति ।

(१७) तान्येतानि 'यस्य निःश्वसितं वेदा' इति ज्ञानान्येव ।

रुद्र रूप अग्नि की शरीर रूपिणी जो बृहती वाक है जो उतनी विशाल या व्याप्त है जितना ब्रह्म स्वयं है उससे उत्पन्न होने वाले कल्पनामय मनः को ही ज्ञानं या प्रज्ञा या प्रज्ञानं या विज्ञानं नाम का ब्रह्म कहते हैं। जो उस रुद्र का गौरी नाम का आपोमय प्राणमय शरीर है नाना प्राणमय नदियों में प्रवाही है और एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी रूपिणी हो कर सतत क्रिया मयी रहता है उससे तक्षित या निर्मित होने से उस मनः को सविता नामक त्वष्टा या तक्षक भी कहते हैं जैसा कि यजुः ने भी कहा है कि प्रजापति अग्नि तो अजायमान रूप में गर्भ में रहता है पर त्वष्टा गौरी देह उसको नाना रूपों के गर्भों में भरती जाती है। इसी त्वष्टा को चन्द्रमा या विश्वकर्मा वाक् भी कहते हैं। यहां पर ज्ञान और बोध में अन्तर जानना आवश्यक है। ज्ञान तो स्वतः प्रकाशमान, उद्दीपित करने की प्रतीक्षा में रहता है, बोध में उसकी उद्दीप्ति से उस ज्ञान की अनुभूति प्राणों में भिन्न भिन्न रूपों में

की जाती है। ज्ञान सब प्राणों की एक सामूहिक ज्योति है, प्राणों में इसकी सामूहिक ज्योति नहीं वरन् अपनी अपनी ज्ञेय शक्ति के अनुरूप अनुभूति होती है। देखना सुनना बोलना स्पर्श करना चखना सूंघना बोध हैं। मन में इनका ज्ञान है। अतः जिस वाक् को बोधमयी अनुभूति रूप ज्ञानमयी कवियित्री रसमयी सरस्वती कहते हैं जो प्रबोधन प्रजनन, सरसन, वाली है देवताओं को जागृत करती है गर्भ में रखती है बोधमय बनाती है उससे चतुष्प्राणमय चतुर्ज्ञानमय या चतुर्बोधमय चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि होती है इन्हीं के दैवी बोध को विद्या था ऋग्यजुः सामाथर्व कहते हैं। इसमें वाक होता ऋक् है, चक्षु अध्वर्यु यजुः है, प्राण उद्गाता साम है और मनः या श्रोत्रं ब्रह्मा या अथर्व है। इसीलिए इन सब से युक्त उस पुरुष के निश्वासों या प्राणों को ही वेद या विद्या कहते हैं क्योंकि ये सब उस ज्ञानमय के ज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं (१३ से १७ तक)।

(१८) योऽयं बृहत्याः पुत्रो ब्रह्मा स एव वेधा इदिन्द्रो महायोगी निरोधितः सन् रुद्रेण।

(१९) गौर्या पुत्रो ब्रह्मा तु सहस्राक्षरं ब्रह्मा सात्विकतामसीसृष्टिकर्ता।

(२०) या गौरी सैव महाकाली रुद्राग्निजिह्वा रुद्रात्मवती योगमयी, योगेन विष्णो र्ज्योतिषामाप्त्यै सर्वान्प्राणान्देवाँश्च संहर्तुं वैकीकर्तुं वा प्रसारयन्ती लोलाग्निरुद्रजिह्वाम्। मुण्डमाला चास्याः प्राणानां योगिनां च माला। तस्या गौर्या देहोद्भूतैव महालक्ष्मीः (दुर्गा स. श. ५) यदनन्तरं 'कृष्णा' भवति सैव गौरी।

(२१) पञ्चमुखो रुद्रस्तु पञ्चप्राणः।

(२२) बृहतीनां वाचां पतिर्बृहस्पतिरेकमुखः प्राणमयो गौर्या वाचो नद्याः पति-र्विश्वकर्मा सहस्रमुखः सरस्वत्याश्च वाचो मनो ब्रह्मैव यः सह तया चतुर्मुखः।

(२३) सैषा वाक् त्रिविधा त्रिवृता च।

(२४) प्राणेष्वापोऽन्यी रुद्रेष्वग्निषु तेजोवती मनसि ब्रह्मणि चादितिमध्यन्तमयी क्रमशः शुक्ला लोहिता कृष्णा च।

सरस्वती बृहती और गौरी, या विद्या (ज्ञानं) सत्यं और अनन्तं या सुन्दरम्।

जिनको यहां पर उक्त प्रकार के ज्ञानमय विद्यामय या अनुभूतिमय ब्रह्मा कहा गया है उनमें से बृहतीपति तो इन्द्र है, बृहस्पति है, वेधा वा इदिन्द्र है, महायोगी है, वह चतुर्मुख ब्रह्मा की विद्या से अनुभूति से नित्य योग करता है। चतुर्मुख ब्रह्मा ॐकार या प्रणव या एकाक्षर ब्रह्म है उसी की सहायता से योग

सिद्ध हो सकता है। अन्यथा नहीं, गौरीपति सहस्राक्षर सहस्र शीर्षा है। वह क्रम से सात्विकी और तामसी दो प्रकार की सृष्टियाँ ही करता है। ये तीन प्राण है सत्यं ज्ञानं अनन्त ब्रह्म के सम्मिलित रूप और ये उन्हीं मौलिक तीन मुख्य प्राणों के प्रतिनिधि है जिन्हें प्रथम मध्यम और उत्तम प्राण कहते हैं। इनमें से अन्तिम सात्त्विक, और तामसिक सृष्टि करता है; मध्यम राजसिक है या योग सृष्टि करता है और प्रथम प्राण योग में सहायता करता है। जिसे गौरी कहते हैं उसी को पुराणों में महाकाली नाम दिया गया है, इसकी जिह्वा रुद्राग्नि सूचिका है: इसकी आत्मा और पति रुद्राग्नि ही है, यह योगमयी वाक् आपः है। योग से विष्णु की ज्योति को पाने के लिए अपने शरीर के सभी प्राणों का और देवों का संहार करने या देव सभा में एकत्र करने या एकीकरण करने के लिए अपनी तेजोवती ज्वाला रूप लोलाग्नि रूप रुद्र या भयंकर जिह्वा को फैलाती हुई यह महायोगिनी नित्य विचरण करती है। यह सदा ही महायोगिनी महामायिनी ही है। जिसको पञ्चमुख रुद्र या षण्मुख रुद्र कहते हैं वह भी पञ्चप्राण शरीरी या षट्प्राणमय शरीरी रुद्र या ब्रह्माण्ड शरीर या ईश्वर ही है। बृहती नाम की वाणियों का पति एक मुख है, वह बृहस्पति (इन्द्रः) प्राणमय योगी है, गौरी वाक् नदी रूपिणी का पति सहस्रमुख विश्वकर्मा है और सरस्वती वाक् का पति चतुर्मुख प्रकाशमय देवमय विद्यामय ब्रह्मा है। इस प्रकार यह वाक् त्रिवृत् और त्रिविध है। यह प्राणों में आपोमयी अग्नियों या रुद्रों में तेजोवती और मन में अदिति या अन्नमयी शुक्ला लोहिता और कृष्णा है (१८ से २४ तक)।

अध्याय २, पाद ४ (आ)

प्राणाः

(१) नेन्द्रियाणि वै प्राणास्तेषां घोरमूढमहाभौतिकत्वाद्बहिर्मुखत्वाच्च ।

(२) नातीन्द्रियाण्यपि तेषामपि महाभौतिकत्वान्नित्यमिन्द्रियबद्धत्वाच्च ।

(३) प्राणा वै ब्रह्माण्डस्याध्यात्मानः सर्वेषां देवानां च ।

(४) ते चैकविधाद्दशादि बहुविधा ।

(५) यथैकमुखो मुख्यः प्राणो द्विमुखोऽन्नं प्राणश्च, त्रिमुखस्त्रयी प्रसिद्धा, चतुर्मुखश्चतुष्पादश्चतुष्प्राण एवं पञ्चमुखादयः पञ्चषडादि प्राणाः ।

(६) एवं हस्तपादाङ्गुल्यक्षिश्रोत्रशिरष्काः ।

(७) यथा "ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथम पपौ स चकाराररसं विषम् ॥" (अथर्व २-६-१)

(८) सहस्रमुखस्तु चन्द्रमा पृश्निः सर्वाणि रूपाणि सृष्टौ स सम्प्रश्नः ।
'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमि'त्यादिषु चाङ्गुलिशब्द प्राणवाची संख्या च प्राणानाम् ।

प्रायः देखने में आता है कि सभी व्याख्यानुवादकारों ने वेदों ब्राह्मणों, उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों में आये वाक् मनः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं आदि नामक प्राणों का अनुवाद इन्द्रियवाचक शब्दों में किया है। यह उनका महान् भ्रम है। क्योंकि उक्त ग्रन्थों में इन प्राणों का संकेत इन्द्रियों के लिए नहीं हुआ है। इन्द्रियाँ तो घोर और मूढ महाभौतिक तथा अनन्त हैं। इनकी अतीन्द्रियां जो इनसे सूक्ष्म हैं वे भी महाभौतिक या पारमाणविक हैं और नित्य ही बहिरिन्द्रियों से निबद्ध रहती है। वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों में जिन तत्त्वों के लिए प्राण शब्दों का संकेत किया गया है वे तो अखिल ब्रह्माण्ड की आध्यात्मिक आत्मायें हैं, वे ही देवताओं के आध्यात्मिक शरीर भी हैं। ये शरीर या ब्रह्माण्ड के नाना प्रकार के आभ्यन्तर कोशों का संकेत करते हैं। कभी एक ही कोश माना जाता है, कभी दो, कभी तीन, कभी चार, कभी पांच, कभी छह, कभी सात, कभी आठ, कभी नौ और कभी दस से पचास तक। जिसे एक या एक मुख कहते हैं वह मुख्य प्राण है, जहां दो कहते हैं वहां अन्न और प्राण दो तत्त्वों का संकेत रहता है, जहाँ त्रिमुख कहते हैं वहाँ प्रथम मध्यम उत्तम प्राण रुद्र ब्रह्मा विष्णु का संकेत होता है, जहां चतुर्मुख कहते हैं वहाँ चतुष्पाद या चार प्राणों की चर्चा रहती है, इसी प्रकार पाँच

छह, सात, आठ, नौ या दश प्राणों में इतनी ही संख्या के प्राणों का संकेत होता है। दशमुख दश प्राण हैं। इसी प्रकार विभिन्न संख्या के हस्त पाद अङ्गुलि आँख, कर्ण और शिरों की व्याख्या समझें, जैसा अथर्व ने लिखा है कि सबसे पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) दश मुखों और दश शिरों का उत्पन्न हुआ। उसी ने सर्वप्रथम सोम का पान किया, उसने शेष को विष सिद्ध कर दिया। और जिसे सहस्रमुख, शिर, आंख, कान, नेत्र, हस्तपादादि का पुरुष कहते हैं वह तो सृष्टि-काल में 'पृश्निः सर्वाणि रूपाणि' या सविता चन्द्रमा प्रजापति का संकेतक है। वही संप्रश्न या शब्दों में अनिर्वचनीय है, सर्वरूप होने से जो कुछ भी कहो कुछ प्रश्न शेष रह ही जाता है। परन्तु पुरुषसूक्त के से 'दशाङ्गुलम्' इत्यादि शब्दों में अंगुलि शब्द भी प्राणों का वाचक है, उसके पहले का 'दश' शब्द प्राणों की संख्या देता है। यह बहुत ही आवश्यक जानकारी है, ध्यान में रखें। (१ से ८ तक)।

(९) 'यत्किञ्चिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः' (बृह. उप. १-५-८)

(१०) त्रयो वै अमृतप्राणाः प्रथममध्यमोत्तमास्तेषां मध्यमो ज्येष्ठः श्रेष्ठो मुख्यश्च स इध्मः स रजस्तस्य रजांसि स 'रजसो विमानः'

(११) आद्यन्तौ प्राणोदानौ प्राणापानौ वा, तावश्वावश्विनौ हरी श्वानौ हरितौ।

(१२) प्रथमौ द्वौ रुद्रब्रह्माणौ सृष्टा वात्मानौ देवौ योगेत्वाध्यात्मानौ शरीरौ तृतीयस्य विष्णोः पुरुषपशोः।

(१३) तृतीयः पुरुषपशुर्यः स सोमः स विष्णुः सः प्राणः स भौतिकात्मा।

(१४) ज्योतिषां यस्य रसानां पानं मनोब्रह्मेन्द्रो वा स्वरजःस्फटिकात्मनि प्रतिबिम्बरूपेण करोति।

(१५) प्रथमःप्राणः पञ्चमुखो रुद्रोऽग्निः।

(१६) प्राणश्चक्षुषि, व्यानः श्रोत्रे, ऽपानो वाचि, समानो मनसि, य उदानः स वायौ पञ्चप्राणाः पञ्चप्राणेषु मुखेषु।

(१७) स 'ब्राह्मणो' 'दशशीर्षो दशमुखः' स 'महान्देवो वृषभो रोरवीति' स रुद्रोऽग्निः प्राणभृद्विद्वान्योगयज्ञकर्ता संहर्ता प्राणानां तेषाम्।

(१८) तस्य प्राणास्तस्यैव पञ्चचितयः पञ्चपशवो वा।

(१९) ते 'पुरुषपशुरश्वोगोरविरजा।

(२०) अश्व उदानो गौ र्व्यानोऽजोऽपानोऽजाप्राणः सूर्यः समानश्चन्द्रमाः पुरुषपशुः प्रतिबिम्बितो मनसि ब्रह्मणि स्फटिकशिलायाम्।

(२१) योगे सैवावस्था 'देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुमि'ति गीयते।

इस सृष्टि में जो कुछ भी अविज्ञात तत्त्व है वह प्राण का स्वरूप है, क्योंकि प्राण तत्त्व सबको सदा ही अविज्ञात ही रहता है, इसका रहस्य कोई विरला भी जान ले तो वह उसे शब्दों में नहीं कह सकेगा। यह तो केवल अनुभूति का

विषय है। मुख्य प्राण तीन हैं, तीन प्राणों को अमृत नाम से पुकारा जाता है। उन्हें प्रथम, मध्यम, उत्तम प्राण कहते हैं। इनमें से मध्यम प्राण श्रेष्ठ ज्येष्ठ और मुख्य है, वही रजः है, उसी के देदीप्यमान षड् रजांसि हैं, वही या उसी का 'रजसो विमान' है, वही इध्म या अगल-बगल के अन्य दो प्राणों को इद्ध समिद्ध या प्रदीप्त करने वाला भी है। आदि और अन्त के प्रथम और उत्तम प्राणों को प्राणोदानौ या प्राणापानौ कहते हैं। इन्हीं को उस मध्यम प्राण (इन्द्र) के दो अश्व या अश्विनौ या यम के दो श्वानौ शबलौ या हरितौ भी कहते हैं। प्रथम दो (प्रथम-मध्यम) तो रुद्र या अग्नि और ब्रह्मा हैं, वे सृष्टिपक्ष में तो तृतीय उत्तम प्राण की दैवी आत्मायें हैं और योग पक्ष में दैवी आध्यात्मिक शरीर। यह तृतीय विष्णु या पुरुष पशु है। पुरुष पशु वह तत्त्व है जिसमें प्राण देने की शक्ति है, जो प्राणदाता है, जिसका दर्शन किया जाता है जैसे 'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' (श० प० ब्रा०); और जिसे पुरुष पशु या विष्णु कहते हैं वही सोम मय है, वही भौतिकामृत रूप प्राण है, जिसकी ज्योति रूप रसों का पान ब्रह्मा और रुद्र योग द्वारा अपने स्फटिकात्मा रूप शरीर में प्रतिबिम्बित रूप में करते हैं। इनमें से प्रथम प्राण पञ्चप्राण शरीरी पञ्चमुख रुद्र रूप अग्नि है। इन प्राणों के नाम द्वन्द्व में प्राणचक्षु, व्यान-श्रोत्र, अपानवाक् निरुक्ता, समान मनः, उदान वायु हैं। प्रथम द्वितीय में आश्रित रहता है। अथर्व ने जिस ब्रह्म या ब्राह्मण को दशमुख और दशशीर्ष कहा है वह यही रुद्र ही रावण रूप है, उसी को वाक् वृषभ रूप में रो रवण करने वाला रावण या वृषभ कहते हैं। यह आसुर भौतिक ब्रह्म या ब्राह्मण है। इस रावण के दश प्राणों का वध या संहार योग द्वारा किया जाता है, रामलीला में रावण वध योग प्रक्रिया ही है। यह रुद्र अग्नि ही है, प्राणभृत् है, ज्ञान प्रकाशमय है, योगयज्ञकर्ता और उक्त दश प्राण रूप दशमुखों का संहर्ता एकीकर्ता है जिसे रावणवध कहते हैं। उसकी पांच चितियाँ या पांच चितायें हैं जिनमें यह रुद्र उन प्राण पशुओं का एक एक करके संहार या वशीकरण करता है। प्रत्येक प्राण एक पशु है जिनके क्रमिक नाम पुरुषपशु अश्व, गो, अवि, अजा हैं। अश्व उदान है, गौ व्यान है, अज अपान है, अजा प्राण सूर्य है, समान चन्द्रमा है, जिस में पुरुषपशु रूप सोमप्राण की ज्योति प्रतिबिम्बित होती है वह ब्रह्मा या मन की स्फटिक शिला (चन्द्रमा) कहलाती है। इसी स्थिति का वर्णन करनेवाली पुरुषसूक्त की ऋचा कहती है कि योग पक्ष में देवताओं ने उक्त प्रकार का योग यज्ञ करके उस पुरुषपशु रूप सोमप्राण की ज्योति को अपने मनोरूप स्फटिक शिला में प्रतिबिम्बित करके बांध लिया या अनुभूत कर लिया (९ से २१ तक)।

अध्याय २ पाद ४ (इ)

कुण्डलिनी योग क्या है ?

(१) एतद्वक्ष्याम पश्चाद्यत् प्रतिकूलमुखाः प्राणा नग्ना नागा इति ।

(२) एकं मुखं दैवी द्वितीयं चासुरी प्रथमे चैतन्यं ज्योतिर्ज्ञानममृतं च द्वितीये तु विषमन्धकारमज्ञानं मोहं च वसाते ।

(३) उभे ते मुखे चाकर्षतो मनः स्वपक्षाय ।

(४) यत्र यदेव विजयी तत्र तदेव सः ।

(५) दैवस्य विजये देवः स विरोधिनो विजये असुरः ।

आगे बताया जायेगा कि प्राण प्रतिकूल मुखवाले द्विमुख नागों के समान हैं । उनका एकमुख दैवीवृत्ति का है दूसरा आसुरी । ये दोनों मुख मनः को अपनी अपनी ओर खींचते रहते हैं । दैवमुख के साथ मनः भी 'दैवं मनः' हो जाता है और आसुर के साथ 'आसुरं मनः' । इन दोनों में से जो मुख बलीयान् होता है वह व्यक्ति या ब्रह्माण्ड तद्वत् भी हो जाता है । दैवी मुख के विजय में व्यक्ति देवता होता है, आसुर मुख की जीत में असुर । एक में अमृत है, ज्योति है, विवेक है, चैतन्य है, दूसरे में विष है, अन्धकार है, अज्ञान है, निश्चलता है, मोह है (१ से ५ तक)

(६) यो योगी तदाकारमुभयत्रमुखं प्राणसूत्रं कुण्डलाकारं कृत्वोभयोस्तयोर्मुखे एकत्रीकृत्यासुरं सुराग्निना मुखेन दग्धुमसत्यं सत्येनेवाग्नौ घृतमिव तत्कालं शक्नोति सः परमो योगी ।

योगी वह है जो उक्त उभयत्रमुखी नाग रूप प्राणों को कुण्डलाकार बना कर उन दोनों मुखों को एक दूसरे से जोड़ कर असुर मुख के मोम या घृत से उसी में दैवी मुख की ज्योति की वर्तिका प्रदीप्त कर लेता है । इनमें दैवी मुख की ज्योति त्रिपादामृत है, सत्य है, नित्य है, वह उस असुर मुख के मोम या घृत के पूरे जलने तक उसे जलाता रहता है (अर्थात् घृत रूप आयु तक वह उस दीप को प्रदीप्त रखता है) । इसी परिस्थिति में दैवी प्राणों की अन्तः-शक्ति सोमज्योति या विष्णुज्योति की चन्द्रिका छिटकती हुई बिखरती है, उसके गम्भीर सागर में योगी अपने को निमग्न पाता है । यही योग की परमस्थिति या परागति है । इसे परम योगी ही प्राप्त कर सकता है या यह कार्य परम योगी ही कर सकता है । ऐसा ही व्यक्ति परम योगी है (६) ।

(७) तयोर्दैवासुरीप्रवृत्त्योः सूत्रं नागरूपं प्राणमुभयत्रमुखं 'य एवं वेद' स वेद वेदान् स वेद योगं स वेद कुण्डलिनीयोगं, स वेद वित् स ब्रह्मवित्स ब्रह्मैव ।

(८) अपानं वीर्यं व्यानं वा समानेन प्राणोदानयोरूर्ध्वगतिकयोः समं सम्बध्य तान् भृकुटिकेन्द्रे पुरीतति स्थितेन मनसा योज्य तन्मनोवर्तिका प्राण घृतेन दैवीप्राणज्योतिषा प्रज्वाल्य चैवं प्राणसूत्राणां कुण्डलाकारबन्धनमेव स्वशरीरे कुण्डलिनीयोगस्तस्यारम्भोऽपानाद्यस्य जागृते शरीरं स्वयमेवोर्ध्वमाकाशं दिशायामुत्तिष्ठति । भृकुटौ चन्दनलेपनं च मनसः शीतलतायै स्थाननिर्धारणाय च ।

(९) सैव स्थितिर्वज्रमिन्द्रस्य चक्रं विष्णोः कमण्डलुर्ब्रह्मणः सिंहो देव्या, तयोः प्राणयोर्द्वन्द्वं च देवासुर-संग्रामो यत्र देवा विजयिनोऽसुराः पराजयिनो बद्धा निबद्धा वा स योग ।

इन दो प्रकार की दैवी और आसुरी प्रवृतियों वाले द्विमुख नाग की एक सूत्रता को जो जानता है, वही वेदों को जान सकता है, वही योग का ज्ञाता है, वही कुण्डलिनी योग के स्वरूप को समझ सकता है, वही ब्रह्मवित् है, वह स्वयं ब्रह्म है । फलतः अपने शरीर के द्विमुख नाग रूप प्राणों को कुण्डलाकार रूप में एक साथ बांधना ही कुण्डलिनी योग कहलाता है । इसकी जागृति अपान से प्रारम्भ होती है । इसके जाग्रत होते ही शरीर हल्का होकर आकाश की ओर उठने लगता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस योग को कैसे किया जावे । इसे बिना योग्य गुरु के नहीं सीखा जा सकता, चाहे कितनी ही स्पष्ट विधि लिख दी जावे । उक्त प्राणों के दलों में से एक दल या दैवी प्राण मस्तिष्क में रहता है दूसरा आसुरी धड़ और मुख की बाहरी इन्द्रियों में और यह दूसरा दल अपनी उदर-पूर्ति और भोगों के लिए मस्तिष्क वाले दल को सदा स्वार्थ में अनुरत करता है । इनको वश में करने के लिए योगी के लिए मुख्य कार्य अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके वीर्य की रक्षा करना है । यह वीर्य इस शरीर का सार व्यान प्राण रूप घृत है जिससे मन की बत्ती को दैवी प्राणों की ज्योति से दीप्त किया जाता है । जितना अधिक घृत होगा उतना ही अधिक प्रकाश और उतनी ही अधिक देर तक यह योग-दीप जलता रहेगा । वही इस शरीर का व्यान प्राण रूप ब्रह्माण्ड का स्थूल ब्रह्म भी है । इस योग के लिए सभी प्राणों की शुद्धता आवश्यक है जिसके लिए नाना विधियां बताई गई हैं, साथ में इस योग करने की शुद्ध प्रेरणा भी । जब यह हो जाय तब योगी को सब से नीचे के अङ्गों से प्रारम्भ करना पड़ता है । उसे गुदा और वीर्य यन्त्र को वश में करना पड़ता है । इनको वश में करने के लिए प्राण उदान को ऊपर से, व्यान अपान

को नीचे से खींचकर मध्य में समान प्राण से सन्तुलित करना पड़ता है। तब इन सब प्राणों के मुखों को भृकूटिमध्य में, जहां मन या इन्द्र सुषुम्ना या पुरीतत् के अन्दर मध्यद्वार रहता है, ले जाकर उनके घृत या वीर्य से इन मन की वत्ती को दैवी प्राणों की ज्योति से प्रज्वलित किया जाता है। इसीलिए इस भृकुटि स्थान में चन्दन का टीका और माथे में तिलक लगाया जाता है जिससे हमें उसके स्थान का ज्ञान और उसे शीतलता प्राप्त हो। यही योग की परमोच्च स्थिति है। जब यह सिद्ध होने को रहता है तब योगी का आसन भूतल को छोड़ कर आकाश में उठ जाता है, तब उसे भूतलाधार की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। यही शक्ति इन्द्र का वज्र, विष्णु का चक्र, देवी का सिंह, ब्रह्मा का कमण्डलु और रुद्र का त्रिशूल है। इसकी प्रक्रिया का द्वन्द्व ही देवासुर संग्राम है, यहां देवता विजयी हैं, असुर बंध गये या वध को प्राप्त हो गये हैं; यही योग है। (ऋ. ७-९)

अध्याय ३ पाद १

योगमाया

(१) अथातो योगमाया ।
(२) योगमाया देवासुरयोः ।
(३) सृष्टेः शरीरस्य वाभ्यन्तःकोशे यो रसो यज्ज्योतिस्ते देवाः ।
(४) तयोर्यो बाह्यः कोशः शरीरं वा तेऽसुराः ।
(५) अन्तर्मुखज्योतींषि वै देवा बहिर्मुखान्धकारास्तामसा असुराः ।
(६) प्राणानां ज्योतींषि देवाः ।
(७) अन्तर्मुखाः प्राणाश्च देवास्तेऽमृता अमरा वा ज्योतिष्मन्तः ।
(८) बहिर्मुखान्धकारमयाः प्राणा भौतिकप्रधाना असुरास्ते मर्त्या मृता वा ।
(९) प्राणाः स्वयं मनुष्या नराः नाराः पञ्चप्राणानां शरीराणि ।
(१०) श्रेयो निवृत्तिमार्गाः प्राणा देवाः प्रेयः प्रवृत्तिमार्गाश्चासुरास्त एव ।

अब योगमाया का वर्णन दिया जाता है। योगमाया देवताओं और असुरों की होती है। सृष्टि के शरीर या आभ्यन्तर कोश में जो रस रूप ज्योति निरन्तर प्रवाहित होती है वे देवता हैं। उस शरीर का जो बाह्य कोश या बाह्य प्राण शक्तियां हैं या शरीर हैं वे असुर हैं। देवता सब आभ्यन्तर मुख वाली ज्योतियों के रस रूप है, असुर बहिर्मुख अन्धकारमय हैं केवल द्वारमय यन्त्र हैं। प्राणों की ज्योतियों का नाम देवता है। जब ये प्राण अन्तर्मुख होते हैं तब तो ये देवता रूप धारण करते हैं, वे अमृत हैं, अमर हैं, अविनाशी हैं, ज्योतिष्मान् हैं। बहिर्मुख प्राण ही अन्धकारमय भौतिकताप्रधान होने से असुर हैं, मर्त्य हैं, मरे से हैं, शव या शत्रु या भातृव्य हैं। प्राण मूलतः नर या नार या आपः शरीरी, प्रत्येकरूप में ढलने योग्य और पञ्चप्राणों प्राणोदानादि के शरीर हैं। जब प्राण श्रेयः या निवृत्ति मार्गपरायण होते हैं तभी वे देवता कहलाते हैं; जब वेही प्रेयोमार्ग या प्रवृत्तिमार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं तब वेही असुर कहलाते हैं (१ से १० तक)।

(११) इत्थं प्राणा हि सर्पा द्विमुखाः, प्राणा हि नागा नग्नाः ।
(१२) उभयोर्मुखयोः स्वामिनोर्देवासुरयोर्युद्धं नित्यम् स्वपक्षे कर्षणं मनसः ।
(१३) तदेव समुद्रमन्थनं प्राणानामपां शरीरस्य सा वै योगमाया ।

(१४) 'मायोत्सा यानि युद्धान्याहुः' (ऋ० वे० १०-२७-३; १०-५४-२) (श० प० ब्रा० ११-१-६-९, १०)।

(१५) माया वै अनन्तरूपतैकस्य मनस इन्द्रस्य 'मायाभिरिन्द्रः पुरुरूप उच्यते' स तस्मात् 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (ऋ० वे० ६-४७-१०) 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' (ऋ० वे० ३-५३-८)।

(१६) आभिरेव 'मायाभिरिन्द्रं मायिनमि'त्याहुः (ऋ० वे० १-११-७)।

(१७) आभिरेव 'मायाभिरुत्सिसृप्सत' सः (ऋ० वे० ८-१४-१४)।

(१८) स जनास इन्द्रो 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' मनस्वी मन्वी वात्मन्वी वा प्रजापतिः (ऋ० वे० २-१२-१)।

(१९) स योगी यस्य 'योगे योगे तव स्तरं वाजे वाजे हवामहे' इति याचना।

(ऋ० वे० १-३०-७)।

इस प्रकार ये प्राण द्विमुख सर्प के समान उभयमार्गगामी नग्न नाग सम है। इनके इन दो मुखों के स्वामी क्रम से देवता और असुर हैं। इन दोनों स्वामियों में देवासुरों में अपनी अपनी ओर खींचने की निरन्तर की खींचातानी की प्रतिद्वन्द्विता या पारस्परिक युद्ध नित्य चलता है। इनकी इसी खचातानी या निरन्तर युद्ध का नाम समुद्रमन्थन है। आपोमय प्राणों की प्रवृत्तियों की देवासुर रूप लहरों की इस निरन्तर झकझोरने की स्थिति को ही योगमाया कहते हैं। माया नाम इन्हीं पारस्परिक युद्धों का है। ये आपोमय प्राण, मध्यमप्राण रूप मनः या इन्द्र की द्विमुखी सेना हैं जिनसे वह मनोरूप इन्द्र नाना प्रकार की कल्पनामयी सृष्टि या माया का जाल रचता है.। अतः उसे 'पुरुरूप' अनन्तरूपधारी भी कहते हैं। इन्हीं माया-ओंसे इन्द्र रूप मन को 'मायी' भी कहते हैं; इन्हीं से वह योग या सृष्टि दोनों किया करता है। वह मनस्वी मनोमय मन्वी या आत्मन्वी प्रजापति या वेधाः है। वही योगी भी है जिसके योग करने के लिए प्रत्येक योग यज्ञ में या सृष्टि यज्ञ (वाजे) में उसकी स्तुति सर्वप्रथम की जाती है या उसका आह्वान किया जाता है (११ से १९ तक)।

(२०) मन एव तस्य शरीरं रथं प्राणौ हरी युञ्जानौ योगायैव तस्मिन्।

(२१) 'तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवा-स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति (योगेनैव)॥' (केन उप० ३-१, २)।

(२२) "एतमेव ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमितीं ३ तस्मादिदिन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदिन्द्रमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया हि देवाः॥" (ऐत० उप० २ ३)।

(२३) यदि प्राणेन सृष्टमथ कोऽहमिति स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विद्दतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं (वनम्) (ऐ० उप० २-३)।

मन ही उस इन्द्र का शरीर है, उसकी आत्मा इन्दु सम स्फटिकमणि सम स्वयं राजमान या प्रकाशमान स्वराट् इन्द्र है। मन अतः उसका रथ है, प्राणोदान उसके हरी या अश्व या हरितौ हैं जिनको वह योग करने ही के लिए उस अपने मनोरूप रथ में जोत देता है। इसी लिए इन्द्र को अन्य सभी देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ या मुख्य कहते हैं। इसी ने अपने मनोरूप शरीर की सीमा को विदीर्ण करके पुरीतत् या सुषुम्ना नाडी के विद्दति द्वार को खोलकर उस सोम ज्योतिष्मान् विष्णु को सर्वप्रथम विदित या अनुभूत किया। उसने द्वार को इदिन्द्र या विदीर्ण कर प्रकाश पाया अतः उसे इन्द्र नामसे पुकारते भी हैं। क्योंकि उसी ने ब्रह्म को ज्योतिरूप में व्याप्त देखा, और चिल्ला उठा 'मैं ने उसे देखा ! मैं ने उसे देखा !! वह तो वैद्युतीय प्रकाश सम देदीप्यमान है !!!' उसने सोचा यदि मुझे प्राण ने निर्मित किया है तो मैं उस प्राण के सूत्र के विद्दतिद्वार का भेदन करके उसके पास पहुँचूं और जानूँ कि मैं कौन हूँ या किससे बना हूँ। अतः जिस सीमा को विदीर्ण कर के वह आगे बढ़ा। उसी मार्ग का नाम नान्दन वन या इन्द्र का आनन्दन वन या आनन्दमय ब्रह्म क्रीडा प्राप्ति का वन या स्थान या उपवन है। उसी को विद्दति नामक द्वार कहते हैं. यदि यह खुल गया तो वह ज्योतिरूप नान्दनवन सा अद्भुत लोक सामने आ गया (२० से २३ तक)।

(२४) यैषा विद्दतिर्नाम द्वास्तद्ब्रह्मकमलनालं नडं नाडी सुषुम्ना वा पुरीतत्कुटिला वा।

(२५) तद्ब्रह्म रन्ध्रमन्तरिक्षोदरं वा कुहरं वा।

(२६) तस्मात्तस्येन्द्रस्य 'नाद्यः शत्रुर्नंपुरा विवित्से' (ऋ० वे० श० प० ब्रा०)।

(२७) नवतिर्नव या अभेद्याः पुरस्ताः आसुराणां प्राणानां सप्तानां मध्ये सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतः (ऋ० १-१६४) (६ ३/४ × १५) प्रतिप्राणकोशानां प्रतिप्राणकपालानां पञ्चदशानां वा साधना क्रमशो विजयश्चाष्टौ प्राणाः सोमोऽध्यर्धः (बृ० ३-९)।

(२८) ते तस्य क्रतवो योगयज्ञा वा, शततमश्च क्रतुः पूर्णो योगः।

जिस प्राण सूत्र के विद्दति द्वार के भेदन की चर्चा ऊपर की गई है उसको पुराणकारों ने ब्रह्मासन सहस्रदल कमल की नाल के नाम से पुकारा है और उस कमल नाल का भीतर से वेध करके उसके द्वारा अपने जन्मदाता विष्णु के पास जाने की कथा दी है। यह हमारे शरीर और ब्रह्माण्ड शरीर दोनों में है। हमारे शरीर में इसे कुटिला, सुषुम्ना या पुरीतत् कहते हैं जो

इस प्राणसूत्र के विदृति द्वार को खोलकर विष्णुरूप बुद्धि के क्षीरसागरशायी विवेक या ज्ञानज्योतिष्मान् दीपक के पास पहुँच जाता है। इसी का नाम अन्यत्र ब्रह्मरन्ध्र या अन्तरिक्षोदर या कुहर है। इसीलिए कहा गया है कि इस इन्द्र का न कोई आदि का शत्रु है, न कभी उसे किसी शत्रु का ज्ञान ही रहा या न वह कभी किसी शत्रु से लड़ा। जिन ९९ असुरों के पुरों द्वारों यज्ञों चक्रों आदि के लिए ऋग्वेदादिकों में इन्द्र के साथ युद्ध होने की बातें लिखी गई हैं उनकी गणना भी इन्हीं प्राणों में से 'सप्तार्धगर्भा भुवनस्यरेतः' (ऋ. वे. १-१६४) या ६$\frac{३}{५}$ प्राणों को एक-एक पक्ष के १५, १५ दिन या भागों में विभक्त करके की गई है। बात यह है, इन्द्र का स्थान ३२वां है, ८ वसु ११ रुद्र और १२ आदित्य=३१, ३२वां इन्द्र है और ३३वां प्रजापति। सोम का स्थान २६वाँ आदित्य है। इन्द्र ३२वें से योग करके २६वें तक ६$\frac{३}{५}$ तत्त्व की यात्रा करता है। कुल मुख्य प्राण आठ हैं—(पाँच आध्यात्मिक प्राण और तीन मुख्य प्राण) इनमें से सोम को १$\frac{२}{५}$ प्राण कहते हैं, शेष ६$\frac{३}{५}$ के १५ गुने = ९९ होते हैं। प्राणों के इन्हीं विभागों या इन्हीं विशेष रूपान्तरों को ९९ किले, पुरियां या चक्र या यज्ञ कहते हैं, इन्हीं को जीतना इन्द्र का योगयज्ञ है यही इन्द्र को शतक्रतु नाम देता है, यही उसके सौ चक्र या सौ वज्र हैं। सौवां क्रतु या यज्ञ या चक्र पूर्ण योग है, तब वह इन्द्र उस सोमीय ज्योतिरूप चक्र के पास पहुँच जाता है जो विष्णुरूप केन्द्रविन्दु के चारों ओर घूमता सा रहता है। यह वैद्युतीय प्रकाशमय लहरियों की सर्वत्र प्रवाही व्यापक तारतम्यता है (२४ से २८ तक)।

अध्याय ३ पाद २

देवासुरयोः स्वरूपम्

(१) द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः (बृह० उप०)।

(२) असुराणां प्राणानां शरीरेभ्यो योगेनोद्दीप्यन्त इत्यसुरा ज्यायांसो देवानामुद्भवा-त्तेभ्य इति ते कनीयांसः।

(३) यावन्तो देवास्तावन्तोऽसुराः प्रतिदेवमसुरं च।

(४) स यः स वागग्निर्देवो यत्कल्याणं वदति यस्यां वाचि भोगो देवेभ्यः।

(५) स यः स पाप्मा (सोऽसुरः) यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स शुष्णः सा दनुः।

(६) स यः सः प्राणो वायुर्देवो यत्कल्याणं जिघ्रति यस्मिन्प्राणे भोगो देवेभ्यः।

(७) स यः सः पाप्माऽसुरः प्राणो यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स धुनिः स वलः।

(८) स यः स चक्षुः सूर्यो देवो यत्कल्याणं पश्यति यस्य चक्षुषि भोगो देवेभ्यः।

(९) स यः स पाप्माऽसुरो यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स शंवरः स गोत्रः स वृत्रः।

(१०) स यः स श्रोत्रं दिग्देवः यत्कल्याणं शृणोति यस्य श्रोत्रे भोगो देवेभ्यः।

(११) स यः स पाप्माऽसुरो यदेवेदमप्रतिरूपं श्रृणोति स चिमुरिः स तुतुजिः।

(१२) स यः स मनश्चन्द्रमा देवो यत्कल्याणं संकल्पयति यस्य मनसि भोगो देवेभ्यः।

(१३) स यः स पाप्माऽसुरो यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स रौहिणः सः कुयवः स पिप्रुः स नमुचिः।

प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र हैं, देवता और असुर। इनमें से देवता तो छोटे भाई हैं, पर असुर ज्येष्ठ हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि देवताओं को योग द्वारा आसुर या मर्त्य प्राणों को उद्दीप्त करके उत्पन्न किया जाता है। अतः असुर रूप मर्त्यप्राण तो ज्येष्ठ हैं और उनसे उन्हीं में उद्दीप्त होने वाले देवता इन असुर प्राणों से कनिष्ठ हैं। पर सृष्टिकाल के पहले पूर्वार्द्ध में देवताओं की ही सृष्टि होती है और फिर उत्तरार्द्ध में असुरों की, इसप्रकार सृष्टिपक्ष में देवता ही ज्येष्ठ होते हैं और असुर कनिष्ट। जितने भी, मर्त्यप्राणरूप असुर हैं उतने ही देवता भी हैं और जितने भी देवता हैं उतने ही असुर भी हैं या प्राण भी हैं। वह वाक् या अग्नि जो कल्याणकारी वाणी या ज्ञान बोलती या देता है, जिसमें देवताओं के भोग की सामग्री है वह वाक् और वह अग्नि

देवता है। वह वाक् या अग्नि पापी या असुर है जो अप्रतिरूप या अनुचित अवितथ असत्य अकल्याणकारी बोलती या ज्ञान देता है यही वाक् दनु है, दानवी है— वही अग्नि शुष्ण नामक असुर है। इस प्रकार जो वायु कल्याणकारी गंध सूघती है जिसमें देवताओं की भोग्य वस्तु है वही वायु देवता है, इसके विपरीत जो वायु या प्राण अप्रतिरूप अनुचित गंध सूंघता है, वह अकल्याणकारी है वही वायु या प्राण असुर है, पापी है, इसी का नाम वलः या धुनि है। वह सूर्य या चक्षु जो कल्याणकारी दृश्य देखता है जिस चक्षु में दैवी भोग है वही सूर्य और चक्षु देवता है, इसके विपरीत जो सूर्य या चक्षु अकल्याणकारी दृश्य देखता है, अनुचित कार्य देखता है, वही पापी सूर्य या चक्षु असुर है। उसी को शंवर गोत्र या वृत्र कहते हैं। वह श्रोत्र या दिक् या शब्द देवता है जो कल्याणकारो बातें सुनता है, सुनाता है, जिसमें दैवी भोग्य वस्तु है। इसके विपरीत वही श्रोत्र या दिक् या शब्द असुर है जो अप्रतिरूप सुनता-सुनाता है वही चिमुरि और तूतुजी नामक असुर हैं। वही मनः या चन्द्रमा देवता है जो कल्याणकारी संकल्प करता है जो दैवी भोग्य वस्तु है। इसके विपरीत जो मनः या चन्द्रमा अकल्याणकारी संकल्प करता है वही पापी असुर है। उसी को रौहिणः पिप्रुः पणी और नमुचि (पागल) कहते हैं। (९ से १३ तक)।

(१४) द्यति ददाति वा दनुः, शोषयतीति शुष्णो, धूनोनीति धुनि, बलयतीति बलवान् बलः सहसो जातः, शं वृणोतीति संवरो, गां त्रायते इति गोत्रः पण्यत इति पणिः पणयो वा वृणोतीति वृत्रश्चित्तेर्मृत इति चिमुरिस्त्वरितं हिंसतीति तूतुजिः, रुणद्धि रोहतीति वा रौहिणः, तमसा पूरयतीति पिप्रुर्न मुञ्चतीति नमुचिः, कुत्सिता यवा कृषिः यस्य स कुयवः। (बृह० उप० १-३-१ से १८ तक)।

जो खण्डित करती है, विघ्न डालती है, लोभ दिलाती है, मीठी चापलूसी करती है—वही दनु दानवी है, जो शोषण करता है, चोरी-जारी करता है, वह शुष्ण है, जो झकोरता है, परेशान करता है वह धुनि है; जो साहसिक अत्याचार करता या गुण्डा बल का प्रयोग करता है वह 'बल' है। जो शं नाम शान्तिमय प्राणों को ढक देता है, निष्ठुर अन्धकार में डाल ठग देता है वह शंवर या वृत्र है, जो प्राण रूप गायों को नाच-गान, खेलकूद से फुसलाकर चुरा ले जाता है वह गोत्र या पणि है। जो सत्य को छिपाता है, प्रकाश नहीं आने देता वह वृत्र है। जो चिन्तन को मार डालता है, बुरी बातें सोचता है वह चिमुरि है। जो तुरन्त मारने दौड़ता है, कसाई का काम करता है वह तूतुजि है। जो दूसरों के ऊपर चढ़ बैठता है, प्रभु बन जाता है, जेल-कारागार में

डालता है वह रौहिण है। जो अन्धकार से भर देता है वह पिप्रु है। जो पागल की रट की तरह चिपट जाता है वह नमुचि है (१४)

(१५) तयोरेकशरीरयोः प्रतिकूलमुखयोर्नित्यं युद्धम् ।

(१६) युद्धं वाजायान्नाय मनसे च सोमायामृताय च ।

(१७) वाजाय युद्धं वाजमन्नाय मनसे युद्धं स्तवः स्तोमः स्तोत्रं गानं गीतमुद्गीथम् साम वा ।

(१८) सोमस्यामृतस्याप्त्यै च गवां प्राणानां च चौर्यमसुरैः ।

(१९) असुराणामासुरी प्रवृत्तिमयानि शरीराण्येव भौतिकतायाः पर्वता गुहा वा मुषितानां गवां प्राणानां पिधानाय धारणाय वा भौतिकताभोगाय च ।

(२०) सृष्टे 'यंत्सौम्यं न्यक्त मास तेन चन्द्रमसं (देवं मनः) चकार यदासुर्यमास तेनेमाः (सर्वाः) प्रजाः।' (श० प० ब्रा० १-५-२-१७)।

(२१) देवान् योगिनश्च विहाय तेनेमाः सर्वाः भौतिक्यश्चासुर्यश्च याश्च गाः प्राणान् मुषित्वा स्वभौतिकात्मसु पर्वतगुहासु च पिधाय भौतिकतायाः भोगं कुर्वन्तो विचरन्ति ॥

शरीररूप प्राण तो इन दोनों का एक ही है पर इनके मुख विपरीत दिशागामी हैं जिनमें पूर्वोक्त कथनानुसार नित्य युद्ध चलता रहता है। इस युद्ध का मुख्य कारण वाज या अन्न या मनः को और सोमामृत को अपनी भौतिकता की तृप्ति की ओर बहकाने के लिए चलता है। वाणी या अन्नादि के लिए जो युद्ध है वह वाज कहलाता है, मन के लिए स्तव स्तोम या स्तुतिगान या उद्गीथ। सोमरूप अमृत पीने के लिए असुर प्राण दैवी प्राण रूप गायों को भी हर लेते हैं उन्हें अपने वश में करके उनका दूध रूप ज्ञानामृत पीने के स्थान में उनका शारीरिक रक्तादि मांसादि का भोग करते हैं। इन असुरों के आसुरी प्रवृत्तिमय शरीर ही भौतिकता के घनघोर पर्वतों की गुहा है, जिनमें वे चुराई गई दैवी प्राणरूप गायों को छिपाये रहते हैं और उनके शरीरों का दुरुपयोगी कुटिल ज्ञानमय भोग करते हैं। सृष्टि का जो सौम्य भाग था उससे तो देवता बने थे और जो उसका आसुर्य भाग था उससे इस अखिल ब्रह्माण्ड की नानाविध रचना हुई। अतः यह अखिलदृश्यमान ब्रह्माण्ड सम्पूर्णरूप में आसुरी सम्पदा है। और देवताओं और योगियों को छोड़कर सभी सृष्टि के प्राणी आसुरी हैं। वे दैवी गोरूप प्राणों को चुरा कर उन्हें अपनी आसुर भौतिकात्मा की गुहा में छिपाकर, इस लोक के समस्त आसुर भौतिकता का भोग करते रहते हैं। (१५ से २१ तक)

(२२) देवं मनो वेधा वेन्द्रो वा चन्द्रमा वा स्वेन चान्द्रमसा शरीरेणान्नमयेन वाजमयेनास्थिमता वाचः शरीरेण स्थविष्ठेणाग्निमयेन च वज्रेण निहन्त्यसुरानसुर्यान्प्राणांस्तान् योगेनैव पूर्वकथितेन प्रकारेण ।

(२३) "स यः स मध्यमः प्राणा इन्द्रो यस्यास्येऽन्तमृत्युर्मर्त्यानामसुराणाम् ।

(२४) सोऽयास्याङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणः (मध्यमः) ।

(२५) सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरँ ह्यस्या मृत्युः ।

(२६) इत्थं स प्राणानां मृत्युमत्यवहद्देवानुद्दीपयच्च तेषाम् ।

(२७) ततो वाचोऽग्निः प्राणाद्वायुश्चक्षुष आदित्यं श्रोत्राद्दिशो मनसश्च चन्द्रमाः प्रभृतयश्चान्ये ।

(२८) एष उ एव ब्रह्मणस्पति वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मा दु ब्रह्मणस्पतिः । एष उ एव बृहस्पतिः बृहती वै वाक् , वाग्वै ब्रह्म तस्याःपतिर्बृहस्पतिः ।

(२९) एष उ वै साम वाग्वै सामैष सा चामश्च साम ।

(३०) एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्···वागेव गीथः ।

(३१) स तान् प्राणान्देवाँश्चासतः सत्तमसो ज्योतिर्मृत्योरमृतमगमयत् ।" (बृह० आ० १-३-८ से २८ तक) तस्मादेवायं देवानां ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च महायोगित्वान्नवसृष्टिकरणाच्च ।

इन्द्रः कौन या कैसा तत्व है—यह दैवी वृत्ति का देवता रूप मन या वेधा या चन्द्रमा ही इन्द्र है । वह अपने चान्द्रमस शरीर के अन्नमय ज्ञानमय प्रकाश से और अपने वाक् शरीर के स्थविष्ट रूप अस्थिमयाग्नि रूप वज्र से असुरों, आसुरी वृत्तियों या आसुर प्राणों को अपने योग से, सम्पर्क से, स्पर्श से प्रकाशित उद्दीप्त करके नष्ट कर देता है, उन्हें भी देव रूप में सप्राण कर देता है, उनमें देवताओं का वास कर देता है । इस प्रकार उस मध्यम प्राण इन्द्र के मुख में मर्त्यों या असुरों की मृत्यु बसी रहती है, उन्हें छुआ नहीं कि झड़ गये मर गये । अतः यह मध्यम प्राण सब अङ्गों या प्राणों का रस रूप ज्योति है । इसी को दूः या दूर नाम से पुकारते हैं क्योंकि इससे मृत्यु सदा दूर रहती है । इस प्रकार वह आसुरी बृत्ति रूप प्राणों की मृत्यु को धारण करता है, और देवताओं दैवी वृत्तियों को सदा उद्दीप्त करता है । इस प्रकार वाक् से अग्नि, प्राण से वायु, चक्षुः से आदित्य, श्रोत्र से दिश या शब्द, मन से चन्द्रमा प्रभृतियों की जागृति करता है, साथ में अन्य देवताओं की भी । इसी का नाम ब्रह्मणस्पति है, वाक् आदि प्राण ही देव रूप में ब्रह्म है उसी का यह पति है । इसी का नाम बृहस्पति है, बृहती नाम वाक् का है और वाक् नाम देवरूप में ब्रह्म का है उसी का यह प्राण पति है । इसी का नाम साम है सा

नाम वाक् का है अमः नाम इसी प्राण का है। इसी को उद्गीथ नाम से भी पुकारते हैं, प्राण का नाम उत् है, गीथ नाम वाक् का है। इस प्रकार वह इन्द्र उन प्राणों को असद्वृत्तियों से सद्वृत्तियों में, अन्धकार से प्रकाश या असुरता से देवत्व में और मृत्युरूपता से अमृतरूप देवता रूपों में परिणत कर देता है। यह इन्द्र की ही महामहिमा है, इसी कारण वह सभी देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहलाता है (२२ से ३१ तक)।

(३२) 'इतिहासे त्वद्' (श० प० ब्रा० ११-१-६ ९, १०) परन्तु नैतानि नामानि व्यक्तिवाचकान्यपि तु जातिवाचकान्येव समस्तजातेर्दर्शनवर्णनलक्षात् ।

(३३) इन्द्रो महेन्द्रः कश्चिदृषि'वृत्रश्च त्वाष्ट्रोऽसुर इत्येतिहासिका' (नि०) अन्येऽसुराश्च तत्तन्नामानः केचिद्भौतिकताप्रिया दुर्जनाः प्रजा राजानो वा साधूनां योगिनामृषीणामृजूनामार्याणां महापीडकाः सत्यधर्मस्य च तेषाम् ।

(३४) एवमेव पुराणानां देवासुरयुद्धान्याहू राज्ञां वा प्राणिनां वा द्वन्द्वानि पारस्परिकानि ।

(३५) यथैकस्यैव शरीरस्थयोर्गजग्राहयोर्देवासुरयोर्मध्ये देवो गजोऽसुरेण ग्राहेण ग्रसितो मुक्तश्च सोमेन जिष्णुना ।

अब प्रश्न उठता है कि इन्द्र को बृहस्पति ब्रह्मणस्पति साम या उद्गीथ नाम से क्यों पुकारा जाता है ? क्योंकि वेदों में इनका वर्णन पृथक्-पृथक् देवों के रूप में दिया हुआ मिलता है। बात यह है कि ये देवता वास्तव में एक ही हैं, पर वर्णना भेद से इन्हें भिन्न-भिन्न कहा गया है। ब्राह्मणादि जाति रूप वर्णना में बृहस्पति ब्राह्मणस्पति ब्राह्मण हैं, इन्द्र सोम पर्जन्यादि क्षत्र हैं, वसुरुद्रा दित्य मरुत विश्वेदेवता वैश्य हैं, पूषा शूद्र है। आदित्यरूप में इन्द्र सोम दोनों वैश्य हैं। अश्वरूप में ये सब दास या शूद्र हैं। जब इन सबकी व्याख्या प्राणरूप में करते हैं तब ये सब क्षत्रिय कहलाते हैं। जब प्राणों का वर्णन ब्रह्म नाम से किया जाता है तब इन्हें ब्राह्मण या ब्रह्म कहते हैं, इनमें असुरप्राण भी ब्राह्मण ही कहलाते हैं। यह भूतादि व्याख्या है। जब इन्द्र को मनः के रूप में या चन्द्रमारूप में वर्णित किया जाता है तब इसे वैश्य कहते हैं। पर मनोब्रह्मरूप में वह ब्राह्मण ही है। ये सब वर्णना शैली के भेद हैं तात्त्विक भेद नहीं। वास्तव में बृहस्पति ज्ञानरूप तत्त्व है, वह ब्राह्मण है, यह सब कर्मों की अन्तिम स्थिति है और ब्रह्म या ब्राह्मण है। मध्यमप्राण शक्ति, बल, प्रभुत्व और विजय का प्रतीक है अतः क्षत्र या क्षत्रिय है सदा संरक्षक तत्त्व है योद्धा प्रतिहर्ता है। अतः वीर महावीर विजयी भी है। इसके शस्त्र वज्र आदि चक्र रूप सर्वैक्यता है। मनः विचार पद्धति के व्यापार का स्वामी है नाना

विचारों की कल्पना की दूकान सजाकर उनमें से एक को अपनाने का व्यापार करता है अतः वैश्य है। यह दूकान चन्द्रमारूप स्फटिक शिला में सजाई जाती है। अतः चन्द्रमारूप इन्द्र भी वैश्य ही है। आभ्यन्तर बाह्य दोनों जगतों का ऐक्य पूषा है जिसमें अन्तर्जगत् छिप जाता है बाह्य जगत् अन्तर्जगत् की सेवा में रहता है अतः शूद्र कहलाता है। अतः पूषा से इस पर्दे को हटाने की प्रार्थना की गई है। इन्द्र ही सबसे पहले उस अन्तर्जगत् को अपने योगबल से प्रकट कर हमें प्रकाश देता है। इन्द्र मौलिक सृष्टि के पूरे हो जाने पर योग करता है। अतः इसका नाम ३३ देवताओं के अन्त में दिया है। वह योग द्वारा देवताओं को पुनः जागृतिरूप नवीन सृष्टि करके अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। अतः सबसे कनिष्ठ होने पर भी सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बनने का श्रेय लेता है। यह न होता तो हम सब अन्धकार में ही रह जाते। यह हमारे लिए एक नई सृष्टि करता है, नवीन जगत की रचना करता है, वह सब योग द्वारा ही करता है, अतः इन्द्र नाम इस ब्रह्माण्ड के प्रथम महायोगी का है।

परन्तु यह बात नहीं है कि जिन देवताओं और असुरों की चर्चा यहां की गई है वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। ये सब अवश्यमेव इतिहास प्रसिद्ध और ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं। जैसे इन्द्र कोई महेन्द्र नाम का प्रसिद्ध ऋषि था जो सर्वप्रथम योगी है, वृत्र किसी त्वष्टा नामक व्यक्ति और दनु का पुत्र है, इसी प्रकार अन्य असुर भी अपने अपने समय के भौतिकताप्रिय दुर्जन प्रजा या राजा हैं जिन्होंने अपने युगों में योगियों, साधुओं, ऋषियों, ऋजु-मार्ग के आर्यों और उनके इस सनातनधर्म को बड़ी भारी ठेस पहुँचायी, पर उन्हें उक्त प्रकार से विजित, पराजित, वशीभूत और नष्ट कर दिया गया। परन्तु साथ में यह भी न भूल जाना चाहिए कि ये नाम किसी व्यक्तिविशेष के न होकर जातिवाचक हैं, ये साधारण जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं जनता में अच्छे-बुरे सदा हुए हैं रहेंगे। उन्हीं के वर्णन के लिए ये नाम चुने गये हैं।

पुराणों में जिन जिन देवासुर संग्रामों की चर्चा आई है वे भी उक्त नामों को अन्य नाम, पर उसी अर्थ या भाव रखने वाले नाम देकर, उन्हीं युद्धों को नये रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये तत्कालीन राजाओं या प्रजाओं के द्वन्द्वों के भी सामान्य इतिहास हैं। किसी व्यक्तिविशेष के नहीं, इसीलिए उक्त दार्शनिक भावनाओं की पूर्ण व्याख्या करने में समर्थ भी हैं। जैसे गजग्राह का समुद्र में युद्ध। समुद्र प्राणों का आपोमय शरीर है, उसमें दैवी प्राण गज है, आसुरी प्राण ग्राह है. एक ही शरीर के दो मुख हैं। एक ओर दैवी गज मुख है दूसरीओर ग्राहरूप

असुर मुख है। दैवी गज में जब सोम ज्योति आ जाती है तो वह विष्णुरूप से उस ग्राहरूप असुर के अन्धकारमय भौतिकता के रक्तमांस खाने की प्रवृत्ति को नष्ट करके उसे भी देव रूप में परिणत कर प्राणों के दोनों मुखों को कुण्डलाकार रूप में देवता बना देता है। इसी प्रकार अन्य युद्धों के वर्णनों का रहस्य भी समझना चाहिए। (३२ से ३५ तक)। दुर्गासप्तशती के पात्रों के युद्ध का रहस्य लेखक के 'पञ्चम वेदपुराण दर्शन' में 'दुर्गासप्तशती योग का रहस्य' देखें।
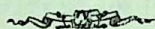
अध्याय ३ पाद ३

कः सोमः

(१) अथः सोमः सोमपानं च ।

(२) 'इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ।
इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विष एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा ॥" (यजुः ९-४०)

(३) असपत्नोऽद्वितीयोऽनिर्वचनीयश्च स सोम एव । इमं तं सोममेव हे देवाः अग्निवायुसूर्यचन्द्रमा दिशोऽन्तरिक्षं द्यावापृथिवी च; सुवध्वमुद्दीपयत वाष्वयत, स्वस्वशरीराणां प्राणानामेककटाहे चम्वोर्द्यावापृथिव्योर्वा । कस्मा इति —तस्मा इन्द्रियाय रसमयप्राणवते, तस्य इन्द्रस्य च तेषां प्राणानां जनानां राज्याय प्रकाशनाय, महतेऽखण्डब्रह्माण्डव्याप्तरूपाय प्रकाशनाय, देवानां ज्येष्ठतमाय, महते व्याप्तिबलिने क्षत्रबलाय । इन्द्रस्य विद्दतिद्वारभेत्तुरिन्द्रियाय रसाय रसमयाय च तं सोमं सुवध्वमुद्दीपयत । इन्द्रिय इति रसः 'इन्द्रियो रसः' (ऋ. वे. ९-१०)

(४) कोऽसावितिप्रश्ने चोत्तरयतीमममुष्यपुत्रमिति—सः सोमोऽमुष्याग्नेः पुत्रो यतोऽग्निरेव 'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्' (ऋ० वे० १-६९-१) तथा- 'ऽग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयितेति' (श० प० ब्रा०)। सोऽग्निरेव जनिता प्रथमो देवानां योगेन । कस्यां जनयतीति पुनः प्रश्ने चोत्तरयत्यमुष्यै पुत्रमिति—स सोमोऽग्नेः पुत्रोऽमुष्यै पृथिवीरूपिण्यै भौतिक-ब्रह्माण्ड-शरीरिण्यैतस्यामेव जनयति (शरीररूपिण्यै स्त्रियै जनयतीत्यर्थः) । कस्मै फलायेति प्रश्ने चोत्तरयत्यस्यै विशे इति—तं सोममस्यै प्राणरूपिण्यै प्रजायै तस्य ज्योतिषा नित्यमेव प्रकाशमाना राजमानाऽमृतज्ञानमयी च भूयादिति लक्षेण जनयति ।

(५) अथ 'एष वोऽमीति' सोमस्य महामहिमानं दर्शयति च । एष सोमो वो युष्माकं देवानामग्निप्रभृतीनाममी चामीषां च प्राणानां प्रजानां (व इति षष्ठ्यन्तानुबन्धादमीशब्देऽपि षष्ठीबहुवचनं स्पष्टम्) राजा राजयिता विराजयिता स्वज्योतिषा प्रकाशयिता स्वज्ञानामृतेन च ।

(६) अथ च ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां कृते तस्य किं फलमिति धारणायां निगदति— अयमेव सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां योगरतानां वेदविदां वेदविदुषां ज्ञानाधाराणां प्राणानां च सदा 'राजा' राजमानः प्रकाशमानो ज्ञानमयो विज्ञानमयश्चेतनामयो ज्योतिर्मयोऽमृतः स्वाधीरिति कथितः पूर्वैः ।

अब सोम कौन है ? क्या है ? और सोमपान किसे कहते हैं, कैसे किया जाता है ? इनका रहस्य खोला जाता है। सोम की विशिष्ट परिभाषा यजुर्वेद ने एक ही मंत्र में विस्तारपूर्वक दे दी है। इसमें लिखा है कि यह सोम नित्य शत्रुहीन, प्रतिद्वन्द्वीहीन अनिर्वचनीय और एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म है। इस सोम देवता को, हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, दिशा, अन्तरिक्ष और द्यावा पृथिवी नामक देवताओ ! अपने शरीरों में चुवाओ, टपकाओ, भपके की तरह बूंद बूंद में इसका रसास्वाद लो, उद्दीप्त करो। किस लिए ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि उस प्राणों वाले इन्द्र देवतारूप, मनोरूप के लिए, इस इन्द्र और इसके प्राणों के राज्य या राजमानता या प्रकाशमय ज्ञानमयता के लिए, ऐसे प्रकाश के लिए जो महतोमहान् है, सर्वत्र व्याप्त है, अखण्ड कोटि ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, ऐसे तत्त्व के लिए जो सब देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ (मध्ममप्राण) इन्द्र है, जिसमें महान् क्षत्रबल, धृतिबल, धारणाशक्ति है। और ऐसे इन्द्र के लिए जिसमें सोमरूप प्रकाश ज्योति धारण करने या प्रतिविम्ब ग्रहण करने का चान्द्रमस स्फटिक शिलारूप इन्द्रिय या रस का सागर है, ऐसे सोम को प्रदीप्त करो। इन्द्रिय नाम वेदों में रस का है, हमारी इन इन्द्रियों का नहीं है। यह सोम कौन है ? इसके उत्तर में लिखा है :—कि यह सोम अमुक (अग्नि) का पुत्र है क्योंकि अग्नि ही योग प्रक्रिया में देवताओं का पुत्र होने पर भी उन्हें उद्दीप्त करने के कारण, उन देवताओं का जनक या पिता कहलाता है। यही अग्नि देवताओं का मुख या अग्रणी और प्रजननकर्ता भी है। इस प्रकार यह अग्नि ही देवताओं का सर्वप्रथम जनक है। वह किसमें इस सोम को जन्म देता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यह अग्नि अमुकी देवी (पृथिवी माता) में इस ब्रह्माण्ड के शरीर रूप में इस सोम को जन्म देता है। अर्थात् शरीर रूपिणी स्त्री में इसे जन्म देता है। किस फल के लिए जन्म देता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इस सोम को विश नाम की प्राणरूप प्रजा को ज्ञानप्रकाश ज्योति देने के लिए जिससे वे आसुरी वृत्तियों में न भटकने पावें। इसी लक्ष से यह अग्नि उस सोम की उद्दीप्ति करता या उसे जन्म देता है। अब इस सोम की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह सोम आप देवताओं का, अग्निप्रभृतियों का और इन प्राणरूप प्रजाओं का भी राजा या राजमान, प्रकाशमान और ज्ञानप्रकाश का दाता है या अमृत ज्योति का दाता है। इस सोम का ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों और प्राणों को क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी कहा है कि यही सोम हम ऋषियों, ब्राह्मणों या योगियों और इन ऋषिरूप प्राणों का भी राजा या राजमान, विज्ञानमय, चेतनामय, ज्ञान-

प्रकाश की अमृत ज्योतियों से भरा मुख्य तत्व है जो अपने को स्वयं में स्वयं धारण करने में समर्थ है, यह पूर्व ऋषियों ने भी—बार बार कहा है (१ से ६ तक)।

(७) कः सः सोमः स सैव यो 'विष्णो रश्वस्य रेतः' (ऋ० वे० १–१६४–३५) वेद्यां शरीरब्रह्माण्डे निगूढः

(८) ये तु चोषधीभ्यः सोमस्य सवनमेवेति मन्यन्ते तैरध्येतव्यं वेदोक्तमित्यम् ।

"सोमं मन्यते पपिवान् यत्सम्पिशन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्नतस्याश्नाति कश्चनः ॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णमिच्छण्वन्तिष्ठसि न हि ते अश्नाति पार्थिवः ॥"

(ऋ० वे० १०-८५-३४)

(९) मन्त्रं प्रथमं स्पष्टम् । द्वितीये चोक्तं भवति यदेते कृत्रिम सोम सवितारः कर्म काण्डिनो वञ्चिता सोमस्याश्मना वा ग्राव्णा वा नाम्ना; नहि स दृषद्वा नहि चोपलं वा । हे सोम ! त्वं तु बृहत्या वाचो विधानैश्छन्दाक्षरैः सुरक्षितो गूढः शरीरे ब्रह्माण्डे, न वहिर्गतोऽपित्वन्तर्गतं ज्योतीरूपं ज्ञानमयं ब्रह्म यं वेदविदुषो ब्रह्मवादिनो वेदविदो विष्णुरित्यन्तज्योतिष मेव मन्यन्ते । तव ग्रावन्नाम्ना प्रस्तरमिति दृषदुपल इति श्रुत्वा ते वञ्चिता । त्वं चान्तरनुभूतिविषयो न तु वहिर्मुखात्पानविषयः । अवश्यमेव बहिर्मुख पानीय सोमरस सवने विधिरभिनयो वै तस्यैवानुभूतिकस्व सोमस्य, तस्य परिपाकस्य च प्राणानां पात्रे प्राणानां शरीर रूपायां वाष्परूपे निष्पत्तेश्चेति विज्ञेयम् ।

यह सोम कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर तो विदित हो हो गया है कि यह वही सोम है जिसे विष्णुरूप अश्व या प्राण का रेतः या शरीर या ज्योति कहते हैं जो इस शरीर की वेदि में निगूढ बतलाया जाता है। जो लोग जड़ी बूटी छान पीस कर सोम का सवन कर लिया करके समझने की बड़ी भारी भूल करते दिखाई पड़ते हैं उनको ऋग्वेद की दी हुई उक्त ऋचा का अध्ययन करना चाहिए जिसमें यह स्पष्ट लिखा है :—जो लोग जड़ी बूटी को पीस घोट कर छानकर यह समझ लेते हैं कि उन्होंने सोम का पान कर लिया, वे बहुत भूले हैं। ब्राह्मण दार्शनिक ऋषिगण जिसको सोम नाम से अनुभूत करते या पुकारते थे उसको तो कोई भी इस प्रकार नहीं खा या पी सकता ; वह तो अनुभूति का विषय है, खाने पीने की वस्तु नहीं। हे सोम तुमको तो बृहती छन्दाक्षरों के तत्त्वाक्षरों के नियमित स्वरूप या स्थान में अनेक प्रकार के कोशों के विधानों

के आभ्यन्तरीय भाग में निगूढ रखा गया है, यद्यपि वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। ये लोग तुम्हारा नाम ग्रावन् या सिलबट्टा या पत्थर (अश्मा) सुन कर बहुत बहुत ठगे गये हैं। ध्यान में रखें या याद रखें तुम्हारा पान तो इन लोगों जैसा कोई भी मिट्टी का पुतला नहीं कर सकता, तुम तो योग की अनुभूति के विषय हो। अवश्यमेव द्रव्य यज्ञ में इस सोम, की अनुभूति और उद्दीप्ति की सरणि का जो अभिनय किया जाता है उसे भी याज्ञिक लोग सोम कहते आये हैं। पर यह पानीय सोम वैदिक दार्शनिक सोम का परिपाक प्राणों के पानी भरे पात्र में अग्नि से कैसे किया जाता है ? इसका अभिनय मात्र देता है। जिस प्रकार भपके से भाप निकाल कर सोम रस चुवाया जाता है ठीक उसी प्रकार आपोमय प्राण शरीरों के पात्रों को शरीर की अग्नि से उत्तप्त करके वह अमृत ज्योति रूप सोम खींचा था उद्दीप्त किया जाता है। अतः यहाँ प्रक्रिया मात्र का प्रदर्शन है वास्तविक सोम का नहीं (७ से ९ तक)।

(१०) (क) महत्तत्सोयो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥
(ऋ० वे० ९–९७–४१)

(ख) "अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्म ञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अत्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दु ॥"
(ऋ० वे० ९-९७-४०)

(ग) स तु "सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताग्ने र्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥"
(ऋ० वे० ९-९७-५)

वेदों में तो इस सोम की महिमा इस प्रकार गाई गई है :—

वह मही या पृथिवी या वेदि में निवास करने वाला महिष नामक सोम तो महतोमहान् है, आपोमय प्राणों में देवताओं की ज्योति रूप गर्भ धारण कराता है, इन्द्र में इन्हें पूत करने की ओजः या शक्ति धारण करता है और सूर्य रूप विष्णु से भी इन्दुः रूप शीतल ज्योति प्रस्फुटित करता है। यह इस अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने वाला राजमान तत्त्व है और प्राण रूप प्रजा को दैवी रूप में प्रस्तुत करता है और उन प्राणों के आसुरी सागर को पार कर जाता है। वह इस पृथिवी रूप पर्वत की चोटी में–अव्यय चोटी में बृहत् रूप में चन्द्रकिरण रूप पवित्र ज्योति को चुवाता हुआ वर्षण शील वृषण या वृषभ कहलाता है। यह सोम प्राणों में ज्ञान ज्योति का जनक है सृष्टि के पूर्वार्द्धीय भाग को अपनी ज्योति से प्रकाशमान कर उसे भी दिव्यरूप में जनन

करने वाला है, उसी से यह पृथिवी या ब्रह्माण्ड भी निर्मित होता है, उसी से अग्नि (वैश्वानर) की उत्पत्ति होती है, उसी से सूर्य सविता अपना सवन कार्य प्रारम्भ करता है, वही इन्द्र का जनिता है, वही विष्णु को प्रकट करने से विष्णु का भी जनक है। वह इन सबको अपनी ज्योति देता है, अतः इनका ज्योति दानीय जनक है, सृष्टिपक्ष में सोम से ही इनकी सृष्टि होती भी है। (१० क ख ग)।

(११) सैव "ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनामृर्षिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्र मभ्येति रेभन् ।।"

(ऋ० वे० ९-९७-६)

यह सोम देवताओं का योगयज्ञकारक मनोरूप ब्रह्मा है, योगियों (कवीनां) के योगयज्ञ का मार्गदर्शक या पथ प्रदर्शक या पदवी है, ज्ञानी ब्रह्म वेत्ताओं का यह ऋषि रूप मुख्य प्राण है, पञ्चपशु या वायव्याररायग्राम्य पशु नामक प्राण तत्त्वों का यह महिष रूप अग्नि है, गृद्ध नामक सप्त सुपर्णो छन्दोमय साध्या देवताओं का यह श्येनरूप जातवेदा अग्नि है, आपोरूप प्राणों के वन का यह स्वयं को स्वयं धारण करने की शक्ति देता है। इस प्रकार यह सोम परम पूत तत्त्व रूप में सर्वत्र सबको भिन्न भिन्न रूप में प्राप्त होता रहता है (११)

(१२) तस्य "तिस्रोवाच ईरयन्ति प्रवह्नि ऋंतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ।।"

(ऋ० वे० ९-९७-३४)

अग्नि तत्त्व तीन प्रकार की वाणियों को प्रेरित करता है इनको ऋत्यजुः साम नामक विद्या पाद कहते हैं। ये सब ऋत नामक सोम ज्योति रूप ब्रह्म को अभीष्ट है। भौतिक प्राण उस सोम की इच्छा करती हुई और उक्त तीन पादों के दैवी प्राणों के प्रकाश मार्ग का अनुसरण करती हुई उसे उसी प्रकार प्राप्त हो जाती हैं जैसे गायें सूँघ सूघ कर अपने गोपति तक पहुँच ही जाती हैं (१२)

(१३) तमेव "सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्राः मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते ।।"

(ऋ०वे० ९-९७-३५)

जिस प्रकार प्राण रूप गायें सोम की कामना करती हुई उसे प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार योगी ब्राह्मण अपने ज्ञानात्मा प्राणों के द्वारा कामना करते

हुए ढूँढते हुए उस सोम को प्राप्त हो जाते हैं। जब सोम का प्राणों में सवन हो जाता है उद्दीप्त हो जाता है, वह उनमें प्रादुर्भूत होने के समय उनको पवित्र कर देता है। इस सोम रूप ज्योति को अर्क देवता ज्योतिर्मय देवता रूप त्रिष्टुप् छन्दाक्षरों की श्रेणियों में क्रमशः चढ़कर प्राप्त किया जाता है (१३)

(१४) स च "सप्तार्ध गर्भा भुवनस्य रेतो विष्णो स्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभि र्मनसा ते विपश्चितः परि भुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥"

(ऋ० वे० १ १६४-३६)

यह सोम ६१ प्राणों के पश्चात् उस विष्णु रूप या मूल ज्योतिर्बीज रूप में विद्यमान रहता है। इसका अतिक्रमण या सीढियाँ विष्णु के त्रिविक्रमों की सराणि में तीन परिधियों को पार करके किया जाता है वियोगी जन अपने दैवी प्राणों और मनः से ज्ञानवान् बन कर उस रेतोरूप सर्वत्र व्याप्त प्रकाशमय बीज को अपने वशीभूत कर लेते हैं (१४)

(१५) सैव च "अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो।
ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥"

(ऋ० वे० १-१६४-३५)

यह सोम वृष्ण नामक विष्णु रूप अश्व या प्राण का प्रकाशमय रेतः है; यही वाक् रूप होता का परम व्योम उच्चतम स्थान और यज्ञाधिष्ठाता ब्राह्मण भी है (१५)

(१६) अस्य निवास भूमिस्तु-"इयं वेदिः परमन्तः पृथिव्याः" (ऋ० वे० १-१६४-३५)

(१७) तस्य यज्ञ कर्ता च-"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" (,, ,, ,,)

इस सोम की निवास भूमि तो इस ब्रह्माण्ड या शरीर रूप पृथिवी या वेदि या भौतिकता की परम अन्तिम सीमा पर है। इसका यज्ञ कर्ता वही अमृत भरी योग की नाभि या वही नाभि वाणी ब्रह्मा या मन है (१६-१७)

(१८) स वै ज्योतिषां "एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरि जन्मा विचष्टे।
सिषक्त्यूध र्निण्यो रूपस्य उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः ॥"

(ऋ० वे० १०-५-१)

यह सोम ज्योतियों का और सब प्राण और देवता रूप रत्नों की खान रूप सब का आधारभूत एक सागर है। यह एक ऐसा ह्रद सा है जिससे अनेक तत्त्वरूप देवताओं को जन्म मिलता है। पर यह सृष्टि या योग मार्ग के मध्यभाग

में एक ऐसे मूलस्रोत रूप निर्झर की तरह निरन्तर बहता रहता है जहां किसी का कोई दूसरा रूप या नाम नहीं है, यहीं पर विष्णु रूप वामन रूप वामरूप पक्षी या देव सुपर्ण का निवास है। वह इसी के सागर का एक अभूतपूर्व हंस है, पर इसमें छिपा रहता है, यही उसे सिञ्चित स्तनपानित या प्राणित या सुरक्षित या गूढ रखे रहता है (१८)

(१९) स समुद्रस्तु ब्रह्मणो मानसिक शरीर रूप कमण्डलौ कलशे वा सीदति।

(२०) स समुद्रः कलशः कमण्डलु र्वा ब्रह्मणो रुद्रस्याग्नेः शरीरस्य सप्त प्राण गर्भः पञ्च प्राणगर्भो वा।

(२१) यश्च छन्दसां मात्राभि विभक्त श्चैवम्ः—

"तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजनुराजति ष्टुप्।
समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥"

(ऋ० वे० ९-९६ १८, १९)

सोम का यह ज्योतिर्मय सागर मनोब्रह्माण्ड रूप ब्रह्मा के कमण्डलु में या कलश में रहता है। कमण्डलु ही ब्रह्मा का मनोब्रह्माण्ड शरीर है; या कलश है या घट है। यह रुद्र या अग्नि के सप्तार्ध गर्भ प्राणो वाला शरीर है या पञ्च-प्राण गर्भ शरीर है। छन्दों के द्वारा इस कामण्डलवीय या कालशेय सागर के जिस कोने में इसका केन्द्र विन्दु है उसे सूचित करने के लिए कहा हैं कि विराट छन्द के दशाक्षरी गणना में इसको तृतीय धाम या भाग में या पाद में २० से ३०वें के बीच में (सोम २६ वां तत्व है) बताया है तो अनुष्टुप् के अक्षरों की गिनती के अनुसार इसका स्थान चौथे पाद में २४ से ३२ तक में (२६ वां) पड़ता हैं। जो जिस सीढ़ी से चढ़े वह इनका ध्यान अवश्य रखे; नहीं तो फिसलने, निराश होने की शंका भी है (१९ से २१ तक)।

(२२) स तेषु कमण्डलु समुद्रेषु 'सुवानः सोमः कलशेषु सीदति' ('वैदिक विश्व-दर्शन' 'सोम और कलश' शीर्षकं द्रष्टव्यम्)

(२३) ब्रह्म कमण्डलू रुद्राग्ने स्तपितः सन्त्सुनुते सोमं ज्योतिषम् प्राणेषु। यत 'स्तम आसा त्तमसा गूल्हमग्रे' (ऋ० वे० १० १२९-१)

(२४) 'सः शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः' 'स एवामृताय महे क्षयाय' (ऋ० वे० ९-१०९-३)

(२५) विष्णुरादित्यः स्वं ज्योतिषं सोमं 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्र मुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीना स्याम शरदः शतम्'। (ऋ० वे० ७-६६-१६ यजु ३६ २४)

(२६) स यः सः सोमः सोऽर्कः स रेतस्तज्ज्योति स्तच्छुक्रं तत्पीयूषं तदमृतम् ।
(२७) तत्त्वं "दाक्षायो अर्यमेवासि सोम !" (ऋ० वे० १-९१-३)

अखिल ब्रह्माण्ड भी महासागर या महा कलश है । प्रत्येक ब्रह्माण्ड भी एक-एक कलश या कमण्डलु है । वह सोम इन सब में रहता है, गूढ रहता है । इसका वर्णन वैदिक विश्व दर्शन में सोम शीर्षक में पढ़ें । यह ब्रह्म कमण्डलु रुद्राग्नि से तपित होकर प्राणों में सोम ज्योति को टपकाता है । इसी लिए इसे शुक्र अर्ष और दिव्य पीयूष कहा जाता है । यही अमृत और महान् जीवन का दाता हैं । विष्णु तो आदित्य है । जो विष्णु आदित्य है वह अपनी इस सोम ज्योतिरूप शुक्र को, देव के प्राण रूप को सर्वतः छिटकाता रहता है जिसको पाकर प्राणी सैकडौ वर्षो तक जीवित रहते वोलते सुनते देखते रहते हैं । जो यह सोम है उसी का नाम अर्क भी है, वही रेतः भी है, वही ज्योति है वही पीयूष है, वही अमृत है । जो इसे पी लेता है वह अमर हो जाता है, जब तक यह सृष्टि नष्ट न हो जावे । इसको दाक्षायी या दक्ष या दक्षिणायनी योग यज्ञ से उत्पन्न अर्यमा नामक पितर भी कहते हैं । यह है सोम; अर्यया नाम ऋजु स्वभाव के तत्त्व का है जिसको जागृत करने वाले भी ऋषि आर्य कहलाते थे (२२ से २७ तक)।

अब विद्वानों से एक ज्वलन्त, चुभने वाले और सम्बद्ध प्रश्न करने का अवसर आ पहुँचा है, कि क्या जिस (सोम) तत्त्व का विवेचन महर्षियों ने पूर्वोक्त ढंग से दे रखा है उसको कभी भी सपने में भी जड़ी बूटियों का घोटा रस, या मदिरा या सुरा हो भी सकती है करके सोचा भी जा सकता है ? क्य। इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि उपनिषद् युग के पश्चात् के सभी शताब्दियों के विद्वानों ने योग के इस परमोच्च सर्वोच्च तत्त्व की विवेचना के साथ बहुत बड़ा भारी अन्याय किया है ? क्या अब भी इस सोम तत्त्व को इस प्रकार भलीभाँति समझ लेने के पश्चात् भी वर्तमान युग के सभी वैदिक या अवैदिक विद्वान् , एक स्वर से चिल्लाकर एक सम्मिलित जोर लगाकर अपने पूर्ववर्ती लोगों की इस हिमालय के समान महती भूल को सुधारने के लिए कटिबद्ध होंगे ?

अध्याय ३ पाद ४ (अ)

अथ सोमपानम्

(१) (क) सोमपानं तु योगिनामेव ।

(ख) त्रय एव सोमपायिनो देवा मनुष्याः पितरश्चते योगिन एव ।

(२) सृष्टौ मन एव पिता वाङ्माता प्राणाः प्रजाः (बृह० उप)।

(३) तत्र मन एव पितरो वागेव देवाः प्राणा मनुष्याः (श० प० ब्रा०)।

(४) योगे तु तद्विपरीतं प्राण एव पिता वाङ्माता मनोवत्सः (बृ० उप०)।

(५) अत्र प्राणा एव पितरो वागेव देवा मन एवेन्द्रो वेधा वा मनु र्मनुष्यो वा । तस्मात् ।

(६) 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' (ऋ० वे० १-८९-९)

'स पितुष्पिता सत्' (ऋ० वे० १-१६४-१६)

'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्' (ऋ० वे० १-६९-१)

"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेद महं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ॥"

(ऋ० वे० ४-२७ १)

(७) अत्राङ्गिरसा नवग्वा दशग्वा वा पितरोऽग्न्यादयो देवा मनो वेधा इन्द्रो वा मनुर्वा भौतिका प्राणाश्च मनुष्याः वा त एव ।

(८) सृष्टौ मनसो ब्रह्मणो मनोः प्रजापतयः प्राणाः प्रजाः मनुष्या जायन्ते ।

(९) तत्राहरेव शुक्लः पक्ष उत्तरायणे वा देवा मध्ये पितरः कृष्णे रात्रौ दक्षिणायने मनुष्याः ।

(१०) योगे तु पितरो दक्षिणायने कृष्णे रात्रौ मनुष्या मध्ये देवा श्चोत्तरायणान्ते ।

(११) ते "द्वे स्रुती अश्रृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।'

(ऋ० वे० १०० उप० १५)

(१२) सृष्टौ तु अमृता देवाः पितरो मनुष्याश्च सर्वे सोमं दिव्य शरीरं ज्योतिः प्राप्य विश्वेदेवा भवन्ति कुर्वन्ति च बाह्य सृष्टिम् ब्रह्माण्डस्य कृष्णं कुहूरूपम् ।

(१३) परन्तु योगे तु ते सर्वेऽपि विश्वेदेवासः सोमपानेन पुनश्चामृता एव भवन्ति कुर्वन्ति चातिसृष्टि मन्तर्मुखीम् प्रकाशयन्ति च कुहू रूपं ब्रह्माण्डं स्वं शरीरं तेन सोमेन ज्योतिषाविष्णोः वृष्णस्य रेतसाऽखिल ब्रह्माण्डं ज्योतिर्मयमादित्यमयं च ।

(१४) यो योगी वेधाः स ब्रह्मा वा विहतिद्वारभेत्तेन्द्रो वा स्फटिकसमं स्वमन्धकार मयं मनो यत्तत्सोमेन ज्योतिषा विष्णोरेतसः प्रतिविम्बं प्रतिगृह्य प्रकाशमयं ज्ञानमयं प्रचेतसं च करोति तद्वै वेधस इन्द्रस्य वा सोमपानम् सोमपाऽसाविन्द्रो वै नित्यं महायोगित्वात् ।

(१५) तस्मादुक्तं भवति—

"एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम् ।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥" (ऋ० वे० ८-७७-४)

स इन्द्रः सोमस्योक्तप्रकारस्य काणुका कान्तकानि कान्तकानि (कान्त कान्तिः) कृतकानि (कृतकान्ति वा) इन्द्रः सोमस्य (सोमेन वा) कान्तः (प्रकाशमानः) (नि० ५-११) । यदाइन्द्रो सोमस्य त्रिंशत् सरांसि— उत्तरायण दक्षिणानयोः शुक्ल कृष्ण पक्षयो स्त्रिशद्भागमितानि सोमानां ज्योतिषां सरांसि एकेनैव प्रतिधानेन एकस्मिन्नेव काले साकं युगपदेवापिबत् तदा स सोमेन ज्योतिषा स्वमात्मानं यथोक्त प्रकारेणाऽभूषयद् प्रकाशयत् ।

सोमपान का सौभाग्य केवल योगियों को ही प्राप्त है । ऐसे सोमपान सौभाग्य शाली योगी जनों में तीन श्रेणियां मुख्यतः आती है । वे हैं देवता मनुष्य (तत्व) और पितर । सृष्टि काल में मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण प्रजा है । इनमें से मन ही पितर है, वाक् ही देवता है और प्राण ही मनुष्य नामक तत्त्व हैं । परन्तु योग पक्ष में प्रक्रिया इसके बिलकुल विपरीत होती है । यहां प्राण ही पिता है वाक माता है और मन वत्स या प्रजा है । यहां प्राण ही पितर हो जाते हैं, वाक् देवता होते हैं और मन ही इन्द्र या वेधा या मनु या मनुष्य होता है । इसिलिए वेदों में कई स्थलों में स्पष्ट कहा है कि ऐसी स्थिति में सृष्टि काल के पुत्र नामक तत्त्व पितर या पिता हो जाते हैं । इसी सन्दर्भ को दृष्टिपथ में रखकर वामदेव ऋषि कहते हैं कि मैंने इस योग प्रक्रिया के प्राणों के गर्भ में रहकर देवताओ को प्रादुर्भूत या उद्दीप्त होते देखा । और मैं यहां इस शरीर के सैकड़ों लौहमय जाल से श्येन की तरह झपटकर भाग कर उस प्राणमय गर्भ में प्रविष्ट हो गया । ये प्राण पूर्वार्द्धीय पितर हैं । इन पितरों में वे तत्त्व आते हैं जिन्हें नवग्वा दशग्वा अङ्गिरस (पितर) अग्नि आदि देवता मनः वेधा इन्द्र मनु या मनुष्य नाम से पुकारा जाता है । सृष्टि काल में मनो रूप ब्रह्मा या मनु से प्रजापति रूप प्राणों की प्रजा या मनुष्य उत्पन्न होते है । इस स्थिति में अथवा उत्तरायण या शुक्ल पक्ष या पूर्वार्द्ध का ही नाम देवता है, मध्यस्थान पितरों का है और उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन या कृष्ण पक्ष या रात्रि मनुष्यों की है । परन्तु योग में इसी दक्षिणायन या कृष्ण पक्ष के तत्त्व पितर बन कर योग के द्वारा सोमपान करते हैं जो योगमध्य

स्थान में देवता रूप को धारण करके सोमपान करते है। अतः देवता मध्यस्थानीय होते हैं। यह स्थान उत्तरायण की अन्तिम सीमा में पड़ता है। इसलिए वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों ने बार बार कहा है कि देवताओं पितरों और मनुष्यों के दो मुख्य मार्ग हैं जिनको क्रमसे देवयान और पितृयान नाम से भी पुकारते है। सृष्टि काल में पूर्वार्द्धीय अमृत देवता पितर और मनुष्य नामक तत्त्व सोम को पाकर या भौतिकात्मा का शरीर पाकर विश्वेदेवता रूप आदित्य कहलाते हैं और वे भौतिकात्मीय सृष्टि करके इस ब्रह्माण्ड की पूर्वार्द्धीय अमृत ज्योति को उस भौतिकात्मा के पर्दे में छिपा कर नाना प्रकार की सृष्टियां रचकर कुहू रूप अन्धकारमय अज्ञानमय मोहमयी रात्रिरूपा सृष्टि करते हैं। परन्तु योग पक्ष में सभी विश्वेदेवता योग प्रक्रिया द्वारा सोमीय अमृतमय ज्योति को उद्दीप्त करके अतिसृष्टि करते हैं, इनके अनित्य प्राणमय शरीरों से नित्य ज्योतिर्मय सोम के दीपक को उन शरीरों में पुनः प्रज्वलित कर उस कुहू रूप अन्धकार मय सृष्टि को भी पूर्वार्द्धीय सदा सर्वत्र देदीप्यमान सृष्टि के समान बना कर इस ब्रह्माण्ड में स्वर्ग का नान्दन बन बिछा देते हैं। यही योग की सबसे बड़ी महा महिमा है। अतः वह योगी वेधाः योग यज्ञ संचालक मनोरूप ब्रह्मा अथवा विद्दतिद्वार भेत्ता इन्द्र जब अपने अन्धकारमय मनः को उस सोम की ज्योति से, जिसे विष्णु का रेतः या तेजः या कान्तिः कहते हैं प्रकाशमय ज्ञानमय चेतनामय करता है तब समझ लीजिए कि उसने सोमपान कर लिया। इसी स्थिति का नाम (इन्द्र का) सोमपान है। अर्थात् सोमपान करने वाला इन्द्र सदा महायोगी मात्र है। इसीलिए लिखा भी है—कि इन्द्र तो सोम की कान्ति वाला है, या सोम से कान्तिमान् होता है। यह इन्द्र उस सोमसे कान्तिमान् तब बनता है जब वह उत्तरायण दक्षिणायन नामक दोनों शुक्ल कृष्ण पक्षों के या दोनों सृतियों या देवयान पितृयानों के ३० दिन रूप तीस भागों के सरों में बिखरे या व्याप्त सोम की ज्योति को एक ही घान में एक ही घूंट या गटकी में एकदम युगपत् एक साथ पूरी की पूरी पी जाता है (९ से १५ तक)।

(१६) आपो वै रेतः सोमः शुक्ल ज्योतिः शुक्लाम्बरो बृहत्पाण्डरवासस्तस्माद्विष्णुः पुरुषोत्तमः प्राणः शुक्लापोज्योतिर्वस्त्रशरीरधारणात्।

(१७) यद्यप्यग्न्यादीनां शरीराणि वाक् प्रभृतीनि चापोमयान्येव परन्त्वेतानि पूतियमानि कूहूमयानि तमोमयानि रात्रिरूपाणि। (श० प० ब्रा० १-१ ३-३)

(१८) तानि शरीराणी मेधयितुमेवाग्नि (वृषभ) 'मधरादुदायन्सप्तवीरासः' प्राणाः, 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'

(ऋ० वे० १०-२७-१५ १-१६४ ४३)

(१९) अग्निवृषभे कटाहे सप्तप्राणानाम्पाकः सोमपाकः।

(२०) तस्मा ' च्छकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।"

(ऋ० वे० १-१६४ ४३)

(२१) योऽयं धूमः स वाष्पमूष्माश्रु कशिपुरहिः ।

(२२) तस्मा ज्ज्योतिः सोमः इन्दु विन्दु स्रवणात्सागरो विष्णोः पुरुषोत्तमस्य प्राणस्य ।

(२३) तस्य तथा स्रवितस्य स्रावितस्य वा सोमस्य ज्योतिषां पानं प्राणानां नेता मनो वा ब्रह्मा वा इन्द्रो वा यदा करोति तदिदिन्द्रस्य सोमपानं ज्योतिः पानं ज्ञानचेतनाप्राणपानं वा तेन स समदः सात्मज्योतिः सानन्दः ।

विष्णु को शुक्लाम्बर धारी इसलिए कहा जाता है कि वह स्वयं उत्तम प्राण रूप पुरुषोत्तम है । प्राणों का शरीर शुक्ल वर्ण का आपः है । यही आपः रेतः या सोम नाम से पुकारा जाता है। इसीलिए सोम को भी बृहत्पाण्डर वासा या बृहती नामक ज्ञानमयी ज्योतिर्मान् कहा जाता है । इसी शुक्ल ज्योति शरीर धारण करने वाले विष्णु को शुक्लाम्बर या शुक्ल शरीर धारी कहते हैं । पर वह कृष्ण पक्षीय उत्तरार्द्धीय है अतः उसे कृष्ण मुख या कृष्णवदन या कृष्ण पक्षीय कहते हैं । यह 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानः' है, ईषत्कृष्ण पिङ्गल वर्ण का, वैद्युतीय विकिरणों के वर्ण का भीतर से है, बाहर से नहीं, बाहर से शुक्ल वस्त्र या शुक्ल शरीर का ही है । शरीर ही उसके वस्त्र हैं । यद्यपि अग्नि· प्रभृति देवताओं के वाक् प्रभृति शरीर भी प्राण होने से आपोमय ही हैं, पर इनके शरीरों का आपः तत्व दुर्गन्धिमय कुहूमय अन्धकार भरा है, रात्रिमय हैं । इन्हीं पूतिमय तमोमय शरीरों का मेधन या संशोधन था शुद्ध करने के लिए अग्नि रूप वृषभ के पास सात वीर नामक ये प्राण अधर या दक्षिणायन से आये । उन्होंने अपने शरीरों को उस अग्नि वृषभ का शरीर बना कर उन्हें उस अग्नि वृषभ के कटाह में पकाया और उसके भपके में खौलकर उस ज्योति के रूप को शुद्ध रूप शुक्ल रूप को धारण कर लिया जिसके धर्म या मूल बीज उनमें पहले ही से विद्यमान थे । वे शुद्ध बन कर सोमीय ज्योतिष्मान् बन गये । अतः अग्नि वृषभ कीं कढाई में खौलाये गये प्राणों कीं प्रक्रिया ही योग की प्रक्रिया है, यही वास्तविक सोमपान प्रक्रिया है । प्राणों की इस भपके की प्रक्रिया से निकलने वाले भाप का ही नाम शकमय धूम है गोमय पिण्ड सम धुंए का स्तूप उन गोरुप या गोमय रूप प्राणों की पाचन या पाक प्रक्रिया से निकल रहा है जिसके निकलने का स्थान भी विषुवान् या मध्यवर्ती गर्त स्थूण आदि नामक स्थान ही है । यह इस योगपक्ष के अवर या पूर्वार्द्ध से परे हैं अर्थात् सृष्टि पक्ष के पूर्वार्द्ध के या अवर के पास है । जिसे यहां पर धूम या भाप या

उष्मा का अश्रुमय स्रोत कहा जा रहा है वही सर्पाकार रूप तकिया या शयन शय्या है जिसमें विष्णु सोता या लेट लगाता या व्याप्र रहता है। अतः सोम उस ज्योति का सागर है जो बूंद बूंद टपक टपक कर उत्तम प्राणों के सागर की विष्णु के शरीर की या शय्या की रचना करता है। इस प्रकार अपने अपने अग्निमय आपोमय प्राणों के शरीर की कढ़ाई में भाप के समान बूंद बूंद करके टपका कर जिस सोम रस या सोम की ज्योतियों का रस प्रस्त्रावित या प्रस्त्रवित होता है उसको प्राणों का नेता मनोरूप वेधाः या इन्द्र या शरीर रूप रुद्र पान करता है तो वह इदिन्द्र या इन्द्र या वेधा का सोमपान कहलाता है जिससे उसको आखिलब्रह्माण्ड के अभूतपूर्व ज्ञान चेतना या प्राणों की उपलब्धि होती है, इसीसे उसको समदः यदमस्त, सोम के नशे में चूर, सात्य ज्योति या सानन्द या सप्राणः कहते हैं, यही सच्चा ब्रह्मानन्द है (१६ से २३ तक)।

(२४) (क) मनस इन्द्रस्य तथा सोमपानमग्निमुखेनान्यान्सर्वान् देवान् युगपदेव सोम-पानायाह्वयति, पिवन्ति च सर्वे सहगोष्ठी भिः समन्तात्, परन्तु प्राण एव गृहीताऽस्रस्थ सोमस्यादेः पान शक्ति स्तु प्राणस्येन्द्रस्थैव न तु मुखाग्ने स्त-स्मादिन्द्रो मध्यमः प्राण एव सोमपाता तेनैव सर्वे देवाः। (ऐ० उप १-३)
(ख) यतस्त्रय एव मुख्याः प्राण अग्नि रिन्द्रः सोमः प्रथमो मध्यम उत्तम स्तस्मादेव वेदेस्वेतेषामेव वर्णनाधिक्यम्।

मनोब्रह्माण्डमय इन्द्र का उक्त प्रकार का सोमपान अपने मुख द्वारा नहीं होता। उसके पास अपना मुख है ही नहीं। अखिल ब्रह्माण्ड एक शरीर रूप रुद्राग्नि के वाक् का शरीर है। उसी में सभी देवता सभी प्राण और सोम तथा विष्णु भी है। इस शरीर का मुख अग्नि देवता है। अग्नि ही उस सोम का परिपाक भी करता है। अतः मनोरूप इन्द्र इसी अग्नि रूप मुख से उस सोम ज्योति को ग्रहण करता है, अर्थात् वह मनोमय ब्रह्माण्ड अग्निमय तेजोमय होकर ही सोम के तेज को अपने में धारण कर सकता है। इसी प्रकार अन्य सभी देवता भी इसी अग्नि के मुख से या अग्निमय तेजस्वी बनकर उस सोम ज्योति का पान करते हैं। इसीलिए अग्नि का नाम होता आह्वाता या निम-न्त्रयिता है, वह देवताओं को देदीप्यमान करके उन्हें सोमपान की सुविधा का निमन्त्रण देता है। तब सब देवता एक साथ मिलकर उस ज्योति का आस्वा-दन एक साथ करते हैं। परन्तु खान पान की शक्ति तो अग्निरूप मुख में है ही नहीं, मुख तो अपने को खोल मात्र सकता है निगल नहीं सकता, न खा सकता है। निगलने खाने पीने की ग्रहण करने की शक्ति तो केवल प्राणों में या इन्द्र नामक मध्यम प्राण या मुख्य प्राण में ही है। अतः वास्तविक सोमपान कर्ता

तो इन्द्र मध्यम प्राण ही है, अन्य देवता उस अग्नि मुख से इस इन्द्र प्राण के द्वारा ही खा पी सकते है। और सबका सोमपान इन्द्र के सोमपान पर निर्भर करता है। इन्द्र पिए तो सब पी सकें सबको मिले, इन्द्र न पिए तो सब के सब ताकते रह जाते है। अतः इन्द्र से ही सोम पान की वारंवार प्रार्थना की गई है। ये ही तीन मुख्य प्राण हैं अग्नि इन्द्र और सोम जिन्हें प्रथम मध्यम और उत्तम, प्राण कहते हैं। इसीलिए सभी वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों में इन्ही तीन मुख्य प्राण रूप देवताओं की अधिक वर्णना है (२४)।

(२५) यतोऽग्नि वृषभे सोमपाकः सर्वेषां प्राणानां पाकेन सर्वेषां तेषां देवाना मप्युद्दीपन मिन्दुविन्दु रूपे 'रूपं रूपं प्रतिरूपं' च करोति।

(२६) यतो योग मार्गे एव सर्वेषां देवानामेकत्रैकस्मिन्मनस इन्द्रस्थ चन्द्र मणि स्फटिकें सभा, सोम ज्योतिष्पानाय विष्णोः रेतसः।

(२७) सृष्टि पक्षे तु देवानां क्रमिकोत्पत्ति स्तदनन्तरं तेभ्यस्तेषां प्राणानां युगपत्तस्मा 'त्साकं जाना सप्तथ माहुरेकज षषिद्यमा ऋषयो देवजा इति।"

(ऋ० वे १-१६४-१५)

(२८) यदा मुख्यानां त्रयाणा अन्येषां वा प्राणानामुत्पत्तिर्भवति तदा ते प्राणाः स्वेषां देवानां पत्नीर्भवन्ति ते गृहस्था गृहपतयश्च।

(२९) तेभ्यस्तस्मादाहुः 'स्त्रियः सती स्ताँ उ पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न विचेत-दन्धः।" (ऋ३ वे- १-१६४-१६)

येषां व्याख्या मार्कण्डेय महर्षिणा प्राधानिक रहस्ये स्पष्टी कृता भवति।

(३०) योगेन योऽमीरुद्दीपयति सः "कवि र्यः पुत्रः स इमा चिकेत यस्ता विज्ञा-नात्स पितुष्पिता सत्।" (ऋ० वे· १-१६४-१५)

क्योंकि रुद्र रूप या वाक्पति रूप अग्नि बृषभ में सोमपाक की योग प्रक्रिया होती है, अतः उसमें सभी प्राणों का भी या उन प्राणों के आपोमय शरीर का परिपाक ही होता है। इस प्रक्रिया से सोमपाक के पहले उन प्राणों में उनके पृथक्-पृथक् देवताओं की उद्दीप्ति हो जाती है। देवताओं का पाक विन्दु विन्दु के इन्दु रूप में होती है तो सोम की उन सब की सम्मिलित एकात्म्यीय ज्योति रूप में। इसीलिए सभी देवताओं का एकत्र सम्मिलन केवल योग प्रक्रिया में ही सम्भव होता है; अन्य समयों में इन्द्र से केवल एक ही देवता एक-एक क्षण में अलग-अलग मिल सकता है, एक साथ कभी भी नहीं, कभी जल्दी हुई तो एक सेकंड के हजारवें भाग में एक-एक करके मिलते हैं। परन्तु इस योगावस्था में इन्हें बाह्य कृत्यों में उलझना ही नहीं है। शरीर स्थिर और निष्क्रिय रहता है, तब उन्हें इस आनन्द मनाने की छुट्टी सी मिल

जाती है और यहाँ वे मनोरूप स्फटिक शिला में सभासद रूप में जैसे दीपावली की दीपमाला की ज्योतियों की तरह प्रदीप्त होकर मनो रूप स्फटिक शिला को प्रकाशमान बनाते हुए अपने प्रस्तर या अश्मा रूप में विष्णु के रेतोमय प्रकाशमय शरीर रूप सोम का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सब के सब एक साथ सोमपान करते हैं। सृष्टिपक्ष में तो देवताओं की सृष्टि क्रमशः एक-एक करके होती हैं जिनसे प्राणों की उत्पत्ति युगपत् होती है। इसीलिए कहा है कि छह प्राण तो यमल रूप में एक ही साथ उत्पन्न होते हैं पर सात्तवां (मनः) अकेला ही उत्पन्न होता है। इन प्राणों को तपस्वी तपोमय ऋषि और देवताओं से उत्पन्न कहा जाता है। तीन मुख्य प्राणों तथा अन्य छह प्राणों की सृष्टि में ये प्राण अपने-अपने देवता के आध्यात्मिक शरीर रूप स्त्रियां बन जाती हैं और ये देवता तब गृहपति या गृहस्थ हो जाते हैं। अतः लिखा है कि वास्तव में ये प्राण तो स्त्रियां है, पर वर्णना के लिए इन्हें ऋषि रूप पुरुष कहते हैं। इन रहस्यों को तो योगी, या आँख वाला या वैदिक ऋषियों के दर्शन चित्र का साक्षात्कार किया हुआ व्यक्ति ही देख सकता है, जिसने इन रहस्यों का पता नहीं लगा सका वह अन्धा है, उसे इनका ज्ञान 'न भूतो न भविष्यति' के महावरे के समान ही कभी नहीं हो सकेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय ऋषि जी निम्न व्याख्यान दीर्घतमा ऋषि के उक्त मंत्र के भाष्य के रूप में दे रहे हैं। दोनों ने एक ही बात लिखी है कि इस रहस्य को केवल योग की आंख वाला देख सकता है। मार्कण्डेयजी ने इनका सजीव वर्णन दुर्गा सप्तशती रहस्य त्रयी प्राधानिक रहस्य में इस अलौकिक रूप में दिया है। इसमें लिखा है की महालक्ष्मी त्रिगुणा सर्वाद्या परमेश्वरी है, उससे तामसी नाम की देवी उत्पन्न हुई इसके कई नामो में से एक महाकाली या महामाया है, महामारी क्षुधा तृष्ण निद्रा तृष्ण निद्रा तृष्ण और कालरात्रि हैं। फिर महालक्ष्मी ही से महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती आर्या ब्राह्मी कामधेनु वीजगर्भा नाम की दूसरी देवी उत्पन्न हुई। तब महालक्ष्मी से हिररांम गर्भ नाम का जोड़ा उत्पन्न किया जिनमें पुरुष को ब्रह्मा धाता विरञ्चि नाम से स्त्रीको श्री पद्मा लक्ष्मी कमला आदि नाम दिए। महाकाली ने नीलकंठ चन्द्रशेखर रक्तवाहु त्रिलोचन तथा त्रयीविद्या कामधेनु भाषा अक्षरों की रचना की। अन्त में सरस्वती ने विष्णु कृष्ण हृषीकेश वासुदेव जनार्दन नाम के पुरुष और उमा गौरी सती चण्डी शिवा की रचना की। इसके बाद तामसी महालक्ष्मी और सरस्वती स्वयं पुरुष के रूपों में बदल गईं। तब महालक्ष्मी ने इनमें से ब्रह्मा को त्रयी, रुद्र को गौरी और विष्णु को लक्ष्मी दे दी। मार्कण्डेयजी ने यहां भी वही बात लिखी है

जो दीर्घतमाने उक्त ऋषियों के बारे में लिखा है कि इस बात को केवल आँख वाला योगी ही जान सकता है अन्य नहीं। यहां पर यह रहस्य है कि जो स्त्रियां-तामसी महाकाली और सरस्वती-स्त्री रूप से रुद्र ब्रह्मा और विष्णु रूप में बदल गई हैं वे तीन मुख्य प्राण—प्रथम प्राण मध्यम प्राण और उत्तम प्राण हैं। प्राण रूपों में ये स्त्रियां शरीर प्रकाश, वाहन इत्यादि हैं और पुरुष रूप में या रुद्र ब्रह्मा विष्णु रूप में ये आत्मायें, प्रकाश के केन्द्र चेतनामय ज्ञानमय इत्यादि है। यह केवल योग से ही जाना जा सकता है। पर जो व्यक्ति कवि या योगी है, या कवीयमान या योगरत है, वही देवपुत्र अग्नि आदि के समान इन रहस्यों को अपनी योग की आंखों से साक्षात् देखता है। जिसने इस प्रकार इन रहस्यों को जान लिया उसे अपने पिता रूप देवताओं का भी पिता या जनक या उद्दीप्त कर के पुनः साकार रूप में देखने वाला कहा जाता है। यहां पर जो बातें तीन मुख्य प्राणों के बारे में कही गई हैं वे सब अन्य छह प्राणों के लिए भी ठीक बैठती हैं। इन दोनों वर्गों में महान् अन्तर यह है कि वे तीन प्राण त्रिपादा मृत या अमृत शरीरी हैं तो ये छह प्राण मर्त्य शरीरी हैं। इनके जोड़े ये हैं-वाक् अग्नि, प्राण वायु, चक्षुः सूर्य, श्रोत्रं दिशः, मनः चन्द्रमा और त्वक् मातरिश्वा, जिनमें प्रथम स्त्री है द्वितीय पुरुष या आत्मा। (२५ सें ३० तक)।

(३१) 'कथं योगो वाजिनो रासभस्येति' (ऋ० वे ७–) प्रश्ने तु।

(३२) रसवतः प्राणवतो विष्णो र्यं त्सूत्रं मनोरूपं वेधसमिन्द्रं वा प्रतिबध्नाति तत्ताम्रायसं हिरण्मयमेव कृष्णायसं राजतं रौद्रं सप्राण शरीरं प्रतिबध्नाति।

(३३) मनः प्राण वेधा रुद्रौवा इन्द्रमरुतौवा गर्भौ द्विविध सूत्राभ्यां बद्धौ यौ च मधुवैद्युतीय शरीरिणौ सन्धान प्रत्याधानौ।

(३४) विष्णुः स्थूणा वा स्याणु र्वा तयोर्दाम्नयोः सूत्रयोः।

(३५) "अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राण (इन्द्र) स्तस्येदमेवावधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम।" (बृह० उप० २–२–१)

(३६) अवधानेन योगेनैव साधानं प्रत्याधानं चोभयोः।

(३७) उक्तं च "अयं वेन श्चोदयति प्रश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने इममपा ँ सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥"

ऋ० वे० १०–१२३–१

(३८) 'वेनन्त्यानमन्तीति प्राणः' (ऐ० ब्रा०) स एव दशानां प्राणानां रथा द्दशरथा ज्जातो रामः स एव वसूनां देवानां सवनात्सुतः वासुदेवः कृष्णः तमेवाऽऽत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्ते त्याहुर्मनीषिणः (कठ० १–३–३,४ गीता०)

प्रथमों का विकास होता है, इन्हीं के शरीरों से पुनः योग द्वारा अनेक देवताओं का विकास अरणियों से अग्नि के समान किया जाता है। यही इन यमलों का रहस्य है।

अब प्रश्न उठता है कि इस वाजी रूप शरीरी तत्त्व का योग, रस रूप तत्त्व (रासभ) से किस प्रकार होता है ? रसमय प्राणमय पुरुषोत्तम विष्णु का जो मनोरूप इन्द्र या वेधा नाम का अन्नमय वाजीमय प्राण सूत्र है उसी हिरण्मय या ताम्रायसमय प्राणमय सूत्र से वह रजतमय रौद्र शरीर या प्राण शरीर को बांधे रहता है। मन और प्राण (शरीर) या वेधा और रुद्र या इन्द्र और प्राण तो गर्भ रूप हैं। इनका बन्धन द्विविध है। इनका शरीर और बन्धन मधु वैद्युतीय तारों की लहरों के शरीर के समान है जिन्हें सन्धान और प्रत्याधान अथवा गरम ठंडे तार (या नेगेटिव पौजिटिव चार्जेज) कहते हैं। विष्णु इन तारों का केन्द्रीभूत (पावर हाउस) विद्युतकेन्द्र है जिसे वेदों और पुराणों में अय;स्थूण या स्थाणु नाम से पुकारा गया है और प्राणसूत्रों को मथानी की रस्सी या 'दाम' जो उस स्थूण में सदा बँधी रहती हैं। मध्यम प्राण इन्द्र इस आदित्य रूप स्थूण का शिशु या प्रथम प्रकाश की दीप्तिमान चिनगारी या अङ्गार है। इसी के अवधान और प्रत्याधान है, गरम ठंडे तार हैं। इसमें प्रत्याधान तो मध्यम प्राण है, सन्धान या अवधान उत्तम प्राण है और रज्जु या दाम या सूत्र अन्नमय ज्ञानमय मनोमय प्रकाशमय तार हैं। उस उत्तम प्राण का अवधान समाधान या ध्यान या सूत्र द्वारा बन्धन ही योग है, यही सन्धान है जिसमें प्राणों का प्रत्यधान या बन्धन किया जाता है। कहा है कि यह वेन नामक सर्वतः लचकीला उत्तम प्राण स्वयं अनन्तरूपों को अपने गर्भ में अपने में ज्योति या प्रकाशरूप में दीर्घायु या अमृत रूप में, तथा रजः या उभय शक्ति (प्रलय योग और सृष्टि की शक्तियों) से सम्पन्न होकर असीम रूप में रहता है। इस प्राण को उक्त प्रकार के (सूर्यस्य) आदित्यरूप प्राणों के अवधान प्रत्यधान और संधान द्वारा (अपां सङ्गमे) वैदिक ऋषि महार्षे योगी यति जन अपनी मतियों या ज्ञानों या देवताओं को उद्दीप्त करके उसे मध्यम प्राण रूप मन को अपने पुत्रवत् प्रथमोत्पन्न बालक की तरह उस विष्णु की गोद में उस प्राण की गोद में बड़े ही प्रेम से खिलाते खिलवाड़ करते देख आनन्द विभोर रहते हैं। वेन नाम आनमनशील प्राणों का है। उनमें इतना अनन्त प्रकार का लचकीलपन है कि जिस रूप में चाहें उसी में ढल जाता है। यह स्थिति भारतीय आर्य संस्कृति की एक अनुमय भेट है। अभाग्य वश आजतक का कोई भी विद्वान् इस स्थिति का ज्ञान नहीं रखता, भले ही कुछ योगी जन

और योगशास्त्र के कुछ अच्छे ज्ञाता इससे परिचित हों। विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ है। यही स्थिति दशरथ से राम को, और वसुदेव से कृष्ण को जन्म देती है। योगी के दश प्राणों के रथ से या दशरथ से तो राम का और वसु रूप प्राणों के देवताओं से उद्दीप्त कृष्ण या विष्णु को सोमीया ज्योति का भोग करने वाले इन्द्र या कृष्ण का इसी या प्रत्येक योगी की समाधि में निरन्तर प्रतिक्षण जन्म होता है। प्राण तो स्त्रियां गोपियां है, उनके देवता गोप हैं और यह चाँदनी रात या सोम ज्योति जिसकी छाया में बाल रूप मात्रा में मन रूप इन्द्र क्रीडा करता है वही कृष्ण है. योगी की समाधि ही मथुरा या मधुरा या मधु नाम सोम में रमण करने की नगरी है। इसी स्थिति को कठ और गीता ने इस मनः आत्मा चन्द्रमा और प्राणों को कृष्ण, और इन्द्रिय गोपी गोप या गायों के रूप में वर्णिति करके उनके एकत्र सम्मिलन को ही 'भोक्ता' की स्थिति कहा है। इस स्थिति में आत्मा मनः देवता और प्राणों का एक अभूतपूर्व एकभूत समाहार होता है। उसी स्थिति को भोक्ता स्थिति या समाधि के आनन्द के की स्थिति कहते हैं। इस मनोरूप आत्मा, मनोरूप स्फटिक में चेतनारूप में प्रतिविम्बित होकर उस सोम ज्योति का पुरुष ही भोग करता है; वही भोग्य है, वही भोग कर्ता है। इसी लिए 'भोक्ता च प्रभु रेव च' भी कहा है। यह योग सम्बन्धी सांख्य का या वेदों का ज्ञान है। प्रत्येक योगी का मन तथा प्रतिविम्ब पृथक् हैं। अतः यह भोगी पुरुष भी 'अनन्ताः पुरुषाः' हैं, योग में ही अनन्त है, सांख्य या सृष्टि में एक है, कृष्ण ही प्रकाशमय द्युम्नः है जिससे मनोरूप प्रद्युम्न (द्युम्न इव प्रद्युम्न) की उत्पत्ति कहते हैं, यह प्रद्युम्न सोम प्रकाशमय मन है (३१ से ३८ तक)।

(३९) तस्मादखिलमनोब्रह्माण्डं वा रजसोविमानमिन्द्रस्य ब्रह्मणो वा सम्मिलित हिरण्मयराजतसूत्रप्रकाशेन सोमीय ज्योतिषा व्याप्तं भवति।

(४०) तज्ज्योतिषामपां पानं सोमपानमिन्द्रस्य देवानां पितृणाञ्च।

अस्तु अब अपने विषय का तारतम्य संभालें। यह ब्रह्माण्ड या मनो ब्रह्माण्ड या अन्तर्ब्रह्माण्ड या 'रजसो विमान' उस इन्द्र या ब्रह्मा या मनः को स्वर्णमय रजतमय और ताम्रमय त्रिविध त्रिवृत् सूत्र के प्रकाश से या सोम की ज्योति से व्याप्त रहता या किया जाता है। इसी ज्योति का पान या इसी ज्योति रूप में व्याप्त हो जाना ही इन्द्र का सोमपान कहलाता है, इसी में देवता और पितर (प्राणः द्विविध पूर्वे और परे) भी उस ज्योति में इन्द्र के साथ साथ उस सोम ज्योति के नशे में चूर होकर अपने को भूले हुए आनन्द विभोर रहते हैं (३९ से ४०)।

(४१) 'अग्निर्वै मुखं देवानां जनयिता च' (श० प० ब्रा०) तेनैवमुखेनोष्णी कृतेन सूत्रेण दीप्तेन च गर्भमयौ ब्रह्मरुद्रौ देवाः पितरश्च पिबन्ति वाऽनुभूतिं कुर्वन्ति वा सोमस्य सरसां ज्योतिषाम् ।

(४२) मुखं वै द्वारो द्वयोर्मेलापयिता वा विहृतिद्वा वाग्निः प्रसारयिता गृहीता वान्नस्योष्णस्य ज्योतिषोऽन्नानां ज्योतिषां वादितिमयानां ज्ञान चेतनामयानामाहर्ता च केवलः प्राण एव स मध्यमः (मुख्यः) प्राणो मनो वेधाः (ऐत० उप० १-३) "स योऽयंमध्ये प्राण एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियैन्ध यदैन्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षकामा हि देवाः" (श० ब० ब्रा० ६-१-१)

(४३) "स (इन्द्र) तस्मिन्नाकाशे (रजसो विमाने यां) बहुशोभमानामुमां हैमवतीं (ददर्श) तां होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ ॥ सा ब्रह्मेति होवाच ॥" (केन उप० ३, ४) ।

(४४) येयमुमा हैमवती सैव हिरण्मय सूत्रमयं ज्योतिः सोमस्य ।

(४५) उमया सह सोमः स यद्वा अकारस्य विष्णेरुकारस्याग्ने रुद्रस्य मध्ये यो मकारस्तेषामेकत्रसहमेलापकमोमा तया सह सोमः सेदिन्द्रः सेध्मः सोद्दीपनं सेन्द्रो वा ।

देव सम्बन्धी या सृष्टि या योग सम्बन्धी जितने भी कार्य होते हैं उन सबका प्रमुख या अग्रणी कार्य कर्ता देवता या तत्त्व अग्नि ही है । वह तेजोमय उष्णता मय है, इसकी ज्योति से उष्णीभूत होकर प्राण और अग्नि के सम्बन्ध को स्थापित करने वाला विजली के बल्ब के भीतरी तार के समान सूत्र प्रदीप्त होकर उस गर्भ या बल्ब के या शरीर या ब्रह्माण्ड के भीतर में स्थित मनो रूप ब्रह्मा प्राण शरीरी रुद्र, और अन्य देवता तथा पितर उस ज्योति रूप सोमामृत का पान, ध्यान, या उस ज्योतिरूप सरोवर में स्नान में मग्न या आत्मानुभूति करते हैं । यह अग्नि तो मात्र मुख है, इसके द्वारा मात्र स्वीकार किया जा सकता है । यह तो मात्र विहृति द्वार है या प्राण और अन्न दोनों का मेलापक मात्र है जिससे उनमें प्रदीप्ति रूप जनन या प्रजनन आ जाता है । परन्तु इस मुख के द्वारा अन्नादि या ज्ञानादि, सोमादि ज्योतियों के रस का मूल रूप से ग्रहण कर्ता तत्त्व तो केवल प्राण रूप मध्यम प्राण या मनः या इन्द्र ही है । इसका इन्द्र नाम पड़ने का मुख्य कारण ही यही है कि यही अपनी अग्निमय रूपता से अपने अगल बगल से प्रथम और उत्तम प्राणों को समिद्ध करता है । समिद्ध या प्रदीप्त करने वाले का नाम 'एन्ध' है, और उसे एन्ध एन्ध कहते कहते ही इन्द्र कहने लगे थे, यह वैदिक

ऋषियों की परोक्षवादिता और परोक्ष या योगमार्ग वर्णना का एक रहस्यमय ढंग है। इन्द्र ही अग्नि रूप में प्राणों को समिद्ध करने वाला प्रथम योगी है। अर्थात् इन्द्र नाम सीधे सीधे योगी या महायोगी का है। इस इन्द्र ने अपने मनो ब्रह्माण्ड के आकाश में जिनको वैदिक ऋषियों ने 'रजसोविमान' नाम दिया है जिस बहुशोभमाना उमा हैमवती रूप ज्योति का दर्शन किया, जिसने उस इन्द्र को यह बतलाया था कि वह तत्त्व जिसकी उसे खोज है जिसे वे यक्ष या महद्यक्ष नाम से पुकारते हैं जिसके सामने अग्निवायु प्रभृति देवताओं की कुछ न चली, वह तो ब्रह्म है। और जो बात इस उमा 'हैमवती' ने स्वयं नहीं बतलाई जिसे उस इन्द्र ने बहुशोभमाना ज्योति रूप में अपने आंखों से देखा था वही तो इस ब्रह्म की सोममयी उमामयी वैद्युतीय सूत्र मयी ज्योति थी; 'अ' ब्रह्म है उससे उ + म रूपा ज्योति उमा नाम से बिखरती है, उसे तो इन्द्र ने स्वयं देख लिया। अर्थात् इन्द्र ने सर्वप्रथम सोमपान कर लिया वह ज्योति तो वैद्युतीय प्रकाशमय बल्ब समान प्रकाशमय है। उमा से युक्त ही सोम है, या अकाररूप विष्णु के उकार रूप अग्नि या रुद्र के मध्य में जो मकार रूप इन्द्र वा मध्यम प्राण है उन तीनों का सम्मिलित स्वरूप ही सोम है, इन सब से मिला स्वरूप ही सोमपान युक्त इदिन्द्र या सेध्मेन्द्र या सोद्दीप्तीन्द्र या समाधिस्थ इन्द्र है (४१ से ४५ तक)।

(४६) "तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥" (केन उप० ४)

(४७) 'रसो वै सः' यस्य पानं सोमपानम्।

(४८) स 'ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावाभूमि निष्टतक्षुः'।

(तै० ब्रा०, केन उप० ४)

उस इन्द्र ने ब्रह्म की अनुभूति के साक्षात्कार का जो चित्र खींचा था या विवरण दिया था वह उसके आदेश रूप में इस प्रकार सर्व विज्ञेय है—कि वह ब्रह्म विद्युत स्वरूपी है, वह विद्युत्प्रकाश के समान अमृतमय है, वह अन्तर्जगत् में, समाधि की अवस्था में अपनी या हमारी आंखों की पलकों को खोल देता है। यह उसकी देव रूप की या विष्णु रूप की या चक्षुःसूर्यः रूप की रूपकीय व्याख्या है। उसकी इसी ज्योति को 'रसो वै सः' या रसरूप प्रकाशमयी ज्योति कहते हैं, योगीजन समाधि में ही उसकी इसी ज्योतिरूप रस का पान या सोम का पान करते हैं। वह ब्रह्मवन के समान ज्योतिरूप सागर है, वही अनन्त सृष्टि बीज रूप फूलों के बल्बों की चमक से झिलमिल चिलमिलता हुआ इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का एक अजएकपाद् वृक्ष है जिससे वह अन्तर्जगत् या

द्यावा और वहिर्जगत् या पृथिवी का क्रमशः तक्षण वा निर्माण होता है (४६ से ४८ तक)।

(४९) संविद्वै सोमपानम् संविच्च संविदाना वाग्विद्युत् ।

(५०) सैव वै तडिदिव प्रकाशमाना बार्हती विद्या संविज्ज्योतिर्मयं ज्ञानं प्रकाशो विवेकश्चेतना वा ।

(५१) तडिदिव संविदा विद्या वै त्रय्या ऋग्यजुः सामानां विष्णु ब्रह्म रुद्राणा मकारोकारमकाराणां संवेदनं मेलापकं शुक्ल कृष्णलोहितानां ज्योतिषाम-भूतपूर्वमेकं त्रिवृत् ।

सोमपान केवल ज्योति का पान ही नहीं है, निष्क्रिय निश्चेष्ट ज्योतिष्पान ही नहीं है। यह संवित् का पान है, ज्योतिर्मय संविद् का पान है, सतत क्रिया-शील तडित्प्रकाश रूप संवित् का ही पान है। इस तडिन्मयी संविद् का नाम संविदाना या वैद्युतीय शरीरिणी वाक् है। इसी निरन्तर क्रियामयी संविद या संविदाना को दूसरे शब्दों में विद्या या ज्ञानमयी बृहती ज्योति भी कहते हैं। इसीलिये पहले ३-६-८ में कहा है कि सोम को बृहती के विधानों से आच्छादित करके सुरक्षित रखा जाता है। इसी का नाम चेतना भी है, इसी को विवेक भी कहते हैं जो हंस के समान सत्यानृत का नीर क्षीर विवेक करने में समर्थ होता है। इस विद्या के भागों के नामों को ऋग् यजुः और साम कहते हैं जिनके प्रतीकाक्षरों को अ + उ + म् और इनके समाहार को एक ओम् कहते हैं। जिसे यह ओम् या विद्या मिल गई वह सोम या स + ओम (सह + ओम् = सह + उमा) हो जाता है, जो सोममय हो गया, उसने सोम पी लिया, उसे ब्रह्म मिल गया। इस सोम के तीन भागों की ज्योति शुक्ललोहित कृष्ण रूपा है जिनका ऐक्य एक अभूतपूर्व ज्योति का जनक होता हैं (४९ से ५१ तक)।

(५२) तस्य "य मृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति ।
यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्कास्वित्तत्र यजमानस्य संविन् ?"

(ऋ० वे० ८-५८-१)

(अत्र ऋत्विजः प्राणाः, सचेतसः समनसः, यज्ञं योगयज्ञं वहन्ति धारयन्ति । अनूचानः अनुक्तः, अनिरुक्तः मनोब्रह्मा, ब्राह्मणः ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्, युक्तः योगेरतः, स एव यजमानः तस्य यादृशी संविदासीत्सा चेदृशीः—)।

(५३) "एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषा सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥

ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम् ।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अतिरिक्तं पिबध्यै ॥

(ऋ० वे० ८-५८-३)

(५४) तादृशं सोममेकमेवाद्वितीयमसपत्नं वा ज्योतिष्मन्तमित्यादिगुणं संविदमतिरिक्तं पिबध्यै योगा 'न्नान्यः पन्था विद्यते अननाय' ।

(५५) स 'एष वोऽमी राजा, सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा' नान्यत्किञ्चित् ।

वेदों ने इस योग यज्ञ का वर्णन देते हुए लिखा है कि प्राण रूप ऋत्विज सचेता या अपनी अपनी चित्तियों या चितियों को वृत्तियों को बटोर कर मनः को अर्पित करके सचेता होकर जब इस योग यज्ञ को करते हुए उस ब्रह्म की नाना रूपा अनुभूतियों के प्रयास में अनेक सरणियों से प्रयास करते हैं, उस समय वह अनूचान या अनिरुक्त मनोरूप ब्रह्मा उनका मुखिया या ब्रह्मा या ब्राह्मण का काम करता है, तब उस यज्ञमान या यज्ञनिष्ठ उस मनोरूप ब्रह्मा को जैसी या जिस प्रकार की अनुभूति होती है वह इस प्रकार की है--कि अग्नि तो एक ही है, वही नाना रूपों में समिद्ध होकर नाना नामों को—इन्द्र मित्रादि नामों को—ग्रहण करता है, सूर्य भी एक ही है, उषा भी एक ही है, उस समय वही सूर्यसम या उषा सम एक ही है और उस स्थिति में सब कुछ एक रूप मात्र में भासमान होता है । उस स्थिति की उस अलौकिक ज्योति का आकण्ठपान करने के लिए ही, यह अधियज्ञ परक व्याख्या दी जाती है कि उसके योगयज्ञ में वह ज्योतिष्मान् केतुमान् , त्रिचक्र (ओम् स्वरूपी) भूरिवारं (नानाप्राणमय रमणीय सागर वाला) चित्रामघा या लोहित शुक्ल कृष्ण प्रकाशमयी विभूतियों वाला अद्भुत संविद् या संवेदना का एक अलौकिक दीप्ति पुञ्ज सा है । इस प्रकार के एकमेवाद्वितीय या असपत्न तत्त्व की ज्योति की संवित् का अतिशय रूप से पान करने के लिए योग को छोड़ कर और कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं, न हो ही सकता है । इसीलिए इस सोम को देवताओं तथा प्राणों और प्राण रूप ब्राह्मणों या ऋत्विजों या योगी जनों का 'राजा' उक्त प्रकार की संविदा रूप ज्योति का या वाला तत्त्व कहा जाता है, अन्य किसी और को नहीं (५२ से ५५ तक)।

(५६) यो न करोति योगं तस्य रुद्रस्याग्नेर्वाचः शरीरं नित्यं रोदिति यन्नह्येतन्न हि तन्न ह्यन्यच्चेति तस्मात्स रुद्रः शब्दायमानः सदैवासन्तुष्टः ।

जो व्यक्ति योग नहीं करता या नहीं कर सकता उसे जन्मभर रोना ही रोना रहता है, वह उसी प्रकार रोता है जैसे पुत्र जन्म लेने के समय 'कहां कहां कहां' कह कर रोता है । यह रोने वाला रुद्रमय प्राणमय वाक् रूपी

शरीर है, वह कहता है—मेरी वह वस्तु कहां है ? वह कहां है ? वह तीसरी चौथी पांचवी कहां कहां हैं ?, यहां तो न यह है, न वह है, न वह अन्य तीसरी । इसीलिए इस प्रकार से नित्य शब्दायमान रहने या रोदनशील शरीर या ब्रह्माण्ड को रुद्र या रोनेवाला या नित्य असन्तुष्ट रुद्र कहते हैं (५६)।

(५७) यस्तु तं योऽन्तरिक्षोदरः कोशो भूमि बुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं विलं स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितं तस्य प्राची दिक् जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायु र्वत्सः, स य एतं वायुं दिशां वत्सं (मिन्द्रं मनो ब्रह्माणं वा) वेद न पुत्र रोदं रोदिति ।

(५८) (विष्णुः) प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव प्रापत्स्यथ ।

परन्तु इसके विपरीत जो उक्त प्रकार से योग करता है, जो यह अनुभूत कर लेता है कि यह सृष्टि या ब्रह्माण्ड खोखला नहीं (जैसा कि आजकल के वैज्ञानिक और जैन बौद्ध भारतीय मानते हैं) वरन् इसके अन्दर एक अन्तरिक्ष नामक अलौकिक ज्योतिर्मय कोश छिपा है जिसकी जड़ भौतिक शरीर में ही गयी है, जो स्वयं कभी भी नष्ट नही होता, दिशायें या भौतिकता की सीमायें ही जिसकी नाडियाँ या संचार प्रसार कारिणी वर्तनियां हैं, द्यौ या पूर्वार्धाऽमृत ही जिसका उत्तरायणीय बिल या कोश है जिसमें उस तीनों प्राणों के खजाने को सुरक्षित रखा जाता है, जिसमें यह अखिलकोटि भौतिक ब्रह्माण्ड अपनी ज्योतिर्मय जीवनी की ज्योति को आश्रित रखता है या छिपाये रखता है, उसकी प्राची नाम की दिशा को जुहू या हवनीया कहते हैं, दक्षिणीया को सहमाना सहसो यहु या सहसोयह्वी कहते हैं, पश्चिम दिशा को राज्ञी या राजमाना कहते हैं, और उत्तरीया को सुभूता या प्राणभूता कहते हैं, इन सबके वत्स को वायु या मातरिश्वा कहते है । जो व्यक्ति इस वत्स को उक्त दिशा रूप प्राणों के वत्स रूप में जानता है, या इस योगी इन्द्र या वेधा को पहचानता है (वह स्वयं योग निष्ठा हो जाता है अतः) कभी भी उक्त प्रकार से प्रथम जातपुत्र के समान जन्मभर रोने का अवसर ही नहीं पाता, उसे वह मिल जाता है जिसके मिलने पर और किसी वस्तु की चाह या रोने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । वह तत्त्व विष्णु या उत्तम प्राण रूप पुरुषोत्तम रूप ज्योति है, वही इस सृष्टि का सब कुछ है, यह सब कुछ उसी के नाना नाम रूप हैं, जब वह उसे पा ही जाता है, तब रोना किस बात का ? (५७, ५८)।

(५९) स चारिष्टः कोशः ।

(६०) भूरिति पृथिव्यन्तरिक्षदिवो वै योगभूमयः ।

(६१) भुव इत्यग्निवाय्वादित्याः रुद्रब्रह्माविष्णवः पदानि ।
(६२) स्व रित्यृग्यजुः सामाः स्वर संविदोम् ।" (छा० उप० ३ १५)

उक्त अन्तरिक्षोदर कोश का एक नाम अरिष्ट कोश भी है। इस अरिष्ट कोश के योग की भूमियाँ पृथिवी अन्तरिक्ष और दिव नामक तीन भाग हैं जिसके तीन पदों में से भुव नामक पद अग्नि का है। उसी में वायु और आदित्य या रुद्र ब्रह्मा और विष्णु की तीन ज्योतियां रहती हैं और स्वः नामक पद में ऋग्यजुः साम नामक तीन विद्यायें संविद्रूप में रहती हैं।
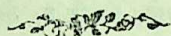
अध्याय ३ पाद ४ (आ)

अथ सोमपानस्य महिमा स्थितिर्वा

(६३) अथ सोमपानस्य महिमा स्थितिर्वा ।

इस प्रकार के इस सोम के पान से जैसी स्थिति होती है उस समय मन में जैसी भावनायें हो सकती हैं, या सोमपान प्राप्त हो जाय तो कितनी बडी भारी प्रसन्नता हो सकती है या होती है उसका विवरण स्वयं ऋग्वेद ने इस प्रकार दे रखा है :—

(६४) (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१) इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयाम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१) यदि चेदहमपां सोमं तदा मम मनसो निश्चय एवं स्याद्यदहं स्वकीयां गामश्व (मुभयात्मका-प्राणाश्च) ऋत्विग्भ्यः प्रयच्छेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—मेरा यह निर्णय होगा कि मैं अपने प्राण रूप गायों और अश्वों को अपने (मन रूप यजमान के ऋत्विज रूप ब्राह्मणों या प्राणों के देवताओं को दे दूं, क्यों कि तब मुझे इनकी आवश्यकता ही नहीं रह जावेगी; तब मन का लय सोम में ही हो जावेगा) (१)

(२) प्रवाता इव दोधत उन्मापीता अयंसत् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(२) यदि चेदहमपां सोमं तदा तस्य सोमस्य पीता विन्दव इन्दवो वा मां झंझा-वात इवोर्ध्वमगमयन् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—मुझे उस सोम की बूंदों का नशा बड़ी तेज आंधी के झोंके के समान ऊर्ध्व स्थान या उत्तम प्राणों या विष्णु के लोक को धक्का देकर के उड़ा ले जावेगा । (२)

(३) उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(३) यदि चेदहमपां सोमं तदा पीता सोमविन्दवो मां तीव्रगतिकाश्वोरथ-मिवोर्ध्वं शीघ्रमगमयन् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो— वे सोम की बूदें, तीव्रगति के पावों वाले छोड़े जिस प्रकार रथ को बहुत ऊँचे उड़ा ले जाते है उसी प्रकार मुझे बहुत ऊचे उड़ा ले जावेंगी । (३)

(४) उन्मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(४) यदि चेदहमपां सोमं तदा मम मतिरूपं वत्सं सोमज्योतीरूपागौ स्वप्रेम्णा स्वयमेवागच्छेत् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—वह सोम की ज्योति रूप गाय मेरी मति रूप प्रिय पुत्र या वत्स के पास अपने आप अपने स्वाभाविक प्रेम के कारण आ जावेगी । (४)

(५) अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति "

(५) यदि चेदमपां सोमं तदा अहं तष्टा वन्धुरं रथमिव स्वमतौ तस्य सोमस्था-सनायोत्तमं स्थानं निर्मापयेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—मैं उस समय उस सोम को आसीन करने के लिए अपने हृदय में अपनी मतियों का एक रमणीय आसन उसी प्रकार निर्मित कर देता जैसे बढ़ई रथ में बैठने के स्थान को सबसे सुन्दर बनाता है । (५)

(६) न हि मे अक्षिपच्चनाच्छांत्सुः पञ्चकृष्टयः । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(६) यदि चेदहमपां सोमं तदा मम पञ्चप्राणरूपैः कृष्टिभि रक्षणो "नहि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपः विद्येत" (श० प० ब्रा० १४-७-१-२३ बृह० उप०)

यदि मैं सोम का पान कर लूं तो—तब मैं अपने पञ्चप्राण रूप पञ्च-कृष्टियों की ओर उसी प्रकार उदासीन रहता या निरपेक्ष्य रहता जैसे कोई अपनी आंखों के तिल की कुछ चिन्ता ही नहीं करता, क्योंकि मेरी चक्षुरूपता का तब किसी भी प्रकार नाश नहीं हो सकेगा ! (६)

(७) नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(७) यदि चेदहमपां सोमं तदा उभे द्यावापृथिवी ममैकपक्षसममपि न भवेतम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब द्यावा और पृथिवी दोनों भाग मिलकर मेरे एक भाग के बराबर नहीं होंगे । (७)

(८) अभिद्यां महिना भुवमीमां पृथिवीमहीम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(८) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहमिमां द्यामिमां भूमिं च स्वमहिम्नाऽभि-भवामि ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब मैं इस द्यावा को और इस पृथिवी (रूप दर्शन सृष्टि के भागों) को अपनी महा महिमा से पराभूत कर दूंगा या पूर्ण विजित कर लूंगा । (८)

(९) हन्ताहं पृथिवी मिमां निदधानीह वेह वा । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(९) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहमिमां पृथिवीं प्रक्षिपेयमन्तरिक्षे वा द्युलोके वा ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब मैं सृष्टि के पृथिवी नामक इस महा विस्तीर्ण भाग को कहीं यहीं या कहीं अन्यत्र पटक देता (मुझे इसकी तब क्या आवश्यकता ?) ; (९)

(१०) ओषमित्पृथिवी महं जंघनानीह वेह वा । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१०) यदि चेदमपां सोमं तदा चाहमिमामुषसो जातां पृथिवी मन्त्र वा तत्र वा विनाशयेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब मैं उषा नामक स्थान से उत्पन्न इस पृथिवी नामक सृष्टि के भाग को एक ही क्षण में कहीं यहीं या कहीं अन्यत्र चूर चूर करके फेंक देता । (१०)

(११) दिवि मे अन्यः पक्षो ऽधो अन्यमचीकृषम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(११) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहं स्वात्मन एकं पक्षं दिवि तथान्यं चाधः प्रक्षिपेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब मैं अपने एक भाग को द्यावा में दूसरे को पृथिवी में कहीं पटक देता (मुझे तब इस शरीर की क्या आवश्यकता ?) । (११)

(१२) अहमस्मि महामहो ऽभिनभ्यमुदीषितः । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१२) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहं महतामपि महाँ सन्नूर्ध्वमुद्गतो भवेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब मैं महतो महान् तत्वों से भी महत्तर बन कर सोम ज्योति के ऊर्ध्व स्थान को चला जाऊंगा । (१२)

(१३) गृहो याम्यरं कृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः ।। (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"
(ऋ० वे० १०-११९ पूरा)

(१३) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहमग्निमुखेन स्वप्राणरूपेण हविषां ग्रहो वा गृहीता वा भूत्वा सर्वेभ्यो देवेभ्यो हव्यवाहन कार्य संलग्नः सँस्तैश्च स्वात्मालंकृतश्च तं सोमं देवं ज्योतिषं गच्छेयम् ।।

तब मैं अग्नि मुख के द्वारा प्राण रूप से हवियों को स्वीकार करके सब देवताओं के लिए हव्यवाहन के कार्य में संलग्न होते हुए, उन देवताओं से अपने शरीर को अलंकृत करके उस ज्योती रूप सोम के लोक को प्रतिष्ठा पूर्वक पहुंच जाऊंगा । (१३)

(६५) मूजवत्पर्वतोत्पन्नसोमलतारसश्चापी दृग् महिमावानैवासी देकाग्रचेतसाम् ।

मूजवान् पर्वत में उत्पन्न होने वाली सोमलता के रस की भी इसी प्रकार की महिमा है जिससे योगी का चित योग के लिए एकदम एकाग्र हो जाता था और दीर्घ जीवी अमृत सा भी था । (६५)

(६६) दध्याशिरोगवाशिरो सुत: सोमश्च कृत्रिमो लौकिक स्मृति विभ्रमायैव न योगाय ।

जो दध्याशिर या गवाशिर सोम है वह कृत्रिम सोम है, लौकिक नशे की वस्तु है, इससे स्मृति भ्रम मात्र होता है, योग नहीं—परन्तु दध्याशिर और गवाशिर नाम तो पारिभाषिक हैं, इनका आशय प्राणों का आशिर या रस या गो रूप प्राणों का रस है कर्मकाण्डी लोग इनके इन भ्रमात्मक नामों का लौकिक अर्थ समझ कर धोखा खा गये है (सू० ३-३-८ देखें) । (६६)

अध्याय ४ पाद १

वेदोक्तानि वसूनि रत्नानि रायश्च ब्रह्मचर्यञ्च मंत्रश्च दक्षिणा च

(१) 'रयिरिति चन्द्रमाः' (तै० उप०)

(२) 'रयिरिति मनुष्याः' (श० प० ब्रा० १०-५-२-२०, अथर्व वे०)

(३) ऋग्वेदे य 'एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम्' सः समुद्रः सोमस्तस्य मन्थनं देवासुराभ्यां प्राणाभ्यां मन्दरेण मनसा वद्धेनाहिना रज्जुना भौतिकेन प्राणेन मुख्येन प्रसिद्धेन सूत्रेण नागेनाक्षितिना मन्थनं चोद्दीपनमेव तेषाम् ।

(४) मन्थनाद्यानि रत्नान्युपलब्धानि तानि मुख्यतश्चतुर्दश तानि पुराणेषु सर्वविदितानि चान्यानि विश्वे देवताश्च ।

(५) संकेतकानि तानि पृथक् पृथग्देवानामतः समुद्रमन्थनं तु योगस्य प्रक्रियैवेति बोध्यमरण्योरग्निमन्थनवत् , योगमय्यां सप्तशत्यां यथोक्त मार्कण्डेयेन—

पिछले अध्याय तक वैदिक योग की पूर्वार्द्ध की प्रक्रिया का वर्णन दिया जा चुका है। अब इस योग के उत्तरार्द्ध का वर्णन करने के पहले हमें इस मार्ग में पड़े बड़े-बड़े रोड़ों को पहले हटा देना चाहिए। ये रोड़े कुछ मुख्य शब्दों के अर्थों के हैं, इनका अर्थ कुछ और है, पर समझा कुछ और ही जाता है, इसी से वेदों का अनर्थ हुआ है। जैसे 'गोविन्द' माने 'गौ वेदि को तीन डग से पाने वाला है', 'कृष्ण' माने उत्तरार्द्ध या कृष्ण पक्ष का कृष्ण तत्त्व है। यही कृष्ण मृग भी है, जिसको योगी आत्मा के धनुष और शरीर के वाण से वेध कर योग से पाता है। इनका अर्थ तो भाषा में है ही, सर्वत्र व्याख्यात भी है, पर विद्वान् इस ओर ध्यान देना भूल गये हैं, यही मार्ग दिखाना है।

अब वेदों में वर्णित वसु, रत्न, रायः धन मंत्र ब्रह्म ऋषिगण और दक्षिणा नामक वस्तु क्या हैं, उनका विवेचन दिया जाता है।

रा या रायः या धन नाम चन्द्रमा नामक तत्त्व का है कभी-कभी इस शब्द से भौतिकात्मीय सभी प्राणों का भी संकेत किया हुआ मिलता है, यह सन्दर्भ से निर्णीत करना चाहिए। वेदो में वर्णित समुद्र नाम अनुद्दीप्त चन्द्रमा या उद्दीप्त सोम सागर का हे। यही चन्द्रमा या सोम का सागर पुराणों का समुद्र मन्थन करने का मूलभूत आधार है। इसका मन्थन दैवासुरीय द्विविध प्राण भौतिकात्मीय अहिरूप रज्जु के प्रसिद्ध मुख्य भौतिक प्राण के सूत्र रूप अमृत नाग से किया जाता है। मन्दराचल मनोरूप पर्व-पर्व वान् पर्वत है

जिसमें उक्त प्राण सूत्र रूप अमृत नाग की रस्सी बँधी है। इस मन्थन का आशय भी केवल यही है कि इन दैवासुरप्राणों में देव रूप ज्योतियों को उद्दीप्त किया गया। अतः जो जो रत्न या धन या वसु इस मन्थन प्रक्रिया से उद्दीप्त या उत्पन्न हुए उनमें से पुराणों में प्रसिद्ध तो चौदह ही हैं, क्योंकि ये ही मुख्य देवता रूप रत्न या धन हैं, पर अन्य सभी देवता भी इसी प्रक्रिया से उद्दीप्त किए जाते हैं, अतः ये रत्न उतने हैं जितने देवता वेदों में पाये जाते हैं। अग्नि का रत्नधातम नाम उसके सर्वदेवता के रूप में सभी विकास रूप देवताओं के रत्नों की माला पहनने के अर्थ में रखा गया है। इसी प्रकार अन्य देवताओं की भी व्याख्या करनी चाहिए। लक्ष्मीसूक्त के परिशिष्ट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अग्नि वायु सूर्य वसु इन्द्र बृहस्पति अश्विनौ ये सब धन या रत्न हैं। समुद्रमन्थन से भी ये रत्नधन रूप में मथकर पाये गये थे। अतः ये रत्न या इन रत्नों के नाम पृथक्-पृथक् देवताओं के संकेतक हैं। जब जिसका सन्दर्भ हो तब उस रत्न या रा या रायः या धन शब्द से उसी देवता को संकेतित समझना चाहिए। समुद्रमन्थन नाम तो वास्तव में योग द्वारा अरणियों में अग्निमन्थन के समान प्राणों के मन्थन से देवताओं को उद्दीप्त करने का ही है, यह समुद्रमन्थन अरणियों के मन्थन द्वारा अग्नि रूप देवता को उद्दीप्त करने की योग की एक उच्चकोटि की प्रक्रिया ही है। अतः योग व्याख्यामयी दुर्गासप्तशती में मार्कण्डेय ऋषि ने इन रत्नों की व्याख्या निम्न ढंग से स्पष्ट दे भी दी है, उसी से संकेतकों का निर्धारण कर लें (१ से ५ तक)।

(क) शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य ददौ तस्यै पिनाक धृक्।
चक्रं च दत्तवान्कृष्णः समुत्पाद्य स्वचक्रतः॥
शंखं च वरुणः शक्ति ददौ तस्यै हुताशनः।
मरुतो दत्तवाँश्चापं वाणपूर्णे तथेषुधी॥
वज्रमिन्द्रः समुत्पाट्य कुलिशादमराधिपः।
ददौ तस्यै सहस्राक्षो घण्टामैरावताद्गजात्॥
कालदण्डाद्यमो दण्डं पाशं चाम्बुपति र्ददौ।
प्रजापतिश्चाक्षमालां ददौ ब्रह्मा कमण्डलुम्॥
समस्तरोमकूपेषु निजरश्मीन्दिवाकरः।
कालश्च दत्तवान्खड्ग तस्या चर्मं च निर्मलम्॥
क्षीरोदश्चामलं हारमजरे च तथाम्बरे।
चूडामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च॥

अर्द्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान्सर्ववाहुषु ।
नूपुरौ विमलौ तद्वद्ग्रैवेयकमनुत्तमम् ॥
अङ्गुलीयकरत्नानि समस्तास्त्वङ्गुलीषु च ।
विश्वकर्मा ददौतस्यै परशु चाति निर्मलम् ॥
अस्त्राण्यनेक रूपाणि तथाभेद्य च दशनम् ।
अम्लानपङ्कजाँ मालां शिरस्युरसि चापराम् ॥
अददज्जलधिस्तस्यै पङ्कज चातिशोभनम् ।
हिमवान्वाहनं सिंह रत्नानि विविधानि च ॥
ददावशून्य सुरया पानपात्र धनाधिपः ।
शेषश्च सर्वनागेशो महामणिविभूषिनम् ॥
नागहार ददौ तस्यै धत्ते यः पृथिवीमिमाम् ।
अन्यैरपि सुरैर्देवी भूषणैरायुधैस्तथा ॥
सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः ।
तस्या नादेन घोरेण कृत्स्नमापूरितं नभः ॥

(दुर्गा स० श० अध्याय २-२० से ३२ तक)

(क) शूल या त्रिशूल पिनाकधारी रुद्र देवता रूप रत्न है। यह त्रिशूल त्रिपादामृत सहित त्रिशूल के डंडे रूप प्राण सूत्र से युक्त है। चक्र नाम सोमात्मा शरीर की सर्वत्र शक्तिमयी ज्योति का है जो कृष्णपक्षीय विष्णु की ही ज्ञान ज्योति है, इस ज्योति को या उक्त शूल को उत्पाटन करके देना इनकी उद्दीप्ति हो जाना है, इसी प्रकार अन्यत्र (आगे) भी समझना चाहिए। वरुण का रत्न या दीप्ति शंखाकार शब्दभरी शक्ति है, अग्नि की शक्ति सर्वथा आवश्यक है, वह उद्दीप्ति का मुख्य द्वार है। इस शक्ति के विना कोई भी योग प्रक्रिया आगे चल ही नही सकती, यह प्रकाश और तेजोमयी शक्ति है। मरुतों का रत्न धनुष है, धनुष प्राणों का होता है। सब प्राण मिल कर धनुषाकार रूप धारण करते हैं और मुख्यप्राण इनका शर या बाण है जिससे सोम या विष्णुरूप कृष्णमृग को वेधा या उद्दीप्त किया जाता है। इषुधी या तरकश शारीरिक ब्रह्माण्ड है जिस में सभी प्राणरूप वाण भरे हुए हैं। इन्द्र तो मनोरूप है, यह चक्राकार रूप में सर्वगामी और वैद्युतीय गतिशक्तिमान् होने से वज्र कहलाता है, यह इसी वज्र शक्ति से वेधन करता रहता है, यह अपने कुल प्राणकुल का ईश है, अतः कुलिश भी कहलाता है। सहस्राक्ष पुरुष ने उसे ऐरावत नाम के श्रोत्रमय दिङ्मय तत्त्व से घण्टामय शब्द ब्रह्मवाक् शक्ति प्रदान की। सहस्राक्ष का रत्न ऐरावत, श्रोत्रं दिक् या

शब्द ब्रह्म है। गज नाम जगत् का है 'गच्छतीति गजः' या जगत् है। यम अक्षर ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म रूप दण्डमय मानमय समानमय विभागादिमापक दण्डयुक्त तत्त्व का है। ब्रह्माण्ड के विभिन्नाङ्गमय प्राणों या देवों को एक पाश में बाँधने का स्निग्ध या चिक्कण रस या भौतिक बन्धनों को जोड़ने वाले शारीरिक समुद्रमय रस को वरुण के आवरण कारक दैवी पाश कहते हैं। प्रजापति के रत्न का नाम अक्षमाला अक्षिरूप चक्षुरूप सहस्राक्षरूप अनन्तबीज गर्भरूप अनन्त हस्तपादादिरूप या नानाभेद के अक्षरूप अक्षरों की माला है। मनो रूप ब्रह्मा का रत्नकमण्डलु या बुद्धि का क्षीरसागर है। सूर्य का रत्न रश्मिरूप रोम रोम से प्रत्येक अङ्ग को प्रकाश देना है। काल परिपाक रूप संयम का फल है, उस परिपाक को स्पर्शमय निर्मल चर्म या संरक्षक ढाल कहते हैं, यही सामयिक व्यावहारिक खण्डखण्डमय ज्ञानखड्ग के रत्न को धारण करता है। क्षीरोद नाम क्षीरसागर का है, बुद्धिसागर का है जिसने ज्ञानों के उज्वल हीरों की हार और लौकिक पारलौकिक ज्ञानों के दो उज्वल रूप विवेक-मय शरीर रूप वस्त्र भी दिए; उसीने दैवी मनोमय चूड़ामणि, शब्दमय श्रोत्र बाहुमय कुण्डल और कटक (कड़े) भी दिए; उसी ने दिव्य शरीर रूप अर्द्धचन्द्र उसके मुख्याङ्ग रूप दो भागों के दो बाहुओं के रूप के दो केयूर नामक रत्न दिए; कण्ठ या नाभि के लिए ग्रैवेयक या कण्ठहार या सूर्य रश्मियों का हार कटि या मध्यस्थान के लिए ॐकार रूप नूपुर, प्रत्येक तत्त्वरूप प्राण की अङ्गुलियों को उनके देव रूप अंगूठियां भी दी। विश्वकर्मा रूप त्वष्टा तक्षक ने सृष्टि तक्षण के हेतु उसे वाक् रूप अग्निमय फर्शा दिया, तथा उस सृष्टि को नानारूप में प्रस्तुत करने के लिए नानाविध की देव शक्तियों के रूपों के अनन्त प्रकार में औजार भी दिए; साथ में अभेद्य दंशन नामक शस्त्र भी दिया, उन शरीरों की सजावट के लिए नित्य हरे रहने वाले दो सदा जाग्रत प्राणों के कमलों की द्विविध माला भी दी। जलधि सागरपति आपोमय प्राणपति मनोमय ब्रह्मा ने उसे अपना कमलमय शरीर उद्दीप्त करके प्रदान किया। पर्वपर्ववान् शान्ताग्नि हिमाग्निरूप दैवी शरीर रूप पर्वत रूप ब्रह्माण्ड ने उसे अपने राष्ट्र के भयंकर शरीर रूप सिंह या महती ऊर्जस्वती शक्तिमती आहूतिमती दैवी शक्तियों के पुञ्ज को वाहन बनाकर या उद्दीप्त करके दिया, तथा अपने उस शरीर में निगूढ रूप से सुरक्षित नाना रत्न रूप दैवी शक्तियों के रत्नों का भी उपहार उनकी उद्दीप्ति द्वारा दिया। उस हिमवान् का वासी उन सब रत्नों के संरक्षक कुवेर या धनाधिप या धनाधिक्यमय ने उसे भौतिकात्मीय आसुरी सुरा का भी, भौतिकात्मीय शरीर भी या भौतिक प्राणों का जोश फरोश भी ठाटबाट भी प्रदान किया। शेष रूप सर्प नागों के पति ने, भौतिकात्मा के

दैवी स्वरूप ने उसे अपनी दैवी ज्योति की मणि को उद्दीप्त करके दे दी। इस उत्तरार्द्धीय भौतिक ब्रह्माण्ड के मूल आधारभूत शेषनाग ने उसे नागों की या प्राणों की माला पहना दी, या जागृत कर दी। इसी प्रकार अन्य शेष देवताओं ने भी अपनी अपनी उद्दीप्ति रूप रत्नों की ज्योतियों को उसे समर्पित कर दिया, उसमें इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के रत्न या देव रूप समस्त ज्योतियां तथा उनकी गतिविधि रूप शक्तियां या आयुध सब के सब एकत्र हो गईं, वह योग समाधि की वैसी ही साकार और साक्षात् प्रतिमा बन गई जैसी अर्जुन ने भ० कृष्ण से दिव्यचक्षु या योगचक्षु पा जाने पर साक्षात् अनुभूत की थी। इन दोनों ग्रन्थों के इन स्थानों के वर्णन का विषय तो एक है, पर इनमें वर्णना शैली की चातुरी के अन्तर मात्र का बड़ा पर्दा पड़ा हुआ है। दोनों में पूर्णयोग समाधि का सजीव चित्रण किया गया है, जिनके पास योग की आखे हैं वे देखने का प्रयास करें।

(ख) अन्यच्च—

यानि रत्नानि मणयो गजाश्वादीनि वै प्रभो।
त्रैलोक्ये तु समस्तानि साम्प्रतं भान्ति ते गृहे॥
ऐरावतः समानीतो गजरत्नं पुरन्दरात्।
पारिजाततरुश्चायं तथैवोच्चैः श्रवाहयः॥
विमानं हंससंयुक्तमेतत्तिष्ठति तेऽङ्गणे।
रत्नभूतमिहानीतं यदासीद्वेधसोऽद्भुतम्॥
निधिरेष महापद्मः समानीतो धनेश्वरात्।
किञ्जल्किनीं ददौ चाब्धिर्मालामम्लानपङ्कजाम्॥
छत्रं ते वारुणं गेहे काञ्चनस्रावि तिष्ठति।
तथायं स्यन्दनवरो यः पुरासीत्प्रजापतेः॥
मृत्यो रुत्क्रान्तिदा नाम शक्तिरीश त्वया हृता।
पाशः सलिल राजस्य भ्रातुस्तव परिग्रहे॥
निशुम्भस्याब्धि जाताश्च समस्ता रत्नजातयः।
वह्निरपि ददौ तुभ्यमग्निशौचे च वाससी॥
एवं दैत्येन्द्र! रत्नानि समस्तान्याहृतानि ते।
स्त्रीरत्नमेषा कल्याणी त्वया कस्मान्न गृह्यते॥

(दुर्गा स० श० ५-९३ से १०० तक)

(ख) इसी प्रकार का वर्णन फिर शुम्भ के दूत के मुख से किया गया है जिसमें कहा गया है कि गज अश्व आदि जितने भी त्रैलोकी की सब

रत्न और मणियां हैं वे सब तुम्हारे (शुम्भ के) घर में ही हैं, जैसे ऐरावत नामक गजरत्न पारिजात वृक्ष, उच्चैः श्रवा अश्व इन्द्र के यहां से छीन लिए गये हैं। वेधा रूप ब्रह्मा का हंस या प्राण युक्त विमान रूप अद्भुत भौतिकाण्ड या भौतिक ब्रह्माण्ड तुम्हारे ही आंगन में है। कुबेर के यहां स्थित महापद्म नामक निधि भी तुम ले आये। समुद्र ने तुम्हे किञ्जल्किनी नाम की नित्य अम्लान पंकज माला दे दी है, काञ्चन स्रावी (प्राण रस स्रविता) वारुण छत्र भी तुम्हारे ही घर में है। प्रजापति का वह संवत्सर ब्रह्ममय रथ, तथा मृत्यु की उत्क्रान्तिदा या प्राणहरणशक्ति भी तुमने हर ली हैं। सलिल राट् वरुण का पाश तथा निशुम्भ के समस्त अब्धिजल रत्न सब तुम्हारे पास हैं। अग्नि ने तुम्हें अग्निमय प्रकाशमय दो वस्त्र दिये हैं। इस प्रकार सब रत्न तुम्हारे पास हैं तो इस स्त्रीरत्न को तुम क्यों ग्रहण नहीं करते ?

विशेष—यहां पर समाधिमय योग से प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग या स्वार्थमय, भौतिकता स्वादनीय सिद्धि की वर्णना है, जिसका प्रतिफल अधः पतन मात्र है। निशुम्भ और शुम्भ भी योगी ही हैं, पर इनका योग आसुर योग है, परपीडक, परसन्तापक, परअहितकर योग है। ऐसे योगियों के पतन का वर्णन देवी रूप दैवी योग द्वारा वर्णन करना तृतीय चरित्र का मुख्य लक्ष्य है।

(ग) अन्यदपि चोक्तं भवति—

देवि दैत्येश्वरः शुम्भस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः।
... ... ॥
त्रैलोक्ये वर रत्नानि मम वश्यान्यशेषतः।
तथैव गजरत्नं च हृत्वा देवेन्द्रवाहनम् ॥
क्षीरोदमथनोद्भुतमश्वरत्नं ममामरैः।
उच्चैः श्रवस सञ्ज्ञं तत्प्रणिपत्य समर्पितम् ॥
यानि चान्यानि देवेषु गन्धर्वेषूरगेषु च।
रत्नभूतानि भूतानि तानि मय्येव शोभने ॥
स्त्रीरत्न भूतां त्वां देवि ! लोके मन्यामहे वयम्।
सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम् ॥

(दुर्गा स० श० ५ १०६ से ११२ तक)

(ग) इस खण्ड में पूर्वोक्त विषय ही संक्षेप में वर्णित है। इसमें उन्हीं रत्नों और मणियों का विवेचन है जिसे (ख) भाग में दे दिया गया है (पुनरुक्ति व्यर्थ है। मूल पद में) वह स्वतः स्पष्ट भी है।

विशेष—देवियों की शक्तियों और आयुधों का वर्णन पौराणिक युग की उद्भावना है। अतः उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया है। इनका वर्णन भी योग प्रक्रिया का ही वर्णन देता है। वे देवियां ब्रह्माणी, ऐन्द्री, वाणी नारसिंही प्रभृति हैं। कर्मकाण्ड के 'ब्रह्माणी कमलेन्दु सौम्यवदना ··· रक्षन्तु तो मातरः' मंत्र की देवियों को दुर्गा सप्तशती अ० ८·३३ से ३८ तक में वर्णित देखें।

(घ)–अथ च बुद्धियोगे गीतायाः विभूतियोगस्याध्यायो नवमार्द्धो दशमश्च सर्व रत्नानां च वसूनामेव नामानि ददाति द्रष्टव्यमेवात्र।

(घ)—बुद्धियोग नामक गीता ने नवमार्ध और दशम अध्याय में तथा कई पुराणों ने कई स्थलों में मुख्य मुख्य देवताओं की जिन जिन विभूतियों का वर्णन संक्षेप या विस्तार में दिया है वे सबके सब देव तत्त्व रूप रत्न या मणिणां या धन या आयुध प्रभृति ही हैं। गीता के नवम के उत्तरार्द्ध और दशम अध्याय पढ़ लेने का कष्ट करें।

(ङ) सृष्टि पक्षे वसवस्त्वष्टौ वसव एव परन्त्वतिसृष्टौ वसूनि वैतान्ये व रत्नानि भवन्ति यान्युक्तानि मार्कण्डेय गीताप्रभृतिभि स्तदा ये शारीराणि प्राणाः, एवं रुद्रादयश्च

(ङ)—सृष्टिपक्ष में वसु नामक वेवता तो अष्टवसु ही होते हैं। परन्तु अतिसृष्टि या योग पक्ष में वसु नामक धन या रत्न या मणियां आठ भौतिक प्राण हो जाते हैं। क्योंकि योग की प्रक्रिया सृष्टि प्रक्रिया के एकदम विपरीत ही है। योग में ये वसु आदि उन्हीं तत्त्वों या देवों का संकेत करते हैं जिनका वर्णन पीछे (क) (ख) और (ग) में किया जा चुका है। इसी प्रकार रुद्रों और आदित्यों का विवेचन समझना चाहिए। इतना अवश्य है कि आदित्य नामक तत्त्व मध्यवर्ती होने से दोनों पक्षों में एक ही तत्त्वों के संकेतक होंगे, यह विशेष बात भी ध्यान से न उतरी जावे।

(६) तदेतानि सर्वाणि वै वेदोक्तानि रत्नानि च वसूनि।

(६)—इस प्रकार उक्त वर्णित सभी देवता आदि ही वेदों में वर्णित रत्न या वसु हैं, (और वेदों में जिन पशुओं की प्राप्ति का वर्णन है वह पञ्चप्राण रूप पुरुष पशु अश्व गो अवि अजा नामक देवताओं का ही मुख्यतः संकेत करते हैं, हां द्रव्य यज्ञ में रत्न माने लौकिक रत्न और पशु माने या गो अश्व माने लौकिक पशु ही है)

(७) वसूनि वै आत्मानो देवास्तेषां शरीराणि च तेषां रत्नानि निगदितानि।

(८) योगे तु तद्विपरीतम्। तस्माद्देवा वै रत्नधास्तत एवोक्तं 'सरस्व-

तीस्तनाथ'यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः' 'रत्नधातममित्यग्नये' तदेवोक्तं दुर्गासप्तशत्यां मार्कण्डेयेन (१०–६) (ऋ. वे. १-१-१;१-१६४–४९ इत्यादि)

(९) कथं मार्कण्डेयेन पूर्वोक्तरत्न नामसु धेनोः कामधेनोर्वा नाम न गृहीतम् ?

(१०) प्राणा भौतिका वै गावस्ते चासुरा गोशरीराः स्वयमेव तस्मान्न गृहीतं तस्या नामात्र ।

(११) या वाग्धेनु रदितिधेनुर्वा छन्दोमयी वा धेनुः स तु सम्प्रत्येव दृष्टा तै र्महाभाग्येन या तेषां सर्वेषामन्धकारमयतां दूरीकृत्वा निहत्य वा तान् प्रकाशितान् करिष्यति सैषैव वास्तविका कामदुधा कामधेनु र्यस्यां सर्वे देवा कोशमयेषु स्वेषु स्वेषु रत्नरूपशरीरेषु विभिन्नाङ्गरूपेषु प्रतिष्ठन्ति ।

इस प्रकार वसु नामक तत्त्व तो आत्मायें या देवता है, रत्न उनके शरीर हैं। इसीलिए देवताओं को रत्नधा नाम से पुकारा गया है जैसे सरस्वती के स्तन के लिए कहा गया है कि वह रत्नधा वसुविद् और सुदत्र (सुदानी) है। सरस्वती के इस स्तन की महिमा भी मार्कण्डेय जी ने इसी रूप में दी है। कि महासरस्वती के स्तन में सब देवता समा गये (दु. स. १०–६)। तत्र इसका स्पष्ट तात्पर्य यह होता है कि सरस्वती का 'रत्नधा स्तन' का भाव 'देवधा' या देवताओं को रत्न रूप में धारण करता है। अग्नि को भी 'रत्नधातम' कहा है। मार्कण्डेय ऋषि जी ने उक्त रत्नों की वर्णनों में कामधेनु या धेनु का नाम नहीं लिया है, इसका क्या कारण है ? बात यह है कि भौतिक प्राणों का नाम 'गावः' है, भौतिक प्राण असुर या भौतिक प्राणवान् हैं, गो शरीरी हैं, अतः इनका नाम रत्नों में नहीं गिनाया गया है। परन्तु जो वाक्धेनु है या अदिति रूपा धेनु या छन्दोमयी धेनु है उसका दर्शन तो इन गो शरीरी भौतिक प्राणों को अभी बड़े सौभाग्य से हो रहा है, जो इनकी अन्धकारमयता को दूर करके या इन्हें मार कर प्रकाशित करेगी। वास्तविक प्रकाश चेतना ज्ञान रूप काम को दुह कर देने वाली कामधेनु तो वही महासरस्वती स्वयं है जिसमें सभी देवता और उनके अध्यात्म शरीर रूप रत्न समाये हुए हैं। (७ से ११ तक)।

(१२) वसवस्तु द्विविधाः पूर्वोक्ताः सर्वे तथा पञ्च प्रसिद्धाः पशवः पुरुष पशु रश्वो गो रविरजा चोष्ट्रोष्ट्र्यौ रासभरासभी च रसमयाः। पञ्च-प्राणाः सर्वे ।

वेदों में वर्णित पशु दो प्रकार के हैं, पूर्वोक्त सभी तत्त्व भी पशु ही हैं तथा पञ्च प्रसिद्ध पशु—पुरुषपशु, अश्व, गो, अवि और अजा—हैं। कई स्थलों में

इनके साथ उष्ट्र उष्ट्री रासभ रासभी को भी गिनाया है। इस सन्दर्भ में अश्व के साथ वडवा और वृषभ के साथ गौ का जोड़ा भी दिया है, केवल पुरुष पशु को अकेले छोड़ा है, पर यह पुरुष पशु ही अश्वादि रूपों में परिणत होता है, मूल में यही पितापुत्री से पतिपत्नी में परिणत होता है, यह पुत्री को खलता है। अतः वह उक्त पशुओं-वडवा, गौ अजा, उष्ट्री रासभी प्रभृति में परिणत होती है तो पुरुष या पिता भाग अश्व वृषभ अवि उष्ट्र रासभ बन कर उसका पीछा नहीं छोड़ता। यह तत्त्वों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का पशु व्यवहारानुकूल समुचित वर्णन है। ये सब रसमय पञ्चप्राणों का वर्णन देते हैं (१२)।

(१३) सुतस्तु सोम एव यस्य सवाय सवनायैव सर्व योग जालम्।

(१४) मन्त्रं तु मननात्मनसो मनः शरीर मतिरेव यथोक्तम् भवति "अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः" (ऋ. वे-१-६७-५. या ३, द्वैपदं छन्दः)

वेदों में प्राप्त सुत शब्द सोम का वाचक है जिसका सवन या प्राणों के झपके से चुवाना या उद्दीपित किया जाता है; जो इस प्रकार नवीन रूप में जन्म लेता है उसे सुत नामक सोम कहते हैं। योगी ऋषियों का सुत या पुत्र यही सोम है जिसका अवतार या जन्म उनकी समाधि में प्रतिदिन नव नव रूप में होता है। यह सब योगमाया जाल की व्याख्या या वर्णना है। इसी प्रकार वेदों आया 'मन्त्र' शब्द 'मनः' की गति का वाचक है, यह दैवं मनः है, न कि हम आपका सा घोर मूढ महा महा भौतिक मनः। यहां मनः तो शरीर है उसमें आत्मा रूप में स्थित मति ही मन्त्र है जैसा कि ऋग्वेद ने स्वयं लिखा है कि अज एकपाद् अनाद्यनन्त तत्त्व ने इस भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड को धारण करके इसे अपने सत्य रूप नित्य रूप मन्त्रों या मतिरूप पृथिवी ज्ञानमयी शक्तिरूपा मति से स्थिर रूप में या स्थिति रूप में रख सका (१३ से १४ तक)।

(१५) श्रुतयो 'श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्निति' प्राणाः।

(१६) तस्माच्छ्रोत्रादुपब्रूं हणत्प्राणाश्च ब्रह्माणि (वा ऋत्विजा ब्राह्मणा वा।)

(१७) ते च 'वाग्वै ब्रह्म, 'मनो वै ब्रह्म', 'चक्षुर्वै ब्रह्म', 'श्रोत्रं वै ब्रह्म' 'प्राणो वै ब्रह्म, हृदयं वै ब्रह्म, मति वैं ब्रह्म, ज्ञानं वै ब्रह्म, प्रज्ञा वै ब्रह्म इत्यादयः (छा. उप ४-११ से १५ तक बृह. उप, प्रश्न उप ४७)

(१८) तेषामेतेषां पर्यायवाचकाः शब्दाश्चापि ब्रह्मवाचकाः ते च धीर्धियः गीः गिरः, गिर्वणः, वचः, सुमति मंति मंतयः अन्नं सप्तान्नं आदितिः अत्रिः संविदाना विद्युच्च।

(१९) एवं च 'नाम, वाक्, मनः संकल्पं चित्तं, ध्यानं विज्ञानं, बलं, अन्नं, आपः, तेजः, आकाशः, स्मरः, आशा, च ब्रह्म नामान्येव (छा. उप. ७-१ से १४ तक)

(२०) तस्मादुक्तं च वेदेष्वेव 'ब्रह्माणि मे मतयः' (ऋ. वे ३-१६५-४ यजु ३३-७८) 'ब्रह्माणि हि चकृषे वर्धनानि' (ऋ. वे- ६-२३-६) 'ब्रह्म प्रजावता भरः (ऋ. वे ६-१६-३३) ब्रह्मा कृणोति वरुणो' (ऋ. १-१०५-१५) 'ब्रह्मा ण इन्द्रोपयाहि' (ऋ. वे-७-२८-१) 'ब्राह्मणं ब्राह्मवाहसं' (ऋ. वे ६-४५-७) 'ब्राह्मणास्त्वा वयं युजा' (ऋ. वे-८-१७-३) 'ब्रह्मा त इन्द्र गिर्वणः' (ऋ. वे-६-९०-६) इत्यदिपु द्रष्टव्यम् ।

वेदों में जिनको श्रुति नाम से पुकारा गया है वे प्राणों के संकेतक है। श्रोत्र से लोकों का निर्माण होता है। श्रोत्र ही श्रुतियाँ हैं, श्रुतियां शब्दब्रह्म मय ब्रह्माण्ड हैं। इसलिए शब्दब्रह्ममय ब्रह्माण्ड में उद्दीप्त होने के कारण प्राणों को भी ब्रह्म या ब्रह्माणि नाम से पुकारा गया है, इन्हीं को कहीं ऋत्विज और कहीं 'ब्राह्मणः' या होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा आदि नामों से पुकारा गया है। अतः ब्राह्मणादिको में बार बार लिखा हुआ मिलता है वाक् ब्रह्म है, मनः ब्रह्म है, चक्षुः ब्रह्म है, श्रोत्रं ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, हृदय ब्रह्म है, मनः ब्रह्म है, ज्ञान ब्रह्म है, प्रज्ञा या प्रज्ञान ब्रह्म है, इत्यादि। इनके पर्य्याय वाचक शब्द भी ब्रह्म नाम से पुकारे गये हैं जैसे धीः, धियः गोः, गिर्वणः, वचः, सुमतिः, मतिः, मतयः, अन्नं सप्तान्नं, अदितिः, अत्रिः, संविदाना, विद्युत्। इसी प्रकार नाम, वाक्, मनः, संकल्प, चित्तं, ध्यानं, विज्ञानं, बलं, अन्नं, आपः, तेजः, आकाशः, स्मरः, आशा, इत्यादि भी ब्रह्म ही के नाम हैं। इसीलिये वेदों में बार बार कहा हुआ मिलता है कि मेरी मतियाँ ब्रह्म हैं, वर्धनशील ब्रह्म तत्त्वों को उद्दीपित किया, प्रजावान् ब्रह्म की सृष्टि करो, वरुण ब्रह्मा को उद्दीप्त करता है, हे इन्द्र! ब्रह्मा होकर हमारे समीप आओ, तुम जो ब्रह्म रूप हो, ब्रह्म को वाहन रूप में धारण करते हो, हम तुम्हारे ब्रह्म तत्त्वों से युक्त होकर, हे इन्द्र सभी प्राण तेरे हैं इत्यादि मन्त्रों में देखें (१५ से २० तक)।

(२१) मुख्यः "प्राणो वा आशया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समार्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति, प्राणः प्राणान् ददाति, प्राणः प्राणाय ददाति, प्राणो हि पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।" (छा. उप·७-१५)

(२२) आत्मनः प्राण आत्मन आशा प्रभृतीनि सर्वाणि (छा. उप-७ २६)

(२३) एष तु वा अतिवदाति यः सत्येनातिवदति (छा. उप ७-१६)
(२४) अध्ययने पाठे कर्मकाण्डेऽपि ब्रह्मशब्दार्थों मन्त्रश्च परं नान्येषु विषयेषु ।
(२५) ऋषयस्तु मन्त्रद्रष्टारश्च योगिनश्च तत्तत्तत्ववाचकाश्च ।
(२६) यथा 'षलिद्यमा ऋषयो देवजा इति' 'ऋषयः सप्त दैव्याः' नवग्वा दशग्वा सप्ताङ्गिरसश्च, वसिष्ठः प्राणः श्रोत्रं विश्वामित्रश्चक्षु र्जमदग्नि-र्विश्वकर्मावागित्यादयः (श. ब्रा. ऋ. वे.)

मध्यम प्राण नामक मुख्य प्राण आशा या श्रोत्र से महत्तर है । जिस प्रकार रथ नाभि में उसकी आरायें जड़ी रहती हैं उसी प्रकार इस मुख्य प्राण में सब कुछ चारों ओर से अराओं की तरह जड़ा रहता है, मुख्यप्राण ही नाभि है । अन्य प्राण इसी प्राण से संचार क्रिया में समर्थ होते हैं, यही प्राण अन्य प्राणों को प्राणता प्रदान करता है, यह प्राण प्राण को ही कुछ दे सकता है । यही प्राण पिता है, यही माता है यही भ्राता है, यही बहिन है, यही आचार्य है, यही ब्राह्मण या मुख्य ऋत्विज या योगी भी है । आत्मा ही से प्राण जागृत होते हैं, इसी आत्मा से आशा प्रभृति उक्त अन्य तत्व भी आविर्भूत होते हैं । जो विद्वान् सत्य सत्य बातें कहता है, वह सत्य को अतिमात्रा से कहता है, नाना शब्दों में कहता है, उस सत्य का अन्त ही नहीं है, कहां तक कहे । अध्ययन और पाठ तथा कर्म काण्ड में भी ब्रह्म शब्दका अर्थ मन्त्र भी है, पर अन्य विषयों में नहीं । ऋषि तो मन्त्र दृष्टा हैं, योगी हैं इनके शरीर और दृष्ट मंत्र, तत्वों के ही वाचक हैं जैसे 'ये छह यमल ऋषि देवज' 'ये सात दैव्या ऋषयः' है, इसी प्रकार नवग्वा दशग्वा ऋषि नव प्राणों या दश प्राणों के सूचक है, सात अङ्गिरस दैव्या ऋषि है, वशिष्ठ प्राण है, विश्वामित्र श्रोत्र है, जमदग्नि चक्षु है, विश्वकर्मा वाक् है इत्यादि तो स्पष्ट लिखा ही मिलता है (२१ से २६ तक)।

दक्षिणा—

(२७) दक्षिणा वै दक्षिणायनस्य योगोत्तरायणस्यैव तत्व प्राप्ति फलम् ।
(२८) 'चतस्त्रो वै दक्षिणा हिरण्य गौर्वासोऽश्वः' (श. प. ब्रा. ४ ३-१-१ से ७ तक)
(२९) सर्वाणि तानि तत्वानि दक्षिणायनस्य तस्माद्दक्षिणाः ।
(३०) यद्दक्षयति वा ददात्यक्षि वा यत्तद्दक्षं तस्माद्दक्षिणायनं दक्षिणा च ।

अब वेदोक्त दक्षिणा या दान स्तुतियों की व्याख्या दी जाती है। सृष्टि और योग पक्षों के अभिनय रूप द्रव्ययज्ञ कर्ता ब्राह्मणों को जो दक्षिणा दी जाती रही या अब भी दी जाती है वह चार रूपों में दी जाती थी और अब भी दी जाती है। वे चार रूप सोना, गाय, वस्त्र और घोड़े हैं। यह ठीक है। परन्तु योग यज्ञ के कर्ताओं में तो वाक् होता है, प्राण उद्गाता है, चक्षु अध्वर्यु

है और मनः ब्रह्मा है। इन प्राणरूप ऋत्विजों को योगयज्ञ करने की जो दक्षिणा मिलनी चाहिए उनका नाम भी वही हिरराय, गौ, वासः और अश्व है; अब देखना या समझना यह है कि इन प्राण रूप ऋत्विजों के लिए दक्षिणा में दिए गये इन वस्तुओं का संकेत किन किन वस्तुओं या तत्त्वों से किया जाना उचित है? हाँ इनके पक्ष में यह 'दक्षिणा' शब्द ही क्या माने रखता है? यह भी तो जाने बिना गाड़ी आगे नहीं चल सकेगी।

वेदों में योग पक्ष या रहस्य पक्ष में दक्षिणा नाम सार्थक है, द्रव्य पक्ष यज्ञ में केवल रूढिमात्र। दक्षिणा नाम दक्षिणायन का है, दक्षिणा पथ्या का है। यह योगपक्ष में उत्तरा या उत्तरायण या उत्तर पथ्या का। इसकी प्राप्ति को दक्षिणा प्राप्ति कहते हैं। इस दक्षिणा में हिरराय तो मन या मध्यम प्राण है, गौ अदिति, आपः, वाक् छन्दोमयी कामधेनु है, वास या वस्त्र दिव्य शरीर रूप चक्षु या सोम ज्योति है। अश्व उस विष्णु या वृष्ण का सोम रूप रेतः का वर्षण शील प्राण है। उक्त वाक् होता, चक्षु अध्वर्यु, प्राण उद्गाता और मनो ब्रह्मा नामक योग यज्ञ के ऋत्विक ब्राह्मणों को उक्त मुख्यप्राण, कामधेनु, सोम ज्योतिरूप दिव्य शरीरी वस्त्र तथा विष्णुरूप (रेतः वर्षणशील) अश्व मिल गया तो योग की पूर्ण सिद्धि हो गई। इनको दक्षिणा नाम इसलिए दिया गया है कि ये सब दक्षिणायन के तत्त्व हैं, अथवा जो तत्त्व योग में दक्ष कर देते हैं, या योग की अक्षि या आंख देते हैं (ददात्यक्षिणीति दक्षः दक्षएव दक्षिणा) वे ही दक्षिणा हैं। (२७ से ३० तक)।

(३१) "महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागाद् गुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि।
उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदा सोम प्र तिरन्त आयुः॥
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सङ्गमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्।
दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणी रग्रमेति।

(३२) तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्यतन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणाया रराध॥

(३३) दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥" (ऋ. वे. १०·१०७-१ से ७ तक)

एतादृकछब्देभ्योऽन्यत्सर्वं मम वैदिकविश्वदर्शने द्रष्टव्यम्।

इन सबका रमणीय वर्णन स्वयं ऋग्वेद ने निम्न प्रकार से दे रखा है—:

दक्षिणा का महान् गौरवशील पन्थ, पितरों से प्राप्त होता है, यह महती ज्योतिष्मती पथ्या है जिसको योगी ही देख सकते हैं। दक्षिणावान् दिव के उच्च

स्थान में रहते हैं, वे आदित्य सहित अश्वदा या प्राणदा भी हैं, वे ही हिरराय या भौतिक प्राणदाता है जो विष्णु रूप वृष्ण के अमृत प्राण का भोग करते हैं, वे ही सोम ज्योतिरूप वस्त्र के दाता हैं, जिससे वे बड़ी दीर्घ कालीन आयु को प्राप्त होते हैं। वे सप्तप्राण रूप सात माताओं से पूर्वोक्त रूप की दक्षिणा का दुहन करते हैं और वे यह दुहन एक ही साथ युगपत् करते हैं, और वे एक साथ देती भी हैं। जो इस प्रकार का दक्षिणावान् या योगी है, उसको सभी सर्वप्रथम आहूत करते हैं, दक्षिणावान् या योगी ही सोम ज्योति से ग्रमणी या श्रीमान् बन कर सब का अग्रणी भी होता है। उसी व्यक्ति को ऋषि कहते हैं, उसी को ब्राह्मण कहते हैं, उसी को (योग) यज्ञ कर्ता कहते हैं, उसी को साम-गायक उद्गाता कहते है और उसी को उक्थ्य का शंस गाने वाला कहते हैं जो विष्णु रूप वृष्ण या अश्व के रेतोरूप (शुक्र) के ज्योतिष्मान् शरीर की अनुभूति करता है, तथा जो अश्व रूप विष्णु को पाने के पहले हिरराय गौ और वास नामक पूर्वोक्त तीन दक्षिणाओं की सिद्धि कर लेता है।

जो व्यक्ति सोम या विष्णु की उक्ति ज्योति को सज्ञान होकर अपने अन्तर्ब्रह्मांड का कवच बना लेता है वह अपने सभी कोशों के अन्तर्जगतों को प्रकाशमान बना लेता है, तब वह उन्हें, जीवन ज्योति चेतना, (अश्व) रूप में 'अग्नि या वाक् को ज्योति को' तेजः और शक्ति की गाय रूप में, चन्द्रमा की ज्योति को ज्ञान के वस्त्र रूपों में, प्राणों की ज्योति या सुवर्ण को गति स्फूर्ति ऊर्ज ओजः बल धृति और सहन शक्ति रूप में दान देता है। ये उसकी अमूल्य निधि रूप दक्षिणायें हैं जिन्हें वह योग द्वारा ही प्राप्त कर सकता है, कर्मकाण्डी यज्ञ में मनुष्य रूप पुरोहितों को सोना गाय घोड़ा और कपड़े दिए जाते हैं। ऐसी दक्षिणाओं को कौन कहे योग यज्ञ का कर्ता तो सुख भोग की सामग्रियों तक को अखिलसाम्राज्य और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्तियों और सुखभोग की सामग्रियों तक को ठोकर मार कर दूर फेंक देता है जैसा कि सोमानुभूति के पाद ४ आ अध्याय ३ में पीछे बताया जा चुका है (सू. ३१ से ३६ तक)।

यहां पर ऐसे सभी शब्दों की व्याख्या देना सम्भव नहीं है। ऐसे शेष अधिकांश शब्दों की व्याख्या मेरे वैदिक विश्व दर्शन नामक ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक दी हुई मिलेगी, उसका अध्ययन कर लेना अत्यावश्यक है।

अध्याय ४ पाद २

सृष्टि और अतिसृष्टि का वास्तविक अन्तर

(१) ऋतं बृहद्वै पूर्ण दर्शनमनादिमूले सृष्टि वृक्षस्य स्थूणरूपे ।

(२) त एव 'ऋतं च सत्यं' च ।

(३) त एवोभे द्यावापृथिवी ।

(४) तयोर्मध्य एवोषाः ।

(५) तत्त्रैलोक्यम् (न त्रिपात्) ।

(६) ऋतं पूर्वार्द्धं वै त्रिपात् ।

(७) बृह दुत्तरार्द्ध बृंहणाद्ब्रह्म च ।

(८) उभे च वैते अज एकपात् सृष्टिवृक्षः ।

(९) ताभ्यामुपबृंहते सृष्टिः क्रमशो 'यदन्नेनातिरोहतीति' ।

वैदिक ऋषियों ने अपने पूर्ण दर्शन के चित्र का नाम या मौलिक सृष्टि के तत्त्वों के चक्र का नाम ऋतं बृहत्' रखा है। यह आधार भूत सृष्टयुन्मख ब्रह्म का नाम है। यह अनादिमूलक अनन्त है। इसे वे सृष्टिवृक्ष का मूल कहते थे। इस मूल का नाम ऊर्ध्वमूल या ऊर्ध्वबुध्न भी है। इस 'ऋतं बृहत्' को 'ऋतं सत्य च' नाम से भी पुकारते हैं। इनमें ऋत तत्त्व तो अमृत का मूल है, और सत्य तत्त्व भौतिकामृत सोम का। इन दोनों को पुनः 'द्यावा पृथिवी' नाम से तब कहते हैं जब इसकी व्याख्या त्रिलोकी के रूप में की जाती है। इन दोनों का मध्यवर्ती स्थान लोक विद्यादि में ऊषा या योनि या गर्भः या नाभि या गर्त या विषुवान् या अयःस्थूणा इत्यादि नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार ये तीनों भाग त्रिलोक या त्रिलोकी या त्रैलोक्य कहलाते हैं, इसको भूलकर त्रिपाद् न समझलें। त्रिपात् नाम तो पूर्वार्द्ध या ऋत या द्यावा मात्र का है, इसी के तीन भागों या पादों को त्रिपाद् कहते हैं। बृहत् उत्तरार्द्ध है, इसमें भौतिक सृष्टि का उपबृंहण होता है। इन दोनों को 'अजएकपात्' नामक सृष्टि वृक्ष कहते हैं। इन्हीं से सृष्टि उपबृंहित या विकषित होती है। जैसा कि पुरुष सूक्त ने लिखा भी है कि अन्न या भौतिकता से भौतिक सृष्टि विकसित होती है (१ से ९ तक)।

(१०) तत्संवत्सर ब्रह्म यदतिरोहति वृक्षवद्दतुषु ।

(११) तदक्षर ब्रह्म यदनन्त कलाक्षरक्रमेणोपबृंहते ।

(१२) सः सुपर्णो यश्छन्दाक्षरक्रमेण विकसति ।
(१३) स एवैकपाद्विपात्त्रिपाचतुष्पाद्वा पञ्चपाद्वा ।
(१४) स विष्णुर्यदा सप्तपदो यः सप्तपदीमारोहति ।
(१५) एवं सप्तविधान्यासु सरणीषु यान्युच्यन्तेऽधिलोकमधिविद्यमधिदैवतमधि-भूतमध्यात्ममधियज्ञमधिप्रजमित्यादीनि ।

उक्त 'ऋतं बृहत्' या 'द्यावापृथिवी' सृष्टयुन्मुख आदि ब्रह्म का आधारभूत अनाद्यनन्त अक्षिति रूप अजरामर नित्य अविकृत स्वरूप है। सृष्टि इसी से उत्पन्न या विकसित होती है, हुआ करे, पर ये अपने स्वरूप में अचल, अटल, और अमर रूप में नित्य जैसे के तैसे ही रहते हैं। इसी प्रकार प्रलयकाल में जिस क्रम से विकास हुआ था उसके नितान्त विपरीत क्रम से क्रमशः प्रलय होते होते अन्त में सब का लय भी इसी 'ऋतं बृहत्' या द्यावा पृथिवी के रूप में हो जाता है। यही आदि ब्रह्म का मौलिक स्वरूप है। यह अजएकपाद् सृष्टि वृक्ष का, अनादि रूप है, स्थूणा है, यह सृष्टि काल में अंकुरित पल्लवित (पर्णित सुपर्णित) पुष्पित, फलित होता है, और प्रलय काल में फल, पुष्प, पल्लव और अङ्कुर सब झड़कर पतझड़ होकर, पुनः उसी पूर्वरूप स्थूणा ठूँठ वृक्ष की तरह ऋत बृहत् या द्यावापृथिवी के अपने अनादि रूप में परिणत होता है। इस प्रकार के विकास ह्रास को सवत्सर ब्रह्म कहते हैं। जब सूक्ष्म कलामय अक्षरों के विकास ह्रास रूप में वर्णन करते हैं तब इसी को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। जब छन्दों के अक्षरों और पादों में वर्णना करते हैं तब इसे सुपर्ण, एकपात् द्विपात् त्रिपात् चतुष्पात् पञ्च पात् कहते हैं। अक्षरों की संख्या ४३२०००००० है, यही इस विश्व की आयु है, अतः इस विकास और ह्रास के क्रम का विवेचन संवत्सर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म, छन्दोमय ब्रह्म, पद ब्रह्म, अधि लोक ब्रह्म, विद्या-ब्रह्म अधिब्रह्म, अधिभूत ब्रह्म, अध्यात्मब्रह्म अधियज्ञ ब्रह्म अधिप्रज ब्रह्म इत्यादि नाना रूपों में वर्णित किया गया है जिनको समझने वाले सम्भवतः नहीं ही के बराबर हैं। जो इस प्रकार वेदों की वास्तविकता जानना चाहता है वह वेदों को इन दृष्टियों देखे, पढ़े, मनन करे, तब कुछ कुछ समझ में आ सकेगा। इस सातों विधियों की व्याख्यायें विविध प्रकार से की और दी गई हैं, जैसे यह सृष्टि बृक्ष ही 'अजएकपात्' देवता है जिसका अर्थ 'एकपदी नित्य' देवता है न कि एक पाँव का बकरा। इसका एक पांव सृष्टि में द्यावा है योग में पृथिवी। दोनों नित्य हैं पर पृथिवी नित्यानित्य दोनों हैं क्योंकि इसमें अनित्य तत्त्वों की सृष्टि करने की भी शक्ति है, और योग में यही इन्हीं अनित्यों से नित्य नामक देवताओं की सृष्टि समाधि में करती भी है। जब इस सृष्टि प्रक्रिया

को छन्दों के विभाजनों से व्याख्यात किया जाता है तब इस सम्पूर्ण सृष्टि को एक 'महा सुपर्ण' कहते हैं। यह महासुपर्ण जगती छन्द है जिसमें २४,२४ अक्षरों के दो भागों के कुल ४८ तत्त्व रूप अक्षर हैं। इसी प्रकार गायत्री दोनों विधियों में पूर्वार्द्ध के २४ अक्षर रूप तत्त्वों की सुपर्ण है, अनुष्टुप् ३२ अक्षरों का, त्रिष्टुप् ३३ का, उष्णिक २८ का, बृहती ३६ का और विराट् ४० का, ये सात मुख्य छन्द है, यही सात मुख्य सुपर्ण हैं। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण सृष्टि (दोनों प्रकार की) को सात भागों में बांटा जाता है जिन्हें सप्तपद या सप्तपदी कहते हैं। इनमें से तीन पूर्वार्द्ध में है, तीन उत्तरार्द्ध में, चौथा मध्यमें अन्तरिक्ष विषुवान् गर्त समुद्र है। विष्णु देवता इनमें से प्रथम या अन्तिम तीनों को सृष्टि या योग पक्षमें अपने त्रिविक्रम या तीन लम्बे डगों से अतिक्रमण करके उस दोनों ओर से सर्वोच्च स्थान मध्यवर्ती चतुर्थ पद में पहुंचता है; यही महा सुपर्ण 'हंसः शुचिषत्' या शुक्ल वर्ण का हंस पवित्र रक्त और नील सागर का रहने वाला कहलांता है। यहां मनः हस है द्यावा वाक् है, पृथिवी प्राण है' इन्हीं से आगे चलकर हिररायगर्भ की सृष्टि होगी जिससे मर्त्यामर्त्य दोनों प्रकार की सृष्टियां साथ साथ चलेंगी (१० से १५ तक)।

(१६) ऋतं वै अनारम्भणीयं बृहच्चारम्भणीयं भौतिकामृतम् ।

(१७) 'अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य' (ऋ० वे० १०–५-६)

(१८) स एवा ऽग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पृथिव्याः' (ऋ० वे० ८-४४-६, यजुः ३–१२)।

(१९) ततो वै सर्वे देवा यस्मात्ते 'ऋतावृधाः' ।

ऋत भाग अनारम्भणीय या एकमय सृष्टि कहलाती है। बृहत् भाग आरम्भणीय या सृष्टि को नाना रूप देना आरम्भ करने वाला कहलाता है। यह बृहत् भाग भौतिक होते हुए भी अमृत अजर और अमर ही है। इस ऋत भाग से सर्व प्रथम विकास 'अग्नि' विद्युद्गर्भ तत्त्व का होता है। अतः इसे ऋत से प्रथमज या प्रथमोत्पन्न कहते हैं और इसी को 'दिवः' का मूर्धा, पृथिवी का ककुत् भी कहते हैं। इसी से सभी देवताओं का विकास होता है, अतः देवताओं को ऋतावृधा या ऋत भाग से विवृद्ध या विकसित या ऋत भाग को विकासित करने वाला कहते हैं (१६ से १९ तक)।

(२०) स्थितिर्विकासो वै देवानां मात्राभिश्छन्दसां य'दक्षरमक्षरं तद्देवता' (ऐ० ब्रा० दो स्थलों में)।

(२१) यथा 'ऽग्नेर्गायत्रमभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूवे' त्याद्यैवमन्येषामपि देवानाम् (ऋ० वे० १०-१३०-४)।

(२२) उक्तं च तस्मा 'च्छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तते'ति (वा० प० भर्तृहरि)।

(२३) तानि 'छन्दांसि वै साध्या देवाः' (ऐ० ब्रा०) स्त एव सुपर्णाः ।

(२४) 'तानि धर्माणि प्रथमा न्यासन्' द्यावापृथिवीत्यादिषु रूपेषु (ऋ० वे० १-१६४ ५०, १०-९०-१६)

(२५) यद्वा 'विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशो विधर्मणि' (ऋ० वे० १०-१६४-३६)।

इन देवताओं का क्रमिक विकास गायत्री प्रभृति छन्दों के पादों और इन पादों के प्रत्येक अक्षर रूप सीढ़ी या श्रेणी में क्रमशः होता हैं। अतः इनका प्रत्येक अक्षर एक एक विभिन्न देवता के विकास का स्थान कहलाता है, या प्रत्येक अक्षर एक एक देवता कहलाता है। इसका वर्णन केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में ही नहीं बरन् स्वयं ऋग्वेद में भी मिलता है" लिखा है कि अग्नि का विकास गायत्री छन्द के पादों और अक्षरों से किया गया, और सविता का उपबृंहण उष्णिक् छन्द के पादों और अक्षरों के द्वारा, इसी प्रकार अन्य देवताओं में से प्रत्येक का छन्द पृथक् पृथक् है। इसीलिए भर्तृहरि ने भी कहा है कि सृष्टिका विकास सर्व प्रथम उक्त प्रकार के छन्दों ही के द्वारा प्रारम्भ हुआ था। इन छन्दों को 'साध्या देवाः' इसलिए कहते हैं कि योग में इन्ही छन्दों की मौलिक स्थिति तक पहूँचने की साधना करनी पड़ती है। साध्या देव शब्द योग परक भी है और सृष्टि परक भी। इनके आधार भूत तत्त्व द्यावापृथिवी या ऋतंबृहत् रूप में पहले ही से विद्यमान रहते हैं जिनकी अनुभूति विष्णु के पदक्रमों के विक्रमण शैली से की जाती है (२० से २५ तक)।

(२६) अग्निरेवाग्रणी मुखं प्रथमश्च देवानां तत्त्वानां गायत्री च तस्य पत्नी वाक् !

(२७) 'अग्निःसर्वदेवता' (ऐ. ब्रा. १-१), सर्वे देवा अग्निमया अग्निविकासाश्च । यथा चोक्त 'मिन्द्र मित्रं वरुणमग्निम्''''''मातरिश्वानमाहुः' (ऋ. वे १-१६४-४६)

(२८) स चात्मान्तर्हितविद्युदुष्णता प्रकाश ज्ञानवान्यत 'स्त्रिवृद्वै अग्निः' ।

(२९) वाग्वै तस्य शरीरं ज्योतिस्तेजो वहति 'सर्वासु दिक्षु वाग्वदतीति' (श. प० ब्रा०)

(३०) या वाक् सा वै 'गायत्री वै इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' (छा० उप० ३-१२)

(३१) तस्यास्त्रयःपादाश्चतुर्विंशत्यक्षराण्येव तत्त्वानि पूर्वार्द्धस्य ।

(३२) प्रथमे पादेऽष्टानां वसूनां द्वितीये रुद्राणामष्टानां तृतीये चावशिष्टानां त्रयाणां रुद्राणां सह षोडशिन इन्द्रस्य विकासः क्रमशः ।

इस प्रकार सृष्टि पक्ष से अमृत नामक अग्नि ही सब देवताओं का अग्रणी हैं, अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के एक मय मौलिक अमृत मय शरीर का यह अग्नि मुख है, अन्य देवता इस शरीर के विभिन्न अंग हैं। प्रत्येक देवता स्वतन्त्र शरीरी स्वतन्त्र कोशमय होने पर भी अखिल ब्रह्माण्डीय शरीर में वह स्वतन्त्र नहीं है। वहां वह उस शरीर का वैसा ही एक अंग हैं जैसे अग्नि उसका मुख है, प्राण नाक है, अदित्य चक्षु है,' दिशायें श्रोत्र हैं इत्यादि। अग्नि इनकी मौलिक आत्मा है। इसकी पत्नी का नाम गायत्री है जिसे वाक् भी कहते हैं। यह 'अग्निः सर्वा देवता' है। इसका प्रत्येक विकास भी अग्नि के ही नाम से पुकारा जाता है, पर उन उन विकासों की अग्नियों के नाम नये नये रख दिये जाते हैं; जैसा कि 'इन्द्रं मित्रं वरुण मग्नि माहुः' इत्यादि मन्त्र में जितने भी नाम हैं ये सब अग्नि के विभिन्न स्तरों के ही नाम हैं। यह अग्नि अखिल ब्रह्माण्ड की सर्वप्रथम आत्मा हैं जिसमें वैद्युतीय वाक् की तेजोमयी उष्णता प्राण की प्रकाशमय उज्वलता और मनः की अन्नमय ज्ञानता एकीभूत होकर रहती है, क्योंकि यह 'अग्निरात्मा' सदा ही त्रिवृत् रूप में रहता है। वाक् उसकी तेजोमय शरीर है, वह सब दिशाओं में तेजोमय उष्णता के प्रवाह रूप में वैद्युतीय प्रक्रिया से वहती है अतः वाक् कहलाती है (वहतीतिवाक्) वाक् सभी दिशाओं में व्याप्त होती हुई ही बोलती या प्रकट होती है। यह वाक् गायत्री शरीरिणी हैं, यज्ञो वाक्, अग्नि या इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के मौलिक रूप का सर्वस्व बीज रूप है। इस वाक् रूप गायत्री के विकास के तीन मुख्य चरण हैं जिनमें २४ अक्षर रूप विकास सीढ़ियां हैं। ये सब मिलकर त्रिपादामृत या तीन अमृतों के पूर्वार्द्ध का विकास करते हैं। प्रथम में अष्ट वसुओं का, द्वितीय में अष्ट रुद्रों का, और तृतीय में तीन शेष रुद्रों तथा ५ आदित्यों या षोडशी इन्द्र के पाँच इन्द्रों का विकास करते हैं जिसके ये प्रथम तीन रुद्र और इन्द्र अभिन्न सहचर हैं। इसीलिए इन्द्र सूक्त में रुद्रों के मंत्र भी मिलते हैं, अतः यहां भी मिलते हैं। अतः यहां आठों इन्द्र ही है। ये सब अग्नि के ही भेद हैं, यह कहा जा चुका है (२६ से ३२ तक)।

(३३) तस्मादग्निरवरार्द्धचों विष्णुः परार्द्धचः' (श० प० ब्रा०)।

(३४) यो 'वामनो ह विष्णुरास' य 'स्त्रेधा निदधे पद' मिति सोऽपि' विष्णुः सर्वा देवता' (ऐ० ब्रा० १-१-१) 'सोमः सर्वा देवता' (श० प० ब्रा०) अग्निवत् ।

(३५) तस्य त्रीणि पदानि त्रयो विंशत्यक्षराणि तत्त्वान्युत्तरार्द्धस्यैव योगपक्षत्वात् ।
(३६) सो ऽग्निर्वै देवानामवमो विष्णोः परार्द्धर्यत्वात् ।
(३७) 'विष्णु र्वै देवानां द्वारपः' (श० प० ब्रा०) 'समूढमस्य पाँसुरे स्वाहेति' (ऋ० वे० १-२०, २१)

पूर्वार्द्ध का नाम अवरार्द्ध भी है। अतः अग्नि को अवरार्द्धीय या पूर्वार्द्धीय कहते हैं, पर वि णु परार्द्धीय या दक्षिणायनीय ही है। जिसको वामन नामक विष्णु कहते हैं, जिसने तीन पदों का विक्रमण किया वह भी 'विष्णु सर्वादेवता' है। इसी की ज्योति को 'सोम सर्वा देवता' भी कहते हैं। इसके तीन विक्रमण या तीन पद में २३ अक्षर या तत्त्व रूप देवता आते हैं। यह ध्यान रहे यह विक्रमण योगमार्ग का वाचक है, सृष्टि का नहीं। अतः यह उत्तरार्द्ध के अन्त से उत्तरार्द्ध के आदि तक आने में तीन विक्रमण करता है। यहां अग्नि ही विष्णु है पर उत्तरार्द्धीय वैश्वानरीय अग्नि है। इस अग्नि को देवताओं में अवम कहते हैं और विष्णु को परार्द्धर्य ही, दोनों का भाव एक ही है। इसी लिए विष्णु को देवताओं का द्वारपाल भी कहा गया है, देवताओं का अमृतमय विकास इनसे पहले हो जाता है, यह सृष्टि और योग दोनों पक्षो में अन्तिम स्थान का या मध्यवर्ती स्थान का है। उत्तरार्द्धीय या परार्द्धीय होने से ही मंत्र में कहा गया है कि उसने जब त्रिविक्रमण किया तो उत्तरार्द्ध की पासुंला पृथिवी पूर्णरूप से रजः से भर गई या व्याप्त हो गई। यही भावना उसके 'चरणों की धूलि' नामक वाक्य की जननी है। आजकल किसी के चरणों से ऐसी धूल नहीं निकल सकती। यह धूल तो रजः है, शरीर के भीतर योग प्रक्रिया से उत्पन्न तिलमिलाती प्रकाश विन्दुओं या वैद्युतीय विकिरणमयी चिनगारियों की चमचमाती धूल है। इनका नाम 'त्रीणि रजांसि' है। 'षड् रजांसि' के शेष रजांसि का वर्णन अगले पद में देखिए। इन्हीं का नाम 'त्रीणि रोचना' भी है (३२ से ३७ तक)।

(३८) तस्मात्सृष्टावग्निरेव प्रथमःप्राणोऽमृतः ।
(३९) रुद्रो वै मध्यमः प्राणोऽमृतः सोऽग्निरेव द्विपात्परिजातवेदाः ।
(४०) इन्द्रो वै तृतीयः प्राणोऽमृतः सोऽप्यग्नि स्त्रिपाज्जातवेदाः ।
(४१) विष्णुस्तु चतुर्थः प्राणो भौतिकामृतः प्रथमः सोमाच्चतुष्पात् ।

इस प्रकार सृष्टि में अग्नि ही प्रथम मुख्य प्राण है; यह अमृत है; रुद्र मध्यमप्राण हैं, यह भी अग्नि ही है, इसे परिजातवेदा भी कहते हैं, और इन्द्र तृतीय मुख्य प्राण है, यह भी अमृत है, इसका नाम जातवेदा अग्नि है क्योंकि यह भी अग्नि ही है। इस सृष्टि या सृष्टिक्रम में विष्णु चतुर्थ प्राण है, यह

भौतिकामृत है, पूर्व वर्णित तीन प्राण त्रिपादामृत हैं। यह प्रथम भौतिकामृत है, यही प्रथम सोमः है, इसी को चतुष्पाद्ब्रह्म या चतुष्कल ब्रह्म भी कहते हैं (३८ से ४१ तक)।

(४२) ईश्वरश्चेशानश्चेशस्तु कपर्दी स त्रिपादामृतो महान्देवो वाग्वृषभो रोरवी-
त्येवादित्यश्चतुष्पात् ।

जिस तत्त्व को ईश्वर, ईशान, ईश. नाम से पुकारा जाता है वह भौतिकामृत वाक् से युक्त त्रिपादामृत महान्देव (वाक् का) वृषभ है। इसके सम्बन्ध में 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादि मंत्र कहता है कि यह चतुष्पाद् ब्रह्म है, त्रिपादामृत युक्त है सप्तपदों से परिवेष्टित है और मनोवाक् प्राणों के मौलिक त्रिवृत् से सर्वतो व्याप्त है। इस प्रकार का वह वर्षणशील वृषभ अखिल ब्रह्माण्ड रूप महान्देव है और सर्व प्रथम निरुक्ता वाक् शरीर युक्त होकर, उससे रोरवण करते हुए आदित्य रूप में प्रकाश मान होता है, 'रोरवण' माने वाक् का तेजोमय प्रवाह में सर्वतः व्याप्त होना है, न कि होहल्ला मचाना (४२)

(४३) स योगी योगीशो वा विष्णुस्तु योगेश्वरः ।
(४४) योऽग्निरेव प्रजापतिश्चन्द्रमा स सवितारूपे विश्वानरो वा स धाता-
विधाता ।

यह वाक् का वृषभ वाक् से युक्त होकर योगी कहलाता है, यह महादेव रुद्र है। इसके योग का केन्द्र बिन्दु इस योग का ईश्वर या योगेश्वर विष्णु या कृष्ण है। इस वाक् का पति अग्नि रूप रुद्र ही प्रजापति है जो वाक् गर्भ में अजायमान रूप में रहता है और यही चन्द्रमा कहलाता है, इसी को सविता प्रसविता प्रजापति कहते हैं। यह अखिल भौतिक सृष्टि के बीजों को धारण करने से धाता कहलाता है और उनको नाना रूप देने से नानारूप 'विधाता' भी कहलाता है (४३ से ४४ तक)।

(४५) पूर्वार्द्धस्य त्रयःपादा वै वाचो गायत्र्या गुहा सृष्टौ ।
(४६) तस्य मुखे भौतिक सृष्टेः शिलोत्तरार्द्धस्य ।
(४७) योगे तूत्तरार्द्धमेव गुहा यत्रासुराणामेव शिला तस्य मुखे ।

सृष्टि में पूर्वार्द्ध के तीन पाद वाली गायत्री अमृत वाक् का ही नाम गुहा है जिसमें उत्तरार्द्धीय अखिल भौतिक ब्रह्माण्डीय सृष्टि के बीज रूप अमृत छिपे हुए हैं; उसके मुख द्वार पर उस भौतिक सृष्टिबीजों की शिला का कपाट लगा है या इस भौतिक ब्रह्माण्ड में वह परम निगूढ रूप में रहता है उसी को योग

द्वारा खोलना या खोजना या इन कपाटों को खोलना पड़ता है। इस योग में गुहा यह भौतिक ब्रह्माण्डीय शरीर कहलाता है, इसी में वह प्रजापति गर्भरूप में निगूढ रहता है, इस निगूढ स्थान का नाम वेदि है, उसके पास जाने में उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध बनाकर उसकी तीन परिधियों (तीन पादों) को क्रमशः पार करना पड़ता है। यहां इस गुहा को आसुरी प्राणों की शिला कपाटरूप में बन्द रखती है (४५ से ४६-४७ तक)।

(४८) अत्र 'सर्वा देवता सोम' एवाग्नेरूपश्चन्द्रमा, नात्र कोऽपि ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रजापतीनां मध्ये संहर्ता किञ्च वाग्रूपो विश्वरूपः पृश्निः सर्वेषाम्।

सृष्टिपक्ष में जिस चन्द्रमा को सविता या प्रजापति कहते हैं उसी को योग-पक्ष में सोम कहते हैं। चन्द्रमा तो नानाप्रकार की सृष्टि करता है, सोम नाना सृष्टि करने से जो अन्धकार आता है उसे उनके योग द्वारा पुनः पूर्ण पौर्णमासी के चन्द्रमा के समान सोम ज्योति का विकिरण करता है। यह सोम योग पक्ष में सृष्टिपक्ष के अग्नि के विकासरूप चन्द्रमा के सर्वादेवता सोम का रूप है। सर्वादेवता सोम योग का देवता है, यह प्रत्येक प्राण या देवता में अपनी सोमीय ज्योतिरूप में रहता और जाग्रत करता है। संहार नाम तो योग का है जिसमें प्रत्येक पृथक् पृथक् स्थानीय प्राणों और उनके देवताओं का एकीकरण किया जाता है न कि उन्हें मारा या नष्ट किया जाता है। इसके विपरीत उनकी अन्धकारता को मारा या नष्ट कर उनमें सोमीय ज्योति का दीपक जलाया जाता है। इस कार्य को न अकेले ब्रह्मा कर सकता है, न प्रजापति, न रुद्र, वरञ्च वाक्‌रूप विश्वरूप प्रश्निरूप ईश्वर या ईशान ही इस कार्य को करने में समर्थ है, अर्थात् योग में सबको संहाररूप में सम्मिलितरूप में काम करना पड़ता है, रुद्र केवल प्राणों का संहार करता है, मनोब्रह्मा देवताओं का; यह पहले बताया जा चुका है (४८)।

(४९) यः 'केशवो ह विष्णुरास' (श. प. ब्रा.) स सोमज्योतिःसागरशायी तत्र वेद्यां सामाधावन्तर्ब्रह्माण्डे वा निगूढो गुहायाम्।

(५०) शेषो वै अवशेषो बृहद्वा सत्यं वा मौलिका पृथिवी वा भौतिकात्मामृतं वा सुषुप्ताऽनुद्दीप्तप्राणानां शरीराणां शय्या योगात्पूर्वं विष्णोः।

(५१) तथैवोक्तं रात्रिसूक्ते दुर्गासप्तशत्यां मार्कण्डेयेन।

(५२) शेषं तु 'वैदिक ब्रह्मसूत्रे' मम सविस्तरं ज्ञेयम्।

जिसको 'केशव नामका विष्णु था' कहा गया है, वही अपनी सोम ज्योति-रूप सागर का शायी विष्णु है, वहां वह अपनी उस सोम की ज्योतिरूप वेदि में निगूढ रूप में रहता है। वेदि तो पूर्ण ब्रह्माण्ड है, उसीकी गुहा में वह

निगूढ है। उसकी शेष की शय्या, भौतिकात्मा का सारभूत सारांशरूप शेष-रूप प्राणनाग या शेषनाथ या शेषनाग की आपोमयी शय्या है। प्राणों का शरीर आपः है, आप, सोम ज्योति है, वही ज्योति शेषनाग है। लहरीमयी आपोरूप सोम की ज्योति ही शेष है। इसे मौलिक बृहत् या सत्यं या पृथिवी या भौतिकामृत या सोम किसी भी नाम से पुकार लीजिए एक ही बात है। यह शारीरिक ब्रह्माण्ड में अनुद्दीप्त रहता है अतः इसको सुषुप्त कहते हैं। योग द्वारा जब उसकी यह अनुद्दीप्तिरूप योगनिद्रा उद्बोधित हो जाती है तब उसे जाग्रतावस्था में कहते हैं, तब तक सुषुप्त। परन्तु वह सोता कभी नहीं है, वह नित्य जाग्रत और अस्वप्नज है। वास्तविक सुषुप्ति तो देवताओं और प्राणों की है जिनको उद्दीप्त करके ही वह उद्दीप्त हो सकता है। दुर्गासप्तशती का रात्रिसूक्त और ऋ० वे० १०-१२९-१ इसी अवस्था का विवेचन देता है। शेष 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' में विस्तारपूर्वक देखें (४९ से ५२ तक)।
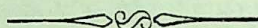
अध्याय ४ पाद ३

परम योग या शरीर रहित योग या मोक्ष योग

(१) अथातः परमो योगः शरीरत्यागानन्तरं महायोगिनामेव ।
(२) योगे यः परः परमो वा भागः सा 'गायत्री वै यज्ञस्य पूर्वार्द्धः' ।
(३) तत्र तत्त्वानां देवानां सिद्धिस्तस्यास्तृतीयपादान्तात्प्रारभ्यते व्यतिक्रमाद्योगे ।
(४) विष्णुः सोमो वै शारीरयोगस्यान्तिमा काष्ठा स सृष्टौ च वैश्वानरः सविता प्रसविता वै सोमश्चन्द्रमा वा ।

अब परम योग का वर्णन किया जाता है। अब आपके सामने सचमुच में उस अलौकिक विषय को रखा जाता है जिसके सामने आजकल प्रचलित हमारे लौकिक षड्दर्शन प्रभृतियों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मग्रन्थों की अपने अपने अनुयायियों को झूठ मूठ में ही बर्गलाने वाली वह घोषणा जिसमें उन्होंने कहा है कि 'इस देह के नाना प्रयत्नों से मोक्ष मिल जाता है' बडी भारी उपहासास्पाद सी स्वयं प्रतीत होने लगेगी। यह विषय शरीर त्यागानन्तर की परम उत्कट योग प्रक्रिया है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसका सम्भवतः अब तक किसी ने भी अपने स्वप्न में भी विचार नहीं किया होगा, क्योंकि इस प्रकार का समस्त वातावरण और प्रयोग उपनिषद् युग के पश्चात् सदा के लिए लुप्त हो गया था, हां गीता और पुराणों में इस विषय का वर्णन पुरानी लकीर पीटने के रूप मात्र में कहीं-कहीं उपलब्ध हो जाता है, प्रयोगरूप व्याख्या में नहीं। यह हमारे यहां की स्थिति है, अन्य धर्मावलम्वियों के पास तो शारीरिक योग की ही पूरी व्याख्या या व्यवस्था नहीं है, इस मार्ग का तो कहना ही क्या ? क्योंकि जिसको वास्तविक मुक्ति या आदिब्रह्म में तल्लीनता कहते हैं वह तो केवल उसी व्यक्ति को उपलब्ध हो सकती है जो इस जन्म या जीवन भर योगी रहा हो और मरने के पश्चात् उसकी पञ्चकोशरूप आत्मायें यमरूप में आगे-आगे योग करती हुई अन्त में आदिब्रह्म में क्रमशः लीन हो जाती है। यह बताया जा चुका है कि योग के दो प्रसिद्ध मार्ग हैं उनमें से पिछले अध्यायों में दक्षिणायन योग या शरीरस्थ योग का वर्णन दिया जा चुका है। इस योग से मोक्ष नहीं मिलता, यद्यपि यह जीवन की सर्वोत्तम साधना है। मोक्ष के लिए इस शरीर के बन्धनों को छोडना पड़ता है, पर बन्धनों को छोड़ना ही विकट समस्या है, इनकी छूट कर्मों पर

निर्भर है जैसा कि याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग से कहा था । अतः योगी को जीवनभर योग करके इन कर्मों का स्वयं विधाता बनना पड़ता है, तब वह जब चाहे इस बन्धन को छोड़ सकता है, इसके लिए उसे एक विशेष प्रकार का योग करना पड़ता है जिसे ॐकार योग या मोक्ष योग कहते हैं। इससे वह इस शरीर के वन्धनरूप कोशों को फाड़ कर उससे निकल भागता है; तब उसके आत्माओं द्वारा नये योग उत्तरायण के योग का नया दौर चल पड़ता है। उसे निम्न प्रकार से किया जाता है। यह योग शरीर त्याग करने के पश्चात् मात्र दिव्य शरीर के द्वारा किया जाने वाला योग है। इसे केवल महायोगी ही कर सकते हैं। योग में जिसे परः, परा या परम भाग कहते हैं वह सृष्टिकालीन पूर्वार्द्धीय गायत्री है जिसका विवेचन इसी पहेली को सुलझाने के निमित्त यहां पर संक्षेप में देना पड़ा है नहीं तो ब्रह्मसूत्र में इसका विस्तृत विवेचन दिया जा चुका है। परम योग में इसी गायत्री के अन्तिम पाद या चरण से एक एक अक्षर की सीढी द्वारा २४ वें अक्षररूप देवता से प्रथम अक्षर के देवता तक क्रमशः चढ़ना पड़ता है। क्योंकि योग में सृष्टिप्रक्रिया के उलटे चढ़ना पड़ता है। यहां प्रत्येक सीढ़ी में चढ़ कर उसके देवता की अनुभूति एकात्म्यीय रूप में क्रमशः की जाती है। जिस शारीरिक योग का वर्णन पिछले अध्यायों के कई पादों में किया जा चुका है उसका अन्तिम तत्त्व तो सोम ज्योति शरीर में निगूढ विष्णु तत्त्व या पुरुषोत्तम चतुष्पाद्ब्रह्म या उत्तम प्राण मात्र है। यह इस योग की 'सा काष्ठा सा परा गतिः' है अर्थात् यही सोम या विष्णुरूप पुरुष अन्तिम तत्त्व है। इस शरीर योग में 'पुरुषान्न परं किञ्चिद्' है अर्थात् इस पुरुष से आगे किसी तत्त्व की इस शरीर से अनुभूति नहीं हो सकती। सृष्टिपक्ष में इसे वैश्वानर चन्द्रमा सविता या प्रसविता कभी कभी सोम भी कहते हैं, सोम वहां कहते हैं जहां सोम को भी सर्वदेवता रूप में वर्णित किया जाता है (१ से ४ तक)।

(५) त्रिपाद्वा गायत्री 'गायत्रो वै पुरुषः' सोऽग्निः।

(६) ॐमित्येकाक्षरा सा विद्या संहारादकारोकारमकाराणाम् गायत्र्यास्त्रयाणा-मृग्यजुःसाम्नां पादानाम्प्रणवरूपे।

(७) प्रणवो वै विष्णुः शरीरं सोमो वा त्रयी विद्यायाः संहारो वा।

(८) स उत्तरारणिः शरीरमधरारणिः।

(९) तयो 'ररण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः'।

(ऋ वे० ३-२९-२)

(१०) ततः 'शरीरमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥" (बृह० उप० श्वे० उप)

(११) तस्मि 'ञ्जन्मञ्जन्मन्निहितो जातवेदाः' (ऋ वे० ३-१-२१)

गायत्री त्रिपात् है और इसके पति अग्निरूप पुरुष को गायत्र पुरुष कहते हैं; जिसे गायत्र पुरुष कहते हैं वह त्रिपादामृत अग्नि ही है। इसी गायत्री को तब विद्या नाम से पुकारा जाता है जब इसके तीनों पादों को क्रम से ऋग्यजुः साम नाम से पुकार कर उन्हें अ + उ + म् प्रतीकाक्षरों का संकेतक बनाकर इनके संहार से 'ॐ' नामक एकाक्षर ब्रह्म या प्रणवरूपा गायत्री कहते हैं। अर्थात् उक्त प्रकार की प्रणवरूप गायत्री या ॐकाररूपा गायत्री को विद्या नाम से पुकारा जाता है। यह 'प्रणव' समाहाररूप में विष्णु या सोम ही है, अथवा यही ऋग्यजुःसाम नामक त्रयी विद्या का संहाररूप एक जाज्वल्यमान तत्त्व है। योगपक्ष में इसी का नाम उत्तरारणि है या योगप्रक्रिया के मन्थन की पूर्वारणि है, तथा यह अखिल ब्रह्माण्ड या शरीर अधरारणि या नीचे वाली अरणि है। इन दोनों अरणियों में जातवेदा नाम की अग्नि सदा निगूढ रहती है। योगप्रक्रिया रूप मन्थन या रगड़ से इन दोनों से जातवेदा रूप अग्नि को उद्दीप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया में ॐकाररूप प्राणवरूप विष्णु या सोम भी उत्तरारणि है। अतः जातवेदा विष्णु या सोम या गायत्र पुरुष से उच्चतर तत्त्व है जो इन अरणियों में गर्भवती स्त्री के गर्भ के समान सर्वांश में सुरक्षित रहता है। इसी लिए उपनिषत्कारों ने लिख भी दिया था कि शरीर को अधरारणि और प्रणव को उत्तराराणि बनाकर इन दोनों का ध्यानरूप मन्थन करके अभ्यास करते-करते ज्योतिष्मान् मात्र जातवेदा अग्नि की अनुभूति करनी चाहिए। क्योंकि यह जातवेदा वह अग्नि है जो जन्मजन्मान्तरों में भौतिक शरीरी प्राण-प्राण में तथा अभौतिक अमृतमय देवमय तत्त्व-तत्त्व में सदा अपने रूप में विद्यमान रहती है (५ से ११ तक)।

(१२) स जातवेदो 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ते'।

(१३) गुहा द्विविधा देवानां भूतानाञ्च।

(१४) विष्णुः सोमो वै योयपक्षे भूतानां गुहायां निगूढः स वा अर्द्धमेव संवत्सरस्य विष्णुक्रमान्क्रमते (श० प० ब्रा० ६-५-४-११)

(१५) जातवेदास्तु देवानां गुहा पूर्वार्द्धः।

वह जातवेदा गायत्री के तीन पादों का अमृत है, इसे देवताओं की गुहा कहते हैं। अतः यह जातवेदा इस गुहा में इङ्गित हीन निश्चल रूप में अविकल रूप में सुरक्षित सी रहती है। गुहा नाम दो प्रकार के तत्त्वों का संकेतक है: (१) देवताओं की गुहा पूर्वार्द्ध या गायत्री (२) भूतों या प्राणों के कोशों की गुहा या उत्तरार्द्ध रूपा गुहा। योग के पक्ष में उत्तरार्द्ध की प्राणों की या भूतों

के कोशों की गुहा में विष्णु या सोम निगूढ रहता है यह संवत्सर ब्रह्म का रात्रिपक्षीय आधा भाग है जिनको विष्णु अपने तीन विक्रमों या पदों से क्रमशः आक्रान्त करके अन्तिम सीमा में उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध के सम्मिलन बिन्दु में स्थूणा रूप में रहता है। परन्तु जातवेदा तो देवताओं की गुहा पूर्वार्द्ध में ही रहता है (१२ से १५ तक)।

(१६) पूर्वार्द्धे सर्वे देवा अमूर्ता अरूपा अशरीरिणोऽमृतप्राणरूपाः ।

(१७) तेषामनुभूतिरपि चाशरीरैः प्राणरूपैः ।

(१८) अतोऽयं मृत्योः परमपरो योगः स मोक्षयोगः ।

(१९) स 'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥'

(२०) यथोक्तं द्वितीयस्य द्वितीये नवमाच्चतुर्दशपर्यन्तम् ।

सृष्टि के पूर्वार्द्ध में सभी देवता अमूर्त अरूप और अशरीरी तथा अमृतमय प्राण रूप होते हैं। इनकी अनुभूति भी शरीरहीन रूपहीन अमृतमय प्राणों द्वारा ही हो सकती है, दक्षिणायनीय योगपक्षीय विष्णुसाधक मर्त्य भौतिक प्राणों से इनकी अनुभूति असम्भव है। इस जातवेदा प्रभृति की अनुभूति का योग इस मर्त्य प्राण वाले शरीर की मृत्यु या अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के अभौतिक ब्रह्म में लय होने के पश्चात् ही होता है। इसीलिए इस जातवेदा अग्नि की अनुभूति के योग का नाम वास्तव में 'मोक्षयोग' है जिसका विवेचन गीता ने इस प्रकार दे रखा है कि जो परम योगी ॐकार का उच्चारण या ध्यान करके उस जात-वेदाग्नि का स्मरण करके शरीर का त्याग करके आगे योग के लिए बढ़ता है वह विष्णुपद की परमपदता से आगे बढ़ कर परम योग की परमा गति को क्रमशः प्राप्त होता है। इसका विस्तृत वर्णन द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के नवम सूत्र से १४ वें सूत्र तक किया जा चुका है (१६ से २० तक)।

(२१) "द्वेते सृती अश्रृणवम्पितॄणामहन्देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च" ।
(ऋ० वे० १०-८८-१५) (श० प० छा० उप० बृह० उप०)

योग की इन दो प्रकार की सरणियों का विवेचन वेदों में संहिता ब्राह्मणों तथा उपनिषद् आरण्यकों में सर्वत्र दिया हुआ मिलता है। परन्तु कठिनाई यह है कि उपनिषद् काल के परवर्ती किसी भी विद्वान् को इन सरणियों का तनिक भी ज्ञान भान या विवेक नहीं रह गया है। वह इस प्रकार है। ऋग्वेद ने लिखा है तथा ब्राह्मणों और उपनिषदों ने इसे बार-बार उद्धृत करके घोषणा की है कि—मैंने सुना है कि वैदिक ऋषियों के दर्शन के, चाहे वे सृष्टिपक्ष का

हो या योगपक्ष का, दो मुख्य सृतियाँ मार्ग या पद्धतियाँ थीं। इनको पितरों (उत्तरार्द्ध के प्राणरूप पितरों) की देवताओं (पूर्वार्द्ध के देव तत्त्वों) की और मनुष्यों (या इन दोनों के मध्यवर्ती भाग के तत्त्वों) की दो-दो प्रकार की सृतियाँ या पद्धतियाँ कहते हैं। इन दोनों भागों से यह अखिल ब्रह्माण्डरूप पुत्र क्रियाशील या प्रकाशमय कर्ममय होता है, यह अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड उक्त पितारूप देवभाग (पूर्वार्द्ध) और मातारूप (उत्तरार्द्ध) के अन्तरा या मध्य में है जिसकी अनुभूति या ज्ञान करना या रखना परम आवश्यक है (२१)।

(२२) स यमो "यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रयाय प्रथमं लोकमेतत्। परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानाम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्व"।

(ऋ० वे० १०-१४-१ और अथर्व १८-३-१३)

(२३) 'यः प्रथमं प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पृशानः'

(ऋ० वे० १०-१४-१, १०-१४-२ और अथर्व ६-२८-३)

(२४) स "देवेभ्यः कमवृणीत ? मृत्युं, प्रजायै कम् ? अमृतं (सोमं) नावृणीत।"

(ऋ० वे० १०-१३-४)

(२५) "यमो नो गातुं प्रथमं विवेद नैषा गव्यूति रपभर्तवा उ।"

(ऋ० वे० १०-१४-८)

(२६) तस्य योगस्य गातुस्तु—

"त्रिकद्रुकेभिः पतति षलुर्वीरेकमिद्बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥"

(ऋ० वे० १० १४-१६)

यह बताया जा चुका है इस 'देवयान' या देव सृति या देवपन्था या पूर्वार्द्ध की अनुभूति को पाने के लिए इस भौतिकात्मीय मौलिक शरीर को या प्राणमय शरीर का भी त्याग करना पड़ता है, हमारे वैदिक प्राणरूप ऋषियों में से ऐसा प्रथम व्यक्ति या तत्त्व वह है जिसे यमी नामक मर्त्यधर्मा प्राण में रहने वाला अमृत प्राणरूप यम कहते हैं, जिसने उक्त देवयान की अनुभूति के लिए मर्त्यधर्मा प्राणों में से सर्वप्रथम मृत्यु को अपनाया या मरा, और इस प्रकार वही सर्वप्रथम तत्त्व है जिसने सर्वप्रथम इस देवलोक को प्राप्त किया या जो सर्वप्रथम इस देवलोक को या पूर्वार्द्ध के अमृत को पा सका। यम-यमी दो पृथक् तत्त्व तो हैं पर एकशरीर या यमी के शरीर में यम आत्मा हैं। इसी को यमल कहते हैं। आत्मा पुरुष कहलाता है, शरीर स्त्री। अतः इन्हें यम-यमी स्त्री पुरुष

कहा गया है। इस प्रकार यम यमी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के प्राणोदानौ या प्राणापानौ हैं जिनमें प्रथम आत्मा दूसरा शरीर है, प्रथम अमृत है द्वितीय मर्त्य, इन्हीं को पति पत्नी या स्त्री-पुरुष का जोड़ा या यमल या यम-यमी कहते हैं। यम योगी है; अमृत या मुक्ति चाहता है, अत; यमी के शरीररूप मर्त्य शरीर में नहीं रहना चाहता। अत: उससे विवाह करना मना करता है, डराता भी है, कि देवताओं के दूत हमारी बातें सुन रहे हैं, समाज भी मना करता है। अतः लिखा है कि इस मार्ग में सर्वप्रथम जाने वाले विवस्वान् के पुत्र यम नामक राजमान या प्रकाशवान् या ज्योतिर्मयता को प्राप्त ऐसे तत्त्व को जो इनसब प्राणरूप प्रजा को इस देवलोक या 'प्रवत' लोक में ले जाने से सर्वप्रथम नेता है या उनका संयमन करनेवाला योगी है हवियों द्वारा या अपने प्राणों की हवियों द्वारा सुसेवित करो। और यह यम वह तत्त्व है जो अनेकों (प्राणों) के लिए देवलोक के मार्ग की खोज करते हुए इस देवलोक के उच्च स्थान या पद को प्राप्त हो सका। यह भी ऋग्वेद में लिखा है कि इसी यम ने सर्वप्रथम हम सबके लिए इस देवयान का या मुक्तिमार्ग का ज्ञान प्राप्त किया, और इस कार्य को योग से सिद्ध करने के लिए तथा देवरूपता की प्राप्ति के निमित्त इसने किसका वरण किया ? मृत्यु का। अर्थात् उसने इस देवरूपता की प्राप्ति के सामने और देवयान खोजने को निमित्त इस मर्त्य शरीर को त्यागना हर्ष से स्वीकार किया। उसने प्राणरूप प्रजा की भलाई के लिए या प्राणों को दैवीप्रकाश का अमृत पिलाने के लिए किसका वंरण किया या किस तत्त्व को अपनाया ? उसने भौतिकामृत रूप सोम का भी वरण नहीं किया, उसकी सोमपान या विष्णुलोक से भी तृप्ति नहीं हुई। उसने इसको भी अपनाये रखना, इसी की सीमा तक रहना स्वीकार नहीं किया। उसने प्रजारूप प्राणों की भलाई के लिए उन्हें भौतिकामृत सोम के स्थान में दैवी अमृत देवयानीय देवलोकीय अमृत पिलाने के लिए उस सोमामृत की भौतिकदिव्य शरीर का त्याग कर के मृत्यु को अपनाना उच्चतम कर्तव्य माना। यहां पर यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ऋग्वेद उस देवयान या पूर्वार्द्ध का एक और नया नाम 'प्रवत' दे रहा है जिस लोक में वह पुन: योग करने के लिए सर्वप्रथम गया था। इसीलिए ऋग्वेद स्वयं फिर लिखता है कि वह राजमान प्रकाशमान यम नामक तत्त्व ही है जिसने हम प्राणों या प्राणियों के लिए सर्वप्रथम इस देवयान की गातु या, प्रवत लोक की पथ्या स्वस्ति या योग मार्ग को सबसे पहले विदित किया। यह गव्यूति या मार्ग ऐसी महत्वपूर्ण है, इतना उत्तम तत्त्व है जिसका किसी भी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता या इस उत्तम अलौकिक मार्ग को कदापि नहीं छोड़ा जा सकता। इस प्रकार हमारे तत्त्वरूप ऋषियों में

से सर्वप्रथम योगी या योगकर्ता पुरुष यही यम तत्त्व है जिसने सर्वप्रथम इस परम योग का मार्ग खोज निकाला। यहां पर वैदिक ऋषियों के उस प्रण को देखिए जिसमें उन्होंने इस मार्ग को न छोड़ने की प्रतिज्ञा की है, दुःख है यह मार्ग इस प्रकार नष्ट हो गया है, वेदों के जीवित रहते, यम के जीवित रहते हुए इस मार्ग का इस प्रकार लोप हो जाना कैसे सह्य हो रहा है समझ में ही नहीं आ रहा है ! क्या कभी फिर ऐसा समय आयेगा जब लोग इन नग्न सत्यों को पहचान पायेंगे और इनका पुनर्नवोत्थान करेंगे, ?!! इस यम की गातु या मार्ग का निर्धारण त्रिःपूर्व त्रिरुत्तर नामक तीन-तीन कद्रुकों या विभागों के षट् या छह भूमियों या उर्वियों से उस एक आनादि अनन्त ऋतं बृहत् को विभक्त समझ कर करना पड़ता है। यम तो बृहत् नामक एकमय भौतिकामृत रूप अखिल भौतिक ब्रह्माण्डीय तत्त्व है जिसमें उत्तरार्द्ध के तीन कद्रुक नामक विभाग हैं। इससे पूर्वार्द्ध को प्राप्त करने के लिए त्रिष्टुप् छन्द के ११, ११ अक्षरों के तीन पादों या गायत्री के ८, ८ अक्षरों के पादों की सीढ़ी में क्रमशः चढ़कर जाना पड़ता है क्योंकि यमरूप ब्रह्माण्ड में ये दोनों तत्त्व नित्य समाये हैं, अग्निरूप में यह गायत्रीमय है तो विवस्वान् का पुत्र होने से 'त्रिष्टुबिहभागो अह्नः' (ऋ० वे० १०-१३१-५) के अनुसार अहोरूप विवस्वान् देवता के त्रिष्टुप् छन्दोमय है। (२२ से २६ तक)।

(२७) अथ कोऽयं यम इति प्रश्ने तूच्यते।

(२७) त्वष्टुर्वै दुहिता सररायूर्या पत्नी विवस्वतस्तस्याश्च त्रीणि रूपाण्यसवर्णा सवर्णाऽश्वी क्रमेण चामृतामर्त्या प्राणरूपा च।

(२९) यम यमी वै पुत्रावसवर्णायाममृतायां सरण्व्यां विवस्वतः।
यथा "ऽपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सररायूः ॥"
(ऋ० वे० १०-१७-२)

ततो "यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश।"
(ऋ० वे० १०-१७-१)

(३०) (ख) कथंकारं सरण्यूरेवं चकार ? यतो यमः सृष्टिं कर्तुं नैच्छत् यमी च मृता, ततः सररायूः सरणशीला सृष्टिरूपा द्विधा दुःखिता सती, पुनः पञ्चप्राणान् देवानश्विभ्यामन्यान्पञ्च प्राणान्मनुना मनसा कर्तुमेवं चकार मनुना मनसा सह वागादय सर्वे प्राणा साकंजाना सन्तः साकं जाताः सृष्टिश्चाग्रे प्रसारिता च बभूव।

(३०) योऽयं सृष्टावग्निः स एवातिसृष्टौ संयमवत्त्वाद्यमः प्रथमः प्राणोऽश्वो वा—
यथा "सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्नदिद्युत्त्वेषप्रतीका ।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥"
(ऋ० वे० १-६६-४)

अथ च—'असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन' ।
(ऋ० वे० १-१६३-३)

तथा च—'हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद् गुहा निषीदन् ।"
(ऋ० वे० १ ६७ २)

अपि च—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' ।
(ऋ० वे० १-१६४-४६)

अब देखना है कि यह यम कौन और कैसा तत्त्व है । यह यम, त्वष्टा नामक देवता की पुत्री सररायू और विवस्वान् का पुत्र है । सररायू के तीन रूप हैं असवर्णा या भौतिकामृतमयी, सवर्णा भौतिकी और प्राणरूपा अश्वी । इनमें से यम-यमी अमृता सररायू के पूत्र हैं । क्योंकि कहा है सररायू अपने असवर्णा अमृतरूप को विवस्वान् से छिपाकर अपने स्थान में सवर्णा को स्थापित कर अश्वी का रूप धारण कर के भाग गई तो विवस्वान् भी अश्व बन कर उसके पीछे चल दिया जिससे अश्विनी का जोड़ा, सवर्णा से मनु और असवर्णा अमृत से यम यमी का जोड़ा उत्पन्न हुआ । अब प्रश्न यह उठता है कि सररायू ने ऐसा किया ही क्यों ? इस का मुख्य कारण यह है कि यम न योगी बनने के विचार से यमी से व्याह करना मना करके केवल यमी की मृत्यु ही नहीं बुलाई अपितु आगे की सृष्टि को भी रोक दिया । तब सदा सरणशीला सृष्टिकारिणी सररायू चुप नहीं रह सकती थी । उसने उक्त दोनों भयंकर दुःखों पुत्रीमृत्यु सृष्टि समाप्ति को सहन न करके भी पुनः सृष्टि के लिए अश्वीरूप से पञ्च प्राणों को अश्विनीरूप में तथा मनु से मन और वागादि पञ्च प्राणों की सृष्टि करके सृष्टि को पुनः चालू कर दिया । इसी लक्ष को पूरा करने के लिए सररायू ने सवर्णा और अश्वो रूपों को धारण किया । उसने इनसे उभयात्मिकी दैवी और प्राणमयी सृष्टि एक साथ चला दी । ये सब भगने-भागने की बातें उक्त क्रिया करने जाने के प्रयासों को प्रछन्न रूप में वर्णित करने की पृष्ठ भूमिकायें हैं । इस प्रकार जिस तत्त्व को सृष्टिकाल में अग्नि कहते हैं उसी को योग करने के समय में संयमवान् होने से यम कहते हैं । इसीलिए स्वयं ऋग्वेद ने अग्नि को यम नाम से पुकार कर कहा है—यह अग्नि सेना के प्रबल बल के समान भय को उत्पन्न करने वाला है, धनुर्धर (अस्तुः = योगी) के समान वैद्युतीय

प्रकाशतुल्य या कड़क के तुल्य भयभीत करने वाला है, यह यमल रूप में उत्पन्न होकर संयम वाला योगी बनने वाला महापुरुष है जो योग की चार प्रकार की ज्योतिरूप कन्याओं का जार या प्यारा या उनको नित्य अपनाने से उन्हें बुढ़ापा तक नहीं छोड़ने वाला है। इन दीप्तिरूप कन्याओं को योगप्रक्रिया से उत्पन्न होने के कारण 'जनी' या जन्या कहा है। ऐसे संयमी योगमय यम नामक अग्नि तत्त्व को, योग करने वाले वैदिक ऋषि कहते हैं, 'हम भी उसी प्रकार आकाश में चमकने वाले तारों या चन्द्रमा के समान देदीप्यमान रूप में प्रदीप्त हुए को अवश्यमेव प्राप्त हो जाते हैं जैसे गायें सूंघते-सूंघते चलते अपनी निवासभूमि को पहुँच जाती हैं, यहां यह भी ध्वनि है कि उत्तम नक्षत्रों या भाग्यों या ग्रहों का ही व्यक्ति उसे पा सकता है। यह अग्नि स्वयं तो शरीररूप गुहा में निगूढ होकर अपने गायत्र या त्रैष्टुभपाद रूप हाथों में नृम्णा या अजस्रमिन्धान अग्नि को, और सभी देवताओं को यमरूप में धारण किए रहता हैं। वास्तव में इन्द्र मित्र वरुण अग्नि यम आदि तो एक ही तत्त्व के नाम हैं, इन नामों का प्रयोग वे वैदिक ऋषि इनकी अनेकधा विवेचना की पारिभाषिकता के रूप में करते हैं। अर्थात् यहां यम नाम संयम वाले योगी अग्नि का ही नाम है। एक यह बात ध्यान से न उतारी जाय कि जब अग्नि को यम कहते हैं तब यम या 'अग्नि प्रथम प्राण का नाम है अश्व जिसका विस्तृत वर्णन ऋ० वे० १-१६३ पूरे सूक्त में सर्वोत्तम रूप में मिलेगा; वही आदित्य भी है, यम भी है, गुहा में तीन व्रत या पादरूप संयम वाला है (२७ से ३० तक)।

(३१) स योगी यमोऽयमग्निरेवं प्रार्थयति 'युजे वां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः' इत्यादि। (ऋ० वे० १० १३-१)
पञ्चपदानि रूपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रतिमिम एतामृतस्य नाभावधि सम्पुनामि ॥"

(ऋ० वे० १०-१३-३)

(३२) तस्मै योगायैव सः 'प्रिया यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्' 'देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत'। (तत्रैव)

(३३) यमो वै अग्निस्तस्य शरीरं यमी वाक् यां तित्याज स योगाय तयोरेवैतदे-तद्विषयकं यमयमीसूक्तम् (ऋ० वे० १०-१०) यस्मादारभ्याग्रिमानि सूक्तान्येकोनविंशपर्यन्तानि सर्वाणि च यमस्य योगस्यैव व्याख्यां ददन्तीति विज्ञेयम्।

उक्त निर्णय के समर्थन में यम के सन्दर्भ में आये अग्नि सूक्त (ऋ॰ वे॰ १०–१३–) में केवल यम का ही पूर्ण विवेचन बड़ी विशिष्टता और स्पष्टता

से दिया हुआ मिलता है। इसके आरम्भ में ही अग्नि या यम प्रार्थना करता है कि मैं पूर्वार्द्धीय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नमस्कारपूर्वक योग यज्ञ करता हूँ (युजे), सूर्य की पथ्या का अनुसरण करने के समान मैं उस ज्योति को प्राप्त हो जाऊ। जिससे मैं उस पूर्वार्द्धीय ब्रह्म के छन्दोमय पदमय भागों में से पञ्च-पदी और चतुष्पदी स्वरूप के प्रत्येक अक्षररूप देवता की सीढ़ी को नापता या पाता हुआ उस अमृत की नाभि तक पहुँच कर अपने को पवित्र कर सकूं। इस योग को करने के ही लिए उस यमाग्नि ने अपने प्रिय भौतिकामृतीय सोमीय शरीर का त्याग करना उचित समझा और उसे छोड़ ही दिया, उक्त देवताओं की प्राप्ति के लिए मृत्यु का शरीर त्याग का वरण किया, सृष्टि करने के लिए भौतिकामृतरूप सोम को भी स्वीकार नहीं किया। इस यमरूप अग्नि का शरीर यमीरूप भौतिकामृतीय सोमीया वाक् है। इसी यमीरूपा वाक् और अग्निरूप यम का कथोपकथन ऋ० वे० १०-१० सूक्त में दिया हुआ है। अग्नि योगीरूप यम शरीररूप यमी या वाक् से विवाह करना साफ मना कर देता है। इस सूक्त से आगे के १० से १९ वें सूक्त तक ८ या ९ सूक्तों में से सब में इसी यम के योग, योगमार्ग, उस योग मार्ग के पूर्व पितर, बर्हिषद पितर, अग्निष्वाता पितर, सोमपा पितरों का योगमय विवेचन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। लोगों को इनका सन्दर्भ ही विदित नहीं है अर्थ कहाँ से लगे। उचित समय पर इनकी सच्ची वास्तविक व्याख्या दी जावेगी (३१ से ३३ तक)।

(३४) यमी शरीरयुक्तो यमो ह व वै "पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्ट पशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥"

(ऋ० वे० १०-१७-३)

(३५) यमस्य यमीशरीररूपेण 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" (यजु० ४०-१ ईश० बृ० ह० उप०)
'अग्ने नय सुपथा राये·········' (ऋ० वे० १-१८९-१ यजु० ४०-१६)

(३६) स एव योगी यमः कठे नचिकेतसमेतत्परमं योगं शिशिक्ष।

(३७) या सूर्या वै ऋग्वेददशममण्डले पञ्चाशीतितमे पूर्णे परमयोगस्य सूक्ते वर्णिता सा वै योगिनामनुभूता चतुर्विधा दीप्तिः।

(३८) सोममयीमिन्द्रः सवितामयीं गन्धर्वमयीं वा वेधास्तेजोमयीं वाचमनिरुक्ता-मग्निर्यमो रुद्रो वा प्राणमयी प्रकाशमयीमश्विनौ।

(३९) ते चत्वारो तस्याः सूर्याया पतयो यथा—'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पति स्तुरीयस्ते मनुष्यजा। (ऋ० वे० १०-८५-४०)

यम नामक अग्निरूप सत्य का मुख यमीरूप वाक् रूप शरीर के हिरण्मय पात्र से प्रच्छन्न हो जाता है। यह यम, यमी से युक्त होकर पूषा का स्वरूप पाता है। अतः कहा है हे पूषा तुम इसको छोड़ दो (च्यावयतु) तुम ज्ञानरूप विद्वान् हो तुम्हारे प्राणरूप पशु कभी नष्ट नहीं होते, तुम तो इस अखिल ब्रह्माण्ड को चेतन रूप में सुरक्षित रखते हो। तुम्हारे उस अग्नि रूप ने अपने इस शरीर को भौतिक प्राणरूप अङ्गिरस नामक पितरों को दे दिया और (अपने अग्नि स्वरूप को) सुन्दर दानी देवताओं के लिए समर्पित कर दिया। इसीलिए उस पूषा रूप यम या अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि हे पूषन् तुम अपने अग्नि स्वरूप का अनावरण, अपने उस सत्य स्वरूप के दर्शन देने के कर्तव्य से अवश्य कर दो। और यह भी प्रार्थना की जाती है कि "तुम तो ज्ञानरूप हो, इसलिए हमें सदा सत्पथ या सन्मार्ग या योगमार्ग से ही ले जाते रहो, हमारे इस मार्ग में जो कोई भी पापाचार विघ्न बाधा वाले हों उनसे लड़ना युद्ध करना उन्हें परास्त करने का भी काम तुम्हारा ही है। अतः हम तो सदा तुम्हें प्रणाम ही करते रहेंगे।' इत्यादि यह वही योगी यम है जिसने यमी या वाक् रूप शरीर त्याग करके (नित्य अमर सूर्या की तेजोमयी योगमयी ज्योति पाकर) कठ के अनुसार उस वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता को उसी अग्नि का ज्ञान दिया था जिसे उसने पूर्वोक्त प्रकार से अनुभूत कर लिया था। इसका पूरा परिचय 'उपनिषद् भाष्य भूमिका' नामक मेरे लिखे ग्रन्थ में देखें। ऋग्वेद के १०।८५ सूक्त में जिस सूर्या के विवाह की योजना अश्विनौ से की गई है वह सम्पूर्ण वर्णन योगमाया का वर्णन है। योग से अनुभूत या उद्दीप्त की जाने वाली दैवी ज्योति के चार स्तर हैं। इन चारों स्तरों की ज्योति को आदित्यमयी अदितिमयी या सूर्या नाम से ही पुकारते हैं। यह इन्द्र योगी के पक्ष में सोममयी सूर्या ज्योति (ईषत्कृष्णपिंगला) कहलाती है, तो वेधा योगी की ज्योति को गन्धर्वमयी चान्द्रमसी तेजीवती सवितामयी लोहिता और यम रूप अग्नि या रुद्र के योगी रूप में यह अनिरुक्ता अमृता सूर्या ज्योति अरूपा कहलाती है तो प्राणमयी योगप्रक्रिया में अश्विनौ की प्राणमयी सूर्या शुक्ला ज्योति। अतः इस सूर्या के चार पति बताये गये हैं वे हैं—सोम, गन्धर्व, अग्नि और अश्विनौ। इन में से सोम और गन्धर्व की पत्नी या योगरूपा सूर्या ज्योति तो दक्षिणायनीया है परार्द्धीय हैं, तो अग्नि और अश्विनी की योगमयी सूर्या ज्योति रूप पत्नी पूर्वार्द्धीया त्रिपादामृतीय अरूपा अशरीरिणी स्वर्गीया मात्र; क्योंकि, अश्विनौ तो देवरूप अमृतप्राण रूप हैं उनसे, मिलने के लिए सूर्या को अपने बन्धन रूप वरुण के पाशों या आपोमय प्राण शरीरों को त्यागना पड़ता है

(ऋ० वे० १०-८५-२२,२३) पर गान्धर्व और सोम शरीर तो प्रतिक्षण नये-नये रूप लेता है जिनके शरीरों के साथ वह अश्विनौ से नहीं मिल सकती (ऋ० वे० १०-८५-१९) इस प्रकार ऋ० वे० १०-८५ का पूरा सूक्त इसी उच्चकोटि के योग का वर्णन पूरा देता है (३४ से ३९ तक)।

(४०) तस्माद्यमो वै सः प्रथमो योगी यो मोक्षयोगं सर्वप्रथमं चकार।

(४१) त्रिविधस्त्रिपाद्वा मोक्षयोगोऽग्नियोगो वा यमयोगो वा यः प्राधान्येन वक्तुमर्हः।

(४२) 'योगस्यैव व्यतिक्रमे तु—"दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽग्निरस्मद्द्वितीयं परिजातवेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥" स अतिथि-र्दुरोणषद्। (ऋ० वे० १० ४५-१ यजु० १२-१९)

(४३) योगे तु तृतीयः सो "ऽग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मिनाम॥"

(ऋ० वे० ३-२६-७)

(४४) सो 'ऽहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः॥

(तै० ब्रा० २-८-८-१)

इस प्रकार इस यम नामक संयमी अग्नि ने ही सर्वप्रथम मोक्ष योग का द्वार खोला, सर्वप्रथम शुद्ध अमृतमयी अरूपा अशरीरिणी सूर्या ज्योति की अनुभूति प्राप्त की। यह मोक्ष योग भी एक ही प्रकार का नहीं है, यह तीन प्रकार का है, इसको अग्नि प्रधानता के कारण मोक्ष योग न कह कर अग्नि योग या यम योग कहना अधिक उचित है, मोक्ष योग तो यह है ही। इस त्रिविध योग को त्रिपाद् योग कहना भी सर्वथा उचित है, क्योंकि इसकी त्रिविधता गायत्री अमृतमयी वाक् के तीन चरणों पर निर्भर करती है। इन पादों के अनुसार योग के उलटे मार्ग में सबसे पहले दिवः नामक तृतीय पाद में यह योगाग्नि जातवेदा रूप में प्रकट होती है यह पूर्वार्द्ध के प्रथम अतिथि या पुत्र प्राप्ति रूप का सबसे कठिन योग है अतः इसे दुरोणषद् या दुरारोहरणीय दुरोण योग कहते हैं (सृष्टिपक्षमें सर्वप्रथम प्रथमपाद के भू लोक में ही प्रकट होती है)। इस तृतीय पाद में जातवेदा की सिद्धि या उद्दीप्ति के अनन्तर द्वितीय पाद में परिजातवेदा या होता वेदिषद् की अग्नि की उद्दीप्त या सिद्धि होती है। और तब अन्त में तृतीय सीढी में या सृष्टि के प्रथम पाद में नृम्णा या नृमण नामक सतत इन्धनशील दीप्तिशील अग्नि के अन्तिम स्वरूप की उद्दीप्ति या सिद्धि होती है। यह स्वय को स्वयं धारण करने में समर्थ प्राणरूप बुद्धिरूपी अग्नि है। यहां पर उलटा क्रम देना ही योगपरक होने का पक्का प्रमाण है। अतः फिर कहा है कि "मैं तो योग से प्रथम जन्म लेने वाली जातवेदा नामक अग्नि

हूँ. जिसे भौतिकामृत कहते हैं वह मेरी दीप्ति को प्रज्वलित रखने वाले दीपक के घृत के समान है, उसे उत्तरार्द्ध में चक्षुः सूर्यः और भौतिकामृतमय अमृत कहते हैं। यह त्रिपादामृत के तीन धातुओं के अर्क के समान घृत है। यह सदा भौतिकामृत के रजोमय वैद्युतीय विकरणीय चिनगारियों का अनाद्यनन्त महतो महीयान् तत्त्व है और नित्य ही उष्ण होकर थन से हविरूप दूध चुवाने को तत्पर सा रहता है।" इसीलिए यह अग्नि पुनः कहता है, 'मैं ही उस ऋत नामक पूर्वार्द्ध में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला हूँ, मैं पूर्वार्द्धीय देवताओं के लिए अमृत की नाभि हूँ,: इत्यादि।" (४० से ४४ तक)।

(४५) इन्द्रो वेधास्तृतीयपादीयस्यादित्यस्य जातवेदसः सोमान्तगतिकौ।

(४६) ते चतुष्पदीयास्ततो जातवेदसो पञ्चपदीमन्वारोहति केवलं यमाग्निः।

(ऋ० वे० १०-१३-३)

(४७) द्वितीयं परिजातवेदा अग्निर्वै रुद्रः।

(४८) यस्तृतीयः स प्रथमोऽग्निनृम्णा अजस्रमिन्धानो ऽखिल कोटि ब्रह्माण्डेऽदिति-वागपां समुद्रे।

(४९) तदेतेषां त्रयाणामग्नीनामाप्त्यै निम्नक्रमोऽवश्यं भावी।

(५०) सोमाद्विष्णुर्विष्णोर्वरुणो वरुणान्मित्रो मित्रादात्रिरत्रेरतिथिस्त्रिपादमृतस्तस्माद् रुद्रो रुद्रादग्नेरग्निरग्रणीः सर्वेषां देवानाम् तस्य निर्वाणे च शान्तार्चिरादि-ब्रह्म हंसः शुचिषत् सातिमुक्तिः षड्विधास्वन्तिमा।

इन्द्र और वेधा के योग की अन्तिम सीमा तृतीयपाद के अन्तिम रेखा में जातवेदा नामक अग्नि या आदित्य या सोम या विष्णु की अनुभूति तक सीमित है। ये चतुर्थपाद के तत्त्व हैं, इनका वर्णन सूत्र ३१ में पीछे दिया जा चुका है, यहां से यमाग्नि पञ्चपदी पिता के पूर्वार्द्ध का आरोहण करता है। तद-नन्तर द्वितीय पाद में आते ही त्रिपादामृतीय रुद्राग्नि या परिजातवेदा अग्नि को समिद्ध किया जाता है, तब प्रथम या इस योग के तृतीय चरण में नृम्ण या नृमण नामक सतत क्रियामयी उद्दीप्ति वाले अग्रिम अग्नि को—जो अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के मौलिक बीजों के प्राणरूप सागर में या अदिति वाक् आपः के सागर में वाडवाग्नि की तरह विद्यमान रहता है। इन अग्नियों की अनुभूति में निम्न क्रम अवश्यंभावी है। चतुष्पदी योग में सोमानुभूति अन्तिम है, उससे विष्णु, उससे आगे वरुण उससे आगे मित्र, फिर क्रमसे अत्रि, अतिथि त्रिपादा-मृतीय रुद्र अग्रणी अग्नि। इस अन्तिम अग्रणी अग्नि के निर्वाण के अनन्तर शान्तार्चि आदि ब्रह्म 'हंसः शुचिषद्' में एक होकर घुलमिल जाना निर्वाण या अग्नि का बुझ जाना या अतिमुक्ति कहलाती है वैसे मुक्तियां छह प्रकार की हैं वैदिक ब्रह्मसूत्र देखें; यह अन्तिमा मुक्ति है (४५ से ५० तक)।

(५१) तस्मान्महायोगेऽस्मिन्विष्णुर्महान्देव, स्त्रिपादमृतो रुद्रो महत्तरोग्निश्चानिरुक्तः प्रजापतिर्महत्तमो हंसोऽनादिरनन्तः सदा मुक्तः प्राणः परमः प्रथमो वा। यदा च ते सर्वा देवता तदा सर्वेऽन्तिमा महान्तो महत्तरा महत्तमाश्च।

उपलब्ध प्रमाणों से वर्णित इस महायोग प्रक्रिया में विष्णु तो महान्देव है. रुद्र महत्तर है त्रिपादामृत भी है, और अनिरुक्त प्रजापति पतिरूप देवताग्रणी अग्नि महत्तम तत्व है, वही हंसः शुचिषद् सदामुक्त परम प्राण या प्रथम प्राण है। परन्तु जब विष्णु सोम इन्द्र रुद्र वरुण प्रभृति देवताओं को सर्वदेवता कहते हैं तब प्रत्येक सीढी में इनमें से प्रत्येक की ही पृथक् पृथक् विधियों से अनुभूतिं होगी और प्रत्येक अन्तिम महत्तम महत्तर महान्देव इत्यादि रूप में अनुभूत भी किया जावेगा (५१)।

(५२) यो नचिकेता यममग्निज्ञानाय कठे प्रप्रच्छ तदेतदेवाग्नि 'र्यन्मृत्योः परन् मृत्यव एव तस्य पिता वाजश्रवा तमदाच्च (१०-५१-६, ४) द्रष्टव्यम्।

कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से जिस अग्नि के ज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न किया था वह वही पूर्वोक्त त्रिपादामृतीय अग्नि के बारे में था, जिसकी अनुभूति मृयु के पश्चत् ही संभव हो सकती है। इसीलिए उसके पिता वाजश्चवा (द्यौ) ने उसे मृत्यु को सौंपा भी था। इसका विवेचन ऋ० वे० १०-५१ में भी मिलता है जहाँ नचिकेता का नाम यम के ही साथ आया है। यह कथानक इस परम योग वर्णना के बहाने मात्र के लिए रचा गया है। यह वास्तविकता है (५२)।

(५३) यच्छौनःशेपमाख्यानमृग्वेदे वैतरेये वा नचिकेतसः कठे वा तत्राप्येतस्यैवाग्नेः क्रमशो योगः।

(५४) अजीगर्तोऽज एकपाद्गर्ते मध्यस्थाने विषुवति पिता।

(५५) यत्स तं वरुणाय योगयज्ञाय ददाति तद्विष्णोर्वरुणाय गमनं योगाय।

(५६) तस्य कृते मृत्युरावश्यकीया तस्मात्स पिता स्वयं ज्ञानासिना तं न हि, स्वशरीरमेव हर्तुमुद्यतोऽभूत्स्वपुत्रस्याप्त्यै स्वर्गे लोके पुत्रस्त्वात्मा तस्ययोगे, पुत्रत्रयी तु प्राणत्रयी यस्यां मध्यमो मध्यमः प्राणः शुनःशेपो नचिकेता वा वाजश्रवसः।

तस्मादज्ञान संभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ (गीता४-४२)॥

(५७) स यदादित्यादीनां क्रमिकस्तवनं चकार तत्तेषां क्रमशो योगानुभूतिसूचकम्।

(५८) वरुणपाशान्मुक्तिस्तु मृत्युरेव शरीरस्याजीगर्तस्यैव यतो शरीरं वै वारुणीनां पाशानाम् यस्मिन्पुरुषः शुनःशेपोऽग्निर्विबद्धः ।

(५९) विश्वामित्रर्षिः प्राणः श्रोत्रं दिग्दैवत्यो यस्य शिष्यत्वेन पुत्रत्वेन शुनःशेपोऽपि दिक्षु व्यापी यशसा बभूवेति ।।

ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण में जो शुनःशेप का आख्यान मिलता है वह भी इसी परम योग का मृत्यु के उपरान्त सिद्ध किए जाने वाले योग की क्रमिक व्याख्या देता है। यहां अजीगर्त अजएकपात् का स्थानीय मध्यस्थानीय तत्त्व है, जिसे विषुवत् के दक्षिण का वासी होने से पिता कहते हैं। उसने उसे वरुण को देने की जो प्रतिज्ञा की थी वह इस योग के पूर्वोक्त (सूत्र ५०) के क्रम से विष्णु सोम के स्थान से वरुण को उद्दीप्ति के लिए देना है जिसके लिए शारीरिक मृत्यु परम आवश्यक है। इसीलिए वही पिता उस शुनःशेप को अपनी ज्ञान की तलवार से मारने को तत्पर भी है कि उसका आत्मारूप पुत्र पूर्ण मुक्ति पा सके। खड्ग सदा ज्ञान का प्रतीक है जैसा कि भगवद्गीता ने भी लिखा है कि 'अज्ञान से उत्पन्न संशय को ज्ञान की तलवार से काटकर योग करने के लिए जाग्रत या खड़े हो जावो।' ठीक यही घटना यहां भी घट रही है। अज्ञानी लोग इसका कुछ भी मतलब लगातें फिरें, तथ्य तो तथ्य ही है, वह यही है। शुनःशेप ने जो आदित्यादि देवताओं की क्रमिक स्तुतियाँ की हैं वे उसकी इन देवताओं की योग द्वारा क्रमिक अनुभूतियों का विवेचन देती हैं। उसके वरुणपाश से मुक्ति के माने जीवित रहना नहीं वरन् मृत्यु को ही प्राप्त हो जाना है। क्योंकि जीवन तो वरुण के पाशों में अग्नि प्रजापति को बाधे रहने ही से बन्धनरूप शरीर से हो रहता है। इसको भी लोग नासमझी से उलटा ही समझते आ रहे हैं। कहां तक लिखें। विश्वामित्र का उसे अपना पुत्र या शिष्य बनाना उसे त्रिपादामृतीय श्रोत्र रूप में दिग्दिगन्त व्यापी यशस्वी या दिव्यशरीरी या अमर बनाना है। यह ध्यान में रहे कि वाजश्रवा और नचिकेता तथा अजीगर्त और शुनःशेप तो यम-यमी की तरह एक ही शरीर के दो भाग हैं। इनमें शरीर वाजश्रवा और अजीगर्त है और आत्मायें नचिकेता और शुनःशेपः। येही आत्मायें यम या वरुण के पास पहुँच सकती हैं, शरीर नही उन्हीं के इस योग का यहां पर वर्णन है। अजीगर्त और वाजश्रवा के तीन-तीन लड़के उनके प्रथम मध्यम और उत्तम प्राणों के प्रतिनिधि हैं, प्रथम को पिता तृतीय को माता का अपनाना द्यावा पृथिवी रूप का अपनाना है, मध्यम प्राण ही योगी है वही मुख्य प्राण है। उसी को योग लोक या मृत्यु लोक या अशना अनशनाहीन लोक के लिए स्वभावतः चुना गया है। मृत्यु को देने का यही आशय है मृत्यु

यम नहीं है वरंच यम का ज्योतिर्मय योगमय लोक है। वेदों के ऋषियों की यह प्रणाली नई नहीं है कि एक ही शरीर के अंगों को पिता, पुत्र, पत्नी, भ्राता, भगिनी और अन्य सम्बन्धों से पुकारें। इन सम्बन्धों के नामों से इनकी अङ्गता नष्ट नहीं होती। वे अपने एक शरीर में अङ्ग ही है, पृथक् वर्णना से, चक्कर में नहीं आना चाहिए। देवासुर तो एक ही शरीर के दो अंग हैं पर उनका वर्णन कैसे कैसे युद्धों से किया गया है, यह किससे छिपा है? अतः इस वर्णना में केवल इसी महायोग का, शरीरान्त के पश्चात् के योग का मुख्य विवेचन है। इस के अध्ययन के लिए एक नवीन वैदिक अनुसन्धान प्रतिष्ठान की आवश्यकता है। आशा है सभी समझदार जनता इसमें सहयोग देकर ज्ञान पुण्य कमायेगी।
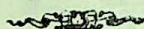
अध्याय ४ पाद ४ (क)

योग के प्रसिद्ध सूक्तों की व्याख्या

(१) अथातो वेदेषु योगयोरेतयोः क्रमिका व्याख्या ।

(२) तत्रास्यवामीये सूक्ते पूर्वार्द्धीयपरार्द्धीययोर्योगयोर्भूमिका तथा प्रथमस्यानुभूतेः सविस्तरं वर्णनं नाना सरणिषु वैदिकानाम् ।

(३) तस्य च विशिष्टवर्णनमिन्द्रविष्णुरुद्रपुरुषहिरण्यगर्भसूक्तेषु वर्णनासु च सर्वासु संहितासु विस्तारपूर्वकं निबद्धम् ।

(४) उत्तरार्द्धीयस्य योगस्य च व्याख्या अग्नेः सूक्तेषु तथाश्विनी सूर्यायाः यमस्य पितॄणां च सूक्तेषु वर्णनासु च बाहुल्येन प्रशस्ता । एवं वेदेषु योग एव प्रधानः सृष्टेस्तु विषयो गौण एव ।

(५) तेषामेवात्र क्रमशो व्याख्या सभाष्यमुदीर्यते ।

(६) पुरुषः पुरुष सूक्ते ।

(७) हिरण्यगर्भः कश्च तस्यैव सूक्ते ।

अब इस भाग में पूर्व वर्णित दोनों प्रकार के अपूर्व योगों की जो व्याख्यायें वेदों में उपलब्ध होती है उनको सूक्त सहित क्रमशः दिया जा रहा है । इसमें अस्यवामीय सूक्त दोनों प्रकार के योगों की भूमिकापुरःसर पूर्वार्द्धीय योग की अनुभूति का विवेचन वैदिक ऋषियों की नानासरणियों में देता है । इस योग का विशिष्ट वर्णन अग्नि विष्णु रुद्र पुरुष हिरण्यगर्भ इन्द्र सोम सूक्तों में—जिनके विषय का क्षेत्र ऋग्वेद तथा अन्य सहिताओं से अधिक है—विस्तारपूर्वक वर्णित मिलता है । उत्तरार्द्धीय योग का व्याख्यान अग्नि सूक्तों तथा यम, पितर, अश्विनी, रुद्र और सूर्या के सूक्तों या वर्णनाओं में अत्यन्त विस्तार से दिया मिलता है । कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों का अधिकांश विषय योगपरक है; शेष सृष्टि सम्बन्धी, गौण रूप में योग की व्याख्या के निमित्त दिया हुआ मिलता है ।

अस्यवामीय दीर्घतमसीय सूक्त के सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों—विल्सन, गोल्डनर, कीथ, मैक्डानल और ग्रिफिथ आदि पाश्चात्यों—ने तथा भारतीय आत्मानन्द कुन्हनराजा प्रभृतियों ने एक स्वर में कहा है कि यह सूक्त कई ऐसी अविज्ञात भावनाओं का भण्डार सा है, जो उस सूक्त युग में दीर्घतमा के समान सभी अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण देवताओं और ऋषियों में साधा-

रणतया सुविज्ञात था। ऐसी परिस्थितिमें ऐसी अवितात भावनाओं वाले इस सूक्त के तथा इन्हीं अविज्ञात भावनाओं के धरातल में रची गई अन्य सभी ऋचाओं के समीचीन ससन्दर्भ, उस युग में सर्वविदित प्रचलित परम्परानुकूल अर्थों को यदि हम समुचित रूप से अवश्यमेव जानना चाहते हैं तो हमारा सबसे प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम उस युग की उन भावनाओं और विचारधाराओं के वास्तविक मूल चित्र की पूरी पूरी खोज कर के उन्हें अपने सामने टांक लें। इस काम को पहले विना किए हुए ही जिस जिस ने भी अब तक इस सूक्त को या अन्य सूक्तों को व्याख्या के लिए छुआ है उन सबका निर्णय अन्धेरी गुहा में बन्द हाथी की खोज में गये लोगों के नितान्त अनर्गल कथानकों का सा अवाञ्छनीय ढेर सा, भार सा, भटके लोगों को और अधिक भटकाने वाला ही सिद्ध हुआ ही है और होता रहेगा। अब तक का कोई भी व्याख्याता निश्चय-पूर्वक इस दोष का अपराधी बने बिना नहीं रह सका है।

सायण ने इस सूक्त की व्याख्या शंकराचार्य प्रभृति के अवैदिक वेदान्त के सिद्धान्तों में ढाल कर करने का अधिक विफल प्रयास किया है तो पाश्चात्यों ने यास्क के देवताओं के प्राकृतेय विवरण को आधार बना कर, उससे अधिक मधुसूदन ओझा कट्टर आर्य समाजी होने से उन सनातनीय ऋषियों की भावनाओं को तनिक भी स्पर्श नहीं कर सके हैं। अतः जो इनके आधार पर वेद व्याख्या करने उछले हैं वे सबसे अधिक गहरे अन्धकार में पड़ जाने के कारण लीक से बाहर और अलीक के पुजारी बन गये हैं।

लेखक ने इस प्रकार के उक्त वैदिक वाङ्मय का, होश सम्भालने से लेकर अब तक आजन्म सततावध्यासाय और परिश्रम से मन्थन करके वैदिक विश्व-दर्शन की एक वास्तविक रूपरेखा खींचकर उसका व्याख्यान 'वैदिक विश्वदर्शन' नामक ग्रन्थ में पूर्णतः कर दिया है जिसका प्रथम भाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने प्रकाशित कर दिया है, दूसरा भाग छप रहा है। इस ग्रन्थ में उस चित्र को भी अधिकांश में आवश्यकतानुकूल जहां तहां संक्षेप में वर्णित करके पाठक को समझने योग्य सामग्री पूरी दी जा रही है।

दीर्घतमाः—इस सूक्त के प्रणोता ऋषि का नाम दीर्घतमाः है। कुछ भोले लोगों ने इस नाम का अर्थ 'लम्बा अन्धकार' समझा है, अतः सूक्त को 'अन्धकार में लम्बी दृष्टि' नाम तक दे दिया है। इसके माने 'दीर्घतमा लम्बे अन्धकार के कुए में डूबे थे या अन्धे थे' होता है। हमारे सभी ऋषि तो 'दृष्टारः' 'ऋषिर्दर्शनात्' 'ऋषयो मन्त्र दृष्टारः' रहे हैं। यदि वे अन्धे होते या अन्धकार में रहते तो हमें वेद जैसे पवित्र दार्शनिक वाङ्मय को देने में

क्योंकर समर्थ होते ? अवश्यमेव 'दीर्घ तम आशयदिन्द्रशत्रुः' (ऋ० वे० १-३२-१०) में 'दीर्घतमः' नाम वृत्र का है, शरीर का है, भौतिकमर्त्य ब्रह्माण्ड का है । तब क्या दीर्घतमा ऋषि एक ऐसे ही असुर थे ? कदापि नहीं । वैदिक वातावरण के अनुकूल 'दीर्घतमाः' नाम की सीधी व्युत्पत्ति दीर्घों में वृद्धों में सर्वोत्तम वृद्धतम या दीर्घतम है । दीर्घ, दीर्घतर दीर्घतम तीन प्रकार के ऋषि होते थे जैसा कि ऋ. वे (१०-७१-७) ने लिखा है "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः । आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥" उन तीन प्रकार के ऋषियों को क्रम से अक्षिमन्तः (स्वयं देखने (आंख) वाले), कर्णवन्तः (सुनकर जानने वाले) और सखायः (सभा वाद विवाद द्वारा जानने वाले) कहलाते थे; या कोई मुख तक डूबने योग्य बावड़ी के समान थे, कोई कन्धे से नीचे या बाहों से नीचे तक डूबने योग्य तलैया के समान थे तो कोई बहुत बड़े सरोवर के समान स्नान (ज्ञान स्नान) के पूर्ण योग्य थे । इन में से दीर्घतम दीर्घतमाः ऋषि सरोवर के समान और अक्षण्वन्तः या चक्षुष्मन्तः (दुर्गा-रहस्य) सर्वश्रेष्ठ साक्षात् द्रष्टा ऋषि थे । दीर्घतमाः नाम का सकारान्त शब्द, अङ्गानां प्राणानां रसः अङ्गिराः अङ्गिरस की शैली में या 'परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः' के अनुसार 'अत्रत्यात् से अत्रिः' या 'मादुषत् से मनुष्या' के समान है । वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति की यही शैली है; उनकी व्युत्पत्ति न तो लौकिक संस्कृत की शैली में बैठ सकती है न वैदिक भाषा के मुहावरे लौकिक संस्कृत से मेल खाते हैं । इस प्रकार दीर्घतमाः ऋषि वैदिक वाङ्मय के दीर्घतम या वृद्धतम या सर्वश्रेष्ठ तम कोटि के 'यथानाम तथा गुणा' के साक्षात् 'अक्षण्वन्तः' 'चक्षुष्मन्तः' और 'ह्रदा इव' महायोगी ही थे; अन्धकार से इनकी कभी भी कहीं भी भेंट नहीं हुई, जिन्होंने ऐसा वेतुका सोचा या समझा है, सचमुच में वे ही सबसे बड़े गहरे अन्धकार में हैं, इसमें भी, विश्वास कीजिए, रत्तीभर सन्देह नहीं ।

दीर्घतमा के अस्यवामीय या वामन सूक्त का विषय—वेदों में प्रयुक्त पारिभाषिक पदों को लौकिक संस्कृत के प्रचलित अर्थ में समझने वालों को वेदों के उन पारिभाषिक पदों, और उन पारिभाषिकपद-वाली ऋचाओं का अर्थ एक दम उलटा लग जाता है । जैसे 'को अद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः' (ऋ० वे० १०-१२९-६) मंत्र के अर्थ करने में सबने 'कः' शब्द को लौकिक संस्कृत की शैली में प्रश्न वाचक सर्वनाम समझ कर यह घोषणा की है कि वैदिक ऋषियों को सृष्टि विषयक ज्ञान नितान्त अपूर्ण था, क्योंकि वे तो अन्त तक प्रश्न ही उठाते रह गये हैं और इसमें प्रश्न कर रहे हैं कि 'वह कौन है जो यह जानता है, और वह कौन है जो

यह कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से कैसे उत्पन्न हुई ?'। पर वस्तुस्थिति बिलकुल इसके विपरीत है। इसमें 'कः' शब्द प्रश्नवाचक सर्वनाम है ही नहीं, यहां पर यह 'कः' शब्द 'कः' प्रजापति या हिरण्यगर्भ (प्राण अमृत गर्भ मय प्रजापति) का सूचक है। वैदिक ऋषि तो घोषणा यह कर रहे हैं कि "इस सृष्टि के सम्बन्ध में, यह कहां से उत्पन्न हुई, किस प्रकार इसकी रचना हुई, इसे तो कः प्रजापति ही जानता है, उसी से हमसे इसकी रचना के बारे में कहा भी है।" कोई बहुत हठ करे तो अधिक से अधिक इन वाक्यों को उत्तरगर्भी प्रश्न कह सकते हैं। अर्थात् कौन इसे जानता है ? कः प्रजापति इसको जानता है, कौन इसको कह गया ?, कः प्रजाप्रति ने इस बात को कहा या बताया' इत्यादि। पर ऐसा स्वीकार करने से भी आगे के 'कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि ? वाक्यों के प्रश्न सन्दर्भहीन होकर निरर्थक हो जाते हैं, और पूरे को ही प्रश्नमय ही मानने पर भी यह भाग फिर भी व्यर्थ ही जुड़ा सा स्वयं प्रतीत होगा। अतः इस वाक्य का अभीष्ट अर्थ वही है जो 'कः प्रजापति' के सकेतित अर्थ में बताया गया है, अन्य अर्थ मात्र अनर्थ के हैं (हिरण्यगर्भ शीर्षक वै० वि० द० देखें)। यही परिस्थिति इस सूक्त के मंत्र ४ में आगे मिलेगी।

कुछ लोग अब यह प्रश्न उठाने में उत्सुक दिखाई पड़ सकते हैं कि दीर्घतमा आदि ऋषियों की भेट उस 'कः' नामक हिरण्यगर्भ से कहां, कैसे, किस प्रकार हुई ? जहां प्रथमों को द्वितीय ने सावधानी पूर्वक उक्त ज्ञान दिया ? इस प्रश्न का जो उत्तर है उसीको वास्तव में (उसके लौकिक संस्कृत की शैली के पर्दे में छिप जाने से) न जान सकने के कारण वेदों के मंत्रों का सत्य भाव सदा के लिए नष्ट होता जा रहा है। अब ऐसे विद्वानों का युग बीत चुका है, या अब 'अक्षण्वन्तः चक्षुष्मन्तः ह्रदा इव' विद्वानों का युग पुनः पलटने लगा है। उक्त प्रश्न का उत्तर दीर्घतमा ऋषि ने अपने इस सूक्त के प्रथम मंत्र में ही 'अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्' वाक्य से स्पष्ट दे दिया है "कि मैंने इस कः नामक हिरण्यगर्भ को अपने सात पुत्रों सहित मूल प्रजापति रूप में साक्षात् (अपनी आखों) से देखा।" और ऐसे ही अन्य सैकड़ों वाक्यों को अन्य वैदिक ऋषियों ने भी अपने-अपने सूक्तों और वेदों में दिया है (दे० पहले)। प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि उस 'कः' प्रजापति को इन ऋषियों ने किन आखों से, किस प्रकार देखा ? इसका उत्तर केवल एक है कि 'योग दृष्टि से' 'योग प्रक्रिया से'। इस योग दृष्टि और योग प्रक्रिया की वेदों में इतनी अधिकता है कि उनका विवरण समस्त वैदिक मंत्रों को यहाँ उद्धृत करने को विवश कर देगा। इनका संक्षिप्त बिवरण इस ग्रन्थ के आदि में ही

आवश्यकता के अनुकूल दे दिया गया है। वास्तव में इस ग्रन्थ में वेदों के इसी नष्ट पहलू को पुनरुज्जीवित करके विद्वानों के सामने ब्राह्मणों और उपनिषदों की वेद व्याख्या शैली में पुनः स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है।

इस प्रकार इस सूक्त के विषय को आरम्भ ही से योग दृष्टि द्वारा सृष्टि दर्शन के रूप में आरम्भ किया गया है। उसी योगावस्था में दीर्घतमा ऋषि ने मंत्र २, ३, में वर्णित देवरथ या सृष्टिरथ का तद्रूप में दर्शन किया है। जब ऋषि ने उस कः प्रजापति, उसके चार भाई पलित होता घृतपृष्ठ और अश्न-मध्यम, उसके सात पुत्र (आङ्गिरस सप्तप्राणा), सप्तचक्री त्रिनाभि एक रथ को सप्तनाभी एक अश्व से खिंचता, सप्तस्वासारः, सप्तगावः और उनमें मूल बीज में स्थित अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड को अपनी उस योगावस्था की स्थिति वाली दृष्टि से साक्षात् देख लिया, तब दीर्घतमा ऋषि लौकिक दीर्घतमा ऋषि नहीं रह गये, वे तब साक्षात् उसी कः प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ रूप में अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक स्वरूप में परिणत हो गये। अर्थात् योग की प्रथम सीढ़ी की प्रक्रिया पूरी हो गई, उनका आध्यात्मिक शरीर स्वयं कः प्रजापति हिरण्यगर्भ रूप अखिल आध्यात्मिक भौतिक ब्रह्माण्ड में तादात्म्य पा गया। अब वे सच्चे प्राण रूप ऋषि बन गये, सच्चे दीर्घतमा या वृद्धतम महत्तम महतोमहीयान् प्राण रूप ऋषि हो गये।

अतः इस सूक्त की ऋचा ४ में — जो इस सूक्त की एक बड़ी भारी रहस्य भरी कुञ्जी है—जिसे आज तक के किसी भी व्याख्याता ने न तो समझ पाया है न खोज पाया है—इस सूक्त के अग्रिम विषय की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए दो मुख्य पात्रों को परस्पर प्रश्न करने और उत्तर देने के लिए प्रस्तावित किया गया है। इन दो पात्रों का उल्लेख इस ऋचा के निम्न वाक्य में इस प्रकार दिया है 'को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्' कि 'वह कः प्रजापति नामक हिरण्यगर्भ— या हिरण्यगर्भ में तादात्म्य प्राप्त प्राणरूप दीर्घतमा ऋषि 'अग्निर्विद्वान्' के पास पूछने के लिए गया।' यह इस मंत्र की व्याख्या में आगे विस्तार पूर्वक वर्णित किया जा चुका है, देख लें। यहां 'विद्वांसम्' नाम अग्नि का है, 'अग्निर्विद्वा-यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृत सप्ततन्तुम्' (ऋ० वे० १०–५२–४) इसका अकाट्य प्रमाण है। ऋग्वेद में अग्नि ही को विद्वान् नाम से सैकड़ों स्थलों में वर्णित किया भी गया है। जैसे १-७२-७, ८ इत्यादि यह 'अग्निर्विद्वान्' सब तत्त्वों या देवताओं का अग्रणी होने से और सब का विकास अग्निमय ही होने से सर्वा देवता तथा आदि देवता भी है। इसी आदि देवता के एक रूप कः प्रजापति को दीर्घतमा ने देखा भी है, अब यह कः प्रजापति और उस अग्नि

विद्वान् जिसके चार भाई हैं आपस में उस समाधि की अवस्था में प्रश्नोत्तर कर रहे हैं। उस कः प्रजापति ने सब से पहले प्रकाशरूप में उदीयमान होने वाले अस्थन्वन्त या अस्थिमान् तेजस्विता के स्थूल रूप भौतिक मौलिक ब्रह्माण्ड को उस अस्थन्वन्त की आत्मा रूपिणी अणिष्ठा वाक् को धारण करती हुई देखा। तब उसके मन में असु असृक् और आत्मा के बारे में जानने की जिज्ञासा होती है और तब कः प्रजापति सबसे प्रथम प्रश्न इन्हीं के बारे में 'क्स्वित्' शब्द द्वारा करता है, और इसके आगे मंत्र ५,६,७ में अनेकों प्रश्न किए हैं जिनका उत्तर अग्निर्विद्वान् ने मंत्र ८ से लेकर मंत्र १६ तक दिया है। फिर मंत्र १७, और १८ में उसी ने दूसरे प्रकार के मूल प्रश्न उठाये हैं जिनका उत्तर अग्निर्विदान् ने मंत्र १९ से मंत्र ३३ तक दिया है। यहां पर मंत्र ३२ के पूर्वार्द्ध 'य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्' के अर्थ में भी इसी योग के वातावरण का व्याख्यान होने से उन लोगों को जिन्होंने इस वातावरण के बारे में स्वप्न में भी नहीं सुना है इसमें भी 'को श्रद्धा वेद' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। परन्तु यहां जो अर्थ अभीष्ट है वह यह है 'जिस अग्निर्विद्वान् ने इस प्राण रूप सृष्टि की रचना की है वह प्राण सदा ही सबके लिए एक अविज्ञात विषय है 'प्राणो ह्यविज्ञातः' (बृह० उप-१-५-८) और वह अग्नि स्वयं प्राण रूप है 'जैसा बाप तैसा आप' दोनों ही सदा ही अविज्ञात या पूर्णत अविज्ञेय तत्त्व हैं. उन्हें पूरा पूरा नहीं जाना या समझा जा सकता, यह नहीं कि उन्हें कोई जानता ही नहीं है, इनकी शाब्दिक व्याख्या कठिन है, इन्हें अनुभूति मात्र से, योग से, जाना जाता है। जिसने योग द्वारा इन्हें जान लिया, उसके सामने यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि तिरोहित सी हो जाती है। वह इनमें केवल उसी प्राण रूप अग्निर्विद्वान् को ही देखने का आदी या अभ्यस्त हो जाता है। अतः यहां भी 'न अस्य वेद' का वह अर्थ नहीं है जो विद्वानों को अभासित हुआ या होता है। अस्तु प्रश्नावली अभी पूरी नहीं हुई है। कई शेष ज्ञेय विषयों के बारे में मंत्र ३४ से पुनः नये प्रश्नों का दौर चलता है। इनका उत्तर अन्तिम ५२वीं ऋचा तक समाप्त होता है।

इस प्रकार यह पूरा सूक्त चार मुख्य भागों में बटा है (१) प्रस्ताव—(मं १-४ तक) अग्निर्विद्वान् का वर्णन, और विश्पति या कः का विवेचन योग समाधि की स्थिति में; (२) कः प्रजपति का अग्निर्विद्वान् के पास (मंत्र ५-६, ७ से) जाना और कई प्रश्न पूछना और उनका समुचित उत्तर मंत्र ८ से १७ तक देकर (३) पुनः मं० १७ से ही द्वितीय प्रश्नावली उठाकर मं०१८ भी प्रश्न रूप में कहना और उनके उत्तर मंत्र १८ से ३३ तक देना और (४) मंत्र ३४

में पुनः बड़े विशालोदर प्रश्नों को उठा कर उनके एकाक्षरीय उत्तरों को मंत्र ३५ में ही देकर उनकी विस्तृत व्याख्या मंत्र ३६ से ५२ तक में करना। यह ध्यान रहे इस सूक्त में प्रश्नकर्ता कः प्रजापति है जिसे आगे चलकर 'पाकः' योग प्रक्रिया परिपाक क्रिया रूप का प्रजापति भी कहा गया है, और सब प्रश्नों का उत्तर देने वाला अग्निर्विद्वान् ही है। इस प्रकार के एक सरल शृङ्खला सुसम्बद्ध वैजयन्ती माला सम इस अनूठे सूक्त को जिन भद्र लोगों ने बिखरे मंत्रों का एक कबाड़ीखाने के समान असम्बद्ध संकलन कहने का साहस किया है उनकी बुद्धि की जितनी ही अधिक प्रशंसा की जाये वह भी कम ही होगी।

इस सूक्त के विषय—सम्बन्धिनी संदर्भ की इतनी लम्बी गाथा गाने का कारण यह है कि अधिकांश लोग इसे या तो 'ब्रह्मोद्य' या यज्ञशाला में पुरोहितों के संक्षिप्तोत्तर गर्भी प्रश्नावली समझते हैं या कई धुरंधर विद्वान् कहते हैं कि यहां पर ऋषि प्रकृति की अलौकिकता पर आश्चर्य चकित होकर उसके स्रोत को जानने की जिज्ञासा में अपने मन में बालसुलभ से प्रश्न कर रहा है। ये दोनों मत नितान्त निराधार हैं। वैदिक ऋषियों का एक निश्चित दर्शन है; उसकी व्याख्या की अनन्त शैलियां हैं; उन्ही को यहां पर एक एक करके बहुत ही संक्षेप में प्रश्नोत्तरों के रूप में संगठित किया गया है। हमारे ऋषिगण उस प्रकृति से परे के तत्व हैं, जिनको देख कर उक्त मत वाले स्वयं प्रमत्त होते हैं, नहीं समझ सकते, अतः अपनी इस अनभिज्ञता का प्रतिबिम्ब उन ऋषियों में भ्रमात्मक रूप से देखते हैं। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के मौलिक स्वरूप ही को असुर आसुरी शत्रु भ्रातृव्य आदि नाम दिए हैं, वे इसे न जान गये होते तो भला ऐसा क्यों कहते? उन्होंने इस सृष्टि के अणु अणु कण कण को हस्तामलकवत् स्पष्ट देख लिया था, जैसा देखा था उसी का इसमें अपनी प्रचलित भाषा में वर्णन भी दिया है, वे प्रकाश में थे, प्रकाश डालते हुए कह गये हैं। उनके सामने अपने वर्ण्य विषय; अपने दर्शन का पूर्ण चित्र जैसा पहले बताया जा चुका है—टंका है जिसकी वे व्याख्या करते जा रहे हैं।

विषय को दृष्टि पथ के रखते हुए इस सूक्त में तत्वों का वर्णन जिस रूप में किया हुआ मिलता है उसका अधिकांश भाग मुख्यतः योग की प्रक्रिया का वर्णन देता है, ऋषि ने यहाँ जिन जिन तत्वों को देवताओं के नामों से वर्णित किया है, वे अधिकांश में योग प्रक्रिया से अधिक सम्बन्ध रखने वाले हैं। बातें भी योग की समाधि अवस्था में हो रही हैं। प्रश्नकर्ता और उत्तर देने वाले भी समाधिस्थ तत्व हैं, वे हैं कः या पाकः और अग्निर्विद्वान्। अतः यह सूक्त पूरे का पूरा योग से ओतप्रोत और योगमय या योगप्रधान ही है, सृष्टि प्रक्रिया

उसी से जान लेनी पड़ेगी। योग प्रक्रिया प्रयोग या वियोग या सृष्टि प्रक्रिया से एकदम विपरीत दिशा गामिनी प्रक्रिया है। इस विपरीत गामिनी योगप्रक्रिया का—जिसे उपनिषदों में अतिसृष्टि नाम से पुकारा गया है—वर्णन भी इस सूक्त ने अपने विषय की दूसरी बड़ी महत्वपूर्ण तालिका के रूप में मन्त्र १७, १८, १९ में से विशेषकर मंत्र १९ में बहुत ही स्पष्टतया इस प्रकार दिया है।

'ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहु र्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः'' "अर्थात् जिन तत्त्वों को सृष्टिपक्ष में अर्वाञ्च या पूर्वार्द्धीय कहा जाता है उन्हीं को योग षक्ष में पराच या परार्द्ध या उत्तरार्द्ध का कहा जाता है, और जिनको सृष्टिपक्ष में परार्द्धीय या उत्तरार्द्धीय या पराञ्च कहते हैं उन्हीं को योग प्रक्रिया में अर्वाच या पूर्वार्द्धीय कहते हैं।"

अब तक के किसी भी व्याख्याता को इस मंत्र का न तो सन्दर्भ ज्ञात हो सका है न इसका अर्थ उनकी समझ में आ सका है। सब ने इसकी ऊल जलूल मनमानी वेतुकी व्याख्या की है। जिन्हें इसके विषय ही का ज्ञान नहीं है वे इसकी व्याख्या करने कैसे चल पड़े यही आश्चर्य की बात है। जिसे इस ऋचा का अर्थ नहीं लगा उसे इस सूक्त के किसी भी मन्त्र का अभीष्ट अर्थ नहीं लग सकता, यह निर्णय भी यही ऋचा स्वयं कर देती है। अतः दीर्घतमा ऋषि ने अपने इस सूक्त में दो दीर्घतम प्रकाशस्तम्भ रूप दो मंत्रों को—मंत्र ४ और मत्र १९ को—सूक्त के भावसागर की लहरियों को देखने और पहचानने के लिए जाज्वल्यमान रूप में खड़ा कर दिया है। जो इन्हें ही नहीं समझ पाया उसके लिए इसी सूक्त की वाणी में 'किमृचा करिष्यति' वाक्य पूर्णतः सार्थक है।

सूक्त के विषय के सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियों की प्रणाली के अनुसार सूक्त के मंत्रों की संख्या, प्रत्येक मंत्र का छन्द और देवता का वर्णन या नाम देना आवश्यक है; मंत्ररचयिता ऋषि का नाम तो सबसे पहले दिया जाता है, इस सूक्त के सभी मंत्रों के रचयिता का नाम दीर्घतमा है यह तो बताया जा चुका हैं। मंत्र संख्या के बारे में कुछ लोगों ने व्यर्थ में संशयात्मक बतंगड़ खड़ा कर दिया है। इस सूक्त में ५२ मंत्र हैं। पर ऐतरेय आरण्यक (५-३-२) ने लिख दिया है कि इस दीर्घतमा ऋषि के अस्यवामीय सूक्त में केवल ४१ मंत्र हैं जिसका प्रारम्भ 'अस्यवामस्य पलितस्य होतुः' से होता है और अन्त 'सलिलस्य' से (जैसे अस्य वामस्य पजितस्य होतुरिति सलिलस्य द्वीर्घतमस एकचत्वारिंशतम्'।) इसका यह आशय हुआ कि सूक्तों की मंत्रसंख्या, ऋषि, छन्द और देवताओं का प्रामाणिक वर्णन देने वाली शौनक की सर्वा-

नुक्रमणिका का यह लिखा हुआ कि—इस सूक्त में ५२ मंत्र हैं और इनमें से प्रथम ४१ मंत्रों के देवता विश्वेदेवता हैं और शेष ११ के तत्तद् पृथक् पृथक् देवता— सरासर झूठ है। आपको यह सुनकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि किसी एक महाशय ने इस कथन को केवल अपना ही नहीं लिया वरन् अनुक्रमणिका की और भद्द उड़ाते हुए से इस कथन की पुष्टि में ४२-५२ तक के ११ मंत्रों को इस सूक्त में व्यर्थ सिद्ध करने के साथ साथ यह कह दिया है कि इनको बाद में किसी ने प्रक्षिप्त या संकलित करके इसमें जोड़ कर नवीन संस्करण का रूप दे दिया। वेदों के सम्बन्ध में विना आगा पीछा देखे, विना उस युग की परिस्थिति को सामने रखे, अपनी कुछ असम्बद्ध बातों को साहसिकता या ढिठाई से उगल देने से—जैसा कि हजारों ने हजारों प्रकार की ऐसी ही अन्य बातें कही हैं—वेदों के वास्तविक स्वरूप में न आज तक आंच आ सकी है न आ सकेगी। क्यों कि सत्य तो सत्य ही है, वह सदा सत्य या सूर्य के समान चमकता ही रहेगा।

वस्तुस्थिति यह है। ऋग्वेद की छह शाखायें हैं (१) शाकल (२) वाष्कल (३) आश्वलायन (४) शांखायन (५) माण्डूकायन और (६) ऐतरेय (महीदासीय)। इनमें से प्रत्येक शाखा के सूक्तों और उक्त सूक्तों के मंत्रों की संख्या में कमी वेशी है। जैसे अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार शाकल से वाष्कल शाखा में आठ सूक्त अधिक हैं। और ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ ऐसे मंत्र और सूक्तों के प्रतीक मिलते हैं जो आजकल के उपलब्ध शाकल ऋग्वेद में नहीं मिलते, वे आश्वलायन श्रोत सूत्र और अथर्व में मिलते हैं। अतः ऐतरेय आरण्यक (५-३-२) का उक्त उल्लेख जिसमें अस्यवामीय सूक्त में केवल ४१ मंत्रों का निर्देश मिलता है वह इसी ऐतरेय शाखा के ऋग्वेद में छाँटे गये मंत्र हो सकते हैं। प्राचीन ग्रन्थों ने तो इस ऐतरेय शाखा का उल्लेख तक नहीं किया है, प्राचीन ग्रन्थों में इसको छोड़ कर शेष पांच ही शाखाओं के नाम दिए हैं। अतः इसकी प्रामाणिकता भी संशय से हीन नहीं हैं। अन्य शाखाओं में इसके ५२ ही मंत्र रहे होंगे, नहीं तो सर्वानुक्रमणी को बढ़ा चढ़ा कर कहने में उसे तो कोई लाभ नहीं हुआ, न उसका कोई स्वार्थ रहा। उसने अन्य सूक्तों की तरह इसकी संख्या सत्य रूप में दी है। पुरुष सूक्त के मंत्रों की संख्या में भी इसी प्रकार की भिन्नता है ऋग्वेद में १६ है, यजु० में २२, अथर्व में १६ वें के बदले मन्त्रान्तर भी है, और सभी वेदों में इनमें से प्रत्येक मंत्र में कुछ न कुछ पाठान्तर भी हैं। अतः उक्त प्रकार का निर्णय जिस किसी भी भले मानुष का हो नितान्त गर्हणीय है।

हां उनकी यह बात तो रह ही गई है कि उक्त शेष ११ मंत्रों में एक तो नवीन विषयों का प्रवेश है, दूसरे वे यहां असम्बद्ध हैं, तीसरे इनमें से कई मन्त्र अन्यत्र भी मिलते हैं। सबसे पहले धुरंधरों ने यह कहा है कि मंत्र ४२ में क्षर अक्षर विद्या का वर्णन है यह विद्या बाद में विकसित हुई है, अतः बाद में जोड़ी गई ! धन्य हो। इस अक्षर और क्षरविद्या का विवेचन तो इसी सूक्त के ३९ (ऋचो अक्षरे) और मंत्र ४१ (गौरी…सहस्राक्षरा परमेव्यो-मन्) में—जिन मत्रों को ये प्राचीन बता चुके हैं—स्पष्टतः पूर्णतः दे दिया गया है। इस ४२ वें मंत्र में इनके सम्बन्ध को अवशिष्ट विशिष्ट बात बताई गई है। और मंत्र ४३ के उक्षा नामक वृषभ को जिसका वर्णन कई स्थलों में आने के समान ऋ० वे० १०-२८, १०-२७ में भी मिलता है - समझने की शक्ति इनमें नहीं है, कि यह मंत्र क्या कह रहा है ? ये उसका क्या अर्थ समझे हैं ? इन दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है (आगे इसका अर्थ देखें)। अतः इसके सम्बन्ध की इनकी बातें इनकी ही बड़ी भारी पोलें खोल रहे हैं। मंत्र ५० वां पुरुष सूक्त में मिलता है। यह मंत्र मूलतः इसी सूक्त का है, उसे पुरुष सूक्त में अपनाया गया है, न कि इसके उलटे। क्योंकि इसका सम्बन्ध साक्षात् योग से साध्या और आङ्गिरसों के योग से है (ऐ० ब्रा० देखें)। मत्र ४१ में सरस्वती का वर्णन मंत्र ३५ के 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम' के 'वाचः' का सरस्वती रूप में वर्णन देता है, स्तुति प्रार्थना नहीं; यह वाक् धेनु रूप विवेचन है जो उपनिषदों में अतीव प्रसिद्ध है, वाचमष्टापदी' का भी है जिसको माता और वत्सरूप में इसी सूक्त में दूसरे ढंग से पहले व्याख्यात किया गया है, ८, ९, १०, २६, २७, २८, २९, ४०, ४१, ४५, मंत्र सब इसी का वर्णन देते हैं। यहां अवशिष्ट रूप का वर्णन दे देना अभीष्ट है। ऋ० वे० १०-१३१ में भी पाये जाने वाले विषय के मन्त्र ४४ के 'त्रयः केशिनः' का वर्णन वैदिकों के ऋतुमय-ऋतुमय अग्नि वायु आदित्य के मूल दर्शन की एक झांकी देता है, जिनके त्रिवृत् को यहां केशी नाम दिया है। यह पुरानी, बहुत पुरानी बात है। अतः यह सूक्त पूरे ५२ मन्त्रों का ही मौलिक रूप में था। प्रत्येक मन्त्र आदि से अन्त तक एक सूत्र और एक शृंखला में बँधा है।

टिप्पणी॥ इस प्रकार इन ११ मन्त्रों के निर्णीत देवताओं की सत्यता को उचित रूप से स्थापित कर देने पर यह सिद्धान्त भी निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत हो गया है कि मन्त्र का देवता वह होता है जिसका उस मन्त्र में प्राधान्यतया विवेचन दिया या किया गया है, न कि वे सब देवता, जिनके नाम उस प्रधान

देवतारूप तत्त्व की व्याख्या पूर्णरूप से देने में सहायक या गौण रूप में लाना आवश्यक हो गया था। कुछ ऐसे ही भोले या भूले भटकों ने मन्त्रों के ऐसे ही सहायक या गौण रूप में आये देवताओं के नामों से ठगाकर उन्हीं को तत्तद् मन्त्रों का देवता घोषित कर डाला है। इस लाचारी से इन देवताओं के नाम पहले बतलादेनेपर भी प्रत्येक मन्त्र के देवता नाम यहां पर मन्त्रशः दे देना आवश्यक हो गया है। क्योंकि इसके बिना पाठकों के भ्रम को हटाने का दूसरा द्वार ही नहीं दीखता।

मन्त्र १—अग्निः। मन्त्र २,३ (मुख्य प्राण या अमृत प्राण रूप) अश्वः या अश्वाः (रथ इनका शरीर है गौण है)। मन्त्र ४—कः प्रजापतिः (इसमें कः प्रजापति का अग्निर्विद्वान् के पास प्रश्न करने जाने का कारण बताया है जो गौण है)। मन्त्र ५,६,७ पाकः कः प्रजापतिः (अग्निर्विद्वान् से प्रश्न करता है) जिनके बारे में प्रश्न हैं वे गौण हैं एक-एक मन्त्र में कई-कई भी हैं। मन्त्र ८,९,—माता पृथिवी मही (शेष देवता इसी की व्याख्या में सहायक हैं) मन्त्र १०—(अनिरुक्ता वाक् का पुत्र) सोम (शेष गौण हैं)। मन्त्र ११,१२,१३—संवत्सरात्मा (ब्रह्म)। मन्त्र १४—चक्षुः (सूर्यः)। मन्त्र १५—दैव्याः ऋषयः। मन्त्र १६—पुमान् [पुरुष अग्निः—'पिता देवानां पुत्रः सन्' = 'स पितुष्पिता सत्' (ऋ० वे० १-६९-१(२)) योग में] मन्त्र १७,१८—कः प्रजापतिः (प्रश्नकर्ता)। मन्त्र १९—अग्निर्विद्वान्—उत्तरदाता (तीनों में योग का वर्णन, समाधि में वार्तालाप या प्रश्नोत्तर) मन्त्र २०,२१, २२—चतुष्पदी गायत्री और अग्नीषोमौ। (सुपर्ण छन्दःशरीरी अग्नि हैं, अमृत मधु पिप्पल आदि सोम है)। मन्त्र २३, २४, २५—ग्ना देवपत्न्यः छान्दसी देवियां (गायत्री प्रभृति) (अग्न्यादि देव इसमें गौण हैं)। मन्त्र-२६, २७, २८—अदितिः (द्यावापृथिवी) गौः। मन्त्र-२९,—वाक् धेनुः। मन्त्र ३०—प्राणः (वायुः 'एको देवः स वायुः' बृह-उप)। मन्त्र-३१—विष्णुः या त्रिपादामृत अग्निः (गोपाः)। मन्त्र ३२-३३,—प्रजापतिः कः (प्रश्न कर्ता पाकः कः की उत्पत्ति का वर्णन उसी को अग्नि बता रहा है, कि तुम ऐसे जन्मे)। मंत्र ३४—कः पाकः प्रजापतिः (प्रश्न कर्ता; प्रश्न अग्नि से)। मन्त्र ३५—अग्निः (उत्तर दाता)। मन्त्र ३६—रेतः (सोमः)। मन्त्र ३७, ३८—वाचः (प्राणाः)। मन्त्र ३९-(अक्षर ब्रह्म) विद्या (ॐकार)। मन्त्र ४०—अघ्न्या (अदिति द्यावापृथिवी) गौः। मन्त्र ४१—गौरी (सहस्राक्षरा वाक्, आपो देव्यः)।

यहाँ तक यह सूक्त समाधि यज्ञ का ब्रह्मोद्य सा है जिसमें मुख्यतः दो पात्रों—कः या पाकः प्रजापति और अग्निर्विद्वान्—का पारस्परिक प्रश्नोत्तरी कथो-

पकथन है। अतः पूरे सूक्त के मुख्य देवता यही हैं अन्य देवताओं को मन्त्र में प्राधान्य पाने के कारण सन्दर्भ बल से निर्धारित कर दिया है जिन्हें विश्वे-देवता इसीलिए कहा जाता है कि समाधि में इन्हीं की जागृति या आहुति की जाती है और इनके बिना योग असाध्य है।

मंत्र ४४—अग्निः सूर्यः वायुः। इस मंत्र के 'त्रयः कोशिनः' नाम कुछ लोगों को नये जचे हैं। यह शब्द ऋग्वेद में १-६-७; १–१६–४ से १०-१३१ तक १४ बार आया है। इसका अर्थ कपर्दी है जिसको उपनिषद् त्रिवृत् कहते हैं। अतः यह नवीन नहीं बहुत प्राचीन है। प्राचीनों ने त्रिपादामृत को त्रियुग या तीन मुख्य ऋतु रूप केशी या कपर्दी रूप में वर्णित करके इनका क्रम से अग्नि वायु आदित्य से तादात्म्य किया है। कोई नई बात नहीं है।

मंत्र ४५-वाक्, यह तो स्पष्ट ही है। इसमें सन्देह का अवसर नहीं है। यह भी त्रिपादामृत को तीन पदों को (तीन केशी रूपों को) गुहास्थ मानता है। यह पद वर्णना है, पाद वर्णना नहीं।

मंत्र ४६, ४७-सूर्य। मंत्र ४६ में तो १० देवताओं के नाम हैं। यदि मंत्र में आये नाम ही मंत्र के देवता होते तो मंत्र ४६ के देवता इन्द्रादि १० कहे जाते। पर इसमें इन दशों से भिन्न केवल एक ही 'सूर्य' को—जिसका इस मंत्र में कहीं नाम नहीं है—इस मंत्र का देवता माना गया है। इसके यह माने होता है कि यह चतुष्पाद्ब्रह्म रूप अग्नि या सूर्य का वर्णन देता है जिसको विभिन्न शैलियों में उक्त १० देवताओं के नाम से पुकारा जाता है। यास्क ने इसका देवता अग्नि ही माना है। ये अग्नि के ही विभिन्न नाम हैं। इस मंत्र में दिव्यः सुपर्ण और गरुत्मान् का नाम आया है। दिव्य, सुपर्ण चन्द्रमा या सोम है, गरुत्मान् सूर्य है। मंत्र ४७ में भी इसी सुपर्ण गरुत्मान् का वर्णन है अतः इसका देवता भी सूर्य ही हुआ। इस मंत्र में तो आपः, द्यौ, पृथिवी, धृतं. ऋत नाम भी हैं, पर ये नाम सुपर्ण सूर्य की व्याख्या के लिए गृहीत हैं। अतः वे इसके प्रधान विषय न होने से इसके देवता नहीं हो सकते।

मंत्र ४८-संवत्सरात्मा कालः—इसका देवता कलामय संवत्सर (या सूर्य ही) है जिसे संवत्सर (रूप 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च') या आत्मा (रूप सूर्य) कहते हैं। सृष्टि का विकास या अतिसृष्टि की अनुभूति बिना इन कलाओं की सीढियों को माने या अपनाये वैज्ञानिकतया न बैठ सकती है, न हो सकती है। अतः यह यहाँ पर बिलकुल सम्बद्ध विवेचन है जो इसे असम्बद्ध समझते हैं व इस विषय को नहीं समझ सके हैं, इसमें सन्देह नहीं।

मंत्र ४९ सरस्वती–यह पहले वर्णित गौरी वाक् की सलिलात्मा की नदी रूप विकास धारा वाहिनी रूप सरस्वती सरोवरमूलवती रसवती वाक् धेनु है जिसके चार स्तनों में से अन्तिम चतुर्थ स्तन का अवशिष्ट विषय का विवेचन देना इसमें आवश्यक हो गया था।

मंत्र ५०-साध्या देवाः—यह वाक् के विकास का मूल आधार रूप छन्दोमय देवताओं का विवेचन है। इनका वर्णन पद वर्णन में ('निहितं पदं वेः' के उत्तर में) किया जा चुका है, यहां इनको 'साध्या देवा' इनके पृथक् प्रसिद्ध नाम से व्याख्यात किया गया है जिससे वाक् का वर्णन सर्वाङ्गीण हो जाय। साध्या-देवा नाम छन्दाक्षरों में विकसित देवताओं का भी नाम है इन्हें योगी के रूप में ही वर्णित किया जाता है, यहां भी किया भी गया है। यह सूक्त योग प्रधान है, इसलिए भी इसका विवेचन आवश्यक था। पुरुष सूक्त में इसे यहीं से उधार लिया गया है। वहां यह छन्दाक्षरीय विकास रूप 'यज्ञ' नाम से उचित रूप में गृहीत किया गया है, वह यज्ञ भी योगयज्ञ ही है।

मंत्र ५१—आपः पर्जन्य अग्नियाँ—इसमें मुख्यतः आपः का वर्णन है, उसके दो रूपों में अग्नि और पर्जन्य आपः है, सूर्य नहीं। अहः नाम दिन वाचक है, अन्य दोनों का नाम और इनका प्रधान वर्णन भी इसमें है ही। इस मंत्र के बारे में आत्मानन्द टीकाकार और शौनक ने व्यर्थ में उलझन पैदा कर दी है। वे इसे अध्यात्म या आत्मा देवता का मंत्र समझते हैं। उन्हें अध्यात्म शब्द का ही अर्थ विदित नहीं है। इसका अर्थ देवता नहीं देवता का शरीर वाक् चक्षु आदि होता है। यहां सूर्य देवता नहीं है, निरुक्त (७–२३) इसे वैश्वानर कहता है। स्कन्द का इसे अधियज्ञ कहना भी अनुचित है। अधियज्ञ नाम तो पुरुषोत्तम प्राण का है, 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' (गीता)।

मंत्र ५२—सरस्वान् या सूर्य—यहां सुपर्ण नाम सूर्ण का है ही, वास्तव में यहां सरस्वान् का वर्णन प्रधान है अतः यही इसका मुख्य देवता है। वैसे सुपर्ण के साथ वायस भी इसमें गौण रूप में वर्णित है।৯

अब प्रश्न यह है कि इस सूक्त के ४१ मंत्रों के देवताओं को एक नाम से—विश्वेदेवता नाम से—क्यों पुकारा है? विश्वेदेवता क्या तत्त्व हैं? यदि यह विदित हो जाय तो सब समस्या सुलझ जाय। विश्वेदेवता वे देवता हैं जो भौतिक आत्मा के खोल को पहन चुकते हैं। दूसरे शब्दों में विश्वेदेवता माने वे देवता हैं जो विभिन्न प्राणों की आत्मा या देवता हैं। देवता माने आत्मा है, विश्वे माने भौतिकात्मीय शरीर या प्राण। यह सूक्त प्रायः योगमार्ग की व्याख्या

देता है। योग में इन्हीं देवताओं की जागृति या उद्दीप्ति या अनुभूति की जाती है। अतः इस सूक्त के प्रधान देवता वे ही विश्वेदेवता हैं जिनके नाम तत्तद् मंत्र में उद्धृत किये गये हैं। इन सभी विश्वदेवताओं में दो मुख्य देवता होते हैं जिन्हें अग्नि (विद्वान्) और कः या पाकः प्रजापति कहते हैं। इस सूक्त के मंत्रों का वास्तविक विषय-जैसा बताया जा चुका है—इन्हीं दो के प्रश्नोत्तरों का शरीर है। अतः इस सूक्त के मुख्य देवता ये ही अग्नि और प्रजापति ही हैं। अन्य विश्वेदेवता पृथक् पृथक मन्त्रों के विषय हैं जो मन्त्रों की व्याख्या में ही स्वतः स्पष्ट हैं, उनके नाम यहां पर लिखना व्यर्थ में कागज पोतना सिद्ध होगा। इसी धारणा से सर्वानुक्रमणी ने भी प्रत्येक मन्त्र के देवता का नाम देने की आवश्यकता नहीं समझी जिसका मतलब भोले लोगों को यह लगा है कि इनकी दृष्टि से इस सूक्त के संकलनकर्ता को इसके प्रत्येक मन्त्र के देवता का ज्ञान नहीं था, वाह! क्या कहने हैं, उन्हें पता नहीं है जो रचना कर रहे हैं, और इन्हें पता है जो उन मन्त्रों के आशयों को ही रत्तीभर भी नहीं समझ सके हैं? हद हो गई!

अनुक्रमणिका का अनुसरण करके मुद्रित ग्रन्थों ने मंत्र ४२ से ५२ तक के ११ ऋचाओं के देवताओं के नाम इस प्रकार दिए हैं। मंत्र ४२—वाक् आपः, समुद्र और अक्षर। इसमें ससुद्र और अक्षर नाम तो मंत्र में हैं, आपः और वाक् नाम इसके पूर्ववर्ती मंत्र के सन्दर्भ से प्राप्त अर्थ की सन्तान से गृहीत हैं। इसका यह आशय होता है कि अनुक्रमणी इस मंत्र को ४१ मंत्रों से पृथक् नहीं, उन्हीं से सम्बद्ध या ग्रथित मानती है। यदि मन्त्र में आये नामों को ही देवता माना जाना अभीष्ट होता तो इस मन्त्र में आये 'प्रदिशः' शब्द से इसके देवता दिशायें भी होनी चाहिए। ऐसा नहीं किया गया। अतः मन्त्र का वही देवता माना जाता है जिसका उसमें प्राधान्यरूप से वर्णन हो। मन्त्र-४३—शकधूम और सोम। यहां पर शकमयं या धूम या भौतिकता का प्रथम आभास तथा उसके पाक से निष्पन्न 'उक्षा' या सोम ही इस मन्त्र का मुख्य विषय है। अतः इन्हीं को इसका देवता माना गया है, नहीं तो वीराः (प्राणाः) और धर्माणि को भी देवताओं में गिनना आवश्यक होता। जिनको वैदिकदर्शन के मौलिक तत्त्वों का ज्ञान नहीं है वे इस उक्षा को नहीं समझ पाये हैं। उक्षा माने वीर्य सिंचन समर्थ महाबली युवातम सोम रूप वृषभ है। उसको न तो जिन्दा न मारकर पकाया जाता है, पर उसको बालक या बाली की तरह परिपक्व युवातम रूप में भरपूर जवानी के रूप में पकाया या परिपक्व बनाया जाता है, इसी का वर्णन १०-७८-३ में आ गया तो क्या हुआ, इसी

प्रकार के वर्णन सैकड़ों स्थलों में हैं। उक्षा का नाम ऋग्वेद में ३० स्थलों में आया है, जहां यही अर्थ अभीष्ट है।

पाठकों के समझने की सुविधा के लिए इस सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या में मन्त्रों के क्रम में कुछ हेर फेर किया गया है। जैसे मन्त्र २, ३ के विषय और मन्त्र १३, १४ के विषय में कुछ कुछ समानता है, अतः मन्त्र १३, १४ को मन्त्र २, ३ के साथ साथ व्याख्यात किया गया है। इन्हीं चार मन्त्रों के अनुरूप विषय वाले मन्त्र ११, १२, और ४८ भी हैं। अतः इन्हें भी इन्हीं उक्त चार मन्त्रों के तुरन्त पश्चात् साथ-साथ वर्णित कर दिया है। फिर मन्त्र ४ से १९ तक का विवेचन लगातार क्रमबद्ध दिया गया है। पर मन्त्र १९ वें में कुछ विषय ऐसा आया है जिसका विशिष्ट विवेचन मन्त्र ४९ में मिलता है। अतः इस ४९ वें मन्त्र को मन्त्र १९ वें के साथ साथ विवक्षित कर दिया गया है। मन्त्र २०, २१, २२ के व्याख्यान में मन्त्र २० के पश्चात् पहले मन्त्र २२ तब मन्त्र २१ की व्याख्या दी गई है। क्यों कि विषय के अनुसार यह क्रम उत्तम जचा है। इनमें सुपर्णों का वर्णन है। पर 'एकः महासुपर्णः' का वर्णन मन्त्र ५२ में तथा कई सुपर्णों का मन्त्र ४७ में मिलता है। अतः इनका व्याख्यान इन्हीं तीन मन्त्रों के सन्दर्भ में मन्त्र २१ के पश्चात् मन्त्र ४७ का, तदनन्तर मन्त्र ५२ का औचित्य और विषयानुरूपता के कारण किया गया है। क्योंकि इन सुपर्णों के मुख्य शरीर छन्दोमय देवताओं का वर्णन मन्त्र २३, २४ और २५ में दिया गया है। इसके पश्चात् २६ वें से व्याख्या क्रमबद्ध है, केवल उनको छोड़ कर जिनका व्याख्यान पहले दे दिया गया है। व्याख्या के इस क्रम का कोई दूसरा आशय न लगा देने की प्रार्थना है। सब मन्त्र अपने अपने वास्तविक क्रम और स्थान में उचित रूप से पिरोये हुए हैं। जिनको यहां विषय की समानता या अनुरूपता के बहाने उक्त क्रम में रखा गया है वे अपने अपने स्थान में अपने अनुरूप या समान विषय वालों (जिनके साथ उन्हें यहां रखा गया है) से नितान्त विभिन्नता और विषमता भी रखते हैं, पुनरुक्ति किसी में नहीं है, एक ही विषय को नाना पहलुओं में रखकर प्रस्तुत किया गया है। उक्त क्रम केवल पाठकों की मात्र सुविधा के लक्ष्य से रखा गया है, और व्याख्या में भी एक ही बात बार-बार दुहराने की बचत भी हुई है।

मन्त्र १ "अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥"

इस मन्त्र और आगे के मन्त्र १६, में जिस 'पुत्रः' और ९, २७, २८ में जिस वत्स नाम की चर्चा आई है वह कौन पुत्र है? इसका स्पष्टीकरण दीर्घतमा ऋषि ने अपने इस सूक्त के सर्वप्रथम मन्त्र में ही दे रखा है। ये पुत्र रूप तत्त्व एक नहीं, सात हैं। इन सात पुत्र रूप तत्त्वों को दीर्घतमा ऋषि ने

योग प्रक्रिया द्वारा साक्षात् अपनी ज्ञान या योग चक्षुओं से देखा था, अतः वे स्पष्ट लिख भी गये हैं 'अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्' कि मैं ने योगस्थिति में या योग की परिस्थिति में विश्पति या प्रजापति (चन्द्रमा सविता देवता) को अपने सात पुत्र रूप सात प्राणों या सप्ताङ्गिरस (ऋषियों जिनको 'स्त्रियः सतीस्तां पुंस आहुः' कह गया है) सहित देखा था। इन्हीं पुत्ररूप प्राणों से इन प्राणों या देवता रूप पुत्रों की अतिसृष्टि करने पर योग में इन्ही पुत्रों को देवताओं का पितर कहा जाता है।

वाम तत्त्व क्या है ?—इस सूक्त का 'वाम' तत्त्व क्या है ? यह भी एक पहेली सी है। ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग ५५ बार हुआ है जिनमें से ४९ बार अकेले तथा छह बार वामजाता, वामदेव, वामनीति और वामभाज रूप में प्रयुक्त मिलता है। इन सब प्रयोगों से यह वाम तत्त्व सर्वा देवता रूप में प्रयुक्त मिलता है क्योंकि कहीं इसको 'शेवम् अतिथिम्' कहा है, कहीं गृहपति, सुवितम्, द्रविणम्, 'वामस्य वेः' कहीं (वामस्य) 'ओजः' शुष्णम्, वसुनः, क्षत्ता, प्रणीति, वामभाजः, भक्तये, इत्यादि; कहीं 'ईशानासः' वामाया स्तोमं चिकेत, वामिः प्रणीतिः, वामिः ईशः, तथा दो स्थलों में 'वामा विश्वा', तीन स्थलों में 'वामनि विश्वानि धीमहि' लिखा है, एक स्थल में 'वामं वामं' त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगा वामं देवः करूलती॥ (ऋ० वे० ४-३०-२४)। इसमें प्रत्येक देवता को वाम कहा गया है। प्रत्येक देवता तो वाम वमनीय दैवी है, भौतिकात्मा उसका दक्षिण है, उत्तरोत्तर के विकसित देवता भी पूर्व पूर्व के दक्षिण ही हैं। द्वित्वरूप में, एक स्थल में 'वामेन सह' तथा इस प्रस्तुत मन्त्र में तो 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः' इत्यादि के द्वारा इसके चार भाइयों का वर्णन दिया मिलता है। अतः इसका सर्वादेवता रूप का वर्णन निर्विवाद रूप में सिद्ध हो जाता है। वैसे वामदेव नाम एक प्रसिद्ध तत्त्व रुद्र का भी है, वह भी सर्वा देवता है, ईश्वर ईशान ईश यही तत्त्व है, इसी को 'महो देवो' या 'महादेवो' 'महान्देवो' 'वाक् वृषभः' कहते हैं। दूसरे 'वामदेव' नाम एक प्रसिद्ध ऋषि का भी है, पर यहां पर यह उस प्राण रूप ऋषि के प्रतीक में माना जा सकता है जो यह कहता है कि "गर्भेनुसन्नन्वेषा मवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्॥" (ऋ० वे० ४-२७-१) 'गर्भं एतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" (ऐत० उप० २-१, बृह० उप० २-५, ऐत० आ० २-२५)। अथवा यह वह वामन है जो "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥" (कठ २-२)। प्राणों के बारे में यही भाव श० प० ब्रा० (५-१-४-१०) ने 'प्राणो वै समञ्चन प्रसारणम्'

वाक्य द्वारा दिया है। वामन का स्थान मध्य नहीं किन्तु वह सर्वतः है। उसने प्रथम भाग के (गायत्री के तीन पादों को वाम पाद से और उत्तर भाग के तीन भौतिक (शाक्करी गायत्री) पादों को दक्षिण पाद से नापा है, इस प्रकार पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों अर्द्धों में व्याप्त होकर यह अखिल ब्रह्माण्डरूप वामन या वाम है, अखिल ब्रह्माण्ड का केन्द्र विन्दु सा है, दोनों पादों से खड़े मान कर उसे मध्य में धड़ रूप में खड़ा या ऊर्ध्व दिशा में खड़ा सा कहा गया है। वास्तव में ब्रह्माण्ड या वामन तो 'चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तम्' (ऋ० वे० १–१५८–६) के समान है (खड़ा पड़ा लम्बा चौड़ा नहीं वरन्) ३६० अंश के महावृत्त के समान है जो चार समकोण ९०, ९० के अंशों में बँटा है। यह तो इसके ब्रह्माण्डीय स्वरूप का वर्णन है।

अभी यह देखना तो रही गया है कि इसका नाम वाम या वामन या वामदेव क्यों पड़ा है ? वाम नाम की व्युत्पत्ति 'य ऊर्णनाभिरिवाखिलं ब्रह्माण्डं वमति उद्गिलतीति वामनो' या 'वा विकल्पेन मनो, मनोब्रह्माण्डं वा' 'स वामनः वामो वा' है। अर्थात् जो तत्त्व ऊर्णनाभि की तरह मुख से लार टपका कर सृष्टि रूप जाल का निर्माण करता है या जो विकल्प रूप से मनोब्रह्माण्ड या ज्ञान का ब्रह्माण्ड है वह वाम है। दूसरी स्थिति यह है। पद या पाद विकास में, प्रथम पद या पाद से द्वितीय पद या पाद का विकास होता है, द्वितीय से तृतीय, तृतीय से चतुर्थ आदि का। द्वितीयादि पद या पादों के विकसित हो जाने, पर प्रथम पद या पाद लुप्त या गुप्त नहीं होता, वह जितने भी पदों या पादों का विकास होता है उनके साथ-साथ रहता है। यह स्वयं अपने वाम (सव्य वायें) स्थान में नित्य रूप से (१ १२ १२३ १२३४ १२३४५
।, ।।, ।।।, ।।।।, ।।।।।) रूप में वर्तमान रहता है। यह प्रथम पद या पाद सदा एक ही रहता है, एकमेवाद्वितीयं ही रहता है द्वितीयादि पाद इसी में, या यह इन द्वितीयादि पद या पादों में सदा व्याप्त होकर 'एक' ही रहता है जैसा कि बृह० उप० ने 'त्रिपाद' के वारे में लिखा है 'एकः सन्नेतत्त्रयम्'। सदा पूर्व-पूर्व का ही प्राधान्य रहता है, प्रथम वामतम का प्राधान्य सब में रहता है, प्रथम पद या पाद में वह अकेला वाम, पलित शुक्लकेशी (त्रयः केशिनः में प्रथम केशी या वसुरूप देवता) कहलाता है; द्वितीय पद या पाद में वह दूसरे से युक्त होकर 'होता' रूप का रुद्र देवता (द्वितीय केशी कपर्दी) हो जाता है जिसके बारे में यजुर्वेद ने लिखा है "येनेदंभूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु।" तृतीय पद या पाद में वह प्रथम दो के 'वाम'

रूप में प्रस्तुत होकर, तृतीय पद या पाद की अन्तिम सीमा में घृत नामक चक्षु उपनामक सूर्य तत्त्व को विकसित कर लेने से उसकी पीठ या आसन में बैठा सा प्रतीत होने से घृतपृष्ठ कहलाता है। घृत नाम चक्षु का बतलाने वाली ऋचा यह है 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षु रमृतं म आसन्' (ऋ० वे०)। चौथे पद या पाद में प्रथम तीन मिलकर चौथे के वाम बन जाते हैं। वास्तविक वाम तत्त्व इन्हीं तीन पद या पादों तक के वाम भाग का तत्त्व है। अर्थात् यहां तक के सब तत्त्व पूर्वार्द्ध के अमृत हैं। चौथे पाद से उत्तरार्द्ध लग जाता है, वहां के सब तत्त्व दक्षिण या दक्षिणा कहलाते हैं। यही वाम दक्षिण का मुख्य भेद है। चौथा भौतिक मर्त्य नामक तत्त्व अश्नः या मध्यमः (२५वां) तत्त्व कहलाता है, 'अश्नः' माने 'अशनाया' होता है 'अशनाया' नाम मृत्यु मर्त्य रूप 'आपः' (प्राणस्यापः शरीरं) का है, यह बृह० उप० (१–२–१, २) ने स्पष्ट लिखा है "नैवेह किञ्चनाग्र आसी 'मृत्युनेवैद-मावृतमासीदशनायया, अशनाया हि मृत्युः" तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्क्यस्यार्कत्वं कं हवा अस्मै भवति य एवमेतदर्क्यस्यार्कत्वं वेद ॥ आपो वा अर्कं तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्तताग्निः ॥"

इस 'अशनापिपासे' का सब से अच्छा विविक्त वर्णन छा० उप (६ ८) ने दिया है। लिखा है कि जिस प्रकार गाय को ले जाने वाले को गोनाय, अश्व को ले जाने वाले को अश्वनाय और पुरुष को ले जाने वाले को पुरुषनाय कहते हैं उसी प्रकार 'आपः' ले जाने वाले या आप रूप में प्रस्तुत होने वाले को 'अशनाय' नाम से पुकारते हैं, अर्थात् जो तत्त्व 'आपः' रूप में प्रस्तुत होता है उसे अशनाय कहते हैं क्योंकि कोई तत्त्व बिना मूलस्रोत के उत्पन्न नहीं हो (सक) ता। इसी प्रकार जब पुरुष प्यासा होता है तब यह उक्त आपः रूप तत्त्व को तेज रूप से पीता है तब उसे 'उदनाय' या उदन्या कहते हैं, तेज का ही नाम उदन्य या उदन्या है, तेजोरूप शुङ्ग या अङ्कुर ही उदनाय या उदन्या कहलाता है। अतः उदनाय (तेज का नाम) गोनाय अश्वनाय पुरुषनाय की पद्धति में पड़ा है जैसे "अशना पिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशि-शिषति नामाप एव तदाशिशिषति तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षते अशनायेति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं सौम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ……'यत्रैत्पुरुष; पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥"

कहने का तात्पर्य यह है कि सब से प्रथम पद या पाद तो सदा शुद्ध वाम रूप में चारों या पाचों पदों या पादों के वामतम भाग में वर्तमान रहता है। वह केवल वाम नाम से ही पुकारा जाता है, वही प्रथम पाद में पलित या पुराण पुरुष या प्रथम पलित केशी पुरुष है। द्वितीय पद या पाद में प्रथम तो वाम ही रहता है द्वितीय को 'होता' कहते हैं, तृतीय में उक्त दोनों वाम हो गये तीसरा घृतपृष्ठ कहलाता है। चतुर्थ में ये तीनों वाम हैं चौथा मध्यमः या अश्नन् या अशनाय या अशनापिपासे कहलाता है। यजुर्वेद ने इन चारों को क्रम से बन्धु सुबन्धु प्रियबन्धु और विश्वबन्धु के नाम से पुकारा है। ये चारों मिलकर चतुर्थपाद में चतुष्पाद्ब्रह्म की रचना करते हैं। अब ऋचा का अर्थ दर्पणवत् उज्वल है। "अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्टो ॥" इस वाम नामक सर्वा देवता का, और उस (तस्य) पलित नामक प्रथम पदीय या पादीय वाम का तथा (तस्य) उस द्वितीय पदीय या पादीय 'होता' का मध्यम या दर्शन के मध्यभाग में स्थित घृत रूप चक्षु रूप भौतिकात्मा की पीठ रूप भाई का नाम अश्नः या अशनाय या अशनापिपासः या अशनाया है; और इन तीनों भाईयों का तीसरा भाई घृतपृष्ठ या उस घृत रूप चक्षु की पीठ या भौतिकात्मा की पीठ में या आसन में या शरीर में बैठा हुआ है (घृत नाम की पीठ ही मध्यम भ्राता अश्नः है)। घृतपृष्ठ नाम विश्वानर या आदित्य का है। वाम या पलित अग्नि का प्रतिनिधि है, 'होता' नामक तत्त्व वायु या रुद्र का प्रतीक है। अश्नः नाम चक्षुः सुपर्ण सोम का है। चक्षु या चक्षुओं के घृत शरीर में पीठ में सूर्य या आदित्य या विश्वानर बैठा है। ये चारों मिलकर वैश्वानर या चतुष्पाद्ब्रह्म की रचना करते हैं। वैश्वानर का स्थान दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध या उत्तरार्द्ध है, वह पूर्वार्द्ध के विश्वानर या सूर्य से सम्बद्ध होकर सप्राण होता है अतः लिखा है कि 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' कि वैश्वानराग्नि अपनी ज्योति को सूर्य से पाता है। 'अत्रापश्यं विश्पति सप्तपुत्रम्'—यह पद इस ऋचा का प्राण है आत्मा है। इसी के भाव को स्पष्ट करने के लिए पूर्व व्याख्यात पादों के विषय को भूमिका रूप में दिया गया है। 'अत्र' माने घृतपृष्ठे' हैं। घृतपृष्ठ में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध या अभौतिक और भौतिक दोनों का सम्मिलन है। इसी का नाम प्रजापति भी है। यही विश्पति या प्रजापति है। उसके घृतात्मा या चक्षुरात्मा या भौतिकात्मा में उस विश्पति के सात पुत्रों को दीर्घतमा ऋषि ने साक्षात् अपनी आंखों से (योगद्वारा) देखा था। इसी दर्शन या योग पक्ष की विवेचना देना इस ऋचा का मुख्य ध्येय है। इसी भाव में अवधारण दिया है कि 'मैंने यहां विश्पति के सात पुत्रों को साक्षात् देखा'। इन सात पुत्रों के

कई नाम हैं। इन्हें 'सप्तविप्राः' 'सप्त ऋषयः' 'सप्ताङ्गिरसः' अङ्गानि, सप्ताङ्गानि, 'सप्तप्राणाः' 'सप्तर्चयः' 'सप्तहोमा'' इत्यादि कहा जाता है। यह भौतिकात्मा के उदय का उषाकाल है; उषा से इन सात विप्रों की उत्पत्ति बतलाई है 'अधा मातुरुषसः सप्तविप्रा जायेमहि' (ऋ० वे०) और इसी उषा से इस भौतिक जगत् की रचना के आरम्भ को ऐ० ब्रा० भी बतलाता है "ऊषो हि पोषो, ऽसौ वै लोक इमं लोकमभिपर्यावर्तत ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां न द्यावान्तरिक्षान्नान्तरिक्षाद्भूमिः ।।" (४-४-२७)

ये सात तपस्वी ऋषि तो वही सात प्राण हैं जिन्हें अङ्ग या अध्यात्म रूप में वाक् मनः प्राण चक्षु श्रोत्रं आत्मा त्वक् (शिरः हस्त पाद हृदय) आदि नामों से पुकारा जाता है। ये सब अङ्गरूप हैं, अतः इनको अङ्गिरा या आङ्गि-रस ऋषि या प्राण भी कहते हैं। ये प्राण ही समाधि या योग से त्रिपादामृत या प्रथम तीन भ्राताओं के सम्मिलित स्वरूप प्रजापति का दर्शन करते हैं; जिस समय इसकी अनुभूति की जाती है उस समय की यही अनुभूति होती है कि त्रिपादामृत रूप प्रजापति अपने सप्त पुत्रों से युक्त विराजमान है। इसी दृश्य को दीर्घतमा ऋषि ने साक्षात् योगदृष्टि से देखा था उसी को यहां लिख दिया है, जिसे समझाने के लिए आज इतनी छानबीन और उधेड़बुन तथा इतनी विस्तृत व्याख्या देने को बाध्य होना पड़ रहा है। उस युग में ये सब पारिभाषिक शब्द सबको ज्ञात थे, इशारे मात्र से सब समझ जाते थे, उसी संकेत की भाषा में इस ऋचा का आविर्भाव हुआ है। पर उचित वातावरण या सन्दर्भ और विषय को न जानने के कारण अब तक के सभी व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी आधारहीन कल्पनाओं के कनकौवों को यों ही उड़ा दिया है, वे सब व्याख्यायें वैदिक वातावरण की वास्तविक भावनाओं के ज्ञान को प्रस्तुत करने में नितान्त असमर्थ हैं।

अस्यवामीये रथवागादियोगाः

सृष्टि और अतिसृष्टि के दो प्रत्यक्ष पहलू हैं। एक नितान्त अभौतिक या अमृत सृष्टि या अतिसृष्टि है। दूसरी इनसे निर्मित या सृष्टि भौतिक या मर्त्य सृष्टि है। सृष्टिकाल में अभौतिक अमृत से भौतिक मर्त्य तत्त्व की रचना होती है, अतिसृष्टि या योग काल में भौतिक या मर्त्य से अभौतिक या अमृत की सृष्टि की जाती है। इन दोनों प्रकार की सृष्टियों के विवेचन में वैदिक ऋषियों ने जब 'रथ, चक्र, अश्व, भुवन, स्वसृ, नाभि, योनि, नेमि, रजः, असु, असृक्, आपः, मनः, गावः, और वाक् के अनेक नामों तथा उसी में धेनु आदि शब्दों

का प्रयोग किया है तब वे इन सबका प्रयोग भौतिक, मर्त्य, मानुष, नर, ना, नृ या उत्तरार्द्ध या दक्षिणायनीय तत्वों के ही लिए प्राय: करते हैं। क्योंकि पूर्वार्द्धीय तत्त्व तो इन रथादि और गायों का स्वामी रथी, (गायों का सुत या अभिसुत या अतिसृष्ट) वत्स है। इन दोनों का एक साथ सम्मिलित वर्णन अधिकांश में समाधि की जागृत ज्योति का ही चित्र उपस्थित करने के लिए ऋषियों या योगी ऋषियों ने दिया है। ऋषियों ने अपना नाम ही ऋषि या प्राण इसीलिए रखा है कि वे प्राणरूप ऋषि ही सदा अमृतमय ज्योतिरूप (प्राणों के रथ के) स्वामी या वत्स की अति सृष्टि करके प्राणों के रथ में स्वामी रूप ज्योति या प्राणरूप गाय के साथ वत्सरूप ज्योति की प्रतिष्ठा कर गये हैं। रथ की सवारी या वत्स का स्तनपान योग या समाधि की स्थिरता या धारणा का प्रत्यक्ष वर्णन देते हैं। इसे सविकल्पक समाधि का वर्णन नहीं समझना चाहिए। समाधि में ऐसी ही स्थिति होती है, यह समाधि का साकार वर्णन है। ऐसा वर्णन न दें तो लोगों की समझ में—उनकी समझ में जो योग न जानते हैं, न कर सकते हैं, इस समाधि स्थिति का वर्णन किस प्रकार आ सकता। यह वास्तव में निर्विकल्पक समाधि की स्थिति का ही विवेचन है। ऐसी वर्णित स्थिति में उस समय न तो रथ की अनुभूति रहती है न रथयोग की, न योगसरणि की; न वहां आनन्द सा है न पुत्र सा, न पुत्र (वत्स) के प्रेम का आनन्द सा, न वहां प्राणरूप स्त्रियां (जिन्हें वेदों में चर्षण्य:, वृजिनेषु, चर्षणीधृत: आदि नामों से पुकारा है) न हर्म्य प्रसाद न पुष्करिणीयां सरोवर समुद्र आदि। वहाँ तो सर्वैकत्वमय सर्वत: प्रकाशमय: सर्वत: ज्ञानमय अलौकिक अवर्णनीय स्थिति की – ऐसी स्थिति जिसे अनिर्वचनीय अवर्ण्य अचिन्त्य या स्वयं ब्रह्म सम ब्रह्मरूप अखण्ड ज्योति कहना उचित है - साकार अनुभूति या दर्शन या ज्ञानमात्र प्रस्तुत होती है, ब्रह्म भी वैसा ही है अत: लिखा है:—
"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थान: परं तान् सृजते; न तत्रानन्दा मुद: प्रमोदा—तान् सृजते; न तत्र वेशान्ता न पुष्करिण्य:—तानापि सृजते। स हि कर्ता। तत्र श्लोका:—स्वप्नेन शरीरमभि: प्रहत्या सुप्त: सुप्ता नभि चाकशीति। शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मय: पुरुष एक हंस:। प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। य ईयतेऽमृतो यत्रकामं हिरण्मय: पुरुषएक हंस:॥ स्वप्नान्त उच्चावचीयमानो रूपाणि देव: कुरुते बहूनि॥ उतेव स्त्रीभि: सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥ आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन:॥" (बृह० उप० ४-३-१० से १४ तक)। अन्तिम श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि योग में भी उस ब्रह्म के आदिरूप को तो कोई नहीं देख सकता;

यहां तो केवल उसके आराम (आरम्यमाण) बगीचे के प्राणों की फुलझाड़ियों के ही दर्शन होते हैं। वास्तव में रथ नाम योग का है, योग के रथ का है। (ऋ० वे० २-१८ १)

इस रथ की व्याख्या 'देवरथ' नाम से की गई है। वैदिक विश्व दर्शन देखें। इनको देवरथ कहना इसलिए उचित है कि इसके अङ्गप्रत्यङ्ग में देवताओं का निवास है। इसके अङ्गप्रत्यङ्गों का नाम अङ्ग-अङ्गानि अङ्गि, अङ्गिरः अङ्गिरा और अङ्गिरस या आङ्गिरस है। ये सब रसमय हैं, अतः प्राणाः कहलाते हैं। जितने प्राण हैं वे एक ही रथ में हैं, एक ही चक्र में हैं। पर प्रत्येक प्राण भी एक स्वतन्त्र (परतन्त्र तो सब हैं ही) रथ भी है, अतः जितने प्राण हैं उतने ही रथ भी हैं उतने हो प्राण भी हैं। इन प्राणों की गिनती का भी कोई ठिकाना नहीं है। कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन, कहीं चार या कहीं पांच, कहीं छह, कहीं सात आदि दे रखी है। सात प्राणों में छह वागादि और (सातवां) भौतिकात्मा मिलकर सात रथ, चक्र, अश्व (या प्राण) भुवन, स्वसारः, मातरः, वाचः गिरः, धियः, मतयः, हरयः गावः प्रजा विशः कारुः कविः आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

परन्तु इन प्राणों का विवेचन कई प्रकार से किया हुआ मिलता है। इनका रथ भी है, इन्हीं के सारथि भी हैं, इन्हीं के अश्व या वृषभ भी हैं। ऐसी सम्मिलितावस्था में ये प्राण त्रिवृत् का वर्णन देते हैं। रथ तो वाक् है, मनः सारथि हैं, प्राण अश्व या वृषभ हैं। वाक् में वागादि पाचों सब प्राण हैं, मनः में मति, बुद्धि, धी, धियः, स्तुति आदि हैं, और प्राण में प्राण उदान व्यान अपान समान हैं। सात संख्या में वाक् मनः, या मनः प्राण, या प्राण वाक् को इनकी पञ्च पञ्च संख्या में जोड़ते हैं। दो अश्व प्राणोदान हैं, एक केवल सर्वप्राणीय प्राण है। गावः नाम वागादि पञ्च का है, अश्व प्राणोदानादि पञ्च का, और धियः इन दोनों से युक्त मन आदि का तथा धेनु नाम उन दूसरे प्रकार के अङ्गों का जिन्हें शिखा शिर ललाट (भ्रू०) नासिका, मुख, कण्ठ, हृदय, स्तन, नाभि, वस्ति, उदर, गुह्य, हस्त, पादादि कहते हैं। कभी कभी उभय प्राणों को उभय अङ्गुष्ठ, तर्जनी मध्यमा अनामिका और कनिष्ठिका नामक अङ्गुलियों के जोड़ों से संकेतित भी कहते हैं। इनको षडङ्ग न्यास आदि नामों से पुकारते तो हैं पर इनका संकेतित विषय पूर्वोक्त प्राण ही होता है। कभी कभी रथ को नाभि या नेमि रूप में वर्णित करके इन उक्त सब प्राणों को इन नाभि नेमि में अराओं की तरह जड़े या जुड़े भी बताया जाता है। जहां पर त्रिनाभि का विवेचन आता है वहां पर त्रिवृत् रथ को त्रिनाभि कहकर एक नाभि में वागादि दूसरे में मनः शिर आदि अंग, तीसरे में प्राणोदानादि प्राणों को अरओं की

तरह सम्मिलित समझा जाता है। या वाक् मनः प्राणः नाम के तीन प्राण जिन्हें प्रथम मध्यम और उत्तम प्राण कहते हैं या त्रिलोक के तीन भाग (१) पूर्वार्द्ध दिवः, (२) उत्तरार्द्ध पृथिवी और (३) मध्यम आकाश हृदय या अन्तरिक्ष, गर्त विषुवान् इत्यादि नाम की तीन नाभियों में उक्त अराओं को जुड़े या जड़े कहा जाता है। ये सब विषय प्राधान्येन योग या अतिसृष्टि की व्याख्या करते हैं या योग की इतनी सम्मिलित समाधिस्थ स्थिति का विवेचन देते हैं। इस अस्य वामीय सूक्त में इनका विवेचन इस प्रकार दिया गया है।

रथाश्वनाभि योगाः—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रो अश्वो वहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्र मजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ २॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम॥ ३॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थु भुर्वनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥ १३॥
सनेमि चक्र मजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥ १४॥

यहाँ पर जिन सातों को सात अश्व या सात चक्र या पञ्च चक्र नाम से उल्लिखित किया गया है उनका हमारे धुरंधर व्याख्यातारों ने इसी सूक्त के ११, १२ और ४८ मंत्रों में दिये गये चक्रों की संख्या से ही प्रायः तादात्म्य करके ऋषि मनोनीत भावना की व्याख्या में बड़ी भारी गड़बड़ी कर दी है। यदि इन दो प्रकार से उद्धृत मंत्रों का भाव एक ही होता तो इन्हें पृथक् पृथक् देना ही व्यर्थ होता। दोनों स्थलों के विषय एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। प्रस्तुत मन्त्रों में प्राण व्याख्या है तो ११, १२, ४८ मन्त्रों में अक्षरब्रह्म के संवत्सर ब्रह्म नामक विभाजन दिए गये हैं। इन दोनों प्रकार के विभाजनों में आकाश पाताल का सा अन्तर है। प्रस्तुत दो प्रथम मन्त्रों का आशय इस प्रकार का है। इनके विषय को नये रूप में नहीं दिया जा रहा है, यहां पर यह ध्यान रहे कि प्रथम मन्त्र में तृतीय भ्राता को प्रजापति घृतपृष्ट और सप्त पुत्र कहा जा चुका है। अब इन मन्त्रों में इन्हीं भावनाओं को विस्तार से वर्णित किया जा रहा है, प्रजापति अश्व है।

अमृतचक्र (२, ३)

यह अखिल कोटि ब्रह्माण्ड या हमारा शरीर 'एकचक्र' के समान है। इसमें सात प्राण रूप सात अश्व जुते हैं। वास्तव में जिस प्रकार यह सृष्टि या शरीर

'एकचक्र' है, उसी प्रकार इसका अश्व भी एक ही है जिसको 'एको देवः प्राणः स ब्रह्म' (बृह० उप० ३-९) कहते हैं। इसी 'एकोदेवः प्राणः स ब्रह्म' का ही एक अश्व है। वही विभिन्न रूप में विकसित होकर सात नामों को धारण करता है। वे सात प्राण श्रोत्रं त्वक् चक्षुः वाक् प्राण, मनः और आत्मा (सोम) हैं। या मनः सोम के साथ प्राण उदान व्यान अपान समान हैं। इस 'एकचक्र' में तीन नाभियां त्रिवृत् या तीन लोक (पिछला पृष्ठ देखें) हैं या प्रथम मध्यम और उत्तम प्राण नामक 'वाक् मनः प्राण' का मौलिक और विकसित दोनों प्रकार का त्रिवृत् है। इन्हीं को 'अग्नि इन्द्र और पुरुष'; या 'अग्नि वायु आदित्य' आदि कहते हैं। ऋ. वे. १-३४ में इस त्रिवृत् की उत्तम व्याख्या दी है और वैदिक विश्व दर्शन का त्रिवाद देखें। (यह 'त्रिः सप्त वाद' नहीं है)। यह चक्र अजर है, अक्षिति है, अनश्वर है, और 'त्रिनाभि चक्र' में अश्व जुतते ही नहीं। यह तो स्वयं चालित है 'अनर्वं' या 'अनश्वं' है। इन्हीं तीन नाभियों के या सप्ताश्वीय 'एक चक्र' में अखिल (सात) भुवन मौलिक (बीज) रूप में निवास करते है। यहाँ पर सप्ताश्वीय 'एक चक्र' और त्रिनाभीय चक्र में भी पुल्लिग और नपुंसक लिङ्ग के अन्तर के साथ-साथ दूसरे को 'अजरं' कहा है प्रथम को कुछ नहीं, क्योंकि वह मर्त्यामर्त्य है। नाभियां तो अमृत ही हैं, पर सप्ताश्वीय एक चक्र में प्राणरूप अश्व तो मर्त्य हैं उनके देवता ही उनमें अमृत या आत्मा रूप से रहते हैं। मर्त्य प्राण अमर्त्य देवों की उद्दीप्ति करके त्रिनाभि रूप तीन लोकों के अमृतमय देवमय एकचक्रमय अजर ज्योति की अनुभूति करते हैं। यह किस प्रकार सम्भव होता है इसका विस्तृत वर्णन दूसरी ऋचा देती है। इसमें वे सात क्या हैं और कौन-कौन हैं इत्यादि सब भलीभांति बता दिया गया है जैसे—

मंत्र ३–वे सात (देवता) जो इस सप्तचक्री रथ (ब्रह्माण्ड या शरीर) में अधि. ष्ठित हैं उन्हीं के सात अश्व (प्राणोदानव्यानापानसमान) हैं जो इसे या इन्हें खींचते हैं। इस प्रकार के रथ में जहां पर गायों (वागादि प्राणों) के सात निरुक्त रूप या स्वरूप (नाम) हैं वहां पर (उनके देवताओं की पत्नीरूप) गायत्री त्रिष्टुप् अनुष्टुप् उष्णिक् विराट् , जगती बृहती—नाम की छन्दोमयी देवियां या (जो आपस में एक दूसरे की बहिनें हैं, इसलिए) सात बहिनें अपने अपने देवता के गीत या छन्दों या मन्त्रों के शरीर के रूप को गाती हैं या प्रत्येक देवता के अक्षरमय तत्त्वों के रूपों का प्रदर्शन करती हैं या ऐसे स्व-रूपों का वर्णन करती या गीत गाती हैं।

अब उक्त संकेतमयी भाषा के पारिभाषिक पदों का विवरण—जिसे उन्हीं ऋषियों ने अन्यत्र दे रखा है, यहां दे दिया जाता है। इस ब्रह्माण्डीय या

शारीरिक रथ में बैठे देवताओं के नाम 'अग्नि सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रा-वरुण, इन्द्र और विश्वदेवता हैं। इनके सात अश्व (मनः सोम या) अन्नं आत्मा, प्राण उदान व्यान अपान समान हैं।[1] इनकी गायें अदिति दिति वाक् चक्षुः श्रोत्रं, त्वक् , मनः हैं। इन गायों को भी प्राण ही कहते हैं और उक्त अश्वों को भी प्राण ही कहते हैं। पर इन गायों को देवताओं की पत्नियां कहते हैं, और छन्दों को भी उन देवताओं की पत्नियां ही कहते हैं। अतः छन्दोमयी देवियां आपस में बहिनें तो हैं ही पर उक्त गाय रूप या देवपत्नीरूप प्राणों की भी बहनें या सौतें या सपत्नियां ही कहलाती हैं। इस मन्त्र का यह 'सप्त स्वसारः' शब्द इन्हीं सपत्नी रूप छन्दोमयी देवियों का संकेतक है। सात बहनें कहने का विशेष संकेत सपत्नी रूप बहनों ही के लिए करने के लिए 'स्वसारः' शब्द को चतुराई से चुना गया है (इन बहनों सपत्नियों में से अमृत केवल सबसे बड़ी, पर सबसे छोटी गायत्री देवी के पास ही है 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाजहार')। इसीलिए इन बहनों का वैदिक विश्वदर्शन में इतना बड़ा महत्व है। ये सब बहनें वैदिक विश्वदर्शन के गम्भीर रहस्य को दिखाने के लिए अपने-अपने पादों या करों या शिर में छन्दोमयी उज्वल दीपिका रूप देवता को धारण किये रहती हैं जिसका विवेचन इसी सूक्त के मन्त्र २३, २४, २५वें मन्त्रों तथा ऋ. वे. १०-१३०-४, ५ में निम्न प्रकार से दिया गया है :—

"अग्नेर्गायत्रमभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थ्यैर्महस्वान्बृहस्पते र्बृहती वाचमावत्॥
विराट् मित्रावरुणयोरभि श्री रिन्द्रस्य त्रिष्टुबिहभागो अह्नः।
विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्त ऋषयो मनुष्याः॥"

अखिल ब्रह्माण्ड रूप या शरीर रूप रथ या चक्र केवल उक्त सप्तचक्री या सप्ताश्व या सप्तगावः या सप्तस्वसारः या त्रिनाभि चक्र रूपों में ही वर्णित नहीं किया गया है। इस चक्र का विवेचन कई अन्य संख्या के तत्त्वों के रूप

---

१. इस रथ का ही वर्णन कठ उपनिषद् ने इस प्रकार दिया है :—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहु विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहु र्मनीषिणः॥" (कठ० ३-३, ४, ५)

इसमें बुद्धि मन और इन्द्रिय या प्राण (५) मिलकर कुल संख्या ७ सात दी गई है। इन्हीं सातों का रथ है जिसमें आत्मा इनके विषयों शब्दादिकों का भोग करता है।

में भी किया गया है जिनका विशद विवेचन अष्टचक्र सप्तचक्र षट्चक्र पञ्च-चक्र, चतुश्चक्र त्रिचक्र द्विचक्र और एकचक्र रूप वर्णन में वैदिक विश्वदर्शन में दिया जा चुका है। इस सप्तचक्र की भी वहाँ सैकड़ों विविध नामों से व्याख्या दे दी गई है, उसे भी देखें। उन्हीं वर्णनाओं में से एक व्याख्या पञ्च चक्री या पञ्चार चक्र की भी है। चक्र तो एक है; उसमें पाँच अश्वों, गायों या स्वसारः, को अरा नाम से पुकारा गया है। यह पाँच अराओं वाला चक्र प्राणोदानादि पञ्च प्राणों वाला चक्र है। इस चक्र के इन्हीं पाँच प्राणों में ही इस ब्रह्माण्ड या शरीर के वे विभिन्न संख्या के भुवन या विभाजन, जिनकी नाना प्रकार की वर्णनायें दी गई हैं, समाये हुए हैं। यह चक्र इन पाँच प्राणों की अराओं से युक्त सतत क्रियाशील या गतिमान् है। पर इस सतत गतिमत्ता से इसकी धुरी या मुख्य प्राण इतने बड़े बड़े भुवनों का भयंकर भार वहन करते हुए भी कभी भी उतनी अधिक उष्णता को प्राप्त नहीं होता जिससे इसकी गति कभी क्षुण्ण होने का अवसर आ सके। अर्थात् यह सदा एक रूप, एक गति, एक विधि से, अपरिवर्तित रूप में, सदा एक सा चलता रहता है। अतः इस चक्र की वह धुरी या नाभि या मुख्य प्राण सनातन-काल से सृष्ट्यादि काल से कभी भी न तो जीर्ण होती है न शीर्ण। क्योंकि वह धुरी या मुख्य प्राण नित्य है, विभु है, नित्य अपरिणामी (न तप्यते) है। अरा रूप प्राणों में परिवर्तन आने की सम्भावना है अतः अक्ष रूप धुरी रूप मुख्य प्राण मात्र को ही अपरिणामी 'अजर' या अविकारी कहा गया है। यह धुरी वही है जिसे 'त्रिनाभि चक्र मजरमनर्व' (मंत्र २) में अजर और अनर्व तथा एक अक्ष के स्थान में त्रिनाभि या तीन अक्षित प्राणों या लोकों या देवों का मौलिक त्रिवृत् (वाक् मनः प्राण) कहा गया है। ये दोनों विवेचन भी एक तत्त्व की दो प्रकार की व्याख्यायें इन दो रूपों में दे रहे हैं, जिनको समझने में गड़बड़ी का अनुभव करना भ्रम में पड़ना सिद्ध होगा। प्रथम में सप्ताश्वों के एक चक्र को त्रिनाभि या त्रिवृत् नाभि कहा है और यहाँ पर पञ्चार या पञ्चप्राणों के चक्र को एक 'अक्ष' का एक नाभि का कहा है। दोनों स्थलों में नाभि एक ही है वह एक नाभि ही त्रिनाभि या त्रिवृत् युक्त है, दूसरे में यह त्रिवृत् स्वयं आक्षिप्त समझना उचित है, क्योंकि इस पूर्व वर्णित त्रिवृत् के विना कोई मौलिक तत्त्व रह या हो नहीं सकता। यद वैदिकदर्शन का एक मूल रहस्य है।

अब तक जिन सप्ताश्वीय और पञ्चार चक्रों का वर्णन दिया गया है वे अमृत चक्र हैं, उन्हीं अमृत चक्रों का उक्त तीनों मन्त्रों में तीन प्रकार का विवेचन दिया या किया गया है। पर निम्न मन्त्र में अमृत और मर्त्य दोनों

प्रकार के तत्वों से सम्मिलित अखिल ब्रह्माण्ड या शरीर रूप रथ का या चक्र का वर्णन इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

मर्त्यामर्त्य चक्र या महाचक्र

अब तक चक्र या रथ का जो वर्णन दिया गया है उस चक या रथ में नेमि या हाल या पहिए की बाहरी परत की कहीं भी कोई भी चर्चा नहीं आई है। उसमें अश्व गाय नाभि और बहनें हैं। ये सब अमृत तत्त्व हैं। इनको पूर्वार्द्धीय अनिरुक्त या अमृत या त्रिपादामृत कहते हैं। अब इस रथ में नेमि नामक मर्त्य या भौतिक तत्त्व को और जोड़ा जा रहा है। यह भौतिक मर्त्य नामक तत्त्व उसी अमृत तत्त्व से उत्पन्न होकर उसी के चारों ओर व्याप्त होकर उसे आच्छादित कर देता है। एक और बात कह देना भी उचित है। उक्त रथ या चक्र पहिए की तरह वृत्ताकार नहीं है वरञ्च गेंद की तरह वृत्ताकार है, यह अयन वृत्त रेखा सम भी नहीं है ठोस वृत्त ही अयन वृत्त है। ऐसे ठोस अमृत चक्र के बाहरी तह को नेमि के समान मर्त्य भौतिक तत्त्व आच्छादित किए हुए है, जिसे ईशावास्य उप. 'ईशावास्य मिदं' या ईश का आच्छादन रूप भौतिक जगत् कहता है। वह मर्त्य भौतिक तत्त्व, भी जो अमर्त्य चक्र को आच्छादित किए हुए है, अजर ही है अक्षिति ही है अनश्वर ही है (अनवेस्टिङ्ग अनडिकेयिङ्ग शब्द उचित नहीं हैं इम्मौर्टल कहना चाहिए)। विवावृत का अर्थ लोगों ने 'घूमना' (या रेभौल्विङ्ग) लगाया है। यह गलत है। इसका अर्थ 'विशेष रूप से पूर्ण रूप से आवृत्तियों से कई परतों से आच्छादित है। यह आच्छादन कारक भौतिक तत्त्व 'उत्ताना' चमू है। दो चमू हैं, दोनों उलटे सुलटे उत्ताना कहलाती हैं। एक कटाह दूसरे कटाह के मुख में मुख मिलाये हुए हैं; जिसे 'उत्तानयोश्चम्वो योनि रन्तरत्रा' (इसी सूक्त के मं. ३३ में) कहा गया है। ᗡDआच्छाद्य और आच्छादन के मध्यवर्ती पद का नाम ही योनि है वह चित्र में भी योनि सी बनी दिखाई पड़ रही है। यह नेमि और चक्र का मध्यवर्ती स्थान है। ऐसे सनेमि चक्र को दश संख्या के पाँच प्राणोदानानि के देवता और पाँच वागादि प्राण-रूप युक्ता या अश्व, वहन्ति या खींचते या चलाते या गतिमान् बनाते हैं। यहां पर 'युक्ता' माने 'जुते' मात्र नहीं, वरन् अश्व या वृषभ है। वैदिकसाहित्य में 'युक्ता' माने अश्व या वृषभ ही होता है जैसे "यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः।" (छा. उप. ८-१२-मूर्तामूर्त मर्त्यामर्त्य शरीर व्याख्या-उत्तम पुरुष वर्णन)।

इस सनेमि चक्र या भौतिकात्माच्छन्न अमृत तत्त्व के कई अन्य प्रसिद्ध नाम हैं। ईशावास्य उपनिषद् ने इसे 'ईश' या 'ईशावास्यं' कहा है। वेदों में इसे सूर्य और सूर्य की चक्षु कहते हैं जिनमें सूर्य तत्त्व तो त्रिपादामृत तत्त्व है चक्षु भौतिकता का जैसे 'अत्रिर्दिवि सूर्यस्य चक्षु राधात्' 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः······सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।'' (ऋ० वे० ५·४०, १·११५)। इसी दोनों के सम्मिलित स्वरूप का नाम ईशान, ईश्वर कपर्दी, पूषा, और ईशान रुद्र भी है 'आदित्यो वै ईशानः' (श० प० ब्रा० ६–१···)। इनमें से भौतिकात्मीय भाग के कई अन्य प्रसिद्ध नाम हैं जिनमें से एक प्रसिद्ध नाम 'रजः' 'रजांसि' भी है जिससे सूर्य तत्त्व को आच्छादित कहा गया है जैसे 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।'' (ऋ० वे० १-११४) यहां भी (रजसा) 'वर्तमानः' माने 'विवावृर्त' या आवृतमानं या आच्छादित ही कहा है । यह रजः तत्त्व ईषद् कृष्ण (पिङ्गल) वैद्युतीय कणों के समान वर्ण का वैद्युतीय भौतिक रजः पुञ्ज है। इसी भाव को यहां पर 'सूर्यस्य चक्षू रजसा एति आवृतं' वाक्य दे रहा है कि उस अमृतमय चक्र नामक सूर्य तत्त्व की (न कि आकाश में दीखने वाला चमचमाते सूर्य की) चक्षु रूप या चक्षु नामक या अङ्कुर नामक तत्त्व से— जिसे रजः भी कहते हैं उस रज से या उस रजः तत्त्व से—वह सूर्य तत्त्व स्वयं आवृत होकर (आवृत) गतिमान् रहता है (एति)। इस प्रकार के मर्त्यामर्त्य या अमृतमृत सम्मिश्रित या सम्मिलित (सनेमि) चक्र में अनन्त (विश्वा) भुवन (या लोकों के मौलिक बीज) अराओं की तरह चारों ओर से जुड़े या जड़े (आर्पिताः = आ + अर्पिताः) हैं । शेष 'सूर्यः चक्षुः' शीर्षक-वैदिक विश्वदर्शन में, तथा ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र की व्याख्या उपनिषद् प्राण भाष्य में देखें। यह सब प्राणीय (अमृत प्राणीयं और भौतिक प्राणीय या चक्षुः या रजः) चक्र की व्याख्या है, जिसको पहले अमृत प्राण चक्र रूप में, पश्चात् मर्त्यामर्त्य प्राणों के सम्मिलित रूप में वर्णित किया गया है। अब एक तीसरे प्रकार के चक्र का वर्णन दिया जाता है जिसमें पूर्वोक्त तत्त्वों का विवेचन 'अक्षर चक्र' के नाम से किया गया है ।

अक्षर चक्र—(मन्त्र ११, १२, ४८)

द्वादशारं हि न हितज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्चतस्थुः ।।
पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ।।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्नचलाचलासः ॥

वैदिक विश्वदर्शन को प्रस्तुत करने वाली पारिभाषिक पदावली में बहकने और बहकाने की सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में है कि आजतक जितने भी व्याख्याता हो गये हैं वे सब उसी बहकावे की धारा में बहकर वास्तविकता के पास फटकने का अवसर ही नहीं पा सके। प्रस्तुत मन्त्रों की पदावली ने लोगों को इतना वर्गला दिया है कि व्याख्याताओं ने यही समझ रखा है कि यहां पर ऋषि जी वर्ष के महीने दिन या ऋतुओं का वर्णन दे रहे हैं; यही और इसी प्रकार की निम्नधरातल की विचारधारा ही वेदार्थ को लुप्त करने या रखने का मुख्य कारण है। यहां पर वर्ष या काल या ऋतु या दिन मासों का वर्णन नहीं है; वरञ्च इन साधारण सर्वं विदित विषयों को—जिनका विवेचन देने की कोई आवश्यकता ही नहीं है—आधार बनाकर इस ब्रह्माण्ड की मौलिक स्थिति के विकास की क्रमिक पद्धति को योग वियोग दो प्रकार से समझाया जा रहा है। यह सृष्टि या अतिसृष्टि कला रूप में कलकल ध्वनि करती हुई काल प्रवाह रूप में बहती है। यह काल दो प्रकार का है (१) अनादिष्ट (२) आदिष्ट। सृष्टि का आरम्भ अनादिष्ट अपरिमित अनिरुक्त अप्रमेय काल रूप में होता है। यह अमृतमय काल या अमृतकलामय ब्रह्म या बृंहणशील ब्रह्म कहलाता है। जब इससे भौतिकात्मा की कला उदित होती है तो इसे 'अक्षर क्षर' या अक्षर ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म कहते हैं। यह अक्षर ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म हमारे वर्ष ऋतु अयन मास दिनों वाला नहीं है वरन् इन नामों के विभाजन वाला माना गया है। उसका अन्तिम विकास केवल एक 'विवर्ताणु' होता है। जिसका अन्तिम परिणाम वह एक विवर्ताणु मात्र है वह किस प्रकार का संवत्सर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म हो सकता है वह इसी से अनुमित किया जा सकता है।

ऋषियों ने जिस काल चक्र की वर्णना दे रखी है वह अभौतिक और भौतिक दो प्रकार को कलाओं का एक सम्मिलित चक्र है। इसके अभौतिक या अमृतमय चक्र का नाम अहः या नित्य प्रकाशमय कला है, और भौतिक या मर्त्यं कला की रात्रि नाम से पुकारा जाता है। इन्हीं दो भागों को क्रम से शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष कहते हैं या 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' कहते हैं। इन्हीं को क्रम से उत्तरायण और दक्षिणायन नाम के दो अयन भी कहते हैं। इन्हीं को पूर्वार्द्ध परार्द्ध भी कहते हैं। इन पक्षों, अयनों पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धों में क्रम से ३६० दिन और ३६० रातें क्रमसे होती हैं, या मानी जाती हैं। पूर्वार्द्ध

में ३६० दिन ही दिन हैं उत्तरार्द्ध में ३६० रातें ही रातें; कुल मिलकर ७२० अहोरात्र होते हैं या ७२० दिनरातों का एक अहोरात्र होता है। इसी आशय को इन तीन ऋचाओं में तीन प्रकार से वर्णित किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन संवत्सर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्म शीर्षकों में देखें।

(११) ऋत या सत्य या अमृतमय ब्रह्म का चक्र द्यौ के रूप में या 'द्यौ' या द्यावा की परिधि रूप में बारह मासों के विभाजन रूप अराओं से युक्त होकर इस प्रकार विद्यमान रहता है कि उसके कभी भी जीर्ण शीर्ण होने का अवसर नहीं आता। यह अमृतमय पूर्वार्द्धीय या दैवी चक्र है। इसके १२ अरा रूप मासों के जो ३६० दिनों का एक दिन रूप विभाजन है। उन दिनों में से प्रत्येक के एक पुत्र रूप मिथुन है; यह मिथुनीय पुत्र रात्रि है। ३६० दिनों की ३६० रातें पुत्र मिथुन या जोड़े रूप में विद्यमान हो जाते हैं जिससे इन दोनों की संख्या ७२० हो जाती हैं; यद्यपि यह है एक ही अहोरात्र, उसी के ये ७२० भाग या अहोरात्र हैं। इन जोड़ीदार अहोरात्र में रात्रिरूप पुत्र योग करके अह: या दिन या सत्यप्रकाशमय ब्रह्म की कलाओं की अतिसृष्टि करते हैं तो उसे योग की प्रक्रिया कहते हैं; जब अह: भाग के विभाजन रात्रि के विभाजनों का क्रमिक विकास करते हैं तब इसे सृष्टि चक्र कहते हैं। दोनों प्रक्रियाओं में एक चक्र से दूसरे चक की जागृति विकास या उद्दीप्ति की जाती है, पर प्रक्रियाओं के आधार भाग एक दूसरे के विपरीत दिशा में रहते हैं।

(१२) इस ऋचा में पूर्वोक्त विषय को ही दूसरे प्रकार की शैली में वर्णित किया गया है। यहां पर अहोरात्र रूप संवत्सरब्रह्म या अक्षर ब्रह्म को पञ्चपाद पिता कहा गया है। इसको पञ्चपाद पिता कहने का आशय वसन्त ग्रीष्म, वर्षा, शरत् हेमन्त (शिशिर युक्त) पांच ऋतुओं के विभाजन वाला संवत्सर या अक्षर नामक ब्रह्म है। वह इस रूप में इस सृष्टि का जनक है, अत: पिता और पाता या पालयिता दोनों है। इसकी द्वादश आकृतियाँ वही द्वादश मास या आदित्य रूप अरायें हैं। ये मास और ऋतुयें दिव: या द्यावा में अहो-रूप भाग में भी हैं, और पृथिवी नामक 'परे अर्धे' या परार्द्ध में भी। इस 'परे अर्धे' के पिता को 'पुरीषिण' नाम से पुकारा गया है। पुरीष नाम अन्नं या अदिति के स्थविष्ठ या स्थूल रूप का है। इसका मध्यम रूप मांस है और अणिष्ठ रूप मन:। अत: पुरीषी नाम अन्नमय अदितिमय या मनोमय भौतिकात्मीय शरीरी पुरुष का है (छा उप० ६-५)।

पूर्वार्द्ध में इसे पुरुष मात्र कहते हैं, क्योंकि यह परार्द्ध के उस भौतिकात्मीय अन्नमय मनोमय शरीर की पुरी में निवास करता है। इसी पुरीषी या भौति-

कात्मीय, अन्नमय, मनोमय शरीर से इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना होती है जिसकी आत्मा पूर्वार्द्धीय पञ्चपदी द्वादशाकृति पिता है। परार्द्ध में भी यह पुरीषी भी पञ्चपदी द्वादशाकृति ही रहता है, पर ये पाद और आकृतियां यहां पुरीषी या अन्नमय, मनोमय या भौतिकात्मीय ही होती हैं। कुछ ये अन्य साधारण आचार्य कहते हैं कि यह 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' रूप 'चक्षुः' शरीरी है, अखिल पुरीषी पुरुष 'चक्षुर्मयः' द्रष्टा दृश्य दोनों का एक सम्मिलित स्वरूप है, और वे यह भी कहते हैं कि यह सप्तर्षिरूप सात चक्रों और छह प्राणरूप अराओं के ऊपर आसीन है। यहां के सात चक्र सप्तर्षि या सात प्राण रूप (वीर रूप) चक्र हैं और 'षडर' या छह अरायें छह प्राण रूप ऋतुयें हैं। वह चक्षुशरीरी छह अराओं से युक्त उक्त सात प्राणों के चक्र के ऊपर पञ्चपाद पिता रूप में आसीन रहता है।

सात प्राण और छह अराओं का योग करके पञ्चपादी पिता के द्वादशाकृति रूप पिता से पुरीषी विचक्षण, सप्तचक्र, षडर आदि भौतिकात्मीय तत्वों की विभिन्न रूपों में क्रमिक सृष्टि होती है।

(४८) "इस चक्र में १२ अरायें (बारह मास) हैं, चक्र एक ही है (जिसमें पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों सम्मिलित हैं)। इसमें तीन नाभियां (मनो वाक् प्राण का त्रिवृत्) है। कौन ऐसा विद्वान् है जो इसके इन रहस्यों को भलीभांति जानता है? इस एक अखण्ड चक्र में ३६० शङ्कु या प्रत्यरायें साथ-साथ सटी हैं (एक एक अरा में ३०, ३० प्रत्यरायें हैं)। ये प्रत्यरायें उन अपनी अपनी अराओं से अचल या अटल रूप में जुड़ी हुई हैं।"

यह चक्र अखिल दृश्यमान भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक स्वरूप है। योग और सृष्टि दोनों में यही मूल तत्व है। सृष्टि में इसी स्वरूप से द्वादश मासों से द्वादशादित्यों की और ३६० दिनों से प्रत्येक आदित्य में ३०, ३० दैवी प्राणों या देवताओं की सृष्टि होती है। योग में इन्हीं दैवी प्राणों को आधार बनाकर इनकी प्रदीप्ति के द्वारा द्वादशादित्यों की दैवी ज्योतियों की अनुभूति की जाती है। जहां जहां 'चक्र' वर्णन है वहां शरीरी और ब्रह्माण्डीय दोनों के योग वियोग (सृष्टि) के चक्रों का वर्णन समझना चाहिए।

आग्नेयो वैदुष्यो योगः—जिस चक्र का वर्णन प्रथम तीन ऋचाओं (१६४-१, २, ३) में किया गया है उसका रहस्य कः नामक प्रजापति की समझ में भलीभांति नहीं आया, हमारी समझ में कैसे आवे? तब वह पाकः रूप में अग्नि विद्वान् से पूछने जाता है :—

मन्त्र ४

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥

इस मन्त्र में कई पद पारिभाषिक हैं जिनका अर्थ अब तक के सभी व्याख्यातारों ने इनके लौकिक संस्कृत में प्रचलित कोषों के अर्थ के अनुसार लगाकर भी उन अर्थों से अभीष्ट भाव प्राप्त न होने के कारण अपनी अपनी अनेकों कल्पनाओं के ढेर लगा दिये हैं। वास्तविकता यह है। इसमें पारिभाषिक पद हैं 'अस्थन्वन्तं' 'अनस्था' 'असुः' 'असृक्' और 'आत्मा'। इनमें से 'अस्थन्वन्तं' और 'अनस्था' शब्दों का रहस्य यह है। तेजः तत्त्व के तीन मुख्य रूप हैं—इसका स्थविष्ठ रूप अस्थि है, मध्यम रूप मज्जा है और अणिष्ठ रूप वाक् है। इसे तेजोवती वाक् कहते हैं। यह तेजोवती वाक् ही तेजः की अणिष्ठा रूपिणी होने से 'अनस्था' या अणिष्ठा वाक् है, इसमें अस्थि और मज्जा रूपों की स्थूलता नहीं है। अतः अनस्था माने तेजस्तत्त्व की अणिष्ठा शरीरिणी वाक् है। 'अस्थन्वन्तं' माने अस्थिमान् या तेजस्तत्त्व का स्थूल रूप भौतिक ब्रह्माण्ड या प्रकाशमयमात्र भौतिक ब्रह्माण्ड या केवल प्रकाशरूप में चमकने वाला मौलिक भौतिक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकाशमय मौलिक भौतिक ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली इसकी आत्मा रूपिणी वही अनस्था या उन प्रकाशमय तेजोमय भौतिक ब्रह्माण्ड की अणिष्ठा शरीरिणी वाक् है। इन दोनों के सम्मिलित स्वरूप का ही नाम तेजोवती वाक् है जिसको यहां पर प्रयुक्त पदावली में 'अस्थन्वन्तं विभ्राणा अनस्था' (तेजोवती) वाक् कहा गया है।

यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां अस्थि माने हड्डी पसली नहीं है। अस्थि माने केवल 'अस्ति' या 'सद्' है या 'सत्य' है जिसकी सत्ता केवल तेजः या केवल प्रकाश रूप में है। यही भाव 'तेजोवती वाक्' का 'केवल प्रकाशमय शरीरिणी' मात्र है, हड्डीवाली पसलीवाली नहीं है। अतः 'अस्थन्वन्तं' माने 'प्रकाशमय आत्मा' अग्नि या तेजः मात्र है। उस तेज को धारण करने वाली ('विभ्राणा' या 'विभर्ति') वही 'अनस्था' या प्रकाश रहिता प्रकाश की शरीर रूपा, प्रकाश को अपने में धारण करने वाली वाक् है। यहां पर अस्थि माने वह तेजोमय अग्नि आत्मा है जो मात्र सद् या 'अस्ति' है। अतः यहां पर 'परोक्षेण परोक्षकाभा हि देवाः' का सिद्धान्त 'अस्ति' या सद् मात्र को 'अस्थि' कह रहा है।

'असुः' शब्द की कहानी भी कुछ इसी प्रकार की है। असु नाम भौतिक प्राण का है जिसका वर्णन कई स्थलों में इस रूप में दिया मिलता है। 'असुः'

का सम्बन्ध 'आपः' तत्वों से है। जैसे "आपो ह यद्बृहती विश्व मायन्गर्भदधाना जनयन्ती रग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥" (ऋ० वे० १०-१२१-७)। जब आपः तत्त्वों ने गर्भ धारण करके अग्नि का प्रजनन किया तब 'असुः' नामक तत्त्व की उत्पत्ति हुई। 'असुं य ईयुरवृका-ऋतज्ञा' में भी पितरों की इन्हीं असु रूपों में परिणत होने की चर्चा की गई है। तेजः तत्त्व के समान आपः तत्त्व के भी तीन मुख्य रूप हैं। इसका स्थूल रूप मूत्र, मेहन या भौतिकालीय वृष्टि है, यह इसका स्थविष्ठ (स्थूलतम) रूप है, इसका मध्यम रूप असृक् या रक्त है; और इसी का अणिष्ठ रूप प्राण है या असु है। इसी लिए असु या प्राणों को 'आपोमयाः प्राणाः' या 'आपोमया असवः' कहा जाता है। अतः असुः और असृक् एक ही तत्व के वैसे ही दो मुख्य रूप हैं जैसे तेजः के अस्थि और वाक् हैं। यहां पर असृक् शरीर है, प्राण उसका आत्मा है, असृक् शरीरी असुः है।

इसी प्रकार यहां पर दिया 'आत्मा' शब्द मनः या 'सूर्य आत्मा जगत-स्तस्थुषश्च' का प्रतिनिधि है। इसका मूल तत्त्व अदिति या अन्नं है जो उक्त तेजः और आपः की तरह ही तीन प्रकार का है। इसका स्थविष्ठरूप पुरीष है जैसा कि मन्त्र १२ की व्याख्या में दिया जा चुका है। इसका मध्यम रूप मांस त्वक् है, और इसी का अणिष्ठ रूप 'मनः' है। इसी मनः को 'सूर्यः आत्मा' (ऋ० वे० १-११५-२) कहा जाता है। इन सब का सविस्तर विवेचन छा० उप० ६-४, ६ ५ में दिया मिलेगा, देखने का कष्ट किया जाय। यहां पर दिए रक्त माँस पुरीष आदि शब्द हमारे शरीर के रक्त मांस आदि के वाचक नहीं हैं वरन् आपः और अदिति या अन्नं के शुक्ल और कृष्ण वर्णों के संकेतक हैं। अस्थि मज्जा और वाक् लोहितवर्णा हैं। इसीलिए यहां गड़बड़ी बचाने के लिए 'रक्त' के बदले 'असृक्' (शुक्ल वर्ण) कहा है, मनः को आत्मा (भौतिकात्मा कृष्ण)। इन टिप्पणियों के आधार पर अब प्रस्तुत ऋचाका भाव स्वयं इस प्रकार उज्ज्वल हो जाता है :—

इस ऋचा में प्रश्न और उत्तर दोनों साथ साथ उन्हीं पदों के विभिन्न अर्थों में छिपे हैं। (१) प्रश्न—जिस अस्थिमान् या तेजस्वी को अनस्था या अनस्थिवती या तेजः की अणिण्ठा रूपिणी वाक् धारण करती है उस तेजस्वी अग्नि को सबसे पहले उत्पन्न होते हुए किसने देखा ? इस मंत्र में वर्णित प्रथम जायमान तत्त्व अग्नि है। यह 'अग्नि र्हि नः प्रथमजा ऋतस्य' और 'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निः' मंत्रों से स्वयं स्पष्ट है। (२) उत्तर—जिस अस्थिमान् या तेजस्वी (अग्नि) को अनस्था या तेजः की अणिष्ठा रूपिणी वाक् धारण करती है उसको सबसे पहले उत्पन्न होते हुए 'कः' नामक प्रजापति ने ही देखा। यह

वाक् और 'अस्थिन्वन्तं' दोनों पूर्वार्द्धीय अमृतमय है। अब उत्तरार्द्ध के तत्त्वों के बारे में लिखा जा रहा है। उत्तरार्द्ध का नाम भूमि है (पूर्वार्द्ध का दिवः या द्यावा—दोनों मिलकर द्यावापृथिवी या द्यावाभूमि कहलाते हैं)। अतः भूमि के तत्त्वों के बारे में प्रश्न किया जा रहा है :—

बताया जा चुका है कि भूमि नामक तत्त्व इस प्रथम जायमान धूममय पर्जन्यात्मक तत्त्व का भौतिकात्मीय वृष्टि रूप आपोमय है जिसका प्रथम रूप स्थूल रूप कहा जाता है, इसे मेहन मूत्र या वृष्टिमय स्वरूप कहते हैं। इसका मध्यम रूप असृक् या रक्त या रागमय प्रेममय या प्रेयमय है जिससे प्रत्येक एक दूसरे से दैवी वृत्ति में प्रेमसूत्र तथा आसुरी वृत्ति में द्वेष या वैर के सूत्र से एक दूसरे से निबद्ध रहता है। इसी असृक् या रक्त या राग (प्रेम वैर दोनों रूपों) के सूत्र में अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के अनन्त सत्त्व और तत्त्व एक दूसरे से 'सूत्रे मणि गणा इव' ओत प्रोत हैं। इस असृक् या राग का अणिमा रूप ही 'असुः' या भौतिकात्मीय प्राण (मातरिश्वा) कहलाता है। आत्मा नामक तत्त्व इन दोनों असृक् (रक्त) और असुः तथा तीसरे तेजोवती वाक् के अस्थि मज्जा वाक् नामक त्रिवृत् से एक पृथक् तत्त्व है। इस आत्मा का पृथक् त्रिवृत् है जिसके क्रमिक विकासों को पुरीष, मांस और मनः कहते हैं। इसका मौलिक तत्त्व अदिति या अन्नं हैं। उक्त तीनों का स्वरूप तेजोवती वाक्, आपोमयाः प्राणाः (यहाँ असुः और असृक्) और अन्नमयं मनः है। इनका वर्ण क्रमसे लोहित, शुक्ल और कृष्ण है। 'मनः' का ही नाम आत्मा है। "अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते।" (छा. उप. ८-१२) इस वाक्य ने 'मनः' को ही आत्मा कहा है वैसे वाक् और प्राण भी आत्मा ही हैं (वहीं देखें)। इस मनः का ही नाम सूर्य है जिसकी उत्पत्ति 'चक्षुः' से होती है 'चक्षोः सूर्यो अजायत'। इसी सूर्य को ऋ. वे. भी आत्मा ही कहता है 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (१-११५-१)।

प्रश्न—इन परिस्थितियों को दृष्टिपथ में रखकर दीर्घतमा ऋषि पाकः से प्रश्न कराते हैं कि बतलाइये इस भौतिक ब्रह्माण्ड के मौलिक स्वरूप भूमि के असु, असृक् और आत्मा नामक उक्त तत्त्व कहां हैं? कैसे और किस क्रम से उत्पन्न होते हैं? इन सूक्ष्म और गम्भीर रहस्यों को जानने की चेष्टा में वह कौन सा जिज्ञासु धीर है जो किसी अनूचान शुश्रुवान् ब्राह्मण देवता की शरण में विनीत शिष्य बनकर इस बात को पूछने या जानने के लिए जाता है? अर्थात् ऐसे ज्ञानी और ध्यानी योगी यतियों की सदा कमी रही है और रहेगी, इसी कारण आजकल इन वैदिक मंत्रों का रहस्य इसी प्रकार छिपा ही पड़ा

रह गया है। यह तो प्रश्न मात्र है। इसका उत्तर निम्न है, वह भी इसी प्रश्न में श्लेष रूप में सन्निहित है।

उत्तर—भौतिकात्मा के पर्दे से प्रच्छन्न या आच्छादित हो जाने से वह कः नामक प्रजापति भी यह पता न लगा सका कि जो तत्त्व उसके भौतिकात्मीय असु असृक और आत्मा रूप हैं वे उसके उस भौतिकात्मीय शरीर के किस भाग में कहां पर हैं, अतः वह कः प्रजापति भी उनका पता न लगा सकने के कारण, योग द्वारा विद्वान् नामक ज्ञानवान् अग्नि तत्त्व के पास इस बात को पूछने के लिए गया। क्योंकि 'विद्वान्' नाम अग्नि का है जैसे "अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्" (ऋ. वे. १०-५२-४)। इसमें लिखा है कि यह विद्वान् नामक अग्नि हमारे लिए त्रिवृत्-असुः (प्राण) मनः (आत्मा) और वाक् तीनों के सम्मिलित स्वरूप का (जिसमें असु के साथ असृक् नामक रक्त या राग या प्रेयोमय सूत्र भी है) पञ्चयाम या पञ्चप्राणीय (प्राण उदान व्यान अपान समान) और सप्ततन्तु (सात प्राणों) वाला यज्ञ (सृष्टि और अतिसृष्टि=योग दोनों) का सम्पादन करता है (कल्पयाति)। कः प्रजापति ने इसी विद्वान् अग्नि से योग करके उक्त असु असृक् और आत्मा तथा अस्थन्वन्त को धारण करने वाली वाक् (अनस्था) की अनुभूति करके इनका साक्षात्कार किया। दीर्घतमा ऋषि का कहना है कि जिसको इन तत्त्वों का साक्षात्कार करना हो उनके लिए केवल यही एकमात्र मार्ग है जिसके द्वारा कः प्रजापति ने इस विद्वान् अग्नि के इस प्रकार के योग द्वारा सबसे पहले खोल दिये हैं; उसी का अनुसरण करो।

मंत्र ५—पाकः नामक कः प्रजापति की अग्निर्विद्वान् से प्रथम प्रश्नावलीः—

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से वष्कयेऽधि सप्ततन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में विचारणीय पारिभाषिक पदों में से निम्न बहुत विशिष्ट हैं:—पाकः, पदानि, वत्से वष्कये, सप्ततन्तून्, वितत्निरे, कवयः और ओतवा।

इनमें से 'पाकः' नाम का पूछने वाला कौन है? इसे पाकः नाम क्यों दिया है? ये बातें विदित हो जावें तो ऋचा के भाव का मार्ग प्रशस्त हो जाय, इसको जाने बिना सारा सन्दर्भ चौपट हो जावेगा—जैसा कि आज तक के सभी व्याख्याकारों ने कर डाला है।

पिछली ऋचा में बताया जा चुका है कि कः नामक प्रजापति विद्वान् नामक अग्नि के पास यह पूछने गया था कि भूमि या इस भौतिक ब्रह्माण्ड के असु असृक् और आत्मा कहाँ हैं? वही यहाँ पर दूसरा प्रश्न भी कर रहा है।

यह सन्दर्भ स्वयं चल रहा है। वहाँ 'प्रष्टुमगात्' कहा है, यहां वहां पहुँचने पर वही 'पाकः पृच्छामि' कह रहा है। एक बात। अब इस 'पाकः' शब्द की व्याख्या दी जाती है।

यहाँ 'कः' नामक प्रजापति अपने को 'पाकः' नाम से क्यों पुकार रहा है? हमारे सामने दो शब्द हैं पाकः और पाकम्। इनमें से इस पाकम् तत्त्व का स्पष्ट विवेचन मंत्र २१ में दिया मिलेगा (आगे देखें) जिसमें स्पष्ट लिखा है 'स मा धीरः पाकमत्राविवेश' अर्थात् सः 'अग्नि विद्वान्, नामक धीरः या धियों या बुद्धियों या प्राणों का धारक' 'अत्र मां पाकं' इस भौतिकात्मीय 'पाकं' या गर्भ रूप में प्रविष्ट या व्याप्त हो गया। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने भेड़िया-धसान की तरह इस 'पाकः' शब्द का अर्थ 'सीधा' भोला, (मूर्ख अर्थ रखने वाला) लिख दिया है। उन्हें इस शब्द की संगति ही नहीं लगी है। यहाँ पर 'पाकं' और 'पाकः' नपुंसक और पुंल्लिङ्गरूपों के अर्थ में आकाश पाताल का अन्तर है। 'पाकम्' तो भौतिकात्मीय गर्भ है और पाकः उस पाकं या भौतिकात्मा में प्रविष्ट या उसे धारण करने वाला कः या हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति है। इस व्याख्या को ध्यान से नहीं उतरने देना चाहिए। अन्यत्र यजुः के पुरुष सूक्त में लिखा है। "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।" अर्थात् अग्नि रूप अमृत रूप प्रजापति भुवनों का मूल योनि या बीज है जिसे योगी ही योग से बुद्धियों को स्थिर करके देख सकते हैं। धीर वह है जो प्राणों को योग से वश में रख सकता है, वह अमृतमय प्रजापति गर्भरूप सप्तर्षिमय पाक में स्वयं अजायमान रूप में रहता है। इसी अग्नि को 'अग्निर्वै प्रजापतिः' कहते हैं। जब वह गर्भ में पाक में प्रविष्ट हो जाता है तो उसे कः या हिरण्यगर्भः या पाक के गर्भ में स्थित प्रजापति कहते हैं। इस प्रकार दो प्रजापति हैं (१) अग्निर्विद्वान् या अमृतमय अग्नि (२) पाकगर्भस्थित कः या हिरण्यगर्भ। यहां पर द्वितीय प्रथम से प्रश्न कर रहा है, यह अब स्पष्ट हो गया।

इस 'पाकः' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में स्वतन्त्र या समास और प्रत्ययों सहित १४ बार इसी अर्थ में हुआ है। इस 'पाकः' की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन आगे की ४३वीं ऋचा के 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः' पाद की व्याख्या में दे दिया गया है। (आगे देखें)। जिस उक्षा या वृषभ के पाचन की प्रक्रिया यहां दी गई है उसी का यह पाक नामक प्रजापति है। पाक नाम सप्तर्षिरूप सात भौतिक प्राणों का है जिसमें अग्नि वृषभ पकता या प्रज्वलित या प्रदीप्त रहता है। पाक नाम तब प्राणों का है, वे उस अग्नि वृषभ या

अग्नि विद्वान् से पूछ रहे हैं। प्राण भी कः प्रजापति रूप में ही पूछ सकते हैं। क्योंकि इनका शरीर न तो पृथक् है, न वे सचेतन हैं, वे तो अध्यात्मशरीर मात्र हैं। अतः वे सर्वसम्मिलित पाकरूप अग्निवृषभ या अग्निर्विद्वान् से सजीव होकर मात्र योग द्वारा ही पूछ सकते हैं, पूछने का कोई और दूसरा मार्ग भी नहीं है, न हो सकता है। शरीर तो दोनों का एक है, बाहर कौन किससे कैसे पूछे ? पूछने का दूसरा कारण यह भी है 'मनसाऽविजानन्' कि मनः या भौतिकात्मा भी तो चन्द्रमा के समान दर्पण सा है, वह अग्निरूप सूर्य के प्रकाश को पाकर चमकता या प्रकाशित रहता है, हाँ यह बर्फ या चूने की तरह उज्ज्वल पदार्थ रूप का है, जिसकी उज्वलता का कारण भी उसी अग्नि की तेजवती दीप्ति की देन है। फलतः न तो प्राण, न भौतिकात्मा, कोई भी उन बातों को बता सकता जिनकी यहाँ पृच्छा द्वारा खोज हो रही है। अतः 'अग्निर्विद्वान्' से ही प्रश्न किया जा रहा है। इसीलिए इस अग्नि के बारे में लिखा है कि हे अग्ने तुम आधार या शरीरमात्र दुर्बल वेचारे प्राणों की बुद्धि या ज्ञान कहलाते हो, पाक नामक तत्त्व के तुम पिता हो और उसे शिक्षा या ज्ञान दान देते हो क्योंकि तुम सब दिशाओं सब ज्ञानकोणों या दृष्टिकोणों के एकमात्र उत्तम ज्ञाता हो जैसे :—"आध्रस्य चित्प्रमतिं रुच्यसे पिता प्र पाकं शास्से प्रदिशोविदुष्टरः।" (ऋ. वे १-३१-१४)। इससे 'को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्' के कः प्रजापति के अग्नि विद्वान् से पूछने जाने का सन्दर्भ स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि वही अग्नि प्रशासन या ज्ञान दीक्षा देनेवाला है, यह यहाँ स्पष्ट बता रखा है। इस 'पाकः' तत्त्व के स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर अब 'देवानामेना निहिता पदानि' के भाव को समझने का अवसर आता है।

पद या पदानि नाम वैदिक दर्शन की एक सरणि का महत्त्वपूर्ण नाम है। इसके सैकड़ों अन्य नाम हैं। वे नाम विभिन्न सरणियों की व्याख्या से सम्बन्ध रखते हैं। इनका सविस्तर वर्णन 'वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्णय' शीर्षक के सप्तवाद में देखना आवश्यक है। वैदिकों ने अपने दर्शन की व्याख्या सरल बनाने के लिए उसे सात भागों में विभक्त किया था। उन सात भागों के अनेकों नामों में से एक नाम 'पदानि' 'पदा' (सप्त या सात संख्या वाले) भी हैं। जैसे 'ऋताय सप्त दधिषे पदानि' (ऋ. वे. १०-८-४)। इन्हीं को 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' (ऋ. वे. १०-५-६) सात मर्यादा कहते हैं जिन्हें कवियों ने रचा कहा गया है। इस कवि शब्द से हमारा मतलब अगली पंक्ति में पड़ेगा। इन्हीं को सप्तधाम या सप्त लोका भी कहते हैं जैसे 'सप्तधामानि परियन्नमर्त्यो' (ऋ० वे० १०-१२२-३); 'पृथिव्याः सप्तधामभिः'

(ऋ० वे० १-२२-१६)। ये ही सात धाम 'भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं नामक सात लोक हैं। इन्हीं का नाम 'सप्त संसदः' भी है 'यस्मिन्विश्वा अधिश्रियो रणन्ति सप्त संसद.' (ऋ० वे० ८-९२-२०) 'सप्त संसदो अष्टमी भूत साधनी' (यजुः २६-१)। इन्हीं को सात मौलिक प्राण रूप ऋषि या सप्तर्षि कहते हैं जिन्हें 'ऋषयः सप्त दैव्याः' (ऋ० वे० १० १३०-७) कहते हैं। क्योंकि प्रत्येक पद का एक एक मौलिक प्राण रूप ऋषि है जैसे "सप्तानां सप्त ऋषयः सप्त द्युम्नान्येषाम् । सप्तो अधि श्रियो धिरे।" (ऋ० वे० ८-२८-५) 'सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त' (यजुः १४-२८) जिसका समर्थन श० प० ब्रा० (६ १-१-१) से भी विस्तारपूर्वक करने का कष्ट करें। इन्हीं अखिल मर्त्यामर्त्य ब्रह्माण्ड के मौलिक प्राण रूप ऋषियों को कवि कारु आदि नामों से पुकारा गया है इन्होंने ही सात पदों, मर्यादाओं, संसदों धामों, लोकों आदि की रचना की है जैसा कि पहले 'सप्तमर्यादा कवयस्ततक्षुः' में कहा गया है, ये कवि वेही प्राण रूप ऋषि हैं जिन्हें 'इत्था जीजनत् सप्त कारून्' (ऋ० ४-१६-६) 'कारु' नाम से पुकारता है। एक कारु सोम नामक उत्तम पुरुषीय प्राण भी है अतः वह भी 'कारुरह भिषगुपलप्रक्षिणी नना' में अपने को कारु भी कहता है। यह भी ध्यान रहे कि "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' के चार पद (या पदानि) इन्हीं सातों पदों में से प्रथम चार पद हैं, जिन चारों में से तीन पदों को गुहा या पूर्वार्द्ध में निहित या सुरक्षित बताया गया है, 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' (आगे मन्त्र ४५ देखें)। इन पदों की पूर्ण व्याख्या मन्त्र २३ से ३५ तक में की गई है जिसमें यह स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति इस 'पदं' तत्त्व को जानता या अनुभूत करता है उसी को अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। 'पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः' (२३)। यह है इस 'पद' तत्त्व की महामहिमा।

दीर्घतमा ऋषि जी यहां पर 'पाकः' नामक प्रजापति के द्वारा 'अग्नि विद्वान्' से उक्त सातों पदों या पदानि के बारे में जानने का प्रश्न नहीं कर रहे हैं। इन सात पदों में से चार पद रूप तो उस पाकः नामक प्रजापति का आध्यात्मिक शरीर स्वयं है। उसे जानना वे शेष तीन पद या पदानि हैं जिनको यहां पर इस ऋचा के प्रश्न के शरीर में तथा 'गुहा त्रीणि निहिता' (१ १६४-४५) में दोनों स्थलों में 'निहिता' नाम से पुकारा गया है। अतः यही 'निहिता' पद इस वाक्य की कुञ्जी है। यही इसके अर्थ की मञ्जूषा को खोल सकता है। फलतः पाकः को ये ही 'निहिता पदानि' या 'गुहा त्रीणि निहिता' पदानि को जानने की इच्छा या जिज्ञासा है। क्योंकि ये तीन पद तो

'गुहा' या भूर्भुवः स्वः या त्रिपादामृत या पूर्वार्द्धीय अमृतमय भाग में छिपा कर गूढ रखे हुये हैं। उन्हीं का उद्घाटन या साक्षात् दर्शन करा देने या अनुभूति पा जाने के लिए यह प्रश्न किया गया है। इसीलिए इनको यहां पर 'एना (नि) देवानां निहिता (नि) पदानि' या दैवी देवताओं या अमृतमय गूढ़ रूप से सुरक्षित पद या भूर्भुवः स्वः लोक या स्थान या तत्त्व कहा गया है। अतः इनके निगूढ़ छिपे अदृश्य होने के कारण इन्हें 'मनसाऽविजानन्' या भौतिकात्मीय मनोरूप आत्मा से अज्ञेय बतलाते हुए पाकः नामक प्रजापति 'पृच्छामि' या 'प्रश्न कर रहा हूँ' कह रहा है कि 'वह कौन व्यक्ति है जो इन (गुहा त्रीणि) 'निहिता पदानि' का साक्षात् दर्शन करा दे, ? ये तीन पद वही हैं जिन्हें 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' या 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पूरुषः' कहा गया है; जिसे इनकी अनुभूति ज्ञान या प्रकाश मिल गया, वही ब्रह्ममय ज्ञानी बन गया। यह कार्य केवल योग का साध्य है. अग्नि विद्वान् की जागृति या उद्दीप्ति है जिसे मात्र योग से जाना जा सकता है। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

'वत्से······ओतवा उ'— पणियों की कथा से संकेत मिलता है कि गायों को उक्त 'निहता पदानि' को गुहा में छिपाया गया था (सरमा पणि संवाद ऋ० वे० १०–१०८ देखें)। कथानक तो रोचकता के लिए हैं। रहस्य यह है कि पूर्वार्द्ध या भूर्भुवः स्वः लोकों या 'निहिता पदानि' या गुहा में 'गौः' रूप तत्त्व या उस गुहा रूप गौ में उसका वत्स रूप भौतिकात्मा के दश ज्ञान रूप प्राण छिपा कर गर्भ में रखे हुए हैं। पूर्वार्द्धान्त में वह वत्स रूप भौतिकात्मा ३६० दिनों का (केवल दिनों का ही, रातें-इसमें शामिल नहीं हैं) वत्स उत्पन्न हो गया है जिसे वष्कय' या एक वर्ष का कहते हैं, यह दिन रूप वर्ष का वत्स है, जब यह उत्तरार्द्ध में ३६० रातों के वर्ष से युक्त होता है तब इसे 'वत्सरः' या संवत्सर या संवत्सर ब्रह्म कहते हैं। तब वह गौ रूप माता भौतिकात्मा रूप वत्स से युक्त हो जाती है जैसा कि आगे की ऋचाओं में वर्णित मिलेगा। वत्स की व्युत्पत्ति वत् = सदृशं + सः = वह = 'तद्वत्' उसी जैसा, पूर्वार्द्ध जैसा, 'निहिता पदानि' जैसा, अमृतमय, भौतिकामृत मय है। जब उस 'निहिता पदानि' को गुहा रूप गौ से यह तद्वत् (वत्स) अमृतमय भौतिकामृत मय रूप का उत्पन्न हो जाता है तब सृष्टि या योग दोनों की परिस्थिति में महान् अन्तर आ जाता है। त्रिपादामृतीय गुहा वाली गुहा रूप गौ तो सज्ञान सचेतन गौ है। ये दोनों सचेतनता और सज्ञानता के विभिन्न विभाग हैं, उन भागों को दैवी प्राणा या दश प्राणा या देवता कहते हैं। वे अमृतमय

प्राण हैं, भौतिक नहीं। जिस भौतिकात्मा रूप 'वत्स' की उत्पत्ति हुई है उसमें उक्त प्राण रूप सज्ञानता या सचेतनता नहीं रहती, अतः उसे बल या वृत्र की चट्टान कहते हैं। भौतिकात्मा अश्रु या रस रूप है उसी को 'अश्मा' पत्थर या स्फटिक या चट्टान कहा जाता है। उसी में ज्ञान रूप ब्रह्मा जिसे ब्रह्मणस्पति या 'इन्द्रस्येन्द्रियमिदं' कहते हैं, विदृति द्वार से प्रविष्ट होता है। अतः गुहा रूप गौ में प्राण रूप गौओं को चुरा कर रखकर उसके बाहर चट्टान से बन्द रखने की पणियों की कथा गढ़ी गई है जिसे सरमा देवशुनी—सरण-शील दैवी प्राण—प्राणायामादि ध्यानादि के द्वारा पता लगा सकती है और ज्ञानमय बृहस्पति या प्राणमय इन्द्र उन गायों या खोये प्राणों को प्राणों (देवशुनी सरमा) के बनाये मार्ग या विदृति द्वार से प्रविष्ट होकर पा जाते हैं। यह सरमा पणि की कथा का गूढ रहस्य है। यह योग की प्रक्रिया का अद्भुत प्रकार का विवेचन है। इसे इस ऋचा में ही (योग) यज्ञ रूप में स्पष्ट वर्णित किया है। इस यज्ञ क्रिया का प्रयोग दोनों प्रकार की विवेचना एक साथ देने के आशय से किया गया है (१) योग यज्ञ (२) सृष्टि यज्ञ, दोनों के तत्त्व एक ही होते हैं, केवल प्रक्रिया में ये एक दूसरे से विपरीत होते हैं। वह यज्ञ इस प्रकार है।

यज्ञ का मुख्य कर्ता भी वही है जिससे पाकः प्रजापति प्रश्न कर रहा है। वह "अग्नि विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्त तन्तुम् ॥" (ऋ० वे० १०-५२-४) ऋचा में वर्णित विद्वान् नाम अग्नि का है। परन्तु यहां पर जब पाकः ने इस अग्निर्विद्वान् से प्रश्न करके ज्ञान प्राप्त कर लिया तो इसके सप्तर्षि रूप सात प्राणों ने यज्ञ कर्म को सँभाला। इन्हीं सप्तर्षियों को जिनमें अग्निर्विद्वान की ज्योति जग गई हैं, पिछले परिच्छेदों में 'कवि' या 'कवय' नाम से सप्रमाण प्रसिद्ध बताया जा चुका है। उसमें स्पष्ट लिखा भी है 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' और इन्हीं के बारे में 'इत्था जीजनत् सप्त-कारून्' (ऋ० वे० ४-१६-६) मंत्र में स्पष्ट लिखा है कि, इन सप्त कारु या कवियों को (अग्निर्विद्वान् ने) उत्पन्न किया या जागृत किया; इनको नये रूप में नहीं, वरन् वर्तमान अजागृत रूप से जागृति मात्र दी, क्योंकि इनके मूल बीज रूप धर्म पहले से विद्यमान थे 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (मन्त्र ४३ की उक्षा वाली व्याख्या देखें)। कवि नामक प्राण तो दैव्या ऋषयः या दैवी प्राण हैं, ये अग्निर्विद्वान् के ही अंग हैं, अमृतमय अंग हैं, अभौतिक अंग हैं इनमें से प्रत्येक अपने अपने भौतिक प्राण रूप तन्तु की तान को ऊर्णनाभि की तरह उगलता है। इस उगलने का लक्ष 'ओतवा' या सृष्टिरूप जाल बुनने, बीनने

या बिछाने का है। यह जाल जिस प्रकार रेशम के कीड़े का अपना बुना बीना या ताना जाल उसी को अपने ही को जाल ग्रस्त कर देता है उसी प्रकार उक्त पाकः सप्त कारू ऋषियों और अग्निर्विद्वान् दोनों को अपने जाल में बन्द कर लेता है। अग्नि या यही पञ्चयाम (= पञ्चप्राणोदानापानव्यानसमान) का और सप्तन्तवी = सात प्राणों का अभौतिक जाल अमृतमय जाल अब भौतिक पञ्चयाम और भौतिक तन्तुओं का लोहे का सा कठोर पीजड़ा बन जाता है। इसका विवेचन ऋ० वे० १०-१३०-१, २ ने इस प्रकार दिया है :—

"यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एक शतं देवकर्मेभिरायत ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥
पुमाँ एन तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वितत्ने अधि नाके अस्मिन् ।
इमे मयूखा उप सेदरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥"

यहां पर जाल बुनने वालों का नाम 'पितरः' दिया है। ये पितरः भी वे ही दैवी सप्तर्षि रूप पूर्व पितरः हैं जो सृष्टि यज्ञ में भौतिकात्मीय प्राणों के सूतों का जाल बुनते हैं। वास्तव में ये ऋषि रूप प्राण तो दैवी अंग या प्राण हैं। इस जाल का मुख्य निर्माता तो 'पुमान्' पुरुष या अग्निर्विद्वान् ही है जो इसे बुनवाता भी है और उधेड़ता भी रहता है। यह उधेड़ना या 'उत्कृणत्ति' क्रिया करना ही योग है, योग प्रक्रिया है जिससे इन्हीं जाल में तने भौतिक प्राण रूप ऋषियों या 'आङ्गिरसा नवग्वा' या नौ संख्या के और नवीन भौतिक प्राण वाले ऋषियों से दैवी 'दशाग्वा' ऋषियों (दश प्राण वालों पञ्च प्राणोदानादि पञ्च 'वाक् प्राणमनः चक्षु श्रोत्रं' वालों) की जागृति या अनुभूति प्राप्ति की जाती है। तन्तु वाले प्राण ही आङ्गिरस नवग्वा या दशग्वा विप्रा कहलाते हैं। (ऋ० वे० १-६२-३, ४, ५)

इस सृष्टि जाल और उसके योग द्वारा उधेड़ने या उत्कृणन का विवेचन अथर्ववेद (८-८-५ से १४) ने इस प्रकार दिया है :—

"अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो मही ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥
... ...
अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥
... ...
साध्या एकं जालदण्डं मुद्यत्यन्त्योजसा ।

रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ।।
विश्वेदेवा अपरिष्ठा दृब्जुन्तो यन्त्वोजसा ।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ।।

इसमें इस सृष्टि या योग जाल के अङ्ग प्रत्यङ्ग में स्थित देवता रूप तत्वों का निर्धारण करके उक्त भाव को और अधिक स्पष्टता दे रखी है ।

मंत्र ६—

अभी प्रश्न चल ही रहे हैं; ये प्रश्न तो अन्त तक चलते रहेंगे। इधर ५, ६, ७ वें मन्त्रों में कई प्रश्न साथ साथ किए गये हैं। उनका उत्तर साथ साथ तथा मंत्र ३३ तक क्रम से दिये गये हैं। इसके अनन्तर यह पाकः नामक प्रजापति मंत्र १८ और ३४ से फिर दूसरी नयी प्रश्नावलियाँ पूछता है जिनका उत्तर क्रम से ३३ तक और अन्तिम ५२ वीं ऋचा तक दिया गया है। यह पूरा सूक्त पाकः कः प्रजापति और अग्निर्विद्वान् दोनों के प्रश्नों और उत्तरों के गम्भीर कथोपकथनों से भरा हुआ है। अन्यत्र न ऐसे गम्भीर प्रश्न किये गये हैं, न ऐसे प्राञ्जल उत्तर उपलब्ध होते हैं। यह दीर्घतमा ऋषि की दीर्घतमा प्रतिभा की ऊँची दार्शनिक उड़ानों की स्वर्गीय दिव्यलोकीय यात्रा या ब्रह्माण्ड विजयी यात्रा का—जिसे वास्तव में योग यात्रा का विवेचन कहना उचित है उसी का—अभूतपूर्वचित्रण है। ऐसे साक्षात्कार के चित्रण अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसमें मंत्र ४३, ३१, ९, और १ में साक्षात्कार करने अर्थ के 'अपश्यम्' धातु का स्पष्ट प्रयोग है, और अधिकांश स्थलों में वर्तमान काल का प्रयोग भी इसी साक्षात्कारीय योग दृष्टि की ज्वलन्त किरणें बखेरता हुआ स्पष्ट द्योतमान मिलता है। प्रस्तुत प्रश्नावली की दूसरी ऋचा इस प्रकार है :—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षलिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विस्देकम् ।। ६ ।।

इस मंत्र की व्याख्या की कुञ्जी रूप शब्द 'न विद्वान्' है जिसका अर्थ आज तक के सभी धुरंधर विद्वानों ने, पूर्वोक्त सिलसिले या चल रहे क्रम या सन्दर्भ को न जान सकने के कारण इस 'न विद्वान्' पद का अर्थ (As one all ignorant या 'ऐसे व्यक्ति के समान जो नितान्त अनभिज्ञ है' लिखकर सारी ऋचा के अर्थ में ही नितान्त अनभिज्ञता की धूल झोंक दी है। वास्तव में यहां पर 'न विद्वान्' में 'न' उपमावाचक है और अर्थ यह है—जिस प्रकार 'को विद्वांसमुगात्प्रष्टुमेतत्' (मंत्र ४) में मैं कः प्रजापति, विद्वान् नामक अग्नि के पास पूछने गया था उसी प्रकार यहां इन कवियों से पूछता हूँ (कवीन् पृच्छामि)। यहां पर भी पूछने वाला वही

पाक: नामक क: प्रजापति ही है, पर वह यहां अग्नि विद्वान् से न पूछ कर, कवियों से पूछ रहा है उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि विद्वान् से पूछा था।

क्योंकि जब पाक: ने अग्नि विद्वान् से पंचम ऋचा में प्रश्न किया था तो उसने इसे इन सात प्राण रूप ऋषियों की अनुभूति या ज्ञान दे दिया। अब सामने बैठे इन्हीं से प्रश्न करना उचित हो गया। अब प्रश्न यह है कि ये कवि कौन हैं ? और कवि नाम किसका है ? ये कवि भी उसी अग्निर्विद्वान् नामक अमृत प्रजापति के दैवी प्राण रूप मौलिक अङ्ग हैं जिन्हें मन्त्र १५ में 'साकंजा सप्त दैव्या ऋषय.' कहा गया है। कवि माने योगी होता है जैसा कि मंत्र १८ के 'कवीयमानः क इह प्रवोचत्' वाक्य में क: प्रजापति या पाक: प्रजापति को कवीयमान: या योगनिष्ठ बतलाया है। इसी आशय को मंत्र १६ में कविर्यः पुत्रः स इमा चिकेत' वाक्य उस पाक: क: प्रजापति को अग्निर्विद्वान् का कवि-रूप योगनिष्ठ पुत्र बतलाते हुए उसे इन कवि रूप योगी रूप सात दैवी ऋषियों की अनुभूति करने वाला कहा गया है। इन्हीं सप्तर्षियों को या अग्निर्विद्वान् के मौलिक प्राणों को 'सप्तकाहन्' या सप्त कवि कहा जा चुका है। अत: यहां पर कवि रूप या योगी रूप 'पाक: या क: प्रजापति उस अग्निर्विद्वान् के उन मौलिक अङ्ग रूप सप्तर्षियों को ही 'कवीन्' नाम से या योगनिष्ठ नाम से पुकार कर उनसे अपनी योगनिष्ठावस्था या समाधि की अवस्था में ही प्रश्न कर रहा है, मानो भरी सभा में विद्वान् विद्वानों से वार्तालाप सा कर रहा हो। ये दैवी प्राण या अग्निर्विद्वान् के मौलिक अङ्गरूप प्राण ही अग्नि वायु सूर्य चन्द्रमा और दिश आदि नाम देवता या भौतिकात्मीय पाकशरीर वाक् प्राण चक्षु मन: श्रोत्रं के देवता या आत्मायें हैं; उन्हीं से पाक शरीरी अंग प्रश्न कर रहे हैं।

पूछने के तीन मुख्य कारण हैं (१) विद्मने या अनुभूति रूप ज्ञान के लिए (२) अचिकित्वान् या पाक में प्रविष्ट हो जाने से या पाकं गर्भ में बन्द होने से ज्ञान रहित हो गया हूँ (३) और वे कवि रूप योगनिष्ठ प्राण दैवी रूप होने से योगमय ज्ञानमय हैं। पूछना क्या है ? इसका कोई अन्त ही नहीं है, न पारा-वार। इस ऋचा तथा अगली ऋचा में तो 'पृच्छामि' और 'इह ब्रवीतु' पदा-वली के प्रयोग से प्रश्न किय गये हैं, पर कहां तक प्रश्न किए जाते ? अत: प्रत्येक ऋचा को प्रश्न की भाषा से व्यर्थ में लादने के स्थान में आशय का वर्णन करते गये हैं जिनके उचित प्रश्न उनके गर्भ में ही निहित समझने चाहिए। मन्त्र १८ में 'दैवं मन: कुतो अधिप्रजातम्" वाक्य से पुनः स्पष्ट प्रश्न है, उसका तथा सम्बद्ध प्रश्नों का उत्तर मंत्र ३३ तक दिया गया है। पुनः मंत्र

३४ में 'पृच्छामित्वा', को चार वार प्रयुक्त करके' प्रश्न करते हुए स्मरण दिलाया जा रहा है कि यहां पर जितना भी विषय प्रतिपादित हुआ है, हो रहा है और होगा वह सब प्रश्नावली या प्रश्नोत्तर शैली में ही है। प्रस्तुत ऋचा के प्रश्न में इतनी बड़ी भूमिका को विस्तारपूर्वक बांध कर देने का आशय भी यही है। इसका प्रश्न यह है :—

"अपि स्विद् (तद्) एकं किम्, यः अजस्य रूपे इमा षल् रजांसि वितस्तम्भ"—कि सचमुच में, सत्य सत्य रूप में वह 'एक' (मेवाद्वितीय) नामक तत्त्व कैसा है? कौन है? किस प्रकार का है? जिसने अपने 'अज' या अजन्मा या अजायमान रूप में ही इस सृष्टि या अतिसृष्टि के छहों विभागों या मौलिक भौतिक प्राण रूप लोकों को (सृष्टि या अतिसृष्टि के) मेरुदण्ड के रूप में स्थापित किया?

इसका विस्तृत उत्तर अगली आठवीं ऋचा से प्रथम प्रश्नावली की समाप्ति से प्रारम्भ होकर मन्त्र २१ वें में समाप्त होता है जिसमें लिखा है कि 'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा स मा धीरः पाकमत्रा विवेश'। इसकी व्याख्या आगे यथास्थान दी जावेगी। यहां इसके 'धीरः' और यजु के प्रजापति-श्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीराः" मन्त्र के 'धीराः' शब्दों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उस धी-धारी को वैसे ही धीधारी या योग से प्राणों को धारण या उद्दीप्त करने वाला कहा है जैसा कि 'कः' या 'पाकः' प्रजापति ने यहां किया है। इसके मुख्य सिद्धान्त, छह रजांसि का ही विवेचन मन्त्र १० से १५ तक और २३ से २५ तक की ऋचाओं में अनेक शैलियों से विस्तारपूर्वक दिया है। और मन्त्र १४ में इन छह लोकों के मूल रजः से सूर्य तत्त्व के मूल स्रोत चक्षुः को आवृत भी कहा है और मन्त्र १९ में इन छह लोकों को सृष्टि चक्र के रथ की धुरी में जड़े हुए बतलाया गया है। यह सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों दर्शनों का प्रदर्शन करता है।

मन्त्र ७—

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥

यह ऋचा यहां पर पाकः नामक कः प्रजापति के अग्नि विद्वान् से किए गये तीसरे गम्भीर प्रश्न को सामने रखती है। इसमें 'वामस्य' 'निहितं' 'पदं' और 'वेः' शब्द पारिभाषिक हैं। वाम नाम जैसा पहले बताया जा चुका है

दर्शन या सृष्टि या योग का पूर्वार्द्ध का है जिसके उत्तरार्द्ध को दक्षिण या दक्षिणा कहते हैं। इस पूर्वार्द्ध रूप वाम तत्त्व को 'गुहा त्रीणि निहिता' (पदानि) या पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत के तीन पद या पाद रूप अमृत निहिता या सुरक्षित करने वाला भी पहले मन्त्र ५ में 'देवानामेना निहिता पदानि' कहा जा चुका है। यहां पर इन तीन पदों या पदानि को वाम रूप पूर्वार्द्ध का एक पूरा पूर्वार्द्धीय गुहा रूप 'पदं' नाम से पुकारा जा रहा है। तत्र पाकः नामक कः प्रजापति प्रश्न कर रहा है—कि जो व्यक्ति इस पूर्वार्द्धीय वाम नामक तत्त्व के पूर्वार्द्ध रूप गुहा नामक पद या निवास को 'निहित' या सुरक्षित या अमृत रूप में जानता है या कभी योग द्वारा साक्षात्कार करके बैठा है वह अपने उस साक्षात्कार की अनुभूति का स्पष्ट व्याख्यान करने यहाँ आवे। इस विषय पर अन्य किसी दूसरे को, जो योगी यति नहीं है, बोलने कहने का कोई अधिकार नहीं है यह बताना इस प्रश्न का मुख्य लक्ष्य है, यह न भूलें।

यहाँ पर इस वाम का नाम 'वेः' या पक्षी या सुपर्ण दिया है। सुपर्ण तो कई हैं, कई प्रकार के हैं। इनके दार्शनिक और योगानुभूतिक शरीर का प्रतिपादन छन्दों के पादों या अक्षरों से किया जाता है। यहाँ पर सन्दर्भ के अनुसार वाम नामक पूर्वार्द्धीय गुहावासी सुपर्ण या 'वेः' (विः के षष्ठी रूप) का विवेचन है। क्योंकि यहां पर इसके पद या स्थान को (गुहा में) निहित या सुरक्षित कहा गया है, जिसे यज्ञ का पूर्वार्द्ध कहा जाता है; और गायत्री ही को यज्ञ या योग और सृष्टि यज्ञ का पूर्वार्द्ध कहा गया है। 'गायत्री वै यज्ञस्य पूर्वार्द्धः"। अतः यहां का 'विः' या सुपर्ण गायत्री त्रिपादी है जिसका निवास पूर्वार्द्ध में ही है। वही गायत्री वास्तविक सुपर्ण भी है, वही त्रिपादामृत रूप अमृत कलश को ढोकर लाने वाली भी है। अतः लिखा है "गायत्री सुपर्णो (श्येनो) भूत्वा सोममाजहार।" यह गायत्री तो दर्शन या सृष्टि का खाका या मेरुदण्ड मात्र है। देवता रूप में इसी गायत्री सुपर्ण को 'सूर्य' तत्त्व कहते हैं, उसके सोमकलश को चन्द्रमा। अतः 'सूर्याचन्द्रमसौ सुपर्णौ' भी कहा जाता है। येही 'द्वा सुपर्णा' भी हैं। पर प्रस्तुत ऋचा में केवल वाम नामक पूर्वार्द्धीय अमृतमय गायत्री शरीरी सुपर्ण मात्र का विवेचन किया जा रहा है। यह सुपर्ण अमृत ज्योति रूप या उत्तर और उत्तम ज्योतिरूप ब्रह्म का त्रिपाद् स्वरूपी तत्त्व रूप सूर्य है न कि आकाश में चमकने वाला।

इस मंत्र के उत्तरार्द्ध में उस वाम नामक सुपर्ण का सम्बन्ध इसके अग्रिम विकास रूप गावः, उनके शरीर, तथा उनके पेय से बतलाया जा रहा है। इस त्रिपादामृत रूप वाम नामक सुपर्ण का अग्रिम प्रथम विकास वह शरीर या

दिव्य शरीर है जिसे भौतिकात्मा कहते हैं। वर्णनान्तर में इसी दिव्यः शरीर को 'दिव्यः स सुपर्णः' (मंत्र ४६) या द्वितीय सुपर्ण चन्द्रमा कहते हैं। यही उस वाम नामक प्रथम अमृत ज्योतिर्मय सुपर्ण का वव्रि या रूप या वर्ण या प्रकाश रूप आत्मा के नाना रंग ही उनके वस्त्र या शरीर हैं। इस शरीर के अनन्त रंग रूप अङ्ग हैं जिनमें से प्राण रूप अङ्ग मुख्य हैं जिन्हें 'स्त्रियः सतीस्तां उ पुंस आहुः' (मन्त्र १६) में स्त्रियां कहा है और मन्त्र १५ में 'साकंजा षडचमाः'। इन्हीं को यहां पर और प्रायः अधिकांश वैदिक ऋचाओं में मुख्यार्थ में 'गावः' ही कहा गया है। इसीलिए कहा है कि ये गावः उसे प्रकाशमय वाम सुपर्ण की ज्योति के नाना रंग रूप अङ्गों का वस्त्र या शरीर धारण की हुई हैं। क्योंकि मूल, भौतिकात्मा का रूप केवल वही प्रकाश किरण या रंग रूप मात्र है उन्हीं से यह स्थूल ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है। फलतः ये गाय रूप प्राण उस वाम नामक सुपर्ण रूप, दर्शन या सृष्टि के पूर्वार्द्ध रूप शिर से (वस्तुतः उस वाम सुपर्ण के पूर्ण शरीर से—क्योंकि वह वाम ही शिर है; गायत्री को भी "गायत्री वै यज्ञस्य शिरः" कहा गया है) दूध को अपने शरीर रूप स्तनों में खींचकर भरती हैं। इस 'दूध' तत्त्व को अब तक किसी भी व्याख्याकार या भाष्यकार या अनुवादक ने समझ ही नहीं पाया है। यहीं पर सबकी गाड़ी अटकी है। गाय के शरीर में दो तत्त्व हैं (१) दूध (२) रक्त (राग)। दैवीवृत्ति के देवता तो इन प्राणों के इन शरीरों से अमृतमय ज्ञान ज्योति रूप दूध को दुहते हैं, पर आसुरी वृत्ति वाले असुर या पणि कसाई की तरह या जोंक की तरह इन्हीं स्तनों से दुग्धपान करने के स्थान में रक्त-मांस का पान या खानपान में या इनके स्तनादिस्पर्शादि सुखादि की भौतिकता में रम या सन जाते हैं। इन्हीं दो भावों को केवल एक भावाभिव्यक्ति द्वारा यहाँ पर व्यक्त करने के लिए ऐसी संक्षिप्त शैली का प्रयोग किया गया है जिसको तत्कालीन जनता इतना विश्लेषण बिना दिए ही शेष भाव को स्वयं समझ लेने की आदी थी।

'उदकं पदापुः' – इन गाय रूप प्राणों के शरीर रूप मौलिक भौतिकात्मीय प्रकाश की नानाविध 'रूप' नामक किरणें किस आधार से जीवित रहती हैं? इसका विवेचन देते हुए ऋचा कहती है कि 'वे गाय रूप प्राण अपने चरणों से उदक का पान करती हैं'। यहां पर इन प्राणों के तात्त्विक विवेचन को पुनः दुहराना आवश्यक हो गया है। ये प्राण रूप गायें जिस 'त्रिपादामृतीय ज्योति से उत्पन्न वस्त्र को पहनी हुई हैं, पहले कहा गया है, जिस ज्योति रूप शरीर को ये प्राण धारण किए हुए हैं उसका भी एक बाहरी खोल है। क्योंकि भौतिकात्मा दो प्रकार का है (१) अमृत भौतिकात्मा (२) मर्त्य भौतिकात्मा। जिस शरीर को

इन प्राण रूप गायों ने अब तक पाया है वह तो अमृत भौतिकात्मा रूप है। इसको धारण करने वाला द्वितीय कोश या खोल रूप द्वितीय शरीर मर्त्यभौतिकात्मा है। इस द्वितीय शरीर या कोश रूप शरीर का नाम 'आपः' है। कहा भी है "प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योती रूपं चन्द्रो यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः सर्वेऽनन्ताः ।।" (बृह. उप. १-५-१०)। यह शरीर भी ज्योती रूप ही है। यह प्राण चन्द्रमा के समान है। चन्द्रमा रूप प्राण में जो उज्ज्वलता है, प्रकाश है, वह ज्ञानमय दुग्ध की त्रिपादामृतीय उज्ज्वलता है। उसकी जो ज्योतियां ज्ञानरूप में इतस्ततः बिखरती है जिनसे सबको ज्ञानानुभूति (शरीर में) होती है वह आपो रूप शरीर है। इन दोनों के सम्मिलित रूप को सोम या चन्द्रमा कहते हैं। यह मनोरूप चन्द्रमा है, इसके प्रकाश किरण या ज्ञानभिन्नतायें अन्य गाय रूप प्राण हैं। ये एक दूसरे में व्याप्त हैं, सब बराबर तथा अनन्त रूप के हैं।

अब परिस्थिति यह हुई कि त्रिपादामृत से निःसृत ज्योति रूप प्राण तो ऊर्ध्वः स्थित वाम नामक त्रिपाद सुपर्ण से अमृत रूप ज्ञान के दूध को दुहते हैं। ये ही प्राण अपने इस आत्मा रूप अध्यात्म शरीर को धारण करने के लिए चतुर्थपाद रूप भौतिकात्मीय विकास से आपोमय शरीर का पान करते हैं या सोमपान करते हैं या सोमीय मर्त्य भौतिकात्मीय शरीर को धारण करते हैं। यहां पर 'पदा' माने संदर्भानुसार, चतुर्थ पद या पाद से है। चतुर्थ पद या पाद में ही आपोरूप मर्त्य भौतिकात्मा के अन्न की आविर्भूति होती है। ये प्राण रूप गायें अपने शरीर के चतुर्थ पाद रूप भौतिकात्मा के उसी आपः रूप अन्न या भौतिक प्रकाशमय शरीर का पान या प्राप्ति करती हैं।।

मंत्र ८—माता पितरमृत आबभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ।। ८ ।।

यहां पर जिन माता और पिता का वर्णन है उनकी व्याख्या आगे मन्त्र ३३ के "द्यौर्मे, पिता जनिता ··· मे माता पृथिवी महीयम् ।।" वाक्य में दी गई है, जिसमें लिखा है कि सृष्टि का पूर्वार्द्ध जिसे द्यौ या द्यावा कहते हैं वह मेरा या इस सृष्टि का पिता है; यही भाव कई अन्य ऋचाओं में भी अभिव्यक्त किया गया है जैसे मधुवाद में 'मधु द्यौ रस्तुनः पिता' इत्यादि। इसी सृष्टि का उत्तरार्द्ध जिसे पृथिवी या भूमि कहते हैं उसकी मही या पूजनीया माता है। इन दोनों द्यावापृथिवी का सम्मिलित रूप 'ऋतम् बृहत्' कहलाता है जिसका उल्लेख 'हंसः शुचिषत् ··· ऋतं बृहत्' और 'ब्रह्मा देवानां ··· ऋतं बृहत्' दो स्थलों में पूरे सृष्टि चक्र को ऋतं बृहत्' या ऋतं ब्रह्म कह कर किया गया है।

महो माता या माता मही पृथिवी या सृष्टि के उत्तरार्द्धीय भौतिक पक्ष के कई नामान्तर हैं। इसका जन्म पूर्वार्द्धीय (पिता माता सम्मिलित) द्यौ रूप से होता है। बृह. उप. ने इस क्रम की व्याख्या विस्तार से दे रखी है (१-४) जिसका शीर्षक 'अहंकारादेशः' है। इसमें लिखा है कि वह पूर्वार्द्धीय पिता रूप पुरुष अकेला होने से भयभीत रहा, उसने साथी पाने की मनसा या कामना की ही थी कि उसको स्त्री रूपिणी भौतिकात्मा ने चारों ओर से व्याप्त कर उसके स्वरूप को अर्द्धवृगल या अर्धनारीश्वर का बना दिया। उसने उन दोनों को दो भागों में विभक्त कर दिया, वे पति पत्नी बन गये। पर पत्नी ने सोचा कि उसी से उत्पन्न (पुत्री) मैं उसकी पत्नी कैसे बनूं ? अतः वह गाय बनी तो पुरुष गो (बैल) बना, वह वडवा बनी तो पुरुष अश्व। इस प्रकार सभी मिथुनों के जोड़े बन गये। इसी लिए एकाध स्थलों में 'पिता दुहितुर्गर्भ माधात्' (मंत्र ३३) में लिखा भी है कि पूर्वार्द्धीय पिता ने उत्तरार्द्धीय दुहिता को गर्भदान दिया। अस्तु यहां पर पहले 'माता पितरमृत आबभाज' का आशय समझना है। यहां पर 'माता ने ऋत नामक अर्द्धनारीश रूप अखिल ब्रह्माण्ड के एकात्म्य रूप से अपने को भौतिकात्मा के पृथक् रूप में विभक्त कर लिया' कहा गया है। यही बात उक्त बृह. उप. से दिए उद्धरण में कही गई है।

अब 'धीत्यग्ने मनसा सं हि जग्मे' का भाव समझना है। इस विभाजनोत्तर काल में उस माता रूपिणी भौतिकात्मा ने अपनी मनोरूपिणी भावना वाले शरीर से ही—क्योंकि उसका आविर्भाव पुरुष के मनः से या मनसा या इच्छा से हुआ था—उस पुरुष को पति रूप में प्राप्त हुई या पति मान कर गई या मिली जिसका सबसे प्रथम (अग्रे) उद्देश्य 'धीति' या पञ्च प्राणों के मिथुनों को धारण करके 'धीराः' या धीवती या प्राणवती बनने का था। जब तक उस में पञ्च प्राणों की उभयात्मकता का विकास नहीं हो जाता तब तक उसका केवल मनोरूप चान्द्रमस या सोमीय शरीर पत्नीत्व का सुख या आनन्द या सन्तानादि बीजाधानादि कर्म नितान्त असम्भव होता। अतः वह इसी लक्ष्य से उससे पत्नी रूप में मिलने गई है। इस परिस्थिति का विवेचन आगे मंत्र ३२ में 'स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश' और मन्त्र ३३ में 'उत्तानयोश्चाम्वोयोनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' वाक्यों से दिया गया है। इसी भाव को यहां पर 'सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयु'' वाक्य से दिया गया है कि "वह माता रूपिणी भौतिकात्मा इन प्राणों के गर्भ को धारण करने की कामना से बीभत्सित या रजस्वला या पुष्पवती होकर, गर्भरस या स्त्रीत्व की कामनामयी आग्नेयी रसमयी, या

आजकल की भाषा में स्त्री के हारमोन्स से युक्त होती हुई, निविद्ध हो गई या गर्भमयी बन गई।" इसी को मंत्र ३२ में 'निर्ऋति रूप मर्त्य गर्भ में वह पति या पिता उस माता की योनि में व्याप्त होकर प्रविष्ट हो गया" कहा गया है; और मंत्र ३३में "पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप दो चमुओं के मध्यस्थानीय योनिरूप भाग में पूर्वार्द्धीय पिता ने उत्तरार्द्धीय दुहिता नामक पत्नी में या उत्तरार्द्धीय माता के गर्भ में वाक् रूप दुहिता का गर्भ धारण कर दिया" कहा है। इसी बात को यजुः (पु-सू) में "प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥" भी प्रजापति रूप द्यौ का गर्भ रूप पृथिवी में व्याप्त होना लिखा है। बात सबमें एक है, इनमें भाषान्तर, शब्दान्तर और वाक्यान्तर मात्र की विशेषताएँ हैं

'नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः' पद की व्याख्या में व्याख्याताओं ने हद कर दी है। वे कहते हैं कि सारा संसार या सृष्टि उस माता की प्रशंसा करने दौड़ा आया या आई। अभी तो गर्भ ही धारण किया गया है, दौड़ लगाने वाले कहां से टपक पड़े ? यह वे भूल गये। अस्तु उपवाक् माने द्विपात् और चतुष्पात् होता है। इनमें द्विपात् तो भौतिकात्मा के उन तत्त्वों का संकेतक है जिन्हें नृ, ना, नर, नार, मनुष्या आदि नामों से या वाक् प्राण मनः चक्षु श्रोत्रं त्वक् आदि नामों से पुकारा जाता है। और चतुष्पात् नाम अश्व गो अवि अजा पुरुषपशु नामक पञ्च प्राण उदान व्यान अपान समान नामक पशुओं का है, जिन दोनों प्रकार के प्राणों का संचार उस मही माता के गर्भ में आनमन या नमस्वन्त रूप में प्राप्त हो गया है। 'निविद्धा' शब्द में इसी गर्भ से गर्भिणी होने का संकेत है कि उसमें उक्त द्विपात् चतुष्पात् नामक प्राण वेन रूप में आनमन रूप में या नमस्वन्त रूप में उस गर्भ में प्राप्त हो गये हैं जिनका मुख्य लक्ष्य करके इस मही माता ने उस द्यौ रूप पिता या पति से अपने मानसिक भौतिक शरीर से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था!

योग पक्ष में माता भौतिकात्मीय शरीर है, जिसका गर्भरस निविद्ध होना प्राणों की जागृति है जिनमें पिता की ज्योति जगमगाई हुई है, और वे प्राण रूप उपवाक उस ज्योति रूप पिता को नमस्कार करते हुए सिर झुकाये हुए उसकी ज्योति का स्वच्छन्द आनन्द ले रहे हैं।

मंत्र ९—"युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनुगामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥"

इसमें सृष्टिचक्र की धुरी के दक्षिण भाग में उस माता रूप उत्तरार्द्धीय पृथिवी को जुती हुई बतलाया है जिस भाग में स्थित रह कर उसने अपने

भौतिकात्मीय गर्भ में 'नमस्वन्तइदुपवाकमीपुः' वाक्य के अनुसार उभयात्मक प्राणों का गर्भ धारण कर लिया था। योग पक्ष में यह दक्षिणा माता पूर्वार्द्धीय या उत्तरा (यणा) हो जाती है। अतः दूसरी पंक्ति में इसे 'त्रिपु योजनेषु या त्रिपादामृत पूर्वार्द्ध में देखा' कहा गया है। मंत्र १९ देखें। इन उभयात्मक प्राणों को वेदों में प्रायः गावः, चर्षण्यः वृजनीः धियः आदि नामों से पुकारा जाता है। अब इनके गर्भ धारण करने की पारी है। इनमें किन का गर्भ होगा ? इसको जानना कोई कठिन नहीं है। प्रत्येक प्राण का अपना अपना पृथक् पृथक् ज्योतिर्मय देवता या आत्मा है जिसके बिना वह प्राण प्राण ही नहीं रह सकता, निष्प्राण सा शरीर ही समझिए। वाक् का अग्नि, चक्षु का सूर्य, मनः का चन्द्रमा, श्रोत्रं का दिक् , प्राण का वायु देवता या आत्मा हैं। इन्हीं का गर्भ इन प्राणों में अधिष्ठित हुआ (अतिष्ठद्गर्भो वृजनीपु)। यहां पर 'अन्तः' या 'अन्तर्गत' शब्द इस रहस्य को खोल रहा है। गर्भरस इन्हीं प्राणरूपी शरीरों का हुआ था, अब इन प्राण शरीरों में इनकी आत्मा रूप देवताओं का गर्भ स्थापित हो गया है या योग से उद्दीप्त हो गया।

यद्यपि यहां पर इन प्राण रूप वृजनी या गायों की संख्या दश है पर ये सब एक शरीर की विभिन्न अङ्ग रूपिणी गावः या वृजनीः हैं। ये एक ही शरीर रूप गौमाता है जो एक ही माता उत्तरार्द्ध के गर्भ में है। जब इन प्राण रूप गावः या वृजनियों ने अपने देवता रूप आत्माओं को अपने अन्दर (अन्तः) गर्भ में धारण किया तो उनका एक शरीरी सामूहिक वत्स (सा) योगी उस पूर्वार्द्धीय माता के गर्भ में जागृति या जीवन या प्रकाश पा गया। इस वत्स को देख कर उस पूर्वार्द्धीय माता के प्यार की ध्वनि उच्चरित करते ही वह वत्स रूप प्राणमय देवात्ममय योगी ब्रह्म ने, 'वृषभो रोरवीति' का घोष उच्चरित कर दिया। अब शब्द ब्रह्म रूप उस वत्स का प्रथम जन्म हो गया। जब उस शब्द ब्रह्ममय वत्स ने आंख उठा कर उपर को देखा तो उसे अपनी वही माता उत्तरार्द्धीय गौ ही ऐसे रूप में दीख पड़ी जिसे वैदिक दर्शन में विश्वरूपा या पृश्नि या सर्वरूपगर्भा, केवल नानारूपगर्भा या नानाप्रकार के प्रकाश किरणरूप अनन्त बीजरूपिणी, प्रकाशमात्रबीजरूपिणी या यशः या शब्द ब्रह्म रूपिणी कहते हैं "तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं।···वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानां" 'वाचं धेनुमुपासीततस्याश्चत्वारस्तनाः' 'धेनर्वागस्मानुपसुष्ठुतैतु।' इत्यादि। वह वाक् ब्रह्माणी धेनु इस वत्स को तीनों लोकों में व्याप्त दीख पड़ी। क्योंकि अब वह केवल उत्तरार्द्ध में ही नहीं रह गई, अब उसमें पूर्वार्द्धीय द्यौ रूप पिता उसके दैवीप्राण रूप देवता सब समा गये। अतः वह तीनों लोक द्यावा, भूमि और मध्यस्थानीय अन्तरिक्ष या आकाश नामक सेतु

गर्त्त, स्थूण में भी व्याप्त हुई सी प्रतीत हुई। द्यावा भूमि सेतु नाम सृष्टि क्रम के तीन मुख्य भाग हैं। इन्हीं को यहां 'त्रिषु योजनेषु' या तीन योजनाएं या विभाग कहा है।

योग पक्ष में दक्षिणा माता पूर्वार्द्धीय है योग में प्रक्रिया उलटी होती है, अतः 'इसे तीन योजन या त्रिपादामृत में देखा' भी यहीं इसी में लिखा है। यह योग रूप धुरी के दक्षिणभाग में है, शरीर रूपिणी है। उसके प्राण शरीर के प्राण हैं। उन प्राणों की गायों में जो गर्भ धारण किया गया वह उनमें उनके देवता अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिश की ज्योति जगाई गई। इनकी सम्मिलित ज्योति ही वत्स है, जिसकी माता (शरीर) की अनुभूति के साथ-साथ उस तेजस्विता की भी अनु भूति सम्भव है। माता भी सूक्ष्म ही अध्यात्म तत्त्व ही है। इस परिस्थिति की अनुभूति को तीनों लोकों में व्याप्त रहने वाले भौतिकात्मा के मूल बीज रूप विश्वरूप्य रूप की ज्योतिर्मयता की अनुभूति कहा जाता है। यह योग की परम स्थिति या परम धाम का विवेचन है। 'तद्धाम परमं मम' यही योग स्थिति है।

मंत्र १०—तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥९॥

इस मन्त्र में जिन तीन पिताओं और तीन माताओं का विवेचन है उनका स्पष्ट उल्लेख ऐ० ब्रा० (८·५·२७) ने इस प्रकार दिया है "योहवै त्रीन्पुरोहितान् त्रीन्पुरोधातॄन्वेद स ब्राह्मणः पुरोहितः स वदेत पुरोधाया अग्निर्वाव पुरोहितः पृथिवी पुरोधाता वायुर्वाव पुरोहितोऽन्तरिक्षं पुरोधाताऽऽदित्यो वाव पुरोहितो द्यौः पुरोधातैष ह वै पुरोहितो य एवं वेद॥"......"एकमनसो यस्यैवं विद्वान्ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितोभूर्भुवःस्वरोममोहमस्मि स त्वं सत्वमस्यमोहं द्यौरहं पृथिवीत्वं समाहमुक्त्वं तावेव संवहावहै॥"

स्पष्ट है इस मंत्र में उल्लिखित तीन मातायें वही हैं जिन्हें उद्धृत ऐ० ब्रा० का उद्धरण तीन 'पुरोधातॄन्' या पुरोधाया कह रहा है, जिनके नाम पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ नामक सृष्टि या दर्शन के तीन मुख्य भाग हैं। इन तीनों के अधिष्ठाता देवताओं के नाम क्रम से अग्नि, वायु और आदित्य दिए हैं जिन्हें ऐ० ब्रा० तीन पुरोहित या तीन मुख्य प्राण कहता है और यह प्रस्तुत ऋचा तीन पिता। वास्तव में इन्हीं तीनों को सृष्टि का मुख्य त्रिवृत् माना गया है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में इस त्रिवृत् को मनः प्राणः वाक्=आदित्य वायु अग्नि कहते हैं। वाक्+अग्नि, प्राणः+वायु, मनः+आदित्य नामक तीन जोड़े ही अग्नि+पृथिवी, अन्तरिक्षं+वायु, और द्यौ+आदित्य नाम ते या तीन पिताओं और तीन माताओं, अथवा तीन पुरोहितों और तीन पुरोधायाओं

के नाम से पुकारा गया है। इनमें पिता या पुरोहित नामक तत्त्व तो देवता या आत्मा रूप आधेय तत्त्व हैं तो तीन मातायें या पुरोधायायें आधारभूत तत्त्व हैं। इसका और अधिक स्पष्टीकरण बृह० उप० (१-५-१ से ७ तक) में दिया मिलता है, जिसमें भी वही तुलनात्मक विषय है जो ऐ० ब्रा० के उद्धरण के अन्त में दिया है। इसमें लिखा है कि मनः वाक् प्राणः तीन मुख्य तत्त्व हैं, जिन्हें प्राण, अपान और व्यान भी कहते हैं, ये मनोमय, वाङ्मय और प्राण-मय हैं; वाक् अयं लोक या पृथिवी है, मनः अन्तरिक्ष और प्राण असौ या द्यु लोक है। वाक् ऋग्वेद है, मनः ययुर्वेद और प्राण सामवेद (ज्ञानरूप बृहती ब्रह्मरूप में)। वाक् ही देवता हैं, मनः पितर हैं और प्राण प्रजा हैं। मन ही पिता है वाक् माता है और प्राण प्रजा हैं। इस अन्तिम वाक्य में उक्त तीनों पिताओं और माताओं तथा उनके पुत्र का एक साथ समाहार भी कर दिया गया है जिसका विवेचन हम मंत्र ९ में स्पष्टतया देख आये हैं; यहाँ उसी का विस्तार किया जा रहा है। उसी विषय की अधिक विस्तार से व्याख्या दी जा रही है कि मंत्र ९ में वर्णित माता (वाक् धेनु) एक नहीं त्रिपादामृतीय तीन माताओं का ऐक्य है; और उसमें गर्भ देनेवाला भी त्रिपादामृतीय तीन पिताओं का एक समाहार है। पर इन दो समाहारों से उत्पन्न वत्स केवल एक ही है; वह है भौतिकात्मा सोम 'प्राणः' आपः शरीरी चन्द्रः।

उन तीन अग्नि वायु आदित्य रूप पिताओं (या पुरोहितों) और पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ नामक माताओं (या पुरोधायाओं) से उत्पन्न यह प्राणः या सोम या चन्द्र या दैवी भौतिकात्मा रूप 'वत्स' या प्रजा उत्पन्न होते ही (मनुष्यों के बच्चों की तरह लेटे-लेटे रोने के स्थान में पशुओं के बच्चों की तरह) एकदम स्थूण की तरह सीधे खड़ा हो गया। उसी को वर्णनान्तर में "हिरण्यरूप मुषसो व्युष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य। आरोहथो वरुण मित्र गर्त मतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ॥" (ऋ० वे० ५-६२-९) हिरणरूप या प्राणरूप अयःस्थूणा या भौतिकात्मीय स्तम्भ कहा गया है जिसका विवेचन 'शकमयं धूममारादपश्यं' (मंत्र ४३) में दे दिया है। वे तीन मातायें और तीन पिता भी एक ही हैं समझने समझाने के लिए तीन हैं 'एकं सदेतत्त्रयं' और यह उत्पन्न वत्स भी एक ही है। यह भी एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म है। यह भौतिकात्मीय 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' ब्रह्म है। अतः इसे यहां 'एकः' कहा है। इसमें उन तीन माताओं और पिताओं का समाहार है। इस एक में वे सब समाये हैं, उनकी अब पृथक् सत्ता नहीं रह गई। यह सामान्य जन्म से उलटा है, संसार में माता-पिता पुत्र को गोद में धारण करते हैं, पर यह स्वयं माता-पिता को

धारण कर रहा है, गोद में नहीं वरन् अपने शरीर में। सांसारिक बालकों में भी यह स्थिति रहती है, पर उनके माता-पिता पृथक् रहते ही हैं। इसके माता पिता तो सब इसी में समायें एकमय एकात्म तादात्म्यवाले हैं, यही इस वत्स की महती विशेषता है। इसी रूप में यह वत्स ऊर्ध्व या स्थूण की तरह खड़ा हुआ है। वे तीन मातायें तथा तीन पिता जो इसमें समाये हैं या जिनको वह अपने शरीर में धारण (बिभ्रत्) किए हुए हैं वे उसे सदा जाग्रत् और सतत क्रियाशील, अपने खिलवाड़ का खिलौना सा बनाते रहने पर भी, न तो कभी थकने देते हैं, न मरने या नष्ट होने; यह उनका दैवी भौतिकात्मीय अमर अनश्वर अजर पुत्र है।

(मन्त्रयन्ते···अविश्वमिन्वाम् —) अमुष्यपृष्ठ रूप या इन तीन-तीन दिव या त्रिपादामृत रूप माताओं और तीन पिताओं के पृष्ठ या पीठ या आसन या वाहन या शरीर रूप इस वत्स में आसीन या व्याप्त या स्थित होकर, ये माता और पिता आपस में उस वाक् की ही अनन्त महिमाओं पर विचार करते हैं या अनुभव करते हैं या उनका आनन्द लेते हैं जो केवल इस वत्स की ही मूल जननी नहीं है वरन् इन तीनों माताओं और पिताओं की भी जननी है, अर्थात् जिस रूप में यहां ये प्रस्तुत हुए हैं उन सबको विकसित करने वाली (या विश्वविदं) अर्थात् इन तीनों माताओं पिताओं सहित इस वत्स को प्राप्त करने या कराने वाली यही वाक् है। क्योंकि यह वत्स विज्ञात या ठोस ज्ञान रूप भौतिक शरीर रूप तत्त्व है। "जो कुछ भी विज्ञात या ज्ञान रूप तत्त्व होता है वह 'वाक्' का ही रूप होता है; क्योंकि वाक् ही विज्ञाता है। इस वाक् का ही शरीर पृथिवी (रूप एक माता भी) है, इसी का ज्योतीरूप अग्नि (रूप एक पिता भी) है। जहां तक वाक् व्याप्त है वहीं तक पृथिवी भी व्याप्त है, उतनी सीमा तक वह अग्नि भी व्याप्त है" (बृह० उप० १-५-३)। इतना ही नहीं यह वाक् तो उन-उन सब में पूर्णतः व्याप्त है जिन्हें इस प्रस्तुत ऋचा में — द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष या अग्नि वायु आदित्य नामक तीन माता तीन पिता भी कहा गया है। वह वाक् इन सबसे भी और अधिक व्याप्त है वहां तक जहां तक परम ब्रह्म स्वयं व्याप्त है वहां तक यह वाक् भी व्याप्त है इसकी महिमायें तो हजारों, लाखों और अनन्त हैं. कहां तक लिखा जावे। जैसे — "चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त। आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्र पिबन्ते सुतस्य॥ "सहस्रधा पञ्च दशान्युक्था यावद् द्यावा पृथिवी तावदित्तत्। सहस्रधा महिमानं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥" (ऋ वे. १०-११४-७, ८)। अतः वे मातायें और पिता इस वाक् की इस प्रकार की इन्हीं अनन्त महिमाओं की मन्त्रणाओं, विचारों या कृतज्ञता

की अनुभूतियों में डूबे से जा रहे हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि ये माता पिता जिस वत्स रूप शरीर में व्याप्त होकर इस प्रकार मग्न हैं उसका वह शरीर तो दैवी भौतिक प्राणमय है जैसे पहले बताया जा चुका है 'प्राणः प्रजा'। यह प्राण नित्य अविज्ञात तत्त्व है। 'यत्किञ्चिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं, प्राणो ह्यविज्ञातः" (बृह० उप० १-५-१०)। अतः यहां पर वाक् के इस वत्स रूप विकास को 'अविश्वमिन्वाम्' या इस सृष्टि में भौतिक (विश्व) सृष्टि में नितान्त अविज्ञात (अमिन्वाम् = अ + (विश्व + मिन्वाम्) कहा गया है कि ऐसी वाक् ने ऐसे अविज्ञात तत्त्व की सृष्टि कैसे और कैसी कर दी ? कितनी अद्भुत कितनी आश्चर्यजनक सृष्टि रचना कर दी !!! क्या गजब ढाया है ? यही उनकी मन्त्रणा हो रही है।

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति। तेषामि-ष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १५ ॥

इसमें 'देवजा ऋषियों' का विवेचन दिया है। ऋषि नाम प्राणों का है जिनका विस्तृत विवेचन 'वैदिक विश्वदर्शन' के तत्त्व निर्णय के 'सप्तवाद' शीर्षक में (पृ० ४२ से ५२ तक) दे दिया गया है। ये सात ऋषि, हैं तो वही जो मंत्र रचयिता भी हैं। पर इनके नामों को ही दर्शन के तत्त्वों के रूप में प्राण रूप में भी गृहीत किया गया है। इसी लिए लोगों को गलत-फहमी भी हो ही जाती है। हां इन तत्त्व रूप ऋषियों को मन्त्र रचयिता ऋषियों से पृथक् सूचित करने के लिए इनको आदित्या होतार ऋत्विज देवजा दैवजा दैव्या, प्राण और विप्रा (दार्शनिक) आदि विशेषणों से पुकारा है जैसे इसी मंत्र में 'ऋषयो देवजा इति' लिखा है 'ऋषयः सप्तदैव्याः' ऋ. वे. (१०-१३०-७) में लिखा है। 'सप्तहोतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त।" (ऋ. वे. ९-११४-३, १०-३४ १०, ९-६०-१६)। सप्तानां सप्त ऋषयः' (यजुः १४-१८,१७-७९)। इसी प्रकार इन्हें हमारे या अखिल ब्रह्माण्ड के शरीर में स्थित भी बतलाते हुए लिखा है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजुः ३४-५५) 'ऋषयः सप्त विप्रा' (ऋ. वे. ९-९२-२) 'तस्यासत: ऋषयः सप्त साकं' (अथर्व १०-८-९, बृह. उप २-२-३) इसी प्रकार सैकड़ों उद्धरण हैं; वैदिक विश्वदर्शन देखें।

इन ऋषियों के बारे में पहले अध्याय ३ पाद ४ (अ) के सूत्र २७ से २९ तक की व्याख्या के अन्त में पूरा विवेचन दे दिया है उसे आवश्य पढ़ लें। अन्तिम उद्धरण की व्याख्या में— जिसमें उक्त ऋषियों को सृष्टि में प्राण रूप में आसीन बतलाया है—यह स्पष्ट कर दिया है कि इन सात ऋषियों के नाम गोतम भरद्वाज, विश्वामित्र जमदग्नि, वशिष्ठ कश्यप, तथा अत्रि है। जैसे

"इमावेव गोतमभारद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भारद्वाज इमावेव विश्वामित्र जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वशिष्ठ कश्यपावयमेव वशिष्ठोऽयंकश्यपो वागेवात्रिर्वाचाह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्हवैनामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति ॥" (बृह. उप. २-२-३)।

इस विशिष्ट उद्धरण में उपनिषद् ने एक बड़ी विशिष्ट बात कही है जिसका सीधा सम्बन्ध उक्त ऋचा के 'साकं जाना' और 'षड् यमा' दो शब्दों से है। वह यह है कि यहां पर उपनिषद् ने दो दो ऋषियों का एक एक जोड़ा या यम या यमल दिया है, जिसमें कुल तीन जोड़े या यम है; वे हैं—(१) गोतम भारद्वाज (२) विश्वामित्र जमदग्नि (३) वसिष्ठ कश्यप: और अन्त में अत्रि को वाक् सर्वात्ता (गर्भ) रूप में पृथक् दिया है। इससे उक्त ऋचा के 'षड्यमा, सप्तथमाहु रेकजं, का भाव स्वयं स्पष्ट हो गया कि षड्यमा तो उक्त तीन जोड़े, या यम मा यमल ऋषि हैं। ये तीन जोड़े मौलिक तीन प्राणों के हैं जिन्हें प्रथम प्राण, मध्यमप्राण और उत्तमप्राण या पुरुषोत्तम कहते हैं। इन्हें अग्नि, इन्द्र और सोम या विष्णु कहते हैं सातवा अत्रि (सप्तथ और) एकज है। इन सात प्राण रूप ऋषियों का विकास अखिल ब्रह्माण्डीय शरीर या क्षेत्र के सात लोक या धाम नामक विभागों में क्रमशः होता हे। इष्टाप्ति माने अभीष्ट यज्ञ या विकास होता है। इन विकास श्रेणियों में ये अपने अपने पृथक् पृथक् रूपों में विकृत या विकसित होकर, उस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड रूप स्थातृ या स्थित तत्त्व के विभिन्न भागों में स्थित होकर अपनी अपनी प्राणानुकूल प्रक्रिया में लग जाते हैं।

श. प. ब्रा. (८·१-२) इन्हीं ऋषियों में से वसिष्ठ को प्राण (वसन्त ऋतुमय धाम), विश्वकर्मा को वायु (ग्रीष्मर्तु धाम) तथा वाक् और श्रोत्रं भी कहा है, भारद्वाज को मन (अन्न और वाजमय), जमदग्नि को चक्षु और विश्वामित्र को श्रोत्रं बतलाया है, अग्नि को वाक्। इस प्रकार गोतम भारद्वाज तो चक्षु और श्रोत्र हैं, और वसिष्ठ कश्यप प्राण हैं, अत्रि वाक् हैं। ये ही 'साकंजाना' षडयमाद्या ऋषि हैं, 'सप्तथमाहुरेकजं' अत्रिर्वाक् है। ये ही अङ्ग नाम के या आङ्गिरस नाम के ऋषिरूप तत्त्व हैं, ये ही योग भी करते हैं, यज्ञ भी करते हैं, इन्हीं का योग और यज्ञ (सृष्टि) इनका तपः भी कहलाता है। इन जोड़े रूप या यम रूप ऋषियों की व्याख्या सन्दर्भानुसार नाना भांति से की गई है जिसका सम्बन्ध भी योग ही से हैं। प्राण तत्त्व व्याख्या माने योग तत्त्व व्याख्या समझनी चाहिए।

श. प. ब्रा. ने इन ऋषियों में से विश्वकर्मा की वर्णना कई प्रकार से की है। पर विश्वकर्मा सूक्त (ऋ. वे. १०-८२-२,३) इसे सप्त ऋषियों से परे मानसी वाक् रूप बतलाता है। इसीलिए श. प. ब्रा. ने इसे मन, वाक् और वायु नाम से कहा है, यह अनिरुक्ता वाक् रूप विश्वकर्मा है। क्योंकि ये-ऋषि भी दो प्रकार के हैं निरुक्त और अनिरुक्त। जब ये निरुक्त कहलाते हैं तब इन्हें नूतना ऋषि या आङ्गिरस या अङ्गिरस कहते हैं। तब इनके तीन यमल नहीं छह यमल हो जाते हैं। ये हैं वाक्-अग्नि, प्राणवायु, चक्षुःसूर्य, मनः चन्द्रमा श्रोत्रं-दिक्, त्वक्मातिरश्वा जिनमें प्रथम स्त्रियां है द्वितीय पुरुष, स्त्रियों का विकास पहले होता है उनके शरीरों से उनके पतिरूप देवताओं का विकास योग द्वारा अरणियों से अग्नि के समान होता है। जब इन्हें अनिरुक्त रूप में वर्णित करते हैं तब इन्हें पूर्व ऋषयः कहते हैं। यह सूक्त यहां पर इनका वर्णन दोनों प्रकार के ऋषियों के रूप में दे रहा है। इसी लिए इस सूक्त ने स्पष्ट लिखा है कि इन पूर्व ऋषि रूप ऋत्विजों ने अमृत लोक (रजसि) में रहते हुए ही मर्त्य सृष्टि नाना रूपों में की। और इसी मंत्र में यह भी लिखा है कि इन ऋषियों ने नूतन ऋषियों के विकास के लिए द्रविण नामक भौतिक तत्त्व का विकास किया। ते आयजन्त द्रविणं समस्मा···'। योग पक्ष में प्रक्रिया इसके प्रतिकूल होगी। दोनों यज्ञ ही हैं।

अस्यवामीय योग प्रक्रिया के मूल सिद्धान्त के मंत्र

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत् ॥ १६ ॥ अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्। सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क स्वित्सूते नहि यूथे अन्तः ॥ १७ ॥ अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण। कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥ ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः। इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

(१२४-१६) अस्यवामीय योग प्रक्रिया के मूल सिद्धान्त मंत्र १६, १७, १८, १९ में हैं। 'सप्तप्राणाः सप्तहोमाः' नाम के इन सात ऋषियों को इनके तत्त्व रूप में तो 'स्त्री' कहा गया है, पर इन्हें ऋषि नाम से पुकारने के कारण पुरुष कहा जाता है। ये ऋषि रूप तत्त्व सब भौतिकात्मीय हैं। इस भौतिकात्मा का जन्म ही स्त्री रूप में इस प्रकार माना गया है "स वै विभेति तस्यादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इम-

मेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्म······ अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त (मनुष्या = पुरुष ऋषयः)····· स ईक्षाञ्चक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति, हन्त तिरोसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्तां समेवाभवत्ततो······ वडवेतराभव दश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताँ समभवत्······अजेतरा-वस्त इतरोऽवि रितरा मेष इतरस्तां सममेवाभवत् ततो····· सर्वं यदिदं किञ्च मिथुनम् ॥" (बृह० उप० १-४)

इस उद्धरण में त्रिपादामृत पुरुष के प्रतीक तो पति, ऋषभः (या वृषभः) अश्ववृष, गर्दभ, वत्स, और मेष हैं और जिन्हें सप्तप्राण ऋषयः कहते हैं वे हैं 'पत्नी, गौ, वडवा, गर्दभी, अजा, और अविः । ये सब प्रथमों की पत्नियां या स्त्रियाँ हैं । पर ऋषि रूप वर्णना में इन्हीं स्त्री रूप तत्त्वों को पुरुष या पति भी कहा जाता है । ये स्त्री रूप प्राण 'प्राण उदान व्यान अपान समान ·आत्मा और वाक् हैं' । इन प्राण रूपों में भी इन्हें पुरुष ही कहा या माना जाता है, वास्तव में, हैं ये सब स्त्रीरूप ही । यहां पर जिन स्त्री पुरुषों के जोड़े दिए गये हैं वे तो पञ्च प्रसिद्ध प्राणों के हैं । पर इस ऋचा के छह यमल दूसरे छह प्राण हैं जिनका विवेचन तीन मुख्य प्राणों के जोड़ों के वर्णन के साथ-साथ एक साथ दिया जा रहा है इनका विस्तृत विवेचन योगसूत्र के अध्याय ३ या ४ (अ) के सूत्र २७ से २९ तक की व्याख्या के अन्त में विस्तार पूर्वक सप्रमाण दे दिया गया है उसे अवश्य पढ़ लें, जिसका कुछ सारांश पिछले मंत्र की व्याख्या के अन्त में दे दिया है उसे भी देखें । इसीलिए लिखा है 'स्त्रियः सतीस्ताँ उ पुंस आहुः' कि ये प्राण रूप ऋषिरूप तत्त्व वास्तव में स्त्री या शरीर रूप हैं, पर इनके प्राण-रूपों या ऋषि या देवता रूपों में इन्हें पुरुष कहा जाता है, इनके स्त्रीरूप वही वाक् प्राण चक्षुःश्रोत्रं मन और त्वक् हैं । इस पद का यह अर्थ भी अनुचित नहीं है कि 'ये सप्त प्राण रूप स्त्रियां अपने अपने देवता की सती पतिव्रता पत्नियां कहलाती हैं' । इनके सम्मिलित रूप के एक त्रिपादामृत रूप पति और उससे उत्पन्न भौतिकात्मा रूप पत्नी तत्त्व मिल कर इस अखिल ब्रह्माण्ड को 'अर्ध-वृगल या अर्द्धनारीश्वर या नरनारी के सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करते हैं । इस विषय का ज्ञाता वही हो सकता है जिसके पास वैदिक विश्व दर्शन प्रसाद को देखने के लिए योग की चक्षु या समस्त वैदिक वाङ्मय ज्ञान रूप चक्षु है जैसा कि उक्त उद्धरणों को न जानने से न जाने लोगों ने इसका क्या क्या अर्थ कर डाला है । जिसके पास ऐसी योग की या ज्ञान की चक्षु नहीं है वह वैदिक दर्शन ज्ञान से शून्य या अन्धा है उसके पल्ले यह विषय रत्ती भर भी नहीं पड़

सकता, न वह इसे समझ सकता है, न समझाया जा सकता है। ऋ. वे. १०-७१-७ ने उन वैदिक ऋषियों को ऐसे ही आखों वाला बताया भी है।

कविर्यः पुत्रः स इमा चिकेत—जो व्यक्ति इन प्राण रूप माताओं का या 'माई का लाल' या पुत्र है या इन प्राण रूप तत्त्वों की अनुभूति करने वाला कवि या योगी है, वही इनके दर्शन कर सकता है या जो इनके इन स्वरूपों से उक्त प्रकार से परिचित है वही इन्हें भली भांति जानता है। ऐसे ज्ञाता को कविः या योगी या यागी कहते हैं या योग या याग का ज्ञाता होना (या कवि होना) कहते हैं, वही इन प्राणरूप माताओं का सच्चा (ज्ञाता) माई का लाल भी है, वही इनके सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों रूपों को उचित या परमार्थ रूप से जान सकता है। आगे मंत्र १८ में 'कवीयमान क इह प्रवोचत्' वाक्य भी इस शब्द के अर्थ को योगी ही देता है। यहां कहा है कि इस विषय को कः प्रजापति ने कवीयमान होकर या योगनिष्ठ होकर योगदृष्टि से देखकर कहा।

'यस्ता विजानात्स पितुष्पिता स्यात्' जो कवि रूप या योगी रूप माई का लाल (पुत्र) है, वह उन प्राणरूप माताओं या स्त्रियों – वाक् प्राण चक्षु श्रोत्रं मनः त्वक् अथवा – पत्नी, गौ, बडवा, गर्दभी, अजा अविः – के पति रूप—अग्नि वायु आदित्य दिशा, चन्द्रमा और मातरिश्वा—अथवा पति वृषभ अश्व वृष गर्दभ वत्स और मेष नामक पुरुषों या अपने पिताओं से सृष्टिकाल में उत्पन्न होकर, योग में इनकी अनुभूति करने जाता है तो उसे पहले मातारूप प्राणों की उद्दीप्ति करके तदनन्तर उनके पिता रूप—अग्नि वायु आदित्य दिश चन्द्रमा और मातरिश्वा अथवा—पति, वृषभ, अश्व, वृष, गर्दभ, वत्स और मेष - नामक नित्य देवताओं की अतिसृष्टि, प्राण रूप अनित्य तत्त्वों (माताओं) से करनी पड़ती है, अर्थात् उसे अपने पिता रूप तत्त्वों का पुत्र रूप में सृजन या अतिसृजन करना पड़ता है। इसीलिए लिखा है, इन तत्त्वों का वास्तविक ज्ञाता पिता का पिता हो जाता है अर्थात् वह इस रूप में या योगी रूप में पिता रूप तत्त्वों का ही पिता बन जाता है, क्योंकि वह उनकी अतिसृष्टि जो करता है। इसी आशय को ऋ. वे. १–६९–१ में पराशर ऋषि ने इस प्रकार कहा है :—"भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् ।"

इसी प्रकार का भाव ऋ. वे. १–८९–९ यजु. २५–२२, के मंत्र में भी है। इसका अर्थ श. प. ब्रा. में सन्दर्भी व्याख्यान अग्न्युपस्थान नामक शीर्षक से इस पूरे ब्राह्मण में दिया है, तथा २–३–१–६ में अग्नि के उपस्थान का आशय अग्निरूप देवताओं की अतिसृष्टि या उन्मीलन बताकर लिखा है :—"पुत्रो

ह्येष सन्त्स पुनः पिता भवत्येतन्नु तद्यस्मादग्नी आदधीत" यह 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' का भाव है। पूरी ऋचा का भाव यह है 'हे देवताओ! तुमने हमारे लिए जिस सौ या अनन्त शरद ऋतुओं, या सौ या अनन्त वर्षों की आयु निश्चित की है, उस आयु में हम अपने शरीर को परिपक्व देख लें, उसके बीच में हमारी आयु को कम न करना, इन वर्षों में हम पुत्र रूप देवताओं की अतिसृष्टि करते हुए अपने को देवताओं के पितर तथा हमारे पुत्रों की उत्पत्ति से या अतिसृष्टि करके वे पुत्र भी वस्तुतः हमारे ही समान सृष्टि अतिसृष्टि करके पितर हो जावें (अर्थात् हम और हमारे सन्तान दोनों पुत्र रूप होते हुए पितर बन जावें)।

(१२०-१७) अब १७ वें मन्त्र को लीजिए। 'गौ' नाम यहां पर त्रिपादामृत की ज्योति का है। इस ज्योति का उदय भौतिक प्राण रूप वत्स के उदय होने पर ही होता है। अर्थात् 'ज्योति' तो भौतिकता की देन है, इसके पहले वह ज्योतिर्बीज रूप तत्त्व रहता है। इस ज्योतिर्मयी गौ को चाहे दैवी वाक् (भौतिकात्मीय) कहिए, चाहे देवी अदिति कहिए चाहे उषा। वर्णना भेद से ये तीनों एक ही तत्त्व का संकेत करती हैं। इसके उदय होने का स्थान पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का मध्यबिन्दु है जिसे गर्तम् , विषुवान् , सेतु, अन्तरिक्ष, (अन्तरिक्षोदरो भूमि बुध्नो इत्यादि छा० उप०) या हृदय या आकाश आदि अनेक नामों से विभिन्न वर्णनाओं में पुकारा जाता है। यहां पर यह प्रकाशमयी ज्योति रूपिणी गौ सवत्सा सप्रकाशा, सभौतिकात्मिका रहती है; उसी वत्सादि से वह प्रकाशमयी, प्रतीत भी होती है। अतः मन्त्र कहता है :—सृष्टि में अवः या अर्वाञ्च या अवरार्द्ध या पूर्वार्द्ध से परेण या पर स्थानीया, और योग प्रक्रिया में इसी 'पर' को जब अवर या पूर्वार्द्ध या अर्वाच कहा जाता है तब इस अवर से परे (या परे एन अवरेण) या पूर्वार्द्ध या अर्वाच उत्तरायण नामक पर में स्थित वह ज्योतिर्मयी गौ, अपने पद से अपनी अन्तिम सीमा रेखा में वत्स रूप अमृत या दैवी भौतिकात्मा को प्रकाश रूप में धारण करती हुई सर्वप्रथम उदित होती है या सर्वप्रथम भौतिकात्मा की माता सवत्सा रूप में उत्पन्न होती है। अब विद्वानों को यह समझना या समझाना है कि इस गौ का विकास किस रूप में, किया जा रहा है, सृष्टि पक्ष में या योग पक्ष में। वह कहां विकसित होगी और किससे पूर्व में है, किस मार्ग के पर अवर तत्त्वों से इसकी विवेचना की जा रही है (सा कद्रीची) जिससे यह प्रतीत हो सके कि वह किस अर्द्ध से किस अर्द्ध को जाने वाली है या गई है (कं स्विदर्धं परागात्)। तभी यह स्पष्ट प्रतीत हो सकेगा

कि वह किस स्वरूप के वत्स (सृष्टि सम्बन्धी या योग सम्बन्धी) को कहां पर विकसित कर रही है या जन्म दे रही है (क्विचित्सूते)। 'वह गौ इस झुण्ड के अन्तर्गत नहीं है' या 'इस झुण्ड से अन्यत्र है' इसका ज्ञान तब तक कैसे हो सकेगा ? 'नहि यूथे अन्तः'। यह झुण्ड सर्वविदित पञ्च पशुओं का है जिन्हें पुरुष पशु अश्व गौ अवि अजा कहते हैं। वह अन्य प्रकार की गौ भी नहीं है जिनका वर्णन कई प्रकार से दिया गया है क्योंकि पर और अवर भागों में केवल ये ही दो भाग नहीं हैं जिनका विभेद जानकर काम चल सकेगा। यहां इन दोनों भागों में तो अनन्त देवी देवताओं के पशुओं के झुण्ड के झुण्ड हैं, जिनकी सृष्टि और अतिसृष्टि की विवेचना का अन्त ही नहीं है, कब किस देवता या तत्त्व का किस रूप में—सृष्टि या अतिसृष्टि रूप में—वर्णन है इसकी पूरी छानबीन तो विद्वानों को स्वयं करनी पड़ेगी, कहां तक लिखा जा सकता है।

मंत्र १८—अवः और पर नाम के या पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध नामके विभिन्न परिस्थितियों—सृष्टि (यज्ञ) और अतिसृष्टि (योग) के दो भागों में से प्रथम मंत्र में प्रथम की माता द्वितीय को वत्स कहा जा चुका है। अब उन्हीं को पिता पुत्र रूप में वर्णित करने जा रहे हैं। जो पर नाम के तत्त्व के द्वारा सृष्टि (यज्ञ) पक्ष में इसके पिता या निर्माता को 'अवः' नामक तत्त्व को समझता है और योग पक्ष में इस अवर नामक तत्त्व के द्वारा इस प्रथम पक्ष के परः तत्त्व को ही प्रथम 'अवः' नामक तत्त्व का पिता समझता है वही इस तत्त्व का ज्ञाता है। अर्थात् सृष्टि पक्ष में अवः पिता है परः पुत्र और योग पक्ष में परः (ही अवः है) पिता है और अवः (ही परः है) अतः पुत्र है। अतः वह कौन है जो इस प्रकार की वैदिक पारिभाषिक पदावली की रहस्यमयता का उचित ज्ञान या अनुसन्धान करके कौन यह ठीक ठीक निश्चय पूर्वक बतलाने में समर्थ है कि यह दैवी ब्रह्माण्ड स्वरूप मनः कब कहां से—सृष्टि (यज्ञ) पक्ष में या योग पक्ष में—किस 'अवः' से या किस 'परः' से उत्पन्न हो रहा है।

वास्तविकतया यहाँ पर ज्ञेय वस्तु तो है 'देवं मनः'। यह कौन तत्त्व है यह विदित हो जाय तो सब समझ में आजाय। इसका विश्लेषण हमें दो स्थलों में विविक्ततया दिया हुआ हुआ मिलता हैं। पहले छा. उप (५-१२) का दिया विवेचन देखें। "यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा, मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन्रमते। य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ता ॥" "मघवन्। मर्त्यं वा इदं शरीर मात्तं मृत्युना, तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्……

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतीरूपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्त एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योती रूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं, स यथा प्रयोग्य (अश्व वृषभो वा) आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तोऽथ यत्रैतदाकाशमनु विषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः······॥" (छा. उप. ५-१२)

जिस दैवं मनः का विवेचन इस मंत्र (१८) में दिया है वह वह मन नहीं हैं जिसे हम साधारण बोल चाल में मन नाम से पुकारते हैं। यह मनः तो अखिल ब्रह्माण्ड रूप मनो ब्रह्माण्ड है, यह भौतिकात्मा का सर्वप्रथम रूप है। इसके द्वारा त्रिपादामृत आत्मा यह प्रतीति करता है कि 'मैं जानता हूँ, ज्ञान करता हूँ, समझता बूझता हुं। यह मनः उसका 'दैवं चक्षुः' या दैवं मनः' है। यह यहां पर स्पष्ट लिखा है। इस दैवं मनः या दैवं चक्षु से अखिल कामनाओं को करता और उनमें रमता रहता है। जो इन दोनों 'दैवं मनः' और आत्मा (त्रिपादामृत) की इस ब्रह्मलोक की अनुभूति द्वारा 'देवाः' रूप धारण करके उपासना करता है उसे सब कुछ प्राप्य या प्राप्त है···।

यहां पर आत्मा (त्रिपादामृत) और 'दैवं मनः' इन दोनों का विविक्त विवेचन देते हुए लिखा है—यह शरीर मर्त्यभौतिकात्मा तो मर्त्य है मृत्यु से व्याप्त है, और त्रिपादामृत का अमृत शरीर या आत्मा इस मर्त्य शरीर का अधिष्ठान या आधारभूत तत्त्व है। यह आत्मा अरूप अमूर्त या अशरीर है, वायु, अभ्रं, विद्युत्, स्तनयित्नु, भी अशरीर या अमृत भौतिकात्मीय ही हैं, ये सब भी उसी आकाशात्मा (अन्तर्हित प्रकाशात्मा त्रिपादामृत) से उत्पन्न या आविर्भूत होकर परम ज्योतिरूपता को धारण करके अपने अपने पृथक् पृथक् स्वरूप को प्राप्त होते हैं। यही उस आत्मा का प्रसाद या पूर्ण प्रसाद रूप शरीर उससे उत्पन्न होकर अपने प्रकाशमय रूप में जब प्रस्तुत होता है तब उसे 'उत्तमः पुरुषः' कहते हैं; दोनों के सम्मिलित स्वरूप का नाम उत्तमः पुरुष है जिसमें त्रिपादामृत स्त्रियों या रथों या परिजनों के समान—वायु अभ्र विद्युत स्तनयित्नु—से खाता खेलता रमता हुआ अन्य किसी का स्मरण करने का अवकाश भी नहीं रखता। वह शरीर प्राण है, यह शरीर रूप प्राण उस आत्मा रूप रथ को खींचने वाला घोड़ा या बैल है। वह इसमें चाक्षुष पुरुष की तरह रहता है, यह शरीर उसकी चक्षु या 'दैवं चक्षु' या दैवं मनः है। यहां खञ्ज, दृष्टा काण के कन्धे में चढ़ा सा मार्ग या सृष्टि विकास मार्ग को नापता रहता है।

इस 'दैवं मनः' या 'दैवं चक्षुः' का और अधिक स्पष्ट विवेचन बृह. उप. (१-५-८ से १४ तक) ने दिया है । "यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं, वाग्धि विज्ञाता, यत्किञ्चिद्विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं, यत्किञ्चिद-विज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः ।" "तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योती-रूपमय मग्निर्यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः" । "यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ।" (ऋ० वे०) । "मनसो द्यौ शरीरं ज्योतीरूपमादित्यो, यावदेव मनस्तावती द्यौ स्तावा नयमादित्यः; तयोर्मिथुनं ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स असपत्नोऽद्वितीयः" प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपं चन्द्रो यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्ते सर्वेऽनन्ताः ॥" "स एष (चन्द्रः) संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः (पुरुषः) रात्रय एव पञ्चदशकला ध्रुवैवास्य षोडशी कला रात्रि-भिरेता च पूर्यतेऽपक्षीयतेऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडशकलया सर्वमिदं प्राणभृत् स षोडशकलः वित्तमेवपञ्चदशकला" ।

तीन मुख्य तत्त्व हैं, वाक् मनः और प्राण । जो कुछ भी विज्ञात तत्त्व है वह वाक् का स्वरूप है वाक् ही विज्ञाता है । जो कुछ ज्ञेय है वह मनः का रूप है । मनः ही ज्ञेय है, और जो कुछ अविज्ञात रहता है वह है प्राण, क्योंकि प्राण ही अविज्ञात है । वाक् का शरीर पृथ्वी (भौतिकात्मा) है इसमें इसकी आग्नेय तापमानीय ज्योति है जितनी विस्तृत वाक् है उतनी ही पृथिवी भी है उतना ही अग्नि (तापात्मा) भी । जहां तक ब्रह्म व्याप्त है वहां तक यह वाक् भी तापमानतया व्याप्त है । मनः का शरीर त्रिपादामृत द्यौ है जितनी विशाल द्यौ है उतना ही यह मन भी, इसका ज्योतिष्मान रूप सूर्य है । जो उसका शरीर रूप चक्षु है, यही सूर्य दैव मन या दैवं चक्षु है । इनके मिथुन से प्राण तत्त्व की उत्पत्ति होती है; वही मध्यमप्राण इन्द्र असपत्न या अद्वितीय है । इस प्राण का शरीर आपः है, इसकी ज्योति चन्द्रमा है, जितने विशाल प्राण हैं उतना ही आपः भी हैं उतना ही, बड़ा यह चन्द्रमा भी । ये सब अनन्त हैं । यह चन्द्रमा ही संवत्सर ब्रह्म और इस सृष्टि का प्रजापति भी है, यही षोडशकल ब्रह्म (या पुरुष) है, उत्तरार्द्ध में इसकी कलायें बढ़ती और घटती रहती हैं, षोडशी कला अमावास्या है, इसी चन्द्र से सब कुछ प्राणमय ब्रह्ममय 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है । इसकी कलाओं का नाम वसु वित्तं (रायः धनं अन्नं श्रवः यशः) आदि है । ये दोनों सूर्य (चक्षुः) और चन्द्रमा (मनः) ही मिलकर 'देवं मनः' या 'दैवं चक्षुः' या 'चाक्षुषः पुरुषः' या 'उत्तमः पुरुषः' कहलाते हैं । क्यों कि यह दोनों ही 'सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी' या सूर्य चन्द्र रूप दो आखें हैं । ये मनोब्रह्माण्ड की चक्षु हैं और चक्षुरूप मनोब्रह्माण्ड, या देवं मनः' या चाक्षुष पुरुष या उत्तम

पुरुष हैं। यह 'सृष्टि या अतिसृष्टि पक्षों में कब किस तत्त्व से उत्पन्न हुआ' यह उचित रूप से जानना 'कवीयमानः' या योगी या वैदिक पारिभाषिक पदावली की रहस्यमयता के पर्दे को अपनी योग क्रिया से प्रतीत या विदित या अनुभूत करने वाले का काम है, कहिए ऐसा ज्ञान रखने वाला योगी या उसकी अनुभूति करने वाला कौन है ? यह दीर्घतमा ऋषि जी का अपना प्रश्न नहीं हैं, वरन् उस कवीयमान या योगसमाधिस्थित पाकः नामक कः प्रजापति का प्रश्न है। यह प्रश्न उसके गुरु अग्निर्विद्वान् से है। इसका उत्तर मन्त्र १९, २०, २१, २२ में दिया गया है।

अस्यवामीय योग प्रणाली

(११९-१९) अब अस्य वामीय योग यज्ञ की प्रणाली का विशिष्ट वर्णन दिया जाता है। अभी तक यास्क से लेकर मधुसूदन और सब पश्चात्यों तक जितने भी वेदों के व्याख्यातार हो गये हैं उनकी दृष्टि अस्यवामीव सूक्त की आत्मा रूप योग के माया वर्णन की ओर गई ही नहीं है जिसके अभाव में उनकी विवेचना सूक्त के वास्तविक रहस्य का तिलभर भी भाव नहीं दे सकी हैं। योग के सन्दर्भ से हीन उनकी वे व्याख्यायें अधिकांश में उनकी अपनी ही रची थोथी कपोलकल्पनाओं के ऐसे बहुत बड़े ढेर रूप में जमा हो गई हैं कि उनका खण्डन करना समय नष्ट करना मात्र सिद्ध होगा। इस सूक्त की तालिका मंत्र १९ है। इसमें सृष्टि और अतिसृष्टि (योगमार्ग) में तत्त्वों के क्रम को एक दूसरे से एकदम विपरीत बतलाया है जैसा कि होता ही है। सृष्टि क्रम में अत्रि मित्र वरुण जातवेदा—सूर्य, चक्षुः, चन्द्रमा—मनः, पर्जन्य दिशा-श्रोत्रं, अग्नि—वाक् , प्राणः—वातः, विद्युत्—वृष्टिः—(आपः), वृत्र—सोम विष्णु, रुद्र मार्तण्ड—पुरुषपशु—अश्व—गो—अवि—अजा प्रभृति क्रम होता है। और पहले द्यावा तब उससे पृथिवी, पहले अमृत या त्रिपात् फिर उससे मर्त्य या चतुष्पात् ; या पहले अदिति वाक् फिर गौ धेनु आदि। पर अतिसृष्टि या योग मार्ग में तत्त्वों के विकास का क्रम ठीक इसके उलटे सिद्ध किया जा सकता है। जैसे चक्षु से सूर्य, मनः से चन्द्रमा, श्रोत्रं से दिशः, प्राण से वायु, वाक से अग्नि, पर्जन्य (वृत्रवध) से आपः, आपः के क्षत्र बल रूप बाहू से विद्युत् या वज्र, इत्यादि, इनका भी क्रम दिया है जैसे मन से वाक् , वाक् से प्राण, प्राण से चक्षुः, चक्षुः से श्रोत्रं, श्रोत्रं से आपः विद्युत् वृष्टि प्रभृति (श प. ब्रा) प्रथम सृष्टि पक्ष में पूर्व पूर्व के तत्त्वों को 'अवर' अर्वाचः, और पर पर के तत्त्वों को पर पराचः परार्द्ध परा इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। अर्थात् नित्य तत्त्वों से अनित्य तत्त्वों के विकास का नाम सृष्टि है या अर्वाच या पूर्वार्द्ध अवर

तत्त्वों से पर तत्त्वों का उदय होना ही सृष्टि है। परन्तु योगमार्ग में स्थिति इसके एक दम विपरीत होती है। यहां पर जो तत्त्व सृष्टि पक्ष में 'पर' 'परा' परार्द्ध' पराच आदि नामों से पुकारे जाते रहे वे अब अर्वाच अवर या सृष्टि कारक है, जो तत्त्व तब 'अवर' अर्वाच या पूर्वार्द्ध के कहलाते थे उन्हें अब पराचः पर परा परार्द्ध नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार चक्षुः श्रोत्रं वाक्, प्राणः मनः आदि अनित्य और सृष्टि काल के 'पर' परांच नामक तत्त्वों से (अब 'अपर' 'अवर' अर्वाच कहलाने वालों से) सूर्य दिश अग्नि वायु चन्द्रमा नामक अमृत या अमर तत्त्वों का विकास शरीर में ही किया जाता है। यहां पर इनको पर, परा, परार्द्ध पराच नामों से पुकारा जाता है। यहां ये अनित्य अर्वाच अपर तत्त्वों से नित्य पर पराच तत्त्वों के रूप में विकसित किए गये हैं। यही भाव इस १९ वें मंत्र में इस प्रकार दिया गया है। वास्तव में यह मंत्र १८ के 'मनः' के बारे में किए प्रश्न का उत्तर है। मनः से सोम और सोम से मनः की उत्पत्ति, सृष्टि और योग में क्रम से होती है।

"सृष्टि काल में जिन तत्त्वों की संज्ञा अर्वाञ्च अवर अवारं पूर्वार्द्ध उत्तरायण आदि रही उन्हीं को अतिसृष्टि या योग प्रक्रिया में पराच, पर, पारं या दक्षिणायन दक्षिणार्द्ध······या उत्तरार्द्ध उत्तर नाम से पुकारा जाता है। इसके विपरीत सृष्टि काल में जिनको पराच परा पर पारं दक्षिणायन उत्तरार्द्ध परार्द्ध आदि नामों से पुकारा जाता था उन्हीं को योग प्रक्रिया में अर्वाञ्च अवर, अवारं पूर्वार्द्ध उत्तरायण उत्तर आदि नामों से पुकारा जाता है। क्योंकि इन्हीं अनित्य तत्त्वों से नित्य तत्त्वों (सूर्य अग्नि वायु दिश चन्द्रमा प्रभृति देवताओं) का विकास या दीप्ति या दर्शन या अनुभूति की जाती है। इस सृष्टि या अति सृष्टि के दो मुख्य भागों को इन्द्र और सोम या इन्द्रसोम या अग्नीषोम, एक नाम से पुकारा जाता है। चाहे कोई मनोरूप त्रिपादामृतीय इन्द्र से सोम की सृष्टि का विवेचन करे या योगी के शरीररूप मनोरूप भौतिकात्मा युक्त इन्द्र तत्त्व से सोम की अतिसृष्टि योग द्वारा सोमपान से करे, या इसी प्रकार, अन्य देवों की सृष्टि और अतिसृष्टि का वर्णन करे, उन सबका मुख्य आधार केवल ये ही दो पक्ष या, दो भाग हैं जिनके मुख्य निर्माता देवता ये दो इन्द्र और सोम ही हैं। हे सोम ! जिनकी सृष्टि या अतिसृष्टि तुम दोनों करते हो वे सृष्टि और अति-सृष्टि को ढोने के बैल या घोड़ों की तरह एक धुरी या जुवे में जुत कर दोनों भागों के षड् रजांषि या षडष्टकीय छह लोकों या सप्तकीय सात लोकों या सदयस्यीय आठों लोकों को अपने कन्धे में ढोते हो।"

ये अवर और पर नामक विभाजन ऐसे जटिल हैं कि सभी ऋषि इनकी इस जटिलता को नहीं जानते रहे, आजकल के हम जैसे लोगों की बात तो

दूर रही जैसे "यत्रा वदेते अपरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नो विवेद। आशेकुरित्सधमादं सखायो न क्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्" ।। (ऋ० वे० १०-८८-१७)। तब कौन इसे बता देगा ? इस तथ्य का विवरण और अवर और पर तत्वों की सीमा किस विन्दु पर है तथा उसका क्या नाम है, यह दीर्घतमा की निम्न ऋचा स्वयं बतलाती है :—(ऋ० वे० १-१६४ ४३)

मंत्र १–१६४-४३

"शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।।"

इसमें दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि मैंने योग प्रक्रिया द्वारा उस अवर नामक पूर्वार्द्ध के विषुवान् नामक तत्त्व की अन्तिम रेखा से परे में या दक्षिणार्द्ध में स्थित धूम या पर्जन्य रूप भौतिकात्मा को स्थूणा रूप उठे धूम और गौपुरीष के चित्र की तरह (ऊपर ऊपर को सीढ़ी वाले) स्थूण रूप में (शकमयं) उत्पन्न होते हुए दूर से देखा। इसी स्थूण रूप धूम या पर्जन्य रूप भौतिकात्मा को 'हिरण्यरूप मुषसो व्युष्ठावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य। आरोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ।। (ऋ० वे० ५-६२-८) ऋचा में 'अयःस्थूण' या सुवर्ण स्थूण या प्राणमयी स्थूण कहा गया है। इसका स्थान 'गर्त' या मध्यस्थान बतलाया है। मित्र और वरुण से प्रार्थना की गई है कि तुम इस स्थूण या गर्त (यहां पर धूम स्थूण) में आरोहण करो, वहां से तुम अदिति (पूर्वार्द्ध या एन अवरेण) और दिति (या विषूवता परे) के दोनों भागों को एक साथ स्पष्ट देखोगे। अतः विषुवान् का तथा गर्त का स्थान दर्शन का या सृष्टि या अतिसृष्टि का मध्यस्थान है। इसी लिए लिखा भी है 'मध्ये विषुवान्' (ऐ० ब्रा०, श० प० ब्रा० और 'अक्षर ब्रह्म' तथा 'संवत्सर ब्रह्म' शीर्षक देखें)। इस मंत्र का उत्तरार्द्ध कुछ कठिन सा लगता है। क्योंकि इसमें सभी शब्द परिभाषिक है जिनमें 'उक्षा पृश्नि और वीरा मुख्य हैं। ये वीर कौन हैं ? ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋ० वे० १०-९०-७ में भी है जैसे "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।।" यहां के साध्या देवता छन्दः है, ऋषि आङ्गिरस प्राण हैं। उन्होंने अग्नि पुरुष को बर्हि में प्राणों की अग्नि में डाला, उसी से यज्ञ या योग यज्ञ किया। ये ही साध्या और आङ्गिरस यहाँ के वीर हैं। इसका विश्लेषण ऋ० वे० १०-२७-१५, १६ में इस प्रकार संख्या मात्र में दिया है, नामतः फिर भी नहीं; जैसे—

'सप्तवीरासो अधरादुदायन्नष्टोत्तरात्तात्समिजग्मिरन्ते।

नव पश्चात्तात्स्थिविमन्त आयन्दश प्राक्सानु वि तिरन्त्यश्नः ।।
दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय ।
गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती विभर्ति ।।"

वक्षणासु = भागों में । वक्षणास्ववेनन्तं = वक्षणासु + अवेनन्तम् ।

इसमें लिखा है कि "सात वीर अधर या उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन से उत्तर या पूर्वार्द्ध या उत्तरायण की ओर आये । उनके पश्चात् समीप (या अन्त) में आठ वीर उत्तर से दक्षिण की ओर आये । इसके अनन्तर नौ वीर–जो सूप से अन्न छानछान कर अन्न से भरे सूपों को लिए हैं- आये । अन्त में दशवीर पूर्व के पर्वत की सानु या समतल स्थान से अश्नः रूप में व्याप्त हो गये । इन दशों में से एक को जो उन दशों में से प्रत्येक के समान है और जिसका नाम 'कपिल' (ईषत्कृष्णपिंगल या बृहत्पाण्डरवासा) है उसको, सृष्टि को पार लगाने के लिए या सृष्टि के विकास के लिए, माता (अदिति या उषा) गर्भ के भागों में सुरक्षित रूप में वहन करती हुई, उस नमनशील या सर्वरूप में ढलने में समर्थ प्राण तत्त्व को सन्तुष्ट रखती हुई धारण करती है ।।"

यहाँ पर हमें 'वीर' तत्त्व की समीक्षा चाहिए । वे कौन और कितने वीर हैं जिन्होंने पृश्नि नामक उक्षान् या सचिह्न या चिह्नित वृषभ को (पचाया या पकाया या) परिपक्व किया । बृह० उप (५-१२) ने 'वीर' शब्द की दार्शनिक व्याख्या निम्न ढंग से यद्यपि प्रच्छन्न रूप में, पर बहुत स्पष्ट रूप में दे रखी है । लिखा है कि इस सृष्टि में दो तत्त्व प्रधान हैं (१) अन्नं (२) प्राणः । जो लोग 'अन्नं ब्रह्म' कहते हैं उनका यह मत इसलिए उचित नहीं है कि प्राणों के बिना 'अन्नं' रूप शरीर (चाहे किसी का भी किसी भी वस्तु या तत्त्व का हो) सड़ जाता है या विकृत हो जाता है । और कई लोग केवल 'प्राण' को ही ब्रह्म कहते हैं । यह कहना भी इसलिए उचित नहीं है कि अन्न के बिना प्राण 'सूख' जाते हैं, अन्न के बिना प्राणों की स्थिति ही असम्भव है (अतः किसी ने कहा भी है 'कलावन्नमयाः प्राणाः' अर्थात् कलि या कलावान् अन्नमय शरीर के प्राण तो अन्न ही से धारण किये जा सकते हैं । आधार जब है ही नहीं तो आधेय रहै किस आधार में ? निराधार प्राण प्राणियों के शरीर में नहीं रहता तो शरीर के लिए क्या महत्व रख सकता है, प्राण का महत्व तो तभी तक है जब तक वह शरीर में है, शरीर सजीव (उन प्राणों से) है । अतः जब अन्न और प्राण दोनों एकात्म्य या तादात्म्य भाव से रहते हैं तभी इस सृष्टि का महत्व है । अन्न और प्राण दोनों के इसी 'एकधाभूय' या एकात्म्य या तादात्म्य का ही नाम 'वीरः' है । इस 'वीर' शब्द की व्युत्पत्ति में इस उपनिषद् ने लिखा

है "कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच—वीत्यन्नं वै वि अन्नै र्हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि, रमिति प्राणो वै रं प्राणो हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥" (५ १२)।

आगे चलकर ब्राह्मण १३ में इस 'वीर' प्राण को 'सर्वं यदिदं किञ्च' का मूल स्रोत या 'उक्थ्य' कहा है क्योंकि इससे ही अखिल ब्रह्माण्ड उत्थापित या उदित या उत्पन्न होता है, यजुः प्राण है साम प्राण है और क्षत्र प्राण है (ऋक् भी प्राण है)। इन्हीं प्राणों से सर्वभूत तत्त्व श्रेष्ठ कहलाता है ।

इस प्रकार के 'वीर' नामक प्राणों का ही विवेचन इस उद्धृत ऋ. वे. के मंत्र (१० - २७–१५, १६) में अनेकों ब्राह्मणों और उपनिषदों की अनेक प्रकार की व्याख्याओं और सरणियों के सामञ्जस्य से इस प्रकार दिया गया है :—

इस मंत्र में लिखा है कि सात वीर 'अधरादुदायन्' या अधर स्थान से आये। यह अधर स्थान दर्शन का दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध है जिसमें सात भौतिक प्राणों की सृष्टि होती है। ये सात प्राण आत्मा मनः, बुद्धिः, चक्षु श्रोत्रं वाक् प्राण हैं। ये ही प्राण जब योग प्रक्रिया करते हैं तो इनके पृथक्-पृथक् देवता अपने-अपने प्राणों में इनमें से प्रत्येक में उद्दीप्त होते हैं। उनके साथ ब्रह्म भी होता है। तब इन्हींके आठों देवताओं-आकाश चन्द्रमा सविता सूर्य दिक्, अग्नि वायु और ब्रह्म सब को उत्तर या पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत से अन्त या समीप में आये कहा गया है। यहाँ पर उत्तरार्द्धीय या अधर भागीय अध्यात्मिक सात प्राणों की बत्तियों में उनके देवता रूप तेजः या दीप्ति या लौ या ज्योति जग जाती है जिनका एक समीकरण अष्टम एकात्मीय कान्ति या कान्ति की प्रकाशिका होती है। योगी की समाधि की यही सच्ची आनुभूतिक स्थिति है। इन आठों का वर्णन अनेक प्रकार से दिया मिलता है जैसे "अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये। अष्ट योनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥" (अथर्व ५–९-२१)। आठ भूत, आठ पुत्र, आठ ऋत्विजों का नाम है, 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' भी है। (अथर्व १०-२–३१) या "अष्टाचक्रं वर्तत एक नेमि सहस्राक्षरं' इत्यादि भी (अथर्व ११-४-२२)। यहाँ पर इन्हीं योग कर्ता प्राणों को सात वीर या सात अन्न और प्राणों के 'एकभूयोभूत्वा' या एकात्मीय या तादात्म्यीय वीर कहा गया है। इनके देवता भी इनसे तादात्म्य पाने पर 'वीर' ही हो जाते हैं। अतः उन्हें भी 'वीर' ही नाम से पुकारते हैं। जिस किसी को भी वीर कहा जायगा वह

अवश्यमेव अन्नभौतिकात्मा और प्राण दोनों का एकत्वमय तत्त्व ही होगा। अतः जिन नौ और दश वीरों का वर्णन अगली पंक्ति में है वे भी इन्हीं के समान तत्व होंगे इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अब उनका भी सप्रमाण विवेचन दे देना आवश्यक है।

'वीर' तत्त्व की व्याख्या में जिस अङ्ग (भौतिकात्मा) और प्राण (त्रिपादामृत) के एकत्व की प्रतिष्ठा मानी गई है उसको या उस सम्मिलित स्वरूप को वैदिक दर्शन में एक विशिष्ट नाम से भी पुकारा जाता है। वह नाम है 'विश्वेदेवता'। विश्वेदेवताओं की निश्चित संख्या १० दी गई है 'विश्वेदेवास्तथा दश'। ऋ० वे० और यजुः के मंत्र 'मा नस्तोके तनये`` मा नो वीरान्नुद्रभामिनो वधीः'``````इत्यादि के 'वीरान्' शब्द का भी अर्थ ये ही विश्वे देवता हैं। और 'आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी``जायतां``````यजमानस्य 'वीरो' जायताम्'```इत्यादि मंत्र का 'वीर' शब्द भी इसी अर्थ का है। ये विश्वेदेवता दश देवताओं और दश अध्यात्मिक शरीर रूप अन्नमय प्राणों के सम्मिलित रूप हैं। इन्हें, अथर्व वेद 'ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः' (४-६ १) कहता है। अर्थात् दशशिर रूप देवता—दश मुख रूप शरीरों में रहते हैं। आगे इन्हीं देवताओं की सृष्टि सबसे पहले मन्यु नामक (मनः या मनुः) से इस प्रकार दी है:—"दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।```' प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितश्च या। व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते आकूतिमा वहन्॥" (अथर्व ११-८-३, ४)।

इन दश वीर नामक देवताओं की अनेक प्रकार की सूचियां हैं, वे वर्णना शैली से भेद रखती हैं। जैसे ऐ. उप. ने "अण्डात् मुखं मुखाद् वाक्, वाचोऽग्निनासिके नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी, अक्षिभ्यां चक्षुरादित्यकर्णौ कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् त्वचो लोमानि लोमस्य औषधिवनस्पतिहृदयं हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्नाभ्यामपानमपानान्मृत्युः शिश्नं शिश्नाद्रेतोरेतस आपः॥" यह क्रम दिया है। इसी प्रकार के अन्य क्रम अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। जैसे—"चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते। तवेमे पञ्चपशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥" (अथर्व ११-२-९)

यहां पर देवताओं की स्थिति का वर्णन 'दिशाओं' की स्थिति में दिया जा रहा है। जहां पर दिशाओं का वर्णन आता है वहां पर निश्चित रूप से उत्तरार्द्ध या अधर भाग या दक्षिणायन या भौतिकतामय भौतिकात्मीय तत्वों का ही विवेचन समझना चाहिए। क्योंकि पूर्वार्द्ध या त्रिपादामृत में दिशायें हैं ही नहीं; वे असीम अदिक्, अरूप, अमूर्त, या अमृत मात्र एक मात्र हैं उनमें

दिशादिकों का नितान्त अभाव है। इसीलिए इन दशों को 'दश प्राक्सानु वितिरन्त्यश्नः' कहा है। ये 'अश्न.' या अशनापिपासे' नामक भौतिकात्मीय तत्त्व हैं। प्राक्सानु भी उत्तरार्द्ध भाग का ही नाम है, पूर्वीय पर्वत के मध्यभाग की समतल भूमि का नाम प्राक्सानु है। यह पूर्वी पर्वत भी वही मध्यवर्ती भौतिकात्मा है।

इसका खुलासा 'नव पश्चात्तात्स्थिविमन्त आयन्' पाद से हो जाता है। ये स्थिविमन्तः या शूर्प वाले (शूर्पमन्तः) नौ तत्त्व दितिमय या भौतिकात्मीय तत्त्व हैं। स्थिवि या शूर्प नाम दिति का है। जैसे "तस्योदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्ममुखम् ॥ द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्त ऋषयः प्राणापानाः ॥ चक्षुर्मुशलं काम उलूखलम् ॥ दितिः शूर्प मदितिः शूर्पग्राही वातोपविनक् ॥ अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुलाः ॥ कब्रुः फलीकरणः शरोऽभ्रम् । श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ त्रपुः भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥" इत्यादि (अथर्व ११-३-१ से ८ तक)। शूर्पग्राहिणी स्त्री का नाम भी यहां पर अदिति दिया है। अतः 'स्थिविमन्तः' माने दिति या शूर्प वाले (या वाली) अदितिः है। ये तत्त्व अदितिमय अन्नमय और मनोमय हैं। ये वे नव प्राण हैं जिन्हें 'अष्टचक्रा नवद्वारा' या 'पुण्डरीकं नवद्वारं' में मनोमय ज्ञान के नव द्वार रूप दो आंख दो कान दो नांक मुख गुह्य और योनि कहा गया है। इनको पश्चिमीय और इनके देवताओं को पूर्वीय दश देवता रूप वीर कहा गया है। इस प्रकार ये चारों दिशाओं के वीर चारों प्रकार की संख्या में एकत्र होकर, इनमें से एक को जो अन्य सबके समान है जिसका वर्ण कपिल है उसे माता अदिति माता वाक् गर्भ में सृष्टि आगे बढ़ाने या विकसित करने के लिए धारण करती है। यहां का 'एक' भौतिकात्मीय अग्नि है जिसको ईषत्कृष्ण पिङ्गल वर्ण का होने से यहां पर 'कपिल' नाम से पुकारा गया है।

ये नौ और दश नाम की संख्यायें आङ्गिरस नामक प्राण रूप अङ्गरूप ऋषियों की संख्या के भी सूचक हैं जिन्हें 'नवग्वा' और दशग्वा नव प्राण और दशप्राण वाले कहा गया है (ऋ. वे. १-६२-४,५ देखें, अङ्गिरस शीर्षक भी देखें)।

इन वीरों की वर्णना यहां पर आसन्दी के रूप में दी हुई सी लगती है। प्राची दिशा के अधिपति मरुत हैं, दक्षिण दिश का इन्द्र, प्रतीची दिशा का वरुण और उदीची दिशा का सोम राजा। इसको सप्तर्षि आहुति देते हैं, यही सात वीर हैं जो अधर भाग से उत्तर की ओर आये। (अथर्व १५--१४-१ से ८

तक तथा १५ २ पूरा देखें जिसमें प्रत्येक दिशा के देवताओं की विस्तृत सूची भी दे रखी है)। श. प. ब्रा. (१-२-३-१७) ने आसन्दी के दिशाओं में से प्राची दिशा को देवताओं और अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिशा आदि देवताओं की बताया है, उत्तर दिशा को मनुष्य नामक सात प्राणों की, और दक्षिणा दिक् को पितरों अङ्गिरसादि नवग्व ऋषियों की, और पश्चिम से आने वाले दशवीर अपने आप विश्वे देवता सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि ये अश्न है भौतिकात्मीय हैं। यही व्याख्या इस ऋ वे. के काथतवीरों की कुञ्जी है।

इन वीरों की संख्या पृथक् देने का कारण इनके देवताओं के छन्दाक्षरों की संख्या की ओर ध्यान दिलाना है। सप्त ऋषियों का छन्द पादनिचृत् गायत्री, ७ (× ३ = २१) अक्षरों की है, अग्नि की गायत्री ८ (× ३ = २४) अक्षरों की है। सविता की उष्णिक् ९ (× ४ = ३६) की है, और मित्रावरुण की विराट् १० (× ४ = ४०) अक्षरों की है। इन्हीं अक्षरों के अनुसार यहां इन वीरों की संख्या भी दी गई है और कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता।

अस्तु हमें अपनी प्रस्तुत ऋचा (१-१६४-४३) का अर्थ जानना आवश्यक है। यहां पर जिस धूम, उक्षा, पृश्निः, अपचन्त और वीरा का वर्णन है उन्हीं का विवेचन सौभाग्य से अथर्ववेद ११ १ में ब्रह्मौदनं शीर्षक पर इस प्रकार दिया है जिससे हमारी प्रस्तुत ऋचा का अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता है; जैसेः—

"अग्नेर्जायस्वादितिर्नातिथेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।
सप्त ऋषयो भूत कृतस्ते त्वा मथ्नन्तु प्रजया सहेह॥
कृणुत धूमं वृषणः सखायो द्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून्॥
अग्नेर्जनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।
सप्तऋषयो भूत कृतस्ते त्वा जीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नियच्छ॥"

(अथर्व ११-१-१ से ३ तक) "वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ। सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम्॥" (अथर्व ११-१-३५)

यह प्रस्तुत ऋचा के "उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः' का भाष्य सा दिया है। यहां पर अग्नि ही उक्षा है। उक्षा नाम वीर्य सिंचन समर्थ चिह्नित वृषभ का है। यह चिह्नित वृषभ भी सलिङ्ग, वृषभ का है। अग्नि नामक वृषभ दो प्रकार का है (१) अमूर्त, अलिङ्ग अरूप, अनिरुक्तादि और (२) मूर्त, लिङ्ग चिह्नित या सचिह्न सरूप निरुक्तादि। मूर्तमान् भौतिकात्मावान् या चिह्नित या सलिङ्ग वृषभ का नाम उक्षा है। उसे सृष्टि करने के लिए छोड़ दिया जाता

है जिसे कर्म काण्ड में 'वृषोत्सर्ग' कहते हैं। इस वृषभ के नितम्ब और पीठ पर + का चिह्न उक्त वीरों की दिशा सूचन के लिए दाग कर बना दिया जाता है। यह उसकी पहचान भी है। इसी अग्नि रूपी वृषभ के पाकं पाकः या अपचन्त माने भात मांस की तरह पकाना नहीं है वरन् फलादिकों या वालकादिकों का प्रौढता रूप में परिपक्व होना या बनाने का अर्थ है (Maturity कहना चाहिए)। इस पाक की क्रिया को अदिति माता पुत्र कामा या सृष्टि विस्तार कामना से आतिथेय की तरह करती है। अतिथेय को वृषभ पका कर दिया जाता था, यहां अदिति अग्निरूप वृषभ में पाक क्रिया ला रही है। धूम के माने जैसे बताया जा चुका है भौतिकात्मा की स्थूणा की सृष्टि है। इस पाक प्रक्रिया को अथर्व वेद उचित रूप से ब्रह्मौदन या ब्रह्म रूप ओदन की पाक प्रक्रिया कहता है।

इस पाक प्रक्रिया में सोम के पाक की प्रक्रिया अभिमत है। अग्नि वृषभ के भौतिकात्मीय शरीर को पका कर परिपक्व करके उसके सोम रूप वीर्य या रेतः टपकाने योग्य, सृष्टि को बीज युक्त बनाया जा रहा है। उक्षा माने उक्षण या सिंचन या वीर्य सिञ्चन करने वाला ही होता है। इस भट्टी को तैयार करने के लिए सात वीर पहले ऊपर की ओर आये, उन्हें यहाँ पर 'सप्तऋषयो भूतकृतः' कहा है और 'ये भूत सृष्टि कारक सात ऋषि तुम्हारा (अग्नि रूप वृषभ का) मन्थन करें, यह भी स्पष्ट लिखा है। प्रस्तुत ऋचा में इस अग्नि रूप उक्षा या वीर्य सेचक या सचिह्न या चतुष्पाद ब्रह्म वृषभ या भौतिकात्मावान् अग्नि को पृश्नः इस लिए कहा है कि यह अग्नि-वृषभ उक्त परिपाक से 'सर्वरूपधारी' हो जाता है। पृश्नि नाम सर्वरूप तत्व का है 'पृश्निः सर्वाणि रूपाणि' वह पुष्ट होकर सरेतः होता है।

इसी पृश्नि स्वरूप की विवेचना के लिए ऋ. वे. १०-२८-३ ने निम्न मंत्र में एक वृषभ नहीं, वरन् 'सर्वाणि रूपाणि' रूप वृषभ या नाना अग्नि रूप वृषभों के पाचन या पाक की चर्चा, इन्द्र के सोमपान के साथ दी है। सोमपान ही से सर्वाणि रूपाणि' की प्रस्तुति होती है तभी वह 'पुरुरूप' या 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' होता है। 'अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान् पिबसित्वमेषाम्। पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन्हूयमानः॥''

यह अग्नि रूप वृषभ पृश्नि रूप में या जिन सर्व रूपों में विकास पाता है वे सर्वरूपी रूप नवीन उत्पन्न रूप नहीं हैं, वरन् इनके मौलिक बीज या धर्म उस अग्नि रूप वृषभ में पहले ही से विद्यमान थे पर अविकसित थे, वे अविकसित मौलिक बीज या धर्म ही विकसित होकर सर्व रूपों में प्रकट या उदीयमान

या आविर्भूत हो गये। अतः लिखा है "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।" जो अविकसित थे वे उक्षा के परिपाक से पुष्ट रेतः या सोम रूप में सर्वरूपधारी वीर्य समरूप में प्रकट हो गये।

इस ऋचा का योग या अतिसृष्टि और वियोग या सृष्टिः।

योगपक्ष—जैसा प्रारम्भ मे लिखा जा चुका है, यहाँ पर दीर्घतमा ऋषि स्वयं कह रहे हैं कि इस अवर नामक भाग या पूर्वार्द्ध के परे या उत्तरार्द्ध की प्रथम रेखा पर—जिसका नाम विषुवान् है,—मैंने दूर से गोमय समान स्थूणाकार का धूममय भौतिकात्मीय तत्त्व को कुहरे की तरह छाया हुआ देखा। क्योंकि वहाँ पर दक्षिणायनीय चार प्रकार के वीर रूप प्राण पृश्नि या सर्वरूपी अग्नि रूप सलिङ्ग भौतिकात्मीय वृषभ के परिपाक की प्रक्रिया या योग की प्रक्रिया कर रहे थे, उन प्राणों की अग्नि प्रज्वलित होने के पूर्व उनका प्रदीप्त होने वाला शरीर पहले अपने मौलिक स्वरूप धूम को प्रकट कर रहा था, धूम के तुरन्त पश्चात् उनमें वह ज्योति जल जाती है जिसके लिए वे योग या ऐक्य रूप में प्रस्तुत हुए हैं; यहाँ इसी प्रक्रिया को उस सप्राण वृषभाग्नि की परिपाक की क्रिया या सोम ज्योति या वीर्य टपकाने की क्रिया के रूपक में दिया है। जो ज्योति या धूम निकले हैं, उनके मौलिक बीज उनमें (अरणियों में अग्नि की तरह) पहले ही से विद्यमान थे।

वियोग या सृष्टि पक्ष—पूर्वार्द्ध के अन्त में विषुवान् नामक तत्त्व में जहाँ से परार्द्ध का प्रारम्भ होता है मैंने गोमय के समान स्थूणा रूप धूम को भौतिकात्मा के रूप में उदित होते देखा, वहाँ वीर नामक प्राण पृश्नि या सर्वरूपधारी अग्निरूप सलिङ्ग या भौतिकात्मीय वृषभ के परिपाक की प्रक्रिया कर रहे थे उस वृषभ के परिपाक से उसमें सोम रूप रेतः या वीर्य पुष्ट हो परिपाक से चूने लगा जिससे अगली अनन्त सृष्टि होने लगी उनसे जो विकास होने लगे थे (वे नये नहीं थे वरन्) उनके मौलिक बीज पहले ही से विद्यमान थे।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ २०॥

इस मंत्र में सुपर्ण रूप से तत्त्वों की व्याख्या दी जा रही है। यहाँ दिए गये दो सुपर्ण कौन है यह विदित हो जाय तो इस ऋचा का भाव स्वयं लग जाय। लोगों ने इन सुपर्णों का ज्ञान वेदों में खोजने के स्थान में अपनी-अपनी कपोल कल्पनाओं के कीचड़ में ढूंढने का प्रयास करके इसके अर्थ का सत्यानाश मार डाला है। दो बातें मुख्य हैं (१) सुपर्ण तो केवल एक है, उसी एक सुपर्ण की व्याख्या नाना सुपर्णों के (विकसित तत्त्वरूप सुपर्णों के) रूप में

की गई है जैसे 'एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं मातारेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥ सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति । छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सो-मस्य मिमते द्वादश ॥" (ऋ. वे. १०-११४-४,५)। वास्तव में सुपर्ण नाम छन्दों का है। वह सुपर्ण कभी गायत्री का रूप लेके २४,२४ तत्त्वों का रूप लेता है, कभी त्रिष्टुप बनकर ३३ या ४८ तत्त्वों की व्याख्या करता है, कभी बृहती से ३६ तत्त्वों का बनता है, कभी जगती से ४८ तत्त्वों का। इत्यादि।' इस प्रकार एक ही सुपर्ण की व्याख्या नानाविधियों से नाना रूप में की जाती है। यही बात उक्त दो ऋचायें कहती हैं। जब इस सुपर्ण की व्याख्या गायत्री और शाक्कर गायत्री के ४८ तत्त्वाक्षरों के रूप में या जगती के ४८ तत्त्वाक्षरों के रूप में की जाती है या विराट् के ४० या त्रिष्टुप् के ४४ अक्षरों के रूप में की जाती है तब इसे प्रत्येक स्थिति में एक महासुपर्ण कहते हैं। इसी स्थिति में इसको "स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश।" (ऋ. वे. १०-८१-१) कहते हैं अर्थात् वह छन्द के पूर्वार्द्ध को प्रथम पक्ष या छन्द तथा द्वितीय को अवर या दूसरा छद या पक्ष बनाता है। इन छदों या पक्षों के ही कारण इन भागों को छद या छन्द (गायत्री) प्रभृति कहते हैं। द्रविण नाम द्रव्य का है, भौतिकता का है, उसके रूप की प्राप्ति के लिए वह प्रथम छन्द से द्वितीय छन्द को विकसित करता है।

छन्द प्रायः चार पादों के होते हैं। इनको चतुष्पदी या चतुष्कपर्दा युवति के रूप में वर्णित करके लिखा है कि यह छन्दोमयी युवति यज्ञ रूप सृष्टिरूप वस्त्र को बुनती है। सृष्टिविकास का वर्णन नाना देवताओं के सर्वदेवता रूप में किया गया है। प्रत्येक देवता की विकासशैली दिखाने के लिए भिन्न भिन्न छन्दों के तत्त्वाक्षरों या पादों को या विभिन्न छन्दोमयी सुपर्णों को आधार बनाया जाता है। इनका विवेचन ऋ० वे० (१-१६४-२३, २४, २५ और १०-१३०-४, ५) में इस प्रकार दिया गया है जैसे अग्नि का छन्द गायत्री, सविता का उष्णिक्, सोम का अनुष्टुप्, बृहस्पति का बृहती, मित्रावरुण का विराट्, इन्द्र का त्रिष्टुप् और विश्वेदेवताओं का जगती है। ये छन्द या गायत्री प्रभृति ही चतुष्कपर्दा युवति हैं; विभिन्न पादाक्षर प्रकार की युवतियां हैं, उक्त देवता अपनी अपनी पत्नी रूप इन्हीं छन्दों या सुपर्णियों में अपने अपने भागधेय या विभागीय विकास को धारण करते हुए बतलाये जाते हैं। यहाँ पर इन सुपर्णियों में इनके पति रूप देवता सुपर्णा रूप के वृषण या वर्षणशील रूप में सन्निविष्ट रहते हैं। अतः लिखा है—"चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका

वयुनानि वस्ते । तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ।।" (ऋ० वे० १०-११४-३)।

ऐसी परिस्थिति में प्रस्तुत ऋचा की घोषणा या यह कहना कि 'सुपर्ण तो दो है, वे सखा हैं, एक ही वृक्ष में हैं' समाधान ठीक नहीं हुआ सा प्रतीत होता है। पर बात ऐसी नहीं है। सुपर्ण तो एक ही है। उसी एक के दो सुपर्ण या दो छन्द या पक्ष हैं, या यह सुपर्ण द्विमुखी सर्प सा है। अथवा एक ही सुपर्ण शरीर में वे दो पक्ष पर्ण या अङ्ग हैं। इनको वैदिक दर्शन की भाषा में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध या अमृत और मर्त्य अथवा अभौतिक और भौतिक अथवा अग्नीषोमौ या इन्द्राग्नी या इन्द्रापर्वतौ इत्यादि कई प्रकार के विभाजनीय नामों से पुकारते हैं। इनका एक और प्रसिद्ध नाम है वह 'सूर्याचन्द्रमसौ सुपर्णौ' या 'सूर्याचन्द्रमसौ ह वा चक्षुषी'। इनको कई अनजान व्याख्यातारों ने नासमझी से सार्वजनीन और वैयक्तिक दो आत्मायें कहकर अपने और दूसरों सबको ठग दिया है। यहां एक या अनेक की कोई चर्चा नहीं है, यहां तो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों अखिल ब्रह्माण्डीय आत्मायें हैं व्यक्तिगत आत्मा में भी ये दो भाग होते हैं। यहां दो से जुड़े अखण्डात्माओं का विवेचन है, अनेकता से इन सुपर्णों का कोई सम्बन्ध नहीं है। हां ये आत्मायें अभौतिक या भौतिक हैं, प्राण और उदान रूप दो पंछी या प्राणपखेरू हैं, इनमें इतना ही अन्तर है, पर यह महान् अन्तर है। इन व्याख्यातारों का ध्यान इस ऋचा में दिये 'सयुजा' शब्द के अर्थ की ओर गया ही नहीं। इन्होंने इसका अर्थ 'सखायः सयुजा' से जोड़कर 'मित्रता के बन्धन से जुड़े' लिखमारा है। ये मित्रता के बन्धन से जुड़े नहीं हैं, वरन् ये स्वाभाविक सम्बन्ध से पिता पुत्र या माता पुत्री के समान एक दूसरे से उत्पन्न होने के स्वाभाविक प्रेम बन्धन से जुड़े हैं, जैसा कि ऋ० वे० १० ११४-४ और १-१६४-१७ में गौमाता और उसके वत्स का पारस्परिक स्वाभाविक प्रेम वर्णित किया गया है। इन दोनों का सम्मिलित स्वरूप एक ही है, सयुजा है, दोनों एक दूसरे के सखा या प्यारे हैं। और ये दोनों सृष्टि रूप वृक्ष को आलिङ्गित किए हुए हैं, या इन्हीं का इस प्रकार का पारस्परिक आलिङ्गित शरीर ही एक समान वृक्ष या दो समान भागों का सम्मिलित स्वरूपी एक समान वृक्ष, सज्ञान वृक्ष, जड़ में चेतनता युक्त सृष्टिवृक्ष है। उसे ये पारस्परिकालिङ्गनरूपता में प्रकट कर रहे हैं। यह वही 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखः' सृष्टि वृक्ष है जिसे पिप्पल या अश्वत्थ नाम से (ऋ० वे० १०-२७-१०-७० कठ उप और गीता १५-१ में पुकारा जाता है। यह तो इस ऋचा के पूर्वार्द्ध का अर्थ है।

इस ऋचा के उत्तरार्द्ध का अर्थ तो अगली दो ऋचाओं ने स्वयं स्पष्ट करके दे दिया है जिनको न समझ सकने के कारण सायणादि पौर्वात्यों और

विल्सन लुदविग आदि पाश्चात्यों ने लिख दिया है कि इन तीन (२०, २१, २२) ऋचाओं की सब व्याख्यायें केवल काल्पनिक या आनुमानिक ही हो सकती हैं । और लुदविग ने तो यह भी लिख डाला है कि ये तीनों मन्त्र एक दूसरे से बिलकुल ही असम्बद्ध हैं और इनको इस सूक्त में इसलिए प्रक्षिप्त करके रख दिया गया है कि इनमें सुपर्ण शब्द प्राधान्य रूप से आया है !! इन सब कथनों का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि इन व्याख्याताओं में से अभी तक किसी की भी समझ में 'सुपर्ण' तत्त्व आया ही नहीं है । इसी कारण इन लोगों ने इस सुपर्ण की व्याख्या अपनी अपनी कल्पनाओं के द्वारा कई लम्बे चौड़े लेखों को लिखकर निम्न भ्रमात्मक रूपों में कर भी रखी है । कोई कहता है कि ये दो सुपर्ण दो आत्मायें—परमात्मा—जीवात्मा—हैं, कोई कहता है ये सूर्य की दो प्रकार की किरणें हैं, कोई कहता है कि ये छन्दः हैं, कोई कहता है कि ये मृत पुरुषों की आत्मायें हैं, कोई कहता है कि ये दिन और रात हैं, कोई कहता है कि इनमें से एक तो वृक्ष है दूसरा उस वृक्ष का पक्षी, कोई कहता है कि ये सूर्य की अयनरेखा और सूर्य का लोक है, कोई कहता है कि ये यूप और ससार हैं और कोई कहता है ये पौराणिक गाथाओं का एक काल्पनिक वृक्ष है, सारहीन कल्पना है । ग्रीफ़िथ ने इन सब का उल्लेख करते हुए, इसीलिए यह कहा है कि सुपर्ण सम्बन्धी इन विचारों में सुपर्ण तत्त्व की वास्तविक और सन्तोषजनक व्याख्या की उपलब्धि की आशा बड़ी कठिनाई से की जा सकती है । इसका तात्पर्य ही यही है कि अब तक जिसने भी इनके बारे में जो कुछ भी लिखा है वह संशय विपदा से बिलकुल निर्मुक्त होकर नहीं लिख पाया है, कुछ न कुछ संशय सबके मन में चोर की तरह अवश्य छिपे बैठा है, फिर भी वे लिखने के नाते लिखते आये और लिखते जा रहे हैं । सुपर्ण की सन्देह हीन व्याख्या कुछ यहां पर पहले दे दी गई है शेष वैदिक विश्व दर्शन में त्रिसुपर्ण शीर्षक में देखें ।

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे । तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २२ ॥

'हां 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।' की व्याख्या तो मंत्र २२ स्वयं लिखा गया है । उन दो सुपर्णों में से एक या भौतिकात्मीय-भागीय अधोमुखीय सुपर्ण तो पिप्पल के या भौतिकता के परिपक्व फल का आस्वादन करता है, दूसरा ऊर्ध्वमुखी या पूर्वार्द्धीयत्रिपादामृतज्योतिप्रधान सुपर्ण, अपनी ज्योतिर्मयी जीवनी में ही मस्त रहकर उस भौतिकता के आस्वादन करने वाले सुपर्ण को केवल द्रष्टा रूप में ज्ञान रूप में खाते-पीते सोते जागते

देखता रहता है। ये दोनों सुपर्ण कभी भी एक दूसरे से पृथक् नहीं रहते। हां प्रलय में भौतिक सुपर्ण का लय अमृत सुपर्ण में हो जाय तो वह केवल अमृत सुपर्ण रह जाय। यहाँ पर एक की निन्दा (स्वाद्वत्ति) दूसरे की प्रशंसा (अभिचाकशीति) नहीं है। यह तो योग या सृष्टि काल की वास्तविक स्थिति का साकार साक्षात् दर्शन मात्र कराया जा रहा है। इस विषय को और अधिक स्फुटतर बनाने के लिए ही मंत्र २२ की रचना करना आवश्यक समझा गया था। उसमें यह स्पष्ट बताया है कि 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' का वास्तविक आशय क्या है ? इसमें लिखा है :—

योग या सृष्टि काल में एक तो, सुपर्ण अकेला नही होता, सदा युक्त प्रकार से जोड़े में ही रहता है। दूसरे, यह जोड़ा केवल एक ही नहीं रह जाता, वरन् कई जोड़े हो जाते हैं। ये जोंड़े पञ्च पञ्च प्राणों के १० जोड़े हो जाते हैं। अतः इस २२ वें मंत्र में 'सुपर्णा' शब्द द्विवचन में न होकर बहुवचन में है जिसका प्रमाण 'निविशन्ते' और 'सुवते' धातु रूप हैं। इन जोड़ों में पूर्वार्द्धीय अमृत रूप सुपर्ण जब अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिश आदि है तो दक्षिणार्द्धीय सुपर्ण क्रमसे वाक् , प्राण, चक्षुः मनः और श्रोत्रं आदि हैं। इसी प्रकार प्राण उदान व्यान अपान समान के देवता सहित ५ जोड़े वाले १० सुपर्ण और हैं। इन्हीं का विवेचन यह ऋचा इस प्रकार दे रही है।

यहां जिस वृक्ष का वर्णन है वह सृष्टि वृक्ष है। इसका प्रमाण ऋ. वे. (१०–२७) की यह ऋचा है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा भूमि निष्टतक्षुः"। इसका उत्तर तै० ब्रा० ने इस प्रकार दिया है। 'ब्रह्म वनं ब्रह्म तद्वृक्ष आस यतो द्यावा भूमि निष्टतक्षुः ॥" इस सृष्टि रूप वृक्ष के दो भाग रूप दो सुपर्ण कहलाते हैं। इनमें दो भागों वाले दो सुपर्णों में से जो दक्षिणार्द्धीय भाग का एक सुपर्ण है उसके कई भाग या सुपर्णों के जोड़े हो जाते हैं जैसा कि पिछले परिच्छेद में बताया जा चुका है। इन सुपर्णों का नाम 'मध्वद' या सोमामृत का पान करने वाला है। ये भौतिकात्मा के अमृत या सोम का पान करने वाले या भौतिकात्मा के शरीर को धारण करने वाले सुपर्ण हैं या प्राण हैं। ये प्राण रूप सुपर्ण उस सृष्टि वृक्ष के पूर्वार्द्धीय अमृत की गुहा में प्रविष्ट होकर स्थित होकर रहते हैं (निविशन्ते)। और ये भौतिकात्मीय सृष्टि और सोम को ओर आगे की ओर विकसित करने वाले (सुवते) भी हैं जिससे ये अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड और सोम की रचना को एक पूर्णता प्रदान करते हैं (सुवते अधि विश्वे)। इन उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मीय प्राण रूप सुपर्णों की इस प्रकार की विकास परम्परा की स्थिति ही को (अग्रे) पहले या आगे के मंत्र २० में 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' या योग या सृष्टि वृक्ष के फल रूप सोम का स्वाद लेता है या उसको

अपनाता या उसके शरीर को धारण करता है इत्यादि कहा गया है, इस बात को वह ऋचा स्वयं कह रही है। इस पिप्पल के वृक्ष का ही फल जो मध्यविन्दु में अतीव मीठा है वह गायत्री का लाया या बनाया सोम है इस सोम को वही जान सकता है जो योग सृष्टि के इन रहस्यों की जानकारी रखे। जो व्यक्ति इस योग सृष्टि की इस प्रकार की रचना के मूल स्रोत रूप पूर्वार्द्धीय अमृत रूप पिता या पितर को या जन्मदाता को भली-भांति नहीं समझ सका है (जैसा कि अब तक के सभी व्याख्याता नहीं समझ सके हैं) उसे इस सोम का रहस्य कभी भी ज्ञात या प्राप्त हो ही नहीं सकता। (यह तो वही मंत्र दृष्टा ऋषि स्वयं कह गये हैं, लेखक को अपनी ओर से नमक मिर्च मिलाकर कुछ और अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं है)॥ इसके लिए वैदिक योगमार्ग के ज्ञान की आवश्यकता है। अभी तक किसी ने इस ओर झांका तक भी नहीं है।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ २१ ॥

अब मंत्र २१ में सृष्टि प्रक्रिया के विपरीत अतिसृष्टि या योग की प्रक्रिया का वर्णन मत्र २० के 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' पद की पूर्ण व्याख्या देने के लिए दिया गया है। लिखा है :—

"जहां पर उत्तरार्द्धीय पञ्च पञ्च प्राणों के १० जोड़े रूप सुपर्ण अपने-अपने देवता रूप सुपर्णों के अमृतमय भागों की अनुभूति को नैरन्तर्य रूप से सब मिलकर एक साथ उसी प्रकार करते हैं जैसे यज्ञस्थल की विद्वत्परिषद के समान सृष्टि वृक्ष में बैठ कर नाना ऋत्विज, सुपर्ण रूप धारण करके प्रातःकाल में एक साथ चहचहाने लगते हैं। अर्थात् इन प्राण रूप सुपर्णों का निवास विदथ रूप उनके पूर्वार्द्धीय तत्तद् देवता में है, और प्रत्येक प्राण रूप सुपर्ण अपने देवरूप सुपर्ण के रमणीय गीत गा रहा है या उसकी तादात्म्यीय अनुभूति कर रहा है।"

यहां पर एक बात और है जिसकी ओर ध्यान दिलाना परम आवश्यक है। वह यह है—जितने भी प्राण हैं, या उनके देवता हैं वे सब के सब एक ब्रह्म के अङ्ग रूप हैं। अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिश आदि भी दैवी अङ्ग हैं, और वाक् प्राण चक्षु मन ओत्रं भी भौतिकामृतीय अङ्ग है। प्रथम दूसरों की आत्मायें हैं, द्वितीय प्रथमों के अध्यात्म या शरीर। ये सब मिलकर एक सर्वाङ्गीण ब्रह्म की प्रस्तुति या रचना या स्तुति करते हैं। अतः लिखा है कि इस प्रकार का वह सर्वाङ्गीण 'इनः' या सब प्राणों का स्वामी और अखिल

भौतिक ब्रह्माण्ड का संरक्षक (केवल अनश्नन्) है या 'अभिचाकशीति' या केवल द्रष्टा रूप में प्रस्तुत रहता है। वह 'धीरः' या धीः नामक या बुद्धि नामक प्राणों में रमण करने वाला (धी + रः), मेरे (मा) इस पाकः या परिपाक को या परिणाम को या परिवर्तन को या नानारूपता को प्राप्त होने वाले 'अत्र' या भौतिकात्मीय प्राणों में अध्यात्मीय अङ्गों में 'आविवेश' या सर्वतः व्याप्त होकर समा गया, (व्याप्नोति के बदले-आविवेश या व्याविवेश)। पर वह रहा अनश्नन् और अभिचाकशन् ही। इस प्रकार यह ऋचा पूर्णतः योग प्रक्रिया r विवेचन देती है।

ये तीनों ऋचायें कहां तो एक दूसरे के भावों का भाष्य दे रहे हैं, कहां हमारे व्याख्यातार यह कह गये हैं कि ये एक दूसरे से नितान्त असम्बद्ध हैं, केवल 'सुपर्ण' नाम आ जाने से इन तीनों ऋचाओं को यहां प्रक्षिप्त कर दिया है। तब इनकी समझ में क्या आया होगा ? यह अब तो स्वतः स्पष्ट हो गया होगा।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ ४७ ॥

इस मंत्र में भी सुपर्णों का वर्णन हैं। यहां के सुपर्ण न एक है न दो। ये अनेक हैं, बहुवचन में दिया है। 'हरयः' 'ते' आववृत्रन्' इत्यादि इसके प्रमाण हैं। जब सुपर्ण का वर्णन बहुवचन में आता है तब यह सप्त सप्त या पञ्च पञ्च प्राणों का ही निश्चयात्मकतया विवेचन देता है। यह विवेचन दोनों प्रकार का, योग का या सृष्टि का हो सकता है। यहां पर दोनों प्रकार का सम्मिलित विवेचन दिया हुआ है। मन्त्र का पूर्वार्द्ध तो योग की प्रक्रिया का वर्णन देता है, और उत्तरार्द्ध सृष्टि प्रक्रिया का।

मंत्र के प्रथम भाग का अर्थ—प्राण रूप सुपर्णों का नियान या अवतार या उत्पत्ति का स्थान तो कृष्ण या उत्तरार्द्ध रूप रात्रि है भौतिकता के अन्धकार से युक्त पक्ष है। ये प्राण रूप हैं। प्राणों का शरीर 'आपः' है (प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपं चन्द्रः । बृह. उप.)। उस आपः या दैवी भौतिकात्मा का वस्त्र या शरीर पहन कर या धारण करके उनका स्वरूप 'सुनहला' स्वर्णमय प्राणमय चान्द्रमस ज्योतिर्मय हो जाता है। दैवी भौतिकात्मा रूप आपः का वर्ण स्वयं शुक्ल है, 'अपां शुक्लम्' (छा. उप.)। दैवी प्राणों की आत्माओं से ये अधिक तेजस्वी या सुनहले हो जाते हैं। यह योग की प्रक्रिया है। योगी को प्राणों के आपोमय शरीर को ही सबसे पहले जागृत करना पड़ता है। इसकी जागृति से विभिन्न प्राणों की आत्माओं या देवताओं को उद्दीप्त करके, इन आपोमय

शरीरों में उन उन प्राणों या उनके देवताओं की ज्ञाति या ख्याति रूप ज्योति या दीप जलाना पड़ता है। इसी स्थिति का नाम सुपर्णों का दिव में उत्पतन करना कहलाता है, क्योंकि तब वे मर्त्य भौतिक शरीर से अमर्त्य देव शरीरों की अतिसृष्टि करके स्वर्ग की यात्रा करते हैं या स्वर्ग में उड़ते से प्रतीत होते हैं। दिव में उत्पतन का आशय दैवी ज्योतिर्लोक में डुबकियां लगाना है। ये डुबकियां ऊर्ध्वगामिनी ऊर्ध्वतलीय या ऊर्ध्वस्तरीय होती हैं। अतः 'दिबमुत्पतन्ति' या 'ऊपर को उड़ते हैं' लिखा है।

मंत्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ—इसमें योग और सृष्टि दोनों प्रक्रिया हैं। पर सन्दर्भ में इस प्रक्रिया को योग प्रक्रिया से ही सम्बद्ध किया है। यह ठीक भी है। क्योंकि सृष्टि नाम योग से वियोग की ओर विकसित होने का है। योग में वे सब एक रूप में सम्मिलित रूप में उत्पन्न करते हैं, वहां तो दैवी तत्त्वों से भी इनका एकत्व एकात्म्य ही है, उसी में डूबे हैं। इस अति सृष्टि में प्रत्येक प्राण अपने अपने पृथक् पृथक् शरीरों में प्रकट होता है जैसे अग्नि वाक् शरीर में, सूर्य चक्षु शरीर में, चन्द्रमा मनः शरीर में, वायु प्राण आपः शरीर में, दिशा श्रोत्र में इत्यादि। उस अखिल ब्रह्माण्डीय एकत्व या एकात्मीय योग स्थिति से—जिसे ऋत का सदन या सत्य की ज्योति का सदन या आत्मज्योति का धाम पुञ्ज कहा जाता है—जब वे प्राण सृष्टि विकास के लिए प्रत्यावर्तित होते हैं या लौटने हैं—'त आववृत्रन्'—तब या तभी उत्तरार्द्ध रूप पृथिवी या भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड घृत से या इन प्राणों के चक्षुर्मय प्रकाश के प्राणवान् चेतनावान् ज्योति से सिञ्चित होकर अखिल ब्रह्माण्ड को एक विराट् ज्ञान चेतना प्रकाशमय प्राणमय पुरुष के रूप में परिणत कर देते हैं, इनके अङ्ग प्रत्यंग सब सजीव सप्रकाश सप्राण सज्ञान होकर 'दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः' (गीता ११-१२) का स्वरूप धारण कर लेते हैं।

एकः महासुपर्णाः

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ॥ ५२ ॥

यह मंत्र पीछे व्याख्यात (१२७–२०) अन्य मंत्र की व्याख्या में उद्धृत 'एकः सुपर्णः सः समुद्रमाविवेश इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे' और 'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ. वे. १०-११४-४,५) की प्रतिध्वनि सी कर रहा है। यह 'एकः महासुपर्णः' का विवेचन दे रहा है। ब्रह्म अखिल ब्रह्माण्ड का मौलिक स्वरूप 'एक महासुपर्ण' के समान था। इसका दिव्य शरीर या भौतिकामृतीय या सोमीय शरीर पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत

से या दिवः से उत्पन्न होने के कारण 'दिव्य' (शरीर) कहलाता है। इसका सुपर्ण अखिल ब्रह्माण्ड सम बृहत् है; एक तो दिव्य सुपर्ण है, दूसरा भौतिकामृतीय बृहत् नाम का। दोनों सुपर्णों या पक्षों या परों वाला वह एक महा सुपर्ण है। जिसको उक्त उद्धृत मंत्र से 'सःसमुद्रमाविवेश' कहा है, उसी को यहां पर 'अपां गर्भ' नाम से कहा जा रहा है। आपः तत्त्व प्राणों का शरीर है, इसी आपः शरीर के गर्भ में वह प्राण पखेरू पक्षी या सुपर्ण निवास करता हैं। 'ओषधि' शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति "उषसो भवतीति 'ओषम्' 'उषस्यम्' वा 'तद् ओषं दधातीति ओषधिः' है। जो तत्त्व भौतिकात्मा के उषा काल में उदित होता हैं उसको धारण करने वाला' ही 'ओषधिः' या 'आपोमयाः' प्राण है। आपः ही ओषधि हैं। उनका सर्व प्रथम दर्शनं या दर्शतं वही 'दिव्यं सुपर्णं रूप प्राण करता हैं। 'ओषधी' 'रुद्र' और 'भेषज' शीर्षक भी देखें। इसीलिए इस 'दिव्य सुपर्ण' पूर्वार्द्धीय पक्ष को 'ओषधीनां दर्शतं' कहा है और दूसरे उत्तरार्द्धीय पक्ष को 'वायसं (पक्षं) बृहन्तं अपां गर्भम्'। जो व्यक्ति या साधक इसकी अनुभूति करता है उसको यह अपने प्राणों के शरीर रूप आपः गर्भीय पर्जन्य से वारं वार वृष्टि करके तृप्त या मग्न कर देता है। ऐसे सरस्वान् या रसवान् या समुद्रमय (सः समुद्रमाविवेश) तत्त्व या देवता का मैं अपनी सुरक्षा के निमित्त आवाहन या ध्यान या स्तुति करता हूँ। इसमें योग और सृष्टि सम्बन्धी दोनों विषयों का विवेचन है।

सुपर्णों या देव सुवर्णों का शरीर

यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभात्त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥२३॥
गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥ २४ ॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्ररिरिचे महित्वा ॥२५॥

इन तीनों मन्त्रों में मंत्र ५ के'''पृच्छामि'''देवनामेना पदानि' और मंत्र ७ के 'वामस्य निहितं पदं वेः' के पदों की पृच्छा के पद विषयक ज्ञान की व्याख्या दी जा रही है। अतः इनका विषय पूर्णतः संदर्भान्तर्गत है, यों ही संकलित नहीं; पिछले तीन मंत्रों के सुपर्णो के शरीर छन्द हैं, छन्द ही सुपर्ण हैं, यह बतलाया जा चुका है। अतः उक्त सुपर्णों की व्याख्या तब तक अपूर्ण होती है जब तक उनके शरीर रूप छन्दों के शरीर और उनके सम्बद्ध देवताओं का ज्ञान पूर्ण न हो।

वैदिक विश्वदर्शन की रूपरेखा या मेरुदण्ड निर्माण का मूल और मुख्य आधार वेदों में विख्यात सप्त मुख्य छन्द हैं। इसीलिए छन्द नाम वेद: या ज्ञानमयी सृष्टि का भी है और 'इन्हीं छन्दों से सृष्टि का विवर्त हुआ' भी लिखा है जैसे 'छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।" (भर्तृहरि-वा-प·)। प्रत्येक छन्द विभिन्न देवता की विकास शैली की एक सरणि देता है। इस छन्द के पादों का नाम पद भी है। यह पद सप्तपदी या विष्णुविक्रमणीय त्रिपदी या सप्तपदी से भिन्नार्थक है। छन्दों के पादों को ही यहां पर गायत्रं (पदं) त्रैष्टुभं (पदं) जागत् (पदं) मंत्र २३ में कहा गया है जिनमें क्रम से ८, ११ १२ अक्षर रूप तत्वों का निवास है और प्रथम त्रिपाद् तथा द्वितीय चार पादों के हैं, त्रिष्टुभ् त्रिपादी भी है जिससे इन्द्रादि वसुरुद्रादित्यों की ३३ संख्या आँकी जाती है।

"गायत्र नाम अग्नि देवता रूप पुरुष का या त्रिपादामृत का है। उसकी व्याख्या गायत्री के पादों से गायत्रपदों के रूपों में की जाती हैं। त्रैष्टुभ नाम इन्द्र के साथ साथ वसुरुद्रादित्यों की संख्या देने वाले छन्द के त्रिष्टुप् नाम के पदों या पादों का है, जगत् नाम विश्वेदेवताओं की गणना के पदों या पादों का है जिसे जगती छन्द कहते हैं। अत: लिखा है कि "जिस छन्दोमय सिद्धान्तों से गायत्री के पादों के आधार पर गायत्र पदों की या गायत्र या अग्नि पुरुष की, गुप्त वर्णना या रहस्यमय वर्णना (आहितं = निहितं) की थी, इसी प्रकार त्रिष्टुप् से त्रैष्टुभ या त्रिपदी से इन्द्र की और जगती से जगत् नामक रहस्यमय पदों से जगती के विश्वेदेवताओं की रहस्यमय व्याख्या की थी, उन सब रहस्यों को जिन्होंने जान लिया था उन्होंने ही इन छन्दों के लाये अमृत और उस त्रिपादामृत का पान भी कर लिया था।" इनका सविस्तर वर्णन वैदिक विश्वदर्शन' के 'छन्दास दर्शन' शीर्षक तथा इस सूक्त के मंत्र २, ३, १३, १४ की व्याख्या की भूमिका 'अस्य वामीये रथ वागादि योगा:' नामक शीर्षक में ऋ- वे १०·१३०-४, ५ के उद्धरण सहित दिया मिलेगा॥ २३॥

गायत्र पादों से ही अर्क या आप: या वाक् या ऋक् या पूर्वार्द्ध की व्याख्यायें की गई। इसी आपोमयी वाक् या ऋक् से साम नामक सूर्य तत्त्व या भाग की व्याख्या की गई। और त्रिष्टुप् के तीन पादों से वाक नामक इन्द्र 'त्रय: केशिन' ऋभव:-और वसु रुद्र आदित्य ३३ देवताओं की व्याख्या दी गई। तदनन्तर द्विपदी और चतुष्पदी वाक से या किसी को दो पाद का वाक किसी से चार पाद का वाक बनाकर उनके पादों के अक्षरों की विभिन्न संख्या ७, ८, ९, १०, ११, १२ इत्यादि रखकर इन पादों के विभिन्न प्रकार

के वाकों या देवताओं के गणों के तथा असमानाक्षरी पादों या समानाक्षरी पादों से मुख्य सात छन्दों (गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् त्रिष्टुप् बृहती विराट् और जगती) और उनके विभिन्न देवताओं की रचना की गई। प्रत्येक छन्द को एक पृथक् देवता भी दे दिया गया ।। २४ ।।

इसीलिए लिखा है "छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।" इन छन्दों ही को सुपर्ण तथा इनमें से प्रत्येक को विभिन्न देवता का छन्द या सुपर्ण या पत्नी भी कहा जाता है जिनका सोद्धरण विवेचन मंत्र ३ की व्याख्या में दे दिया गया है (पीछे देखें)।

जगता सिन्धु···पर्यपश्यत्—

२४ वें मंत्र में जगती के जगत् नामक पदों से वैदिक दर्शन के पूरे ५० (४८ + २ आदि अन्त के) तत्त्वों का विवेचन दिया गया। यहां पर इस दर्शन या तत्त्वों के मौलिक सृष्टिक्रम का नाम सिन्धु (समुद्र या नदी) दिया गया है। इस सिन्धुनामक सृष्टि की रूप रेखा या मेरुदण्ड के मध्य-स्थान में दिव्यः (या 'दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्' मंत्र ४६) या सुपर्ण या सोम चन्द्र का स्थान निश्चित किया गया। इसके पूर्व में गायत्री के २४ अक्षरों या इस जगती के दो पादों के रथन्तर नाम साम से सूर्य नामक सुपर्ण को देखा या माना गया, इस प्रकार इस जगती के जागत् पदों से केवल समुद्र रूप सृष्टि की बाहरी रूप रेखा ही नहीं खींची गई वरञ्च इसके मध्यवर्ती दो या पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के प्रतिनिधि रूप दो मुख्य तत्त्वों का भान या मान भी कर लिया गया। पूर्वार्द्ध का प्रतिनिधि रथन्तर साम रूप गायत्री के तीन या जगती के दो पाद (२४ अक्षरों) से उद्भूत सूर्य तत्त्व है और उत्तरार्द्ध का प्रतिनिधि वह दिव्यः सुपर्णः या सोम या चन्द्रमा है। रथ नाम भौतिकता का है। सोम ही रथ साम या प्राण है, सूर्य रथपर वाक या सोमपर शुद्धं त्रिपादामृत है। रथन्तर नाम वाक या गायत्रीका है (ऐ. ब्रा. ४-४-२८) इसका विस्तृत वर्णन ऋ. वे (१०-५-१) में दिया हुआ है, पढ़ लिया जाय। इसकी प्रथम ऋचा इस प्रकार है:—

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे।
सिसक्त्यूध र्निण्यो रूपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः ॥ १ ॥"

"इस सृष्टि का मूल आधार स्तम्भ रूप मेरुदण्ड या रूपरेखा वही जगती रूप सिन्धु या समुद्र है जिसमें चन्द्र रूप धनों या रत्नों की खान है। इसी हृद से अनन्त जन्मा सोम या चन्द्रमा नामक सुपर्ण की सृष्टि हुई। इस समुद्र

के उपस्थ रूप मध्यस्थान मे ही इस अखिल भौतिकात्मीय ब्राह्माण्ड के नामहीन (निण्यो) तेजस्तत्त्व या सूर्य नामक सुपर्ण (वेः) का पद या गुहा-नामक स्थान निहित या सुरक्षित है जहां से वह अपने रूप नामक थन से भौतिकात्मीय सोमीय चान्द्रमस सृष्टि का दुहन या सिञ्चन या वर्षण करता है।'' शेष बातें इस सूक्त में बडी कुशलता से बड़े संक्षेप में दिए मिलेंगे। पढ़ लेना चाहिए।

इस वर्णना से भी यह स्पष्ट है कि इन छन्दों का वर्णन यहां पर पहले किए गये प्रश्न 'देवानामेना निहिता पदानि' (मंत्र ५) की ही व्याख्या के लिए दिया गया है। इस मंत्र में पर्यपश्यत् और अस्तभायत् क्रियाओं का कर्ता भी अग्नि प्रजापति ही है जिससे मं. ४ में प्रश्न किया गया है, पर यह उत्तर मं. ६ के कवियों का दिया हुआ है।

'गायत्रस्थ महित्वा'—कुछ कहना ही नहीं आता, कैसे समझाया जाय। उपनिषत्कालोत्तर युग से ही वैदिक छान्दस दर्शन का लोप हो गया था। तब से कोई भी विद्वान् इन छन्दों की उस दार्शनिक भावना से परिचित रहा ही नहीं। सारी मौलिक सृष्टि एक यज्ञ रूप है। यज्ञ माने विकास ही होता है। विकास एक एक विन्दु क्रम से ही होता है। इस एक एक विन्दु रूप क्रम को या विकासीय भागों या स्थानों को छन्दों के पदों या पादों तथा उनके अक्षर रूप विन्दुओं से परमित करने की एक अद्भुत शैली का निर्माण किया गया था। उसी शैली को जानने का प्रश्न भी (मंत्र ५ में) है, उसी का यहां इन तीनों ऋचाओं में कुछ व्याख्यान भी है, जैसा कि पहले कहा गया है।

इस प्रकार गायत्री के तीन पदों के २४ अक्षर रूप २४ तत्त्वों के विकास का नाम गायत्र पुरुष या अग्निः प्रजापति है। इसके तीन पदों में क्रम से अग्नि वायु और आदित्य नामक तीन मुख्य प्राण रूप तीन समिधों का विकास होता है। समिध माने 'सम् शीर्ष्णः इन्धन्तीति समिधः' है। इसका खुलासा ऐ. ब्रा. (३-१७) ने दे रखा है जिसमें इन तीनों प्राणों को प्रयाजा उपयाजा और अनुयाजा नाम से पुकारा है। 'शीर्षन्धित्सेत्' इति समिधः' नामकी व्याख्या भी दे रखी है। वैदिक दर्शन में सात पद हैं, उनको सात शीर्णण्य प्राण कहते हैं, उनमें से इन तीन पाद रूप तीन प्राणों को गायत्र पुरुष की तीन समिधा नाम से पुकारा जाता है। शेष चार समिधायें उत्तरार्द्ध में आती हैं। "त्रिपदामनूच्य चतुष्पदया यजति, सप्त पदानि भवन्ति शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यं (समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्) सप्त वै शीर्षन्प्राणाः ॥" यज्ञ रूप या सृष्टि के पूर्वार्द्ध रूप गायत्र पुरुष या

अग्नि प्रजापति को उज्वल या दीप्त रखने वा बनाने वाले गायत्री के ये ही तीन मुख्य प्राण ही तीन समिधायें हैं। अतः ये पाद जब गायत्री के पति गायत्र पुरुष या अग्नि प्रजापति के तीन प्राणों के सूचक कहे जाते हैं तब इन्हें समिधः या शीर्षन्प्राणः (सख्या में तीन) कहा जाता है। क्योंकि गायत्र पुरुष या अग्नि प्रजापति यज्ञ रूप है, उसके विकास या प्रदीप्ति के ये प्राण समिध कहलाते हैं। इन्हीं समिधों या प्राणों की प्रदीप्ति रूप महिमा (मह्ना) और मौलिक पूर्वजता (महित्वा) से वह गायत्र साम या रथन्तर साम के २४ तत्त्वाक्षरों से निष्पन्न सूर्य नामक तत्त्व इतना अधिक प्रकाशमान प्रतीत होता है। इस पाद में 'प्ररिरिचे' धातु का कर्ता सन्दर्भ से गायत्री और सूर्य दोनों हैं। इसी सन्दर्भ को बैठाने के लिए चन्द्र (दिव्यः) का वर्णन पहले देकर सूर्य का बाद में रखा गया है जिससे इस सूर्य का सम्बन्ध 'गायत्रस्यादि' पाद में बैठ या जम जाय। और इन्हीं कारणों से गायत्री छन्द को भी अन्य सभी छन्दों से श्रेष्ठ समझा जाता है। अतः यहां कहा है कि गह गायत्री अपनी इतनी बड़ी भारी महिमाओं और गौरव पूर्ण कार्यों से सब छन्दों में अधिक प्रकाशमान हुई। लिखा भी है 'कनिष्ठं सद् गायत्री सर्वेभ्यो छन्दोभ्योऽतिरिच्यत' (श० ब्रा०, ऐ० ब्रा०); क्योंकि सोम (साम और सूर्य) को केवल गायत्री ही ला सकी, अन्य छन्द इसे न पा सके, उसी भाव को इस पाद में इस प्रकार दिया गया है।

मंत्र २६ २७-२८ छान्दसी गौ।

उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता मविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्॥
हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥
गौरमीमेदनुवत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्काणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं नयते पयोभिः॥

इन तीन मंत्रों में से २६ वें में मंत्र ७ के प्रश्न और विषय का विस्तार है तो मंत्र २७ में मंत्र ८ का तथा मंत्र २८ में मंत्र ९ का; यह इसके विषय, भाषा और भावनाओं की स्पष्ठ साम्यता से स्वयं उद्घोषित हो रहा है। यहां पर इनका वर्णन पुनः देने का कारण यह है कि ये छान्दसी छन्दोमयी वेद मयी, वैदिक विश्वदर्शन की मूलाधार भूता तत्त्व हैं। इसके पहले मंत्र २३,-२४,२५ में इन छन्दों की महिमा दी जा चुकी है अतः यहां उचित अवसर पाकर इन छन्दोमयी गायों का विवेचन निम्न प्रकार दिया जा रहा है:—

औष्णिक या उष्णिहा—धेनुः

(२६) इसमें उष्णिक धेनु का वर्णन है। उष्णिहा धेनु से सविता का सव या प्रसव होता है; सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव' (ऋ. वे. १०-१३०-४)।

जिस धेनु के बारे में मन्त्र ७ में प्रश्न रूप में 'शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो' इत्यादि कहा गया है उसी के सन्दर्भ में उत्तर रूप में यह मन्त्र लिखता हैं कि— "अपने प्राण रूप करों को सुकुशल या दुहन में योगादिक्रिया से सुदक्ष दक्ष प्रजापति सा बना कर सरलता से दुही जाने वाली इस गाय का आह्वान या ध्यान करके योगी यति मैं इसका दुहन करता हूँ!" यह गाय पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत रूप द्यौ है जिसके अन्तिम चरण के अन्त त्रिपादी के तृतीयान्त चरण में सविता देवता का सव या प्रसव होता है, जिस प्रसव को वत्स या चतुर्थ पाद कहते हैं, यही सोम का सवन या प्रसवन या चुवाना टपकाना भाप रूप में भपके के रूप में 'सुत' करना कहलाता हैं। सविता प्रसविता सोम या चन्द्रमा देवता है। इसका जन्म त्रिपादामृत के पूर्ण परिणाम रूप सूर्य देवता से होता है। यह सूर्य तृतीय चरण की अन्तिम सीमा में उस त्रिपदामृतीय द्यौरूप गाय के थन के समान है अग्नि रूप या जातवेदा अग्नि की चक्षुरूप या अङ्कुर (थन) रूप की उष्णता रूप आत्मा (चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः…… सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च') है। इसीलिए इस अङ्कुरता रूप थन की आत्मा रूप सूर्य या घर्म नामक सूर्य ही अभीद्धः या प्रदीप्त हो गया है। जिस चक्षुरूप अङ्कुररूप थनरूप शरीर में उद्दीप्त प्रदीप्त या अभीद्ध होकर वह घर्म नामक तपा हुआ सूर्य भपके के समान श्रेष्ठ या दुर्लभ, एकदम नया, अभूतपूर्व भौतिकात्मीय रस रूप सव' 'प्रसव' 'सुत' या सोम या चन्द्र नामक तत्त्व को निरन्तर टपकाता है। यह सृष्टि प्रक्रिया हैं। इसी को योग प्रक्रिया में टपकवाया जाता है। प्राणों को चक्षुरूप में लय करके उसे चक्षु रूप में सूर्य को उद्दीप्त करके उसकी ज्योति रूप ज्ञानानु भूतिरूप सोमरस को टपकवाया जाता है। इसीलिए लिखा है कि वह घर्म रूप उष्णताशरीरी जातवेदा अग्निरूप सूर्य योगप्रक्रिया से अभीद्ध या उष्ण या जागृति पा गया है वह हमें प्रसविता सविता रूप श्रेष्ट सव या प्रसव रूप उत्तम शान्तिमय सोम ज्योति की ज्ञानमय अनुभूति को दे दे। इस बात को अग्नि प्रजापति 'अग्निर्विद्वान्' कः प्रजापति के म० ७ के प्रश्न 'शीर्ष्णं क्षीरं दुह्रते गावो, के उत्तर में कह रहा है। अतः वह यहां कहता है कि उस मंत्र ७ में वर्णित प्रश्न का जो उत्तर है उसे मैं यहां इस प्रकार कह रहा हूँ। उस प्रश्न का यही आशय हैं कि योग प्रक्रिया में प्राण रूप गायें अपने सिरों में दीप्त उस उष्ण स्थन रूप सूर्य की ज्योतिर्मयता से ज्ञानरूप सोम ज्योति की

अनुभूति रूप प्रकाश का दुहन कर रही हैं। इसका अभिनय महावीर या प्रवर्ग्य नामक यज्ञों द्वारा किया जाता है ॥ (२६)"

जगती शरीरिणी अदितिर्माता धेनुः

(२७) अदिति रूप जगती धेनु—अब मन्त्र ८ के 'धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे' इत्यादि वाक्य का जो प्रश्न है उसी का विवेचन यहां इस प्रस्तुत २७वीं ऋचा में विस्तार से दिया जा रहा है। इस मन्त्र की 'गौ' वेदों में प्रसिद्ध 'अदिति' सर्वा देवता है। यहां यह अदिति पूर्वार्द्धीय है, उत्तरार्द्ध की अदिति को दिति कहते हैं, यह बताया जा चुका है। पूर्वार्द्ध की अदिति का छन्दः जगती है, अतः यह जगती रूप अदिति माता रूपी मेनु है जिसका वर्णन निम्न ऋचा इस प्रकार देती है "माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥" (ऋ. वे. ८-१०१-१५)। इस अदिति को वसुओं की दुहिता, रुद्रों की माता और आदित्यों की स्वसा (बहिन) बताया है, तथा इसी को अमृत की नाभि अपराध हीन 'गौ' कहते हुए इसके बध को मना किया है। इस मन्त्र की विशेषता-जो यहां सबसे अधिक आवश्यक है—यह है कि ऋचाकार जमदग्नि ऋषि यहां यह कह रहे हैं कि इस ज्ञान को मैंने उस व्यक्ति के ज्ञान के लिए कहा है जो इस रहस्य को जानने की प्रश्नावली कर चुका था। ऐसा प्रश्न कर्ता इस अस्यवामीय सूक्त का वही 'पाकः' या 'कः' प्रजापति है जो इसके मन्त्र ५ में 'अग्निर्विद्वान्' से प्रश्न करने गया था। यहां पर जिसे 'दुहिता वसूनां' कहा है वही 'माता रूद्राणां' भी है। यह अदिति द्वितीय सप्तक की अदिति है जिसे 'अदितिर्द्यौरदिति रन्तरिक्षमदितिर्माता' मन्त्र में आदितिर्माता' कहा है, वही अदिति रुद्रों की माता और वसुओं की दुहिता है। पर 'अदितिर्द्यौ' वाली अदिति इसी प्रकार वसुओं की माता है, और अदितिरन्तरिक्षं वाली अदिति स्वयं वसुओं की पत्नी है। इसी अदिति का यहां पर विवेचन है। वह 'अदितिरन्तरिक्षं' वाली अदिति या वसुपत्नी अदिति, 'अदितिर्माता' बनने के लिए या रुद्र रूप वत्स की इच्छा या कामना करती हुई, उस वसु रूप पति से मानसिक विवाह करने के लिए गई, और वे सब देवता मानसिक या अनिरुक्त हैं, अतः उनका विवाह प्रेम और पुत्रोत्पत्ति सब मानसिक सृष्टिरूप में या अनिरुक्त या अमृतरूप में हो गया, अर्थात् कामना की नहीं कि कार्य सम्पादित हो गया। कामना करने मात्र की देरी है, जो चाहा सो स्वयं उपस्थित हो गया। फलतः अन्तरिक्ष रूप वसुओं और अदिति रूप मनोमयता से यह कार्य सम्पादित हो रहा है। अदिति ने मनसे ही क्यों इच्छा की, वाक् से क्यों नहीं कहा? इसका भी कारण है। क्योंकि अदिति स्वयं

अन्नमयी आध्यात्मिक अमृत शरीर रूपा होने से केवल मनोमयी है, मन केवल अन्नमय या अदितिमय ही होता है। अतः अदिति का शरीर ही मनोमय है, वह सर्वाङ्ग से अपने मनोमय सर्वाङ्गीणता से अदिति का शरीर ही मनोमय है, वह सर्वाङ्ग से अपने मनोमय सर्वाङ्गीणता से वसुमय वीर्यमय अग्निमय अन्तरिक्ष रूप में व्याप्त हो गई है। और इस सर्वाङ्गीण अन्नमयी मनोमयी अदिति की जो अमृतमय नाभि या गर्भ या योनि है उसमें वत्स का गर्भाधान मन में कामना करने मात्र से हो गया जैसा कि ऋ० वे० १०-१२६-४ की "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' ऋचा ने स्वयं कहा है। इस 'मानसी रेतः' रूप काम ने जो गर्भाधान प्रतिष्ठित कराया उसने इसी ऋचा के उत्तरार्द्ध के अनुसार दो तत्वों को या असत् रूप अमृत को सत् रूप मर्त्य भौतिकता से सम्बद्ध कर दिया जैसे "सतोबन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥" इस वाक्य में स्वयं लिखा है कि कविरूप प्राणों ने मनीषा या मनोमयता से उस अन्तरिक्ष रूप वसुओं के हृदय में सत् का बन्धन असत् से किया। इतना अवश्य ध्यान में रहे कि यहाँ पर वसु और अदिति दोनों पूर्वार्द्धिय सर्वा देवता रूप में गृहीत किए गये दे।

यह अदिति हिंकार नामक साम गान करती हुई जब अपने मनोरूप से वसु सर्वादेवता के पास गई थी तब उसने चाहा तो एक ही वत्स या पुत्र था, पर उसके मनोमयता और कामना दो रूपों से दो पुत्रों का एक जोड़ा मिल गया। कितनी प्रसन्नता की बात हुई होगी उनके लिए। मनोमयता से सूर्य या विवस्वान् का प्रतिनिधि असत् अमृत और कामना से काममय सोम चन्द्रमा सविता का प्रतिनिधि सत्, जिन दोनों के एक सम्मिलित स्वरूप 'सतोबन्ध-मसति निरविन्दन्' रूप अश्विनौ का अविर्भाव हो गया। इन दोनों को कोई 'प्राणोदानौ' कहते हैं कोई 'प्राणापानौ' (क्रम से ऐ. ब्रा. और श. प. ब्रा.)। अखिल मौलिक भौतिक ब्रह्माण्ड इन्हीं दो का एक सम्मिलित शरीर है। हमारा मौलिक शरीर या दिव्य शरीर भी इन्हीं दो का एक प्रतीक है। इस सृष्टि क्रम को योग प्रक्रिया में घटित करने के लिए पाक या कः प्रजापति पुनः प्रार्थना करता है :—कि यह अघ्न्या या अहन्तव्या या ऐसे शरीर की है जिसे मारा नहीं जा सकता, वह अमृतमयी है मं० ४० देखे (मागामनागा मदितिं वधिष्ट) या अबिनाशिनी, अजरा अमरा 'अदिति माता' इन दो प्राणोदानौ रूप अश्विनौ के एक शरीर रूप अखिल ब्रह्माण्ड और हमारे शरीर के लिए ज्ञानमय चेतनामय पय या दूध को दुह दे या ज्योतिर्मय अनुभूति प्रदान करदे जिससे वह अमृतमयी अमृत नाभि वाली अपने सौभाग्य से या वसुरूप अग्नि-र्विद्वान् प्रजापति से युक्त रह कर उत्तरोत्तर अपनी अमृतमय ज्योति को बढ़ाती

रहे, (न कि भौतिकता में सने आसुरी भावनाओं में रमे लोगों की मोहमाया की अन्धकार-प्रियता से अपनी प्रकाशमय अमृतमय ज्योति को पिटारे में बन्द रख के इस ब्रह्माण्ड को घनघोर अन्धकारमय बनावे) ॥ २७ ॥

जगती शरीरिणी अदितिर्माता रूपिणी धेनुः

(२८) इस मंत्र में पिछली ऋचा का ही भाव विस्तृत किया जा रहा है। जो वरदान पिछले मंत्र के अन्तिम शब्दों से मांगा था वह योगी को पूरा मिल गया है। अब योगी अपनी उसी अनुभूति का वर्णन दे रहा है कि वह जगती शरीरिणी 'अदितिर्माता' रूप गाय अपने उस अश्विनौ नामक प्राणोदानौ रूप अर्धखुली आखों से देखने वाले वत्स या पुत्र पर प्रेम प्रकट करने के लिए प्यार की ध्वनि करती है; और अपने इस वत्स को भी (अपने लिए) प्यार की ध्वनि करने को प्रेरित करने के लिए वह माता उस वत्स के शिर को (वार-वार) सूंघती हुई चाट (कर उसमें प्यार का मंत्र सा फूक) रही है। इसके अनन्तर वह उस वत्स के मुख को अपने घर्म नामक प्रदीप्त सूर्य रूप त्रिपादामृत के उष्ण क्षीर रूप ज्ञान चेतना भरे थन की ओर बड़े प्यार से प्रेरित करती है। जब वह वत्स उसके थन पर लग जाता है तो वह उसे अपने उक्त प्रकार के ज्ञान चेतनामय धारोष्ण दूध को पिलाती है और पिलाती हुए अपने स्वयं आनन्दविभोर होकर वार वार प्यार की ध्वनि करती हुई वाग्ब्रह्माणी का पूर्ण रूप धारण करती हुई अपने प्रेम की लहरें उमाड़तीं या उभाड़ती है।

कहने का आशय (१) यह है कि वह पुत्र रूप अश्विनौ भौतिकात्मा शरीर में त्रिपादामृत रूप ज्ञान चेतनामय हो जाता है। (२) भौतिकात्मा रूप यह अखिल ब्रह्माण्ड या हमारा शरीर योगादि क्रियाओं से उस घर्म नामक त्रिपादामृत के धारोष्ण दूध युक्त थन को पगुरा कर दूध को क्षरित करने को प्रेरित या प्रवृत्त करके उसकी ज्ञान चेतनामय ज्योति की धार या धारा को पीता है या उस ज्योति की धाराओं में अनुभूति का स्नान रूप सर्वाङ्गीण पान करता है।

इस प्रकार इन तीनों मंत्रों में जहाँ एक ओर से आध्यात्मिक सृष्टि से भौतिक सृष्टि के उदय का एक अभूतपूर्व वर्णन दिया गया है वहाँ इस भौतिक शरीर या ब्रह्माण्ड में उसके मूलस्रोत रूप आध्यात्मिक सृष्टि के त्रिपादामृतभरे घर्म नामक धारोष्ण दुग्ध रूप ज्ञान चेतनामय की अनुभूति के मार्ग योग की अन्तिम सीढ़ी का साकार वर्णन भी अलौकिक रीति से दिया गया है, यह इस ऋषि की अपनी पृथक् विशेषता है ॥ २७ ॥

(१२९-२९)

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभि नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ।। २९ ।।

इस ऋचा के सम्बन्ध में यास्क ने एक प्राचीन कथानक दिया है। एकवार शाकपूणि ने सोचा कि मैं सभी देवताओं को भलीभांति जानता हूँ, उनके ऐसा सोचने पर उनके गर्व को चूर करने के लिए सभी देवता उभयलिङ्गी रूप में प्रकट हुए। तब शाकपूणि जी चक्कर में पड़ गये और उन्होंने देवताओं से प्रार्थना करके पूछा कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ कि कौन क्या है? तब उन सब देवताओं ने इस ऋचा से उन्हें अपना रहस्य बताने के लिए कहा, इसका देवता मैं हूँ, उसका वह; (निरुक्त २-८-९)। जिस प्रकार के इस गौ का द्विमुखी अश्विनौ वत्स हैं उसी प्रकार का शरीर इसका भी है। यह कार्य कारण भाव से सिद्ध किया जा रहा है।

कहने का आशय यह है कि इस ऋचा में अर्द्धनारीश्वरी या अर्द्ध पुरुषेश्वरी रूप द्विलिङ्गी या उभय लिङ्गी देवता है। एक त्रिपादामृतीय पुरुष है, दूसरी भौतिकात्मीय प्रथमाभासीय वाक्‌रूपिणी स्त्री। दोनों मिलकर अनिरुक्त और निरुक्त शब्दब्रह्म के सम्मिलित स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ की 'गौ' जिसको 'अयं' पद वाच्य तत्त्व ने व्याप्त किया है कहा गया है, वह माध्यमिका निरुक्ता अपान प्राणीय वाक् है। वही 'मिमाति मायुं' या शब्दायमान होती है या शब्द करती है। इसके शब्द 'मित' या सीमिति हैं, अतः 'मिमाति मायुं' कहा है कि यह नपी तुली वाक् बोलती है। यहाँ पर यद्यपि यह गौरूपिणी माध्यमिका वाक् शरीर रूप से शब्द करती हुई प्रतीत होती है, पर जब यह ध्वनि करती है तो केवल द्वार रूप है, इसकी जो ध्वनि है उसका मूल कारण 'अयं सः' '(यः) शिङ्क्ते' है। यह 'अयं सः' वही त्रिपादामृत है जो मूलतः शब्दायमान है या शब्द ब्रह्म का मूल या अव्यक्त या अनिरुक्त रूप है। जहाँ से उसकी अनिरुक्ता वाक्, पुनः निरुक्ता व्यक्ता भौतिकी वाक् रूप में प्रकट होती है उसकी आधारभूता वह गौरूपा वाक् 'ध्वसनावधिश्रिता' है। अर्थात् यह उस बिन्दु से प्रकट होती है जहाँ पर इसके प्रलय की अन्तिम सीमा है, जहाँ पर यह गौ या भौतिक प्राण रूप पर्जन्य रूप से विद्युत् रूप में परिणत होकर पुनः त्रिपादामृत या अनिरुक्ता रूप में परिणत हो जाती है। इसी बात को ऋचा का उत्तरार्द्ध भी स्पष्ट करता है कि उसी निरुक्ता वाक् रूप गौ ने अपने मौलिक त्रिपादामृतीय स्वरूप विद्युत्स्वरूप को धारण करके, वव्रि नामक भौतिकात्मीय रूप को 'प्रति औहत' या दूर फेंक दिया। यह इस ऋचा के योग पक्ष का विवेचन दे रहा है। योगी इस गौ के रूप भौतिकात्मीय ध्वनि को

वैद्युतीय अमृत ज्योति में परिणत कर उसमें मग्न रहता है। और सृष्टि या यज्ञ पक्ष में यही गौ रूपा निरुक्ता वाक् 'चित्तिभिः' या मनः आदि प्राणों (वाक् तो स्वयं है ही, मनः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं त्वक् रेतः शिरः, मुख नासिका कर आदि) की क्रम से सृष्टि करके उन से वह मर्त्य नामक भौतिकतामय जीव और जड़ की सृष्टि करती है।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ३० ॥

इस मंत्र में ऋषि ने वैदिक विश्व दर्शन के एक गम्भीर रहस्य का उद्घाटन यद्यपि बिलकुल स्पष्ट भाषा में देने का बड़ा भारी आभारी कार्य तो किया है, पर समझदारों की अपनी अन्धपरम्परा की कड़ी अनुसृति ने इस स्पष्ट भाव को भी नितान्त अस्पष्ट कर देने का पूर्ण सफल प्रयत्न कर दिया है। वस्तु स्थिति यह है। इस सृष्टि के दो मुख्य भागों में दो मुख्य तत्वों का विकास होता है; (१) आध्यात्मिक नितान्त अभौतिक या अमृत (२) नितान्तभौतिक या मर्त्य। प्रथम तत्त्व में प्राण है, गति है, चेतना है, ज्ञान है और सबकी सम्मिलित क्रियामय एक अलौकिक जीवनी है। दूसरा तत्त्व भूतात्मा है, भौतिकात्मा है, मर्त्यात्मा है, दिव्य शरीरात्मा है, पर इसमें न प्राण है, न मति है, न चेतना है, न ज्ञान है, न कोई सम्मिलित एक जीवनी। इसका नाम शव है, अशिव है, मृत्यु है, शत्रु है, भ्रातृव्य है, मृतयम (यमो ममार प्रथमो मर्त्यानां) है, शरीर है, अन्न है, अन्नाद है, असुर है, वृत्र है, शुष्ण हैं, पिप्रु है, बल है, पणि है, जितने भी असुर हैं वे सब इसी के विभिन्न रूप हैं; क्योंकि यही विश्वरूप है, सर्वरूप है। यह केवल 'अन्न' रूप है, खाद्य भोग्य पेय ओदन पाक आधार आधेय सब है। पर इसका एक सौम्य या सूक्ष्मतर या दैवी भाग है, विश्व जनीन है, रसमय है आनन्दमय है, आपोमय है, दैवी दिव्य शरीर है, सहस्रशीर्षा, सहस्रपात्, सहस्राक्ष, सहस्रश्रोत्र, सहस्रमुख, सहस्रहस्त, सहस्रमना, सहस्रारः (सहस्र प्राणाधार), सहस्रयशः, सहस्रशब्द, विश्वरूप, सर्वरूप, मायारूप, मायी है, पर केवल प्रकाशमय दर्पणमय स्फटिकमय रसमय शरीर, केवल मनोमय है (जैसा मन वैसा होनेवाला है), अतः चन्द्रमा या 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' है। इसी का पान, स्नान, स्वीकार आत्मसात् करना ही देवत्व है, ईशत्व, है, इन्द्र है, रुद्र है, विष्णु है, अग्नि है, मरुत है, अश्विनौ है, अग्नि है, ईश है, ईशान है, ईश्वर है। यह उक्त दोनों तत्त्वों के मध्यभाग की सर्वश्रेष्ठ सर्वज्येष्ठ कड़ी है, योनि है, गर्भ है, गर्त है, स्थूण है, विष्णुवान् है, अक्षर है, सहस्राक्षर है, नित्य है, विभु है। और इसमें भी प्रथम तत्त्व के प्राण, मति,

चेतना ज्ञानमय जीवनी हैं तो नहीं, वरञ्च इसमें वे अनन्त वाक्, चक्षु, श्रोत्रं, प्राणः (आपः) मनः, हस्त, त्वक्, रसना (मुख), रूप शरीराङ्ग हैं जिनके थैलों या मर्भो में प्रथम तत्व के प्राण गति चेतना ज्ञान आदि को बन्द या सुरक्षित रखने की अद्भुत शक्ति है। इन अद्भुत शक्तियों से उन प्राण गति चेतना इत्यादि को अपना कर इसके अनन्त शरीर दूसरे तत्व के अन्नमय विश्व रूप अनन्त रूपों के महा अन्नाद भोगकर्ता, भोजन कर्ता है। प्रत्येक इन्हीं से स्थूल रूप पाता है, इन्हीं को पहनता है, इन्हीं के घरों में रहता है, इन्हीं के शरीराङ्गों से चलता, फिरता, बोलता, गाता, खाता, विचरता, देखता, सुनता है और स्त्रीपुरुषों नाना वर्गों, में नाना शरीरों में विभाजित होकर उनमें से एक दूसरे का प्रभुपति स्वामी प्रजा रंक दानी भिखारी अदि जितने रूप देखने में, सुनने में, कल्पना में आते या आ सकते हैं उन सब रूपों में रमता हंसता रोता साधारण सा रहता हुआ इस ब्रह्माण्ड को एक माया नगरी सिद्ध करता है। यही विषय इस मंत्र में संक्षेप में दिया गया है, वह इस प्रकार है।

अनच्छये···पस्त्यानाम्—वेदों में पस्त्या नाय गृह का है। यह गृह या पस्त्य किसका है? यह गृहपति का गृह है। गृहपति नाम 'अग्निर्विद्वान्' का है। वह इस गृह में रहने से गार्हपत्याग्नि भी कहलाता है। जैसे "अग्निनाग्निः समिध्यते कवि र्गृहपति र्युवा।" (ऋ० वे० १-१२-६)। "मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।" (ऋ० वे० १-३६-५) इत्यादि [इस अग्नि के इस प्रकार के तीन नाम हैं गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचन या दक्षिणाग्नि (छा., उप. ४-११,१२,१३, मुण्डक ४; गर्भ उप. इत्यादि)]। अतः प्रस्तुतः ऋचा कहती है कि इस गृहपति अग्नि के अनन्त गृहों या पस्त्यों के मध्य में वह ध्रुव रूप में या अटल व्यापक विभु रूप में अनत्, तुरगातु, एजत् या प्राण मनः वाक् नामक तत्वों को व्याप्त-रूप में (आ = समन्तात्) स्थापित करके उन्हें जीव रूप में प्रस्तुत किया गया। इनमें पस्त्य या गृह तो सोमात्मा दिव्य शरीर हैं जो अनन्त हैं, अनत् तत्व प्राणत् या प्राणमय या आपोमय अमृत है, तुरगातु त्वरित गति वाला नित्य गमन शील सतत गति शील, दैवी मार्ग गातु या प्रवृत्ति मय अदितिमय अन्नमय मनो रूप अमृत है, और एजत् क्रियामय शब्दमय वाङ्मय तेजोमय ज्ञानमय तत्व है। इन तीनों के सम्मिलित रूप तीन अमृतों के त्रिपादामृत रूप जीव या चेतना को उन अनन्त पस्त्यों या गृहों या घटों में समन्तात् (आ) व्याप्त रूप में अटल रूप में स्थापित कर के अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड और दिव्य शरीरों को जीव या ईश या ईश्वर और 'अनन्ताः पुरुषाः' के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

जीवो मृतस्य···स्वधाभिः—अब उक्त प्रकार के तत्वों से युक्त जीव रूप या प्राणः मनः वाक् युक्त अखिल मौलिक भौतिक ब्राह्माण्ड जिसे ईश ईशान या ईश्वर (ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्) कहते हैं और व्यक्ति व्यक्तिमय ब्रह्माण्डों को 'अनन्ताः पुरुषाः' अथवा 'सहस्रशीर्षाक्षश्रोत्रपादादि मय' एक अनन्त ब्रह्माण्ड कहते हैं उस जीव रूप की शारीरिक प्रक्रिया किस प्रकार चलती है इसका विवेचन ऋचा के इस भाग में दी जा रही है।

यह जीव, ईश ईशान ईश्वर या सहस्रशीर्षादिपदवाच्य तत्त्व, मृत नामक मर्त्य भौतिकात्मीय सोमीय शरीर की-ऐसे शरीर की जिसमें उक्त जीव रूप त्रिपादामृत को स्वयं धारण करने की स्वाभाविक शक्तियां विद्यमान हैं उन—स्वयं धारण करने वाली शक्तियों से विचरण करता है। अर्थात् जब यह अखिल ब्रह्माण्ड, पारिबारिक ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड चलता फिरता बोलता सुनता स्पर्शादिकरता, गृहादि में रहता, खाता पीता सोता जागता रहता है तो उसकी ये सब क्रियायें उसके इसी मर्त्य भौतिक सोमामृतीय शरीर मात्र में होती हैं। चलता है तो शरीर, बोलता है तो शरीर, सोचता है तो (मनोमय) शरीर, सुनता है तो शरीर, स्पर्शादि करता है तो शरीर, घर बनाता है तो शरीरों का, रहता है तो शरीर, खाता है तो शरीर, खाने के खाद्य हैं तो शरीर ही (अन्न पशु आदि), पीता है तो आपोमय शरीर, जागता सोता है तो शरीर। ये सब क्रियायें मात्र शरीर से. शरीर में, शरीरों द्वारा, शरीर के लिए, शरीर की पुष्टि नाशादि के लिए होती हैं। शरीर की इन्हीं प्रक्रियाओं से इस (शरीर) का नाम 'अश्नः' अन्नादः' इत्यादि पड़ा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जितनी भी दृश्यमान या अदृश्य (मानसिक, आनुभूत्यात्मक देखना सुनना इत्यादि) क्रियायें होती हैं वे सब इसी शरीर में, शरीर से, शरीरों में, शरीरों के द्वारा ही होती हैं। उदाहरण के लिए शरीर एक इंजन या गाड़ी या रथ है (पृथ्वी भी रथ का ही एक रूप या आधार है) इसके अश्व चक्र आरा. आसन छादन गति प्रगति सब इसके शरीर में, शरीर से, शरीर के लिए होती हैं। इस शरीर रूप ब्रह्माण्डीय रथ में वे 'जीव' तत्त्व 'प्राणःमनःवाक्' आत्मा या त्रिपादात्मा रूप में इसके संचालक हैं अतः कहा गया है कि यह जीव मर्त्य भौतिकामृत सोम शरीर की स्वयं धारणा शक्तियों से सांसारिक या शारीरिक क्रियायें करता है। वैदिक ऋषियों ने इस रथ रूप शरीर की व्याख्या अनेक ढंग से दे रखी है। (इसी सूक्त में) मंत्र ११, १२, १३, १४, ४८ की व्याख्यायें और 'वैदिक विश्वदर्शन' में 'देवरथ' शीर्षक देखें।

'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः'—इस जीव रूप ईश ईशान ईश्वर नामक तत्त्व का जीवन वास्तव में तभी प्रारम्भ होता है जब उसे या त्रिपादामृत जीवनामृत को अपनी जीवनी या चर्या या परिचर्या या विचरण के लिए पस्त्य या गृह रूप वह मर्त्य नामक भौतिकामृतमय सोमीय दिव्य शरीर (दैवी) प्राप्त ही जाता है । तब तक वह इस शरीर के लिए तड़पता तरसता रहता है जैसा कि 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मां नयति कश्चन । ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पील वासिनीम्' (यजुः) में कहा गया है । यहां वह अश्वक प्राण या त्रिपादामृत इस शरीर रूप सुभद्रिका लक्ष्मी में निवास करता है या सोता है । फलतः दोनों तत्त्वों त्रिपादामृत तथा मर्त्य भौतिक का जीवन इसी मिलन विन्दु से प्रारम्भ होता है । अतः वह अमर्त्य अमृत (त्रिपादामृत) और यह शरीर रूप मर्त्य दोनों सयोनि या एक गर्भाशय में स्थित होकर ही जीव रूप में पूर्वोक्त प्रकार से आचरण करते हैं । सयोनि माने सबन्धु है या सनाभि है । यह सोमीय दिव्य शरीर उस त्रिपादामृत का गर्भ या योनि या नाभि या बन्धु है जैसा कि 'स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश' (मंत्र ३२ आगे) और 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्बो ३ योनिरन्तरत्रा पिता दुहितु गर्भमाधात् ॥" (मंत्र ३३ आगे) में इस योनि को निर्ऋति, नाभि, चमू, बन्धु, और गर्भ नाम से पुकारा गया है । अतः सयोनि माने सनाभि, सनिर्ऋति, सबन्धु या सगर्भ है । अर्थात् जीवन के सम्बन्ध में दोनों का जन्म जुडुवां यम यमल अश्विनौ रूप में होता है । इस मिलन के पहले की स्थिति को जीव या जीवन नहीं कहा जाता, केवल अमृतमय ज्ञानमय प्रकाशमय शरीर हीन वाक् प्राणादि पञ्च या सप्तप्राण हीन या अपाणिपादऽ, अचक्षुःश्रोत्रत्वक् आदि कहलाता है । वह केवल आध्यात्मिकमात्र प्रकाशमात्र ज्ञानमात्र चेतनामात्र मनोमात्र तेजः मात्र प्राणमात्र रहता है, शरीर हीन अंग हीन केवल व्यापक विभुरूप में रहता है । यह भौतिक और भौतिकामृत के प्रलय की स्थिति है । उस स्थिति में सोचने समझने बोलने विवाद करने, कहने सुनने वाला ही कोई नहीं है तो उसे जीव या जीवन क्या कहा जाय । हां वह सार्वभौम विभुव्यापक सर्व जीव सर्व ब्रह्माण्डों के रसमय दीप्ति का एक पिण्ड है । वह समझने की वस्तु है अनुभूति की वस्तु है जिसे योगी इसी शरीर में उक्त तत्त्वों का क्रमिक लय करके इसी शरीर से अनुभूत कर सकता है । यही इस वाक्य का मुख्य आशय है । इसीका विवेचन अगली ऋचा सचमुच में इसी सन्दर्भ को आगे स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार दे रही है :—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ३१ ॥

इस मंत्र में तो योग पद्धति का साक्षात् वर्णन है। क्योंकि इसके आदि में ही लिखा है कि मैंने उस 'गोपाः' या प्राण रूप पत्नियों के संरक्षक या पति को साक्षात् अपनी योग दृष्टि से देखा। इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, जो इस रहस्य को नहीं जानता वह चाहे जो कुछ लिखा करें, उसमें कोई सार नहीं हो सकता।

मैंने गावः रूप प्राणों के पतिरूप उस नित्य एक रूप में रहने वाले, कभी भी अकर्मण्य न रहने वाले को (अपनी योग की दृष्टि से साक्षात्) देखा। उस मध्यवर्ती 'सेतुर्विधरणः' नामक तत्त्व के कभी 'आ' या पूर्वार्द्ध में कभी 'परा' या परार्द्ध में, जागृत और सुषुप्त दो प्रकार की अवस्थाओं में रहते हुए वह अपने उन्हीं दो मार्गों से आता और जाता है जिनके द्वारा योगी यति उसकी दीप्तिमयी ज्योति की अनुभूति करते हैं और अनुभूति के अन्त में पुनः इस लौकिक जागृति में आ जाते हैं। लौकिक जागृति तो उस ब्रह्म की सुषुप्ता वस्था है, या तब उसकी अनुभूति सुषुप्त रूप में रहती है और यौगिक जागृति उसकी साक्षात् जागृति की अनुभूति करती है। योग में योगी की दैवीवृत्तियों से जागृत होकर वह योग रूप में ज्योतिष्मान् रूप में जाग्रत है, समाधि के अनन्तर वह पुनः इस शरीर में सुषुप्त सा अप्रत्यक्ष सा अननुगत सा होकर अपनी कुछ शक्तियों को उस सोमीय या वार्त्रीय शरीर को सौंप कर तटस्थ सा रहता है। इस स्थिति का विवेचन बृह० उप० ने बहुत उत्तम ढंग से दे रखा है जिसका एक छोटा परिच्छेद यहाँ दे दिया जाता है, शेष वहीं पढ़लें।

"तस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः। इदं लोकं परलोकं च। तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्त्सन्धि स्थाने तिष्ठन्नेते उभेस्थाने पश्यतीदं च परलोकं च। तत्र स्वेन ज्योतिषा स्वपिति स स्वयम्" (४-३)

"उभे कूले अनुसंचरति······स्वप्नान्तं बुद्धान्तं च (महामत्स्य इव)"

'असङ्गः सः'

जब मनुष्य जागृत रहता है या योग में या उसके ध्यान में लगा रहता है तब तो वह सदा उसी के पास इकट्ठा सा होकर ज्योतिर्मय रूप में जाज्वल्य-मान हो जाता है, जब वह मनुष्य जाग्रत नहीं है सुषुप्त या लौकिक या सांसा-रिक धन्धों की जागृति में रहता है तो उस समय वह त्रिपादामृतीय आत्मा भौतिकात्मीय वस्त्र या देह को धारण करके उसकी आवश्यकता कामना पूर्ति हेतु अपनी ज्योति को व्याप्ति रूप में (विषूची) प्रत्येक में कण कण रूप में

विखरा देता है जिस स्वरूप की अनुभूति होना सरल नहीं, महा कठिन है, पर वह रहता है इस और उस तथा मध्यवर्ती तीनों भुवनों के अखिल ब्रह्माण्डों में सर्वतः व्याप्त या विद्यमान ही (आवरीवर्ति = आ समन्तात् वरीवर्ति = प्रकर्षेण मुहुः आवरणेन व्याप्तिरूपेण वर्तते इति आवरीवर्ति)।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥ ३२ ॥

इस मंत्र में त्रिपादामृत (आध्यात्मिक अमृत) और भूतात्मा (कौसमौस या मैटर नहीं, वरन् भौतिक आत्मा, जो त्रिपादामृत के समान अमृत ही है, आत्मा है, अध्यात्म शरीर रूप आत्मा है। कौसमौस या मैटर नाम महाभूतों के स्वरूप का है जो नितान्त स्थूल और अवैदिक तत्त्व है; वेदों में इस कौसमौस या मैटर का वर्णन नहीं के बराबर है। यह सांख्य का विषय है। अनुवादक सावधान रहें।) के पारस्परिक सम्बन्धों को सृष्टि और अतिसृष्टि (योग) दो रूपों में अनुभूति के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इस में अनुभूति करने वाले दो मुख्य पात्र हैं, (१) 'य ईं चकार' जो इस सृष्टि का रचयिता (प्रजापति) है (२) 'य ईं ददर्श' जिसने इस सृष्टि के मौलिक रूप और इसके रचयिता को योग द्वारा देखा है जैसा पिछली और प्रथम ऋचा में 'अपश्यम्' पद से स्पष्ट कहा गया है। ऋचा के उत्तरार्द्ध में उसी रचयिता और रचे गये तत्त्व का पारस्परिक एकात्मिक समन्वय का विवेचन दिया गया है जिसकी अनुभूति भी योगी योग द्वारा कर लेता है। अतः लिखा है :—

'य ईं······वेद'—जिस त्रिपादामृत रूप प्रजापति से इस भूतात्मा की रचना स्वयं स्वाभाविकतया हो पड़ी थी, (या की थी ही कहिए) उसे न तो तब भी पता लगा था कि कुछ पैदा हो गया है, क्योंकि यह इतना बड़ा विशाल ब्रह्माण्ड भी उसकी महतो महीयान् रूपता के सामने एक रोम के बराबर भी नहीं था। और यह भूतात्मा जिस रूप में प्रस्तुत हुआ था उसका नाम भूत या भौतिक प्राण है। उस प्रजापति से वह 'प्राणः प्रजा' के रूप में प्रस्तुत हुआ था। यह प्राण तत्त्व यद्यपि उसके सामने नहीं के बराबर है, फिर भी स्फटिक शिला के समान ठोस या गर्भ के समान थैला सा है। यह इस प्रकार का रहस्यमय सा है कि इसे कोई भी, स्वयं प्रजापति भी पूर्ण रूप से जानने में असमर्थ सा है। (उसके सामने अतितम सूक्ष्मतम होने के कारण, और जो कुछ है वह भी ठोस और गर्भ रूप होने के कारण)। अतः ऋषियों ने कह भी दिया है कि 'प्राणो ह्यविज्ञातः' (बृह. उप. १-५-८) कि यह भौतिक प्राण तत्त्व सदा ही अविज्ञात रहने वाला तत्त्व है। आप किसी भी ठोस तत्त्व को उदाहरण में ले लें,

उसको कोई भी भीतर बाहर पूरा-पूरा देख-सुन; जान-पहचान नहीं सकता, वह गर्भमय हो तो उसे जानने में और अधिक कठिन समस्या सामने आती है। अक्षकिरणें भी भीतर के भीतरी भाग के भीतरी भागों का प्रदर्शन कराने में नितान्त असमर्थ रहती हैं। अतः यह तत्त्व सदा ही सभी के लिए एक बड़ा भारी रहस्य ही रह जाता है, यहां तक कि स्वयं इसी के रचयिता से ऐसे रचयिता से जिसे हम प्रजापति नाम से मानुषिक भावना से पुकारते हैं। वैसे प्रजापति तो सम्मिलित शरीर का नाम है। अपने शरीर सर्वाङ्गों का किसी को भी कभी भी पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, यह भी किसी से छिपा रहस्य नहीं है। वह तो उस शरीर के गर्भ में स्वयं उसी प्रकार बन्द हो गया जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही ताने तागे के जाल में स्वयं बन्द हो जाता है। लिखा भी है 'तत्कृत्वा तदनु प्राविशत्'।

'य ईं······तस्मात्'—जिस योगी ने इसे अपनी योगसमाधि के नेत्रों से देख लिया और इसके मौलिक स्वरूप को पहचान लिया, उसके लिए इसके अनन्तरूपों की रचना—अनन्तपदार्थों प्राणियों युक्त असंख्य गोलों वाला यह ब्रह्माण्ड—तिरोहित हो जाता है। उसे तो केवल एक ही तत्त्व, उस त्रिपादामृत की अमृतमय ज्योति मात्र दीखती है, उसका शरीर जिसने इस भूतात्मा को सोम रूप में प्रदीप्त या स्वच्छ करके उसमें त्रिपादामृत की ज्योति का प्रतिबिम्ब धारण कर लिया है, एकात्मीय अनुभूति मात्र कर रहा है। योगानुभूति के माने ही एकात्मीय अनुभूति है। ऐसी परिस्थिति में उसे इस भूतात्मा की पृथक अनुभूति का अवसर ही नहीं मिल सकता! क्योंकि इन दोनों की पृथक् अनुभूति के माने ही सांसारिकता लौकिकता या स्थूल व्यवहारिकता है, जिनका योगी में नितान्त अभाव रहता है। अतः जिस योगी ने इस शरीर को योगमथानी से मथकर उसमें भूतात्मा रूप घृत या नवनीत प्रस्तुत कर त्रिपादामृत की त्रिवर्तिरूप एक दीपक की ज्योति जला ली है उससे भूतात्मा की पृथक्ता नितान्त तिरोहित हो जाती है, क्योंकि समाधि में यही भूतात्मा समाधि का आधार है। यही आधार अनुभूति करता है, अनुभूति क्या करता है एकमय तादात्म्य रूप हो जाता है। अतः इसकी सारी अनन्त रूपता विश्वरूपता सब एकदम लुप्त हो जाती हैं।

'स मातुः······विवेश'—मंत्र के इस उत्तरार्द्ध भाग में इसके पूर्वार्द्ध में वर्णित 'य ईं चकार' की रचनाक्रिया और 'य ईं ददर्श' की दर्शन की या अनुभूति की साक्षात् प्रक्रियाओं का विवेचन एक ही रूप में दिया गया है। क्योंकि प्रजापति ने रचना कैसे की और योगी ने उसकी अनुभूति किस रूप

में की, ये दोनों रूप प्रायः एक ही होते हैं। योगी के योग की अन्तिम सीमा, भूतात्मा की उस प्राथमिक परिस्थिति को उद्दीप्त या जागृत करना है जिस स्वरूप में प्रजापति ने इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना का श्रीगणेश किया था।

यहां इस वाक्य में 'य ईं चकार' वाले कर्ता तत्त्व को 'पिता' या 'द्यौर्मे पिता जनिता ·····माता महीयम्' (मंत्र ३३) के द्यौ नामक तत्त्व के नाम से पुकारा गया है और जिस तत्त्व का आविर्भाव बताया था उसे माता मही नाम से घोषित किया गया है। इस प्रकार कर्ता और कार्य दोनों को पिता और माता अथवा द्यावा पृथिवी के नामों से संकेतित किया जा रहा है। इस वातावरण को सन्दर्भ बना कर माता रूप पृथिवी अथवा उस कर्ता से उत्पन्न मर्त्य भौतिकामृत के सर्व प्रथम स्वरूप को या उस आविर्भूत तत्त्व को माता (उत्तरार्द्ध पृथिवी) की योनि को कई लोगों ने गीता के 'मम योनिर्महद्-ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के महद्योनि को समझने की हिमालय समान बड़ी भारी भूल की है। महत् अहंकार भूत और प्रकृति सब को गीता योनि नाम से पुकारती है। 'एतद्योनीनि भूतानि' (६-२०); इन्हें सांख्य प्रकृतियां और विकृतियां (आठ को) बतलाता है। ये दूसरी बात कहते हैं, वेदों की योनि भिन्न तत्त्व है। न महद्ब्रह्म के माने 'विराट् ब्रह्म' है। महत् माने सांख्य का महत् नामक तत्त्व ही है, वह प्रकृति विकृति योनि नामों से पुकारा जाता है या सम्मिलन बिन्दु या गर्भ द्वार नाम से पुकारा है। यह योनि रूप तत्त्व उस प्रथमाविर्भूत भौतिकात्मीय मर्त्य तत्त्व का विवृतिद्वार है जिसके द्वारा पूर्वार्द्ध का द्यौ नामक पिता उस मर्त्यभौतिक गर्भ रूप थैले रूप तत्त्व में इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के अनन्त रूपों का एक मूल बीज के रूप में चारों ओर से बन्द हो गया। उस पिता के अनन्तरूपों की एक मूल बीजरूपता को यहां पर 'अन्त र्बहुप्रजाः' नाम से वर्णित किया गया है। और जिस गर्भ में, योनिद्वार से प्रविष्ट हुआ था उसका नाम यहाँ पर गर्भ न देकर 'निर्ऋति' [First mortal universal frame of the physical soul free for self evolution in furtherance of Creation) या नाश धर्मा, परिवर्तन धर्मा या परिणामिनी या मर्त्यरूपा या नित नित विकास परम्परा से नव-नव रूप धारण करने वाली कहा गया है जिसमें वह अमर्त्य, अमृत, अरूप, अगन्ध अतेजः अहस्तपादादि वाला या इन सब प्रकार के अध्यात्म शरीरों से रहित होने पर भी इस गर्भ या निर्ऋति की नाना रूपिणी मर्त्यधर्मिणी, प्राण या अध्यात्म शरीरी अङ्गों में प्रविष्ट होकर वह अब इस गर्भ में प्रविष्ट हो जाने पर सहस्रशीर्षमुखाक्षिश्रोत्रहस्तपादादि वाले अपने अणोरणीयान् रूप से एक

महतोमहीमान् महापुरुष या गायत्र पुरुष के रूप में प्रस्तुत हो गया। इसी भाव को अन्य उपनिषदों ने इस प्रकार दिया है :—

"सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदय् सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चा विज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते॥" (तै० उप० २-६ ब्र० व०)।

श० प० ब्रा० (७–१-३–५) ने भी लिखा है "यद्वै वैता नैर्ऋतीन्हरन्ति। प्रजापतिं विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तमुखायां योनौ रेतो भूतमसिञ्चन्योनिर्वा उखा तस्मा एतां सम्वत्सरे प्रतिष्ठां समस्कुर्वनियमेव लोकमयं वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयंस्तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्वं यज्जरायुः इत्यादि।"

इसी प्रकार के भाव ऐतरेय उप० ने प्रारम्भ के ईक्षण सृष्टि प्रकरण में तथा मुण्डक (२–२) ने 'आविः सन्निहितं गुहायां' प्रकरण में विस्तार से दिये हैं। ये सब व्याख्यान उक्त ऋचा का भाष्य सा स्वयं दे रहे हैं। इधर उधर ताकने झांकने और भटकने की या अपनी अपनी थोथी कल्पनाओं के ढेर लगाने की कोई आवश्यकता और गुंजायश ही नहीं है।

निर्ऋति दीर्घ ऋकार युक्त शब्द है, यह भी ध्यान देने योग्य है। इसकी व्युत्पत्ति 'निर्गता ऋतात्, निःशेषेण ऋच्छति आत्मानं वा 'निर्ऋतिरियं वैनं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति" (श० प० ब्रा० ७–१–३-११) है। अर्थात् जो तत्त्व पूर्वार्द्धीय ऋत नामक अमृत से आविर्भूत होता है और जो अपने सर्वाङ्गीण स्वरूप के विकास के लिए स्वतन्त्रता से प्रदान करता है और स्वछन्द विकास शील है उसे निर्ऋति कहते हैं, यह गर्भ रूपा है, शरीर रूपा है, स्वतन्त्र रूप से विकास पाने की शक्ति से सम्पन्न है अर्थात् राँड स्त्री अलक्षणा या विधवा स्त्री समान स्वतन्त्र विहारिणी या परिणामिनी या विकासमयी है। अतः कर्मकाण्ड में इसका प्रतीक विधवा स्त्री को बताया गया है (श० प० ब्रा० ७–१-३५)। इस तत्त्व के इस प्रकार की स्वतन्त्रता का आख्यान ऋग्वेद के वृषाकपि के वर्णन में भी दिया गया है, उस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। वह मंत्र इस प्रकार हैं:—"वि हि सोतो रसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत। यत्रामदद्वृषा कपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥" (ऋ० वे० १०–८६–१)। यहां पर कहा है कि वृषाकपि इन्द्र को अपना देवता ही नहीं मानता। वह स्वयं अपने विकासीय मद से मस्त है। यह

वृषाकपि भी इसी विरूपात्मा भौतिकात्मा के शरीर का प्रतीक है जिसे यहां पर निर्ऋति नाम से पुकारा गया है ॥ ३२ ॥

द्यौ मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धु मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो ३ र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ ३३ ॥

इस मन्त्र में पिछले मंत्र के 'मातुर्योना' पद के माता और योनि तत्वों की व्याख्या के साथ-साथ उसमें वर्णित भौतिक सृष्टि कर्ता और उसकी अनुभूति करने वाले तथा गर्भ तीनों की भी व्याख्या को अधिक प्राञ्जलतया स्पष्ट किया गया है—

'द्यौ मे···महीयम्'—जिसे इस भौतिकात्मीय सृष्टि का कर्ता ('य ईं चकार') कहा गया है, वही मेरा या इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड का जन्म दाता पिता रूप द्यौ या सृष्टि का पूर्वार्द्धीय अमृतमय चक्र है। जिसे इस अमृतमय सृष्टि की अनुभूति करने वाला ('य ईं ददर्श') कहा गया है, वह तत्त्व नाभि है या सोमात्मीय अमृत अध्यात्म शरीर या मनोमय भौतिक ब्रह्माण्ड है। वही नाभि रूप दर्शन या सृष्टि का मध्यभाग सब को सर्व प्रथम भौतिकात्मा का बन्धन देने या करने वाला, जन्म मरण का बन्धन देने वाला बन्धु या बन्धन या इस के माध्यम से त्रिपादामृत को पाने का इस व्यक्त सृष्टि के योगी जनों का मुख्य बन्धु या सेतुबन्ध या सेतुबन्धु, या त्रिपादामृत पूर्वार्द्धीय पिता की अनुभूति का मध्यवर्ती पुल है जिसके द्वारा उस अमृत ज्योति को पा सकते हैं। छा. उप. ने इस नाभि का वर्णन इस प्रकार दिया है 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषा लोकानामसंभेदाय······ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ······ एतं सेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते······ एतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति ॥" (८-४)। इसी को बृह. उप. इस प्रकार कहता है···"स एव महानज आत्मा यो ऽयं विज्ञानमयः ···एष सेतुर्विधरणः···एष नेति नेत्यसङ्गोऽगृह्यः···॥" (४-४)।

मही या महती या महा महिमा मयी माता नाम उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन का है जिसका प्रथम विकास पूर्वोक्त नाभिरूप अमृत है। उस नाभिरूप अमृतमय भौतिक तत्त्व का मर्त्य भौतिक तत्त्वमय विकास ही माता या शरीर है। इस शरीर का नाम ही योनि या गर्भ द्वार है और उक्त नाभिरूप अमृत गर्भ है जिसको यह माता या योनिरूप शरीर धारण करता है। इसी विषय को इस मंत्र का उत्तरार्द्ध इस प्रकार वर्णित करता है :—

'उत्तानयोः···गर्भमाधात्'—सृष्टि के दो मुख्य भाग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध— जिन्हें यहाँ पर क्रम से द्यौ और पृथिवी कहा गया है या जिन्हें एक साथ 'द्यावा

पृथिवी कहते हैं—दो चमूओं' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये द्यावा पृथिवी नामक दो चमू दो कटोरों या कटाहों की तरह एक दूसरे की ओर मुख करके एक दूसरे की ओर उत्तान या खुले मुख के चित्र के रूप में एक दूसरे से सम्मिलित हैं। इन दोनों पात्रों के सम्मिलन से मध्य में जो स्थान इनकी टेढ़ी गोलाई के कारण खाली रह जाता है उसका रूप ठीक स्त्री की योनि या भग के समान बन जाता है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने दर्शन या सृष्टि के इस चित्र को सामने रखकर इसका नाम योनि या सृष्टि माता का 'भगः' रखा है। यह वही मध्यवर्ती स्थान है जिसे पिछले परिच्छेद में 'नाभि' बन्धु, सेतुबन्धु या सेतुबन्ध या सेतुर्विधृतिः' या सेतुविधरणः नामों से पुकारा हैं। इसी को यहां ऋचा के इस उत्तरार्द्ध में 'उत्तानयोश्चम्वो ३ र्योनि रन्तरत्रा' पद के द्वारा कहा गया है कि सृष्टि चक्र के इन दो चमूओं के मध्यवर्ती (अन्तः) भाग को योनि नाम से पुकारते हैं और इसी में (अत्र) पिता या द्यौ या द्यावा या 'य ईं चकार' नामक कर्ता ने अपने से ही उत्पन्न होने वाली दुहिता या पुत्री रूप पृथिवी को उस सम्मिलन विन्दु रूप मध्यवर्ती भाग की योनि में उस अमृतमय नाभिरूप भौतिकात्मीय गर्भ या आत्मा के गर्भ को धारण कराया। यह योग प्रक्रिया का वर्णन इस ढंग से दे रहा है। यहां योगी वाक् के द्वारा पिता अग्नि को पाता है। यहां की दो चमू दो अरणियां प्रणव या आध्यात्मिक और भौतिक शरीर हैं 'शरीरमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।'

वैदिक ऋषियों ने पिता माता को पिता पुत्री रूप में वर्णित करके सबकी आखें खोलने के लिए यह स्पष्ट कर रखा है कि यहां माता पिता पुत्री आदि की वर्णना या सामाजिक वातावरण का कोई प्रश्न या महत्व ही नहीं है, यहां पर तो केवल तत्वों के विकास को जैसा अनुभूत किया गया, 'यदपश्य-त्तस्मादेतेपशवः' उनका तद्वत् पशुरूप वर्णन दिया गया है। हां रोचकता लाने और विषय को सुगम्य बनाने के लिए जिस समाजविरुद्ध पिता पुत्री की वर्णना पति पत्नी रूप में की गई उसका परिहार भी उन्होंने एक दूसरे ढंग से कर रखा है जैसे बृह० उप० (१-४) ने लिखा है कि उस पिता से ही उत्पन्न होकर मैं पुत्री उसकी पत्नी कैसे बनूं' यह सोचकर वह पृथिवी रूप पुत्री गौ बनी तो पुरुष वृषभ बना, वह वडवा बनी तो यह अश्व, वह गर्दभी बनी तो वह गर्दभ, वह अजा बनी तो वह अवि।" इस प्रकार के योन्यन्तर परिवर्तन या पशुरूप तत्वों के आपस में पिता पुत्री होते हुए भी पति पत्नी बनने या होने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पशुसमाज में कोई पुरुषपशु किसी भी स्त्रीपशु का पति बन सकता है चाहे वह उसी की मां हो बहन हो या बेटी, इसीलिए पूषा को 'स्वसुर्योजार उच्यते' मंत्र में उषा बहिन

का जार भी कहा है। और इसीलिए पुरुष का एक प्रसिद्ध या वास्तविक नाम 'पुरुष पशु' ही है "अबध्नन्पुरुषं पशुम्"। इसी पुरुष पशु को पुत्री रूप शरीर में ज्योतिर्मय रूप में बांधना या अनुभूत करना योग की सर्वोच्च सीमा है। यह वास्तविकता का विवेचन है, उसे तद्वत् वर्णित करते हुए भी आर्य जाति की सामाजिकता को भी या आर्य जाति के उच्चकोटि के चरित्र को भी आँच न आने देने के लिए ये पाशविक रूपक दिए गये हैं। यहां के माता पिता पुत्री नाम मनुष्य समाज के नहीं वरन् पशुवत् व्यवहार करने वाले तत्त्वों के देव-समाज रूप पशुसमाज के माता पिता या पुत्री हैं। यह निश्चित है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों ने स्पष्ट घोषित किया है कि 'पशवो देवाः' 'पूषा पशुः' इत्यादि ॥ ३३ ॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥३६॥

इस मन्त्र तक मंत्र १६, १७, १८ में किये गये प्रश्नों का पूर्ण उत्तर समाप्त हो गया है। इससे पहले मंत्र ४, ५, ६, ७ में किए गये प्रश्नों का उत्तर मंत्र १६ तक दिया गया था। अब इस मंत्र में नये प्रश्न उठाकर उनका उत्तर अन्तिम ऋचा तक पूरा दिया जावेगा। इस मंत्र के प्रश्न निम्न हैं। यह ध्यान रहे प्रश्नकर्ता तो वही कः प्रजापति है, और प्रश्न भी उसी अग्निर्विद्वान् से किए जा रहे हैं, मंत्र ४ देखें।

प्रश्न १—मैं तुमसे पृथिवी नामक उत्तरार्द्ध उपनामक भौतिक आत्मा पर्याय वाले तत्त्व की अन्तिम सीमा को पूछता हूँ?

प्रश्न २—मैं तुमसे उस स्थान का विवरण पूछता हूँ जिसे इस अखिल ब्रह्माण्ड नामक भुवन की नाभि नाम से पुकारा जाता है?

प्रश्न ३—मैं तुमसे उस भौतिकात्मीय अश्व नामक तत्त्व के बीज या वीर्य के बारे में पूछता हूँ जिससे सोम वर्षक प्राण रूप घोड़े उत्पन्न हो सकें या जिसे सोम ज्योति वर्षक प्राणरूप घोड़ों की उत्पत्ति के निमित्त सुरक्षित किया जाता है?

प्रश्न ४—मैं तुमसे वाक् के 'परमं व्योम" या मौलिक भौतिक उत्पत्ति स्थान के बारे में पूछता हूँ? इन सबका उत्तर अगली ऋचा में देखें।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

प्रथम प्रश्न का उत्तर—"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः"—वेदि नाम अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा का है। इसका नाम वेदि क्यों पड़ा? इसका विवरण

यजु. १-२७, २८ और श. प. ब्रा. (१-२-३-५ से १५ तक) ने विस्तार पूर्वक दिया है। लिखा है कि वामन विष्णु था, उसे देवता नहीं पा सके। तब उन्होंने विष्णु को पूर्व में स्थापित करके दक्षिण में गायत्री, पश्चिम में त्रिष्टुप् और उत्तर में जगती से परिगृहीत या सुरक्षित किया और अग्नि को आगे करके अर्चन योगादि श्रम करते चले तो उन्हें पूरी पृथिवी विदित या प्राप्त हो गई (पूरे भौतिकात्मा का ज्ञान हो गया)। जब उन्हें यह सारी पृथिवी या भौतिकात्मा विदित (या प्राप्त या ज्ञात) हो गई तब वे इसे विदित (प्राप्तार्थ) भाव से उस भौतिकात्मा को 'वेदि' नाम से पुकारने लगे; जितनी बड़ी यह वेदि है उतनी ही बड़ी पृथिवी भी है। यही प्रश्न का उत्तर भी है यही वेदि ज्ञानमयी पृथिवी या भौतिकात्मा ही उत्तरार्द्ध नामक भौतिकात्मा की अन्तिम सीमा है जैसे "तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त, तद्यदेनेनेमां सर्वां समविदन्त तस्माद्वेदिर्नाम ; तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीति ॥"

इस भौतिकात्मा का नाम वेदि पड़ने का दूसरा कारण भी है। इसका वर्णन इसी पूर्वोक्त क्रम में आगे दिया है। पृथिवी रूप वेदि तो मिली पर विष्णु न मिले। अतः देवताओं ने उसे तीन अंगुल गहरा खोदा (यह योग क्रिया का कर्म काण्ड है, शरीर के तीनों भागों को मथा) तो विष्णु मिल गये। अतः इसे विष्णु के वेदन या प्राप्ति या ज्ञान के कारण भी वेदि कहते हैं 'यन्वेवात्र विष्णुमविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम' (१०)। यही वेदनमयी ज्ञानमयी प्राप्तव्या वेदि ही पृथिवी की अन्तिम सीमा है या इसी का ज्ञान करना, ज्ञान की अन्तिम सीमा है। इस अखिल ब्रह्माण्ड रूप पृथिवी का ज्ञान केवल इसी योग की वेदि के रूप में हो सकता है, अतः इसी वेदि का ज्ञान इस ब्रह्माण्ड या पृथिवी के ज्ञान का अन्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिकात्मा का 'वेदिः' नाम योगविषयक है, उसी का अभिनय कर्मकाण्ड को वेदि बनाकर हवनादि किया जाता है, समिध प्राण हैं, ज्योति विष्णु अग्नि उस ज्योति को प्रदीप्त करने वाली है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर—'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'—यह यज्ञ ही भुवन या अखिल मौलिक भौतिक दैवी ब्रह्माण्ड रूप आत्मा की नाभि या योनि है (जिसमें आसुरी स्थूल भौतिक सृष्टि का गर्भ या रेतः या बीज प्रजापति रूप में धारण किया जाता है)। पर वास्तविक समस्या का समाधान तब होगा जब हमें इस 'यज्ञ' नामक नाभि का उचित और आवश्यक सन्दर्भीय विवरण सत्य रूप में मिल जाय। यह विवरण हमें श० प० ब्रा० के पूर्वोक्त वेदि की व्याख्या के अवसर पर ही दिया हुआ मिलता है। इसमें लिखा है कि उस वेदि रूप पृथिवी को अपनाने के लिए उसे छह भागों की ओर से संगृहीत

या परिगृहीत किया गया। उत्तर में सूक्ष्मा शिवा रूप में, दक्षिण में स्योना सुषदा रूप में, और उत्तर में ऊर्जस्वती और पयस्वती रूप में गृहीत किया गया। इसी प्रकार त्रिःपूर्व पूर्वार्द्धीय परिग्रह की तरह त्रिरुत्तर परिग्रह या उत्तरार्द्धीय परिग्रह किया। ये छह ऋतु रूप छह भाग हैं। यह वेदि स्वयं संवत्सर ब्रह्म है। वेदि की इस संवत्सर ब्रह्म रूप, केन्द्रीभूत संवत्सर ब्रह्म व्याख्या मयी वेदि को इस सृष्टि की नाभि कहते हैं। नाभि माने विभाजनों का केन्द्र है। ये विभाजन संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, तथा महूर्त घटिका, पला, विपला आदि कला, विकला रूप अरायें हैं। इन अराओं के केन्द्र रूप संवत्सर ब्रह्म को यज्ञ या नाभि कहते हैं। इस यज्ञ का विस्तृत विवेचन पिछले मंत्र ५ में दे दिया गया है। इस यज्ञ के विकास में उक्त अहोरात्र मासादि और मूहुर्त घटिकादिकों को सृष्टिरूप वस्त्र के तन्तु रूप में भी वर्णित किया गया है। सृष्टि के सूक्ष्म क्रम का विकास उक्त दो प्रकार से तथा एक अक्षर रूप से, केवल तीन ही प्रकार से किया जा सकता है, अन्य वर्णनायें, आख्यान, व्याख्यान, रूपकादिमय होने के कारण वैसी वैज्ञानिक नहीं समझी जातीं। अतः इनका सबसे बड़ा महत्व है, और ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसी लिए इन तत्वों की अधिक चर्चा की है। यहाँ वेदि के सम्बन्ध में संवत्सरब्रह्म रूप यज्ञ का उल्लेख इस प्रकार दिया गया है:—"स वै त्रिः पूर्व परिग्रहं गृह्णाति। त्रिरुत्तरं तत्षट्कृत्वः षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य, संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावनिव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्परिगृह्णाति॥" इत्यादि (१३वहीं)। वेदि के इसी विकासक्रम का नाम प्रजापति है जो इस नाभि में सवत्सर रूप प्रजापति के रूप में उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार का वर्णन मंत्र ३२,३३ और यजु के "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजाय मानो बहुधा विजायते।" में दिया गया है। यह गर्भ ही नाभि है, इसका मुख द्वार योनि कहलाता है जिसे केवल योगी या ज्ञानी ही अनुभूत कर सकते हैं "तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥" यहाँ पर 'परिपश्यन्ति' शब्द इस बात का स्पष्ट द्योतन कर रहा है कि यह विषय योग का है और योगी ही योग द्वारा इसे देख सकते हैं, इसे जानना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। जो इसे जानना चाहे वह पहले योगी बने या उनकी जैसी उक्त प्रकार की दृष्टि अपनावे। अर्थात् वेदि और यज्ञ का विषय योगयज्ञ मात्र का विषय है, यह सर्वथा निश्चित है।

तीसरे प्रश्न का उत्तर—'अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः'—

अभी तक प्रथम दो प्रश्नों के उत्तर में वैदिक ऋषियों ने वास्तव में क्या

कहना चाहा है, इसका ठीक ठीक चित्र सामने नहीं आ सका है। बात तो उन्होंने सभी ठीक ही कह दी हैं, पर ऐसा उत्तर क्यों देते जा रहे हैं इसका सन्दर्भ अभी तक रहस्य ही बना रह गया है। बात यह है कि यहां पर सृष्टि और अतिसृष्टि (योग) दोंनों के विकासक्रम को एक साथ दिया जा रहा है। इस विकासक्रम की जननी वही वेदि रूप पृथिवी है, जिसकी योनि इसके पुर्वार्द्ध से सम्मिलन बिन्दु पर द्वार सी बनी है। उसके अन्तर्गत संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति नाभि या गर्भ के समान वर्तमान है। यह संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति इस गर्भ में कहां से आया ? कैसे आया ? और किस रूप में आया ? इन तीन प्रश्नों का उत्तर इस उत्तर में दिया गया है। उत्तर तो यही है कि 'यह संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति, इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक बीज रूप में वृषण या वृषा नामक अश्व का वह रेतः रूप है जिसे साधारणतया सोम नाम से पुकारा जाता है।' परन्तु यह वाक्य क्या कह रहा है यह ठीक ठीक समझ में आया सा प्रतीत नहीं हो रहा है। इसकी स्पष्टता के लिए हमें पुनः श प. ब्रा. की इस वेदि से सम्बन्ध रखने वाली व्याख्या का आश्रय लेना पड़ेगा। इसमें यह लिखा है—"अभितोऽग्निमंसा उन्नयति। योषा वै वेदि वृषाग्निः। परिगृह्यः वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति ॥" (१५ वहीं)।

वृषणः षष्ठयन्त शब्द है, मूल शब्द वृषन् (वृषा) है। यह सर्वादेवता विष्णु या अग्नि का नाम है। (आगे मंत्र ३६ देखें)। यहां पर इसी वृषाग्नि को अश्व रूप पशु बताया गया है। अश्व नाम प्राणों का भी है। अतः 'वृष्णो अश्वस्य' के माने 'प्राण रूप वृषा नामक अग्नि का', या 'अश्व रूप वृषा नामक अग्नि का' है। यहां वृषाशब्द भी वर्षणशील अर्थ में पूर्ण सार्थक है जिससे पूरा स्पष्ट अर्थ 'अश्व या प्राण रूप वर्षणशील अग्नि का' हो गया। यह प्राणरूप वर्षणशील अग्नि, उत्तम प्राण रूप आदित्य या विष्णु देवता है जिसका नाम भी वृषन् वृष्ण या वृष्णि भी है, उसी की ज्योति की वर्षा की बूंदें सिमट सिमट कर सोम नाम से पुकारी जाती हैं। यही अभीष्ट अर्थ है भी। वेदि ही स्त्री है, अखिल ब्रह्माण्ड की मौलिक जननी है, छन्दोमयी है, उक्त अश्व या प्राण रूप वर्षणशील अग्नि या विष्णु उसका पति है। इस वेदि की नाभि या गर्भ में प्रजापति रूप संवत्सर ब्रह्म के रूप में यही अग्नि, या वर्षणशील वृषा नामक अश्व, अपने रेतो रूप में-जिसे सोम भी कहते हैं, अजायमान रूप में, दिव्य रूप में, दैवी रूप में प्रविष्ट होता है। अर्थात् त्रिपादामृत रूप अग्निर्विद्वान् ही यहां पर इस वेदि के गर्भ में प्रजापति या संवत्सर ब्रह्म नामक विकासशील यज्ञ के रूप में या रेतो रूप में या सोम रूप में प्रविष्ट हो जाता है। यहां पर इस अग्नि का नाम

बदल जाता है, यह अग्निर्विद्वान् से वैश्वानर रूप 'अग्नि' प्रजापति कहलाता है जो उस प्रथम स्वरूप से भी नित्य सम्बद्ध ही रहता है 'वैश्वानरो यतते सूर्येण'। यह सूर्य त्रिपादामृतीय अग्निर्विद्वान् या जानवेदा की चक्षु की आत्मा रूप अग्नि है, इसी को सर्वा देवता — सृष्टि या योग में—विष्णु नामक आदित्य भी कहते हैं।

कहने का आशय यह है कि इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के मौलिक स्वरूप की योग द्वारा वेदि रूप में जब अनुभूति की जाती है, तभी वह अनुभूति सोमीय या चान्द्रमस ज्योति उस त्रिपादामृतीय अग्निर्विद्वान् के सूर्य नामक तत्त्व के स्वरूप से निसृत रेतः या घृत या जीवन ज्योति रूप में अनुभूत होती है। जब वृषा अश्व रूप वह विष्णु रूप सूर्य अपने प्रकाश को योगी के आभ्यन्तर जगत के चान्द्र शरीर में ज्योति रूप में प्रतिबिम्बित करता है तब ही योगी की योगक्रिया भी पूरी होती है और तभी सृष्टि के विकास का अग्रिम चरण पनपने लगता है। यही चन्द्रमा की, अजायमान, अमृत उधार मिली ज्योति ही; इस सृष्टि का प्रजापति है; यह है वही त्रिपादामृत रूप अग्निर्विद्वान् ही भले ही यहां यह चन्द्रमा में बिम्ब रूप में उसके गर्भ में प्रतिबन्धन में आ गया हो। अतः लिखा भी है 'चन्द्रमा वै प्रजापति' (सोम शीर्षक 'वैदिक विश्व दर्शन' देखें)। इसका विकास संवत्सर ब्रह्म रूप में या तन्तुमय ताने बाने वाले जालरूप या वस्त्ररूप यज्ञ के रूप में आपोमय अक्षरों के रूप में जिसे जो अच्छी तरह समझ में आ सके उसके अनुसार या तीनों के अनुसार एक ही साथ त्रिवृत् रूप में प्राण (आप.), वाक् (यज्ञ अग्नि) और मन (क्रमिक ज्ञानमय विकासमय संवत्सर) के रूपों में होता है।

'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम'—ब्रह्मा नाम यज्ञ के मुख्य अधिष्ठाता ब्राह्मण या ऋत्विज का है। पर सृष्टि यज्ञ में इस ब्रह्म नामक ऋत्विज का काम उक्त चन्द्रमा ही करता है, और अतिसृष्टि या योग में इसी का प्रतिनिधि मनः है। इन तीनों प्रक्रियाओं के विवेचन में मुख्याधिष्ठाता को 'ब्रह्मा' ही कहा जाता है, पर इस ब्राह्म कार्य का कर्ता विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न होता है, जैसे द्रव्य यज्ञ में एक सबसे अधिक ज्ञानी ब्राह्मण (वेदवेत्ता), सृष्टि यज्ञ में चन्द्रमा नामक प्रजापति और अतिसृष्टि या योग में 'मनः' नामक तत्त्व। इसका विवेचन बृह. उप (३-१-६) में इस प्रकार दिया है :—"यदिदमन्तरिक्षमनारम्भणमिव केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणार्त्विजा मनसा चन्द्रेण, मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षाः।" इसी प्रकार के वचन समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। यह सोम उस अग्नि की कामना रूप मनः का रेतः है अतः

स्वयं अग्नि का मनः रूप है 'कामस्तदग्रे समवर्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ॥ ऋ. वे. (१०-१२९-४)। यहां चन्द्रमा नामक मनः अमृत है और वाक् उसकी कृतानुकारा मर्त्य धर्मिणी है, उसका शरीर है। इसकी कथा श. प. ब्रा. १-४-१ पूरे में देखें। यही मनोरूप सोम, सविता, या प्रसविता या सृष्टि कर्ता है, यही अग्नि का रेतः भी है, इसी से सृष्टि चलती है।

(१) द्रव्य यज्ञ में तो वाक् की प्रामाणिकता का उच्चतम स्थान ब्रह्मा नामक ब्राह्मण या ऋत्विज है, उसी के अनुसार सब यज्ञ क्रियायें चलती हैं। (२) सृष्टि यज्ञ में चन्द्रमा प्रजापति ही ब्रह्मा हैं, इसका सोमीयरेतः ही वाक् रूप शरीर है उसी से आरम्भणीय भौतिक (मर्त्य) की सृष्टि का क्रम चलता है, वही चन्द्रमा मनोरूप्र ब्रह्मा या सृष्टिकारक ब्रह्मा है या सृष्टि रूप यज्ञ संचालन कर्ता ब्रह्मा है। यहां ब्रह्मा शब्द श्लेषात्मक है। (३) अतिसृष्टि या योगात्मक यज्ञ में मनः नामक तत्त्व ब्रह्मा है, यही चन्द्रमा है अग्नि नामक अपने देवता का द्वार है, या यह चन्द्रमा रूप प्रथम भौतिक तत्व सर्वप्रथम सूत्र रूप में उत्पन्न होने वाला भौतिक सृष्टि की डोरी में नीचे की ओर लटका है और उसी डोरी से ऊर्ध्वोर्ध्व को जाते जाते अपनी आत्मा रूप उस अग्नि की ज्योति को प्राप्त कर लेता है। यही चान्द्रमस ज्योति, वाक् शरीर का या भौतिक वाक् शरीर का सर्वोच्च या सर्व प्रथम स्थान है, जहां पर यह वाक् अपने अनन्त अक्षर रूप भौतिक ब्रह्माण्डों के मूल बीज, एक बीज रूप में प्रस्तुत रहती है जिन्हें आगे 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (मंत्र ३९) और 'गौरीर्मियाय ··· सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (मंत्र ४१) में विस्तारपूर्वक वर्णित किया जावेगा। मनः और वाक् क्रम से अमृत और मर्त्य शरीरी हैं, इनकी कथा श० प० ब्रा० १-४-१ पूरे में देखें।

इस स्थान पर चन्द्रमा प्रजापति को अक्षर ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है। अक्षर उस चन्द्रमा को ज्योति रूप शरीर या वाक् के हैं। इसका नाम पूर्वार्द्ध के ॐ या ओम् या त्रिपादामृत से पर या परम या उत्तरार्द्ध भाग में स्थित या विशेष रूप से स्थित ओम् या 'वि + ओम, 'विगत 'अउमेभ्य' ओम्भ्यो वा व्योमन्' या विः = सुपर्ण रूप + ओम या ॐ कार रूप सोम या सविता या 'व्योम' या 'परमे व्योम' या 'परमे व्योमन्' है। यह वाक् या उसके भौतिकात्मीय शरीर का सर्वादि और पूर्वार्द्ध से परे या परम या दक्षिणायन के आदि स्थान या प्रथम स्थान में स्थित रूप का नाम है। इसी के अनुशासन में यह अखिल ब्रह्माण्ड है। इसका विवेचन बृह० उप० (३-८) में याज्ञवल्क्य ने वाचक्नवी गार्गी को सुनाते हुए विस्तारपूर्वक दिया है, देख लें। यह अक्षर ब्रह्म, यही ब्रह्मा या प्रजापति रूप चन्द्रमा है जिसे मनोरूप सूत्र से इस परम

व्योम स्थान में अनुभूत किया जा सकता है। श० प० ब्रा० ने उक्त वेदि के विवेचन के उपक्रम के अन्त में इसीलिए 'वाक्' का अनुष्ठान करने के लिए लिखा भी है (२१ वहीं)। 'परमे व्योमन्' शब्द की पूरी व्याख्या आगे मंत्र ३९, ४१ में भी देखें।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि:।
ते धीतिभि र्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥३६॥

इस ऋचा को विल्सन ने समस्तवैदिक वाङ्मय में सबसे अधिक अननुगम्य बतलाया है। यही क्या, अन्य सभी ऋचायें भी, जिनका अर्थ इन लोगों ने वैदिक पारिभाषिकता के ज्ञान के नितान्त अभाव में अपनी कोरी अनहोनी कल्पनाओं का संकेतक समझ कर 'समझ में आ गया है' करके माना है, इसी श्रेणी की हैं, इनके लिए सभी अननुगम्य ही हैं, इनका उनको समझने का दावा ठोस रूप से एक भयंकर भ्रमजाल है। यह निश्चित है, कोई भी विद्वान् कितना ही परिश्रम करे, कितनी ही माथापच्ची करे, उसे वेदों का अर्थ तब तक कदापि भी बिलकुल ही नहीं लग सकता जब तक वह मेरे द्वारा निर्णीत किये गये तत्त्वों के अष्टचक्रादि, छन्दोमयादि, पशुमयादि प्राणादि अनेक प्रकार के वैदिक ऋषियों के मनोगत अभिमत विभाजनों का गहन अध्ययन न कर लें। यह एक नग्न सत्य है, अपनी प्रशंसा या 'अपने दही को खट्टा नहीं कहना' नहीं है। विद्वानों से प्रार्थना है कि वे मेरे निर्णयों पर गम्भीर ध्यान-पूर्वक विचारविमर्श करें। वेदों के समुचित अर्थ को जानने और समझने का कोई दूसरा मार्ग प्रतीत ही नहीं होता 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' यह ऋषियों का वाक्य पूर्ण घटित समझें।

प्रस्तुत ऋचा में दीर्घतमा ऋषि के सामने 'वैदिक विश्वदर्शन' के सम्पूर्ण विकासीय तत्वों का एक चित्र सा सामने टँका है जिसकी प्रतिलिपि इस ग्रन्थ तथा वैदिक विश्वदर्शन में कई प्रकार से दे दी गई है। उस चित्र पर दृष्टिपात करते हुए उसे सप्तपदी या सात सप्तकों के रूप में देखने का कष्ट किया जावे, और साथ में उसमें वर्णित नाना प्रकार के सप्तचक्रवाद का अवलोकन करने और समझने का भी प्रयत्न करें।

'सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतः'—वैदिक विश्वदर्शन की सप्तपदी को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है जिसको पिछले मंत्र की व्याख्या के अवसर पर 'त्रिःपूर्वान् त्रिरुत्तरान्' कहा जा चुका है। इसके अनुसार प्रथम तीन पद पूर्वार्द्ध हैं, अन्तिम तीन पर उत्तरार्द्ध। इनके मध्य में चौथा पद है। उसी को 'मध्ये विषुवान्' या यहां पर 'अर्धगर्भ' नाम से पुकारा गया है जिसका

धरातलीय अर्थ उक्त व्याख्या से स्वयं पटरी खाता है अर्थात् सप्तपदी के अर्द्ध या मध्मभाग में गर्भ है, इन दोनों भागों के सम्मिलन के बाह्य विन्दु को योनि कहते हैं। ये दोनों भाग द्यावापृथिवी हैं। इस प्रकार का वह अर्धगर्भ, सात भागों के मध्य या अर्द्धभाग में स्थित गर्भ 'अर्धे यो गर्भः' भुवन या अखिलकोटि भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड के रेतोरूप या मूल बीजरूप सोम रस से भरा है। यह अमृत कलश है या द्रोणकलश है। पर इस कलश या द्रोणकलश या सृष्टिकलश को ही अखिल भुवन का मूलबीज नहीं बताया है, वरन् इसमें उत्पन्न सात ऋषि रूप प्राणों को ही इस भुवन या सृष्टि का बीज कहा है। ब्राह्मणों और पुराणों में इसी कलश से जिन सप्तर्षि रूप प्राणों की सृष्टि का विवेचन दिया हुआ मिलता है वह किस हिन्दू को विदित नहीं होगा? अतः 'सप्तार्धगर्भा' माने वह कलश रूप गर्भ है जिसमें सात ऋषिरूप प्राण उत्पन्न होने के लिए गर्भ में आ गये हैं'। इन ऋषियों को अध्यात्म व्याख्या में वाक् मनः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं त्वक् नासिका आदि नाम से पुकारा जाता है; इन्हीं को पितर रूप व्याख्या में आङ्गिरस या अङ्गों के (प्रथम तीन सप्तक रूप अङ्गों के) रस रूप सात आङ्गिरस पितर कहते हैं, और ज्ञान विद्या चेतनामय प्राणमयी व्याख्या में इन्हीं को गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप और अत्रि कहते हैं। अन्य ऋषि भी इसी कोटि में आते हैं; जैसे वामदेव जी ने (४-२७-ऋ० वे० और ऐ० उप) कहा है कि मैं ऐसे लोहे के पींजड़े के समान गर्भ से श्येन की तरह भाग आया। तीनों एक ही तत्त्व के विभिन्न पहलुओं के त्रिवृत् की व्याख्या देते हैं। इनका यहां त्रिवृत् ही समझिए। इन सात सात के त्रिवृत् या २४ का यह त्रिःसप्त गर्भ है। अतः ये 'सप्तार्धगर्भा' ये सात प्राणरूप ऋषि हैं जो मध्य भाग के गर्भ में हैं ये 'सप्तार्ध गर्भा' ऋषि ही इस भुवन या सृष्टि के मौलिक बीज हैं या रेतः हैं। श० प० ब्रा० ६-१-१-१ में ऋषि और 'सप्त पुरुषाः' का वर्णन देखें। यह सृष्टिपक्ष का और कलशरूप कर्म-काण्ड का स्पष्ट विवेचन है। यह रेतः क्या है? यह पिछली ऋचा में बतलाया जा चुका है। यह 'सोम रस' है जिसका आस्वादन योगीजन उक्त प्राणरूप ऋषियों की यौगिक साधना द्वारा करते हैं। योगी के लिए यह छूट है कि वह किसी भी प्रकार से-अध्यात्म प्राणसाधना, पितर रूप अङ्गों के रसरूप प्राणों की साधना या विद्या ज्ञान चैतन्य ज्योतिर्मयता वाली ऋषिरूप प्राणों की साधना में से किसी भी मार्ग को अपना कर अपने योग की प्रक्रिया सँभाल ले। यह योगपक्ष है।

'विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि'—अब यहाँ पर कोई भी साधारण पाठक तुरन्त यह प्रश्न कर सकता है कि ये सात ऋषि रूप प्राण इस अर्ध-

भाग में स्थित योनि के गर्भ में एकाएक कहाँ से टपक पड़े ? यह प्रश्न दीर्घ-तमा ऋषि के मन में मंडरा रहा था। और पिछली ऋचा में इस रेतः को 'वृष्णो अश्वस्य' (रेतः) या वृषा नामक अश्व का रेतः बताया गया था, यहां कुछ और ही कह रहे हैं। यह क्या बात है ? यह भी एक पूरक प्रश्न है। उक्त उद्धृत पद में इन्हीं दो प्रश्नों का समुचित समाधान है।

आपने गीता में अवश्य पढ़ा होगा कि भगवान् कृष्ण अपने को 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' (१०-३७) वाक्य से वृष्णि वर्ग में वासुदेव नाम से प्रसिद्ध बतला गये हैं। भागवत धर्म वालों ने वैदिक 'वृष वृषा वृषन्' शब्दों पर 'वृष्णि' नामक जाति का एक काला पर्दा डाल दिया है। पिछले मंत्र में जिस 'वृषन्' अग्नि रूप अश्व का रेतः सोम नाम से प्रसिद्ध बताया है, उसी वृषत् अग्नि रूप अश्व को यहां 'विष्णु' या वासुदेव या वामन या वाम नाम से पुकारा जा रहा है। यह पूर्व ऋचा के क्रम में आई इस ऋचा के इस पर्यायवाची शब्द (विष्णोः = वृष्णः) से स्वयं स्पष्ट भी है। ऋ० वे० १-१५४-६ विष्णु सूक्त में वृष्णः या वृषन् नाम विष्णु का भी दिया है जैसे 'ता वां वास्तून्युश्मसि···। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं' पदभवभाति भूरि ॥"। वृषन् का अर्थ वर्षणशील सदा आनन्दमय अवढरदानी है। यह इन्द्र, सोम, अग्नि और विष्णु का एक ऐसी ही विशेषावस्था का सूचक शब्द है। ये सब सर्वदेवता भी हैं। अतः यहां पर अग्नि को ही विष्णु रूप या नाम से व्याख्यात किया जा रहा है। वेदि की व्याख्या में भी इसी विष्णु देवता के वेदन या ज्ञान या प्राप्ति के कारण उसे वेदि या प्राप्तिस्थान कहा है।

वे सप्तार्धगर्भा नामक सप्तर्षि, द्यावा पृथिवी के मिलनविन्दु रूप योनि के अन्दर जिस प्रकार के गर्भ रूप में या प्रथम भौतिकात्मीय बीजरूप में प्रस्तुत हुए है, वे यहां एकदम टपक नहीं पड़े हैं। वे आदि ब्रह्म अपने मौलिक बीजों के रूप में, अज के रूप में या अपने धर्म या विशिष्ट विधर्म या विशिष्ट लक्षण रूप में विष्णु की तरह रहते हुए, उसी विष्णु की सरणि (या प्रदिशा) से, या विष्णु के तीन पद क्रमों को क्रमशः आक्रमित या विकसित करते हुए, यहां २४ वें तत्व की योनि में प्रवेश करके २५ वें में गर्भ रूप में प्रस्तुत होते हुए अब विराजमान हुए हैं। विष्णु के इस तीन क्रमों को तीन पद कहते हैं। वे प्रथम तीन पद प्रथम तीन सप्तक हैं, जिनको पूर्वार्द्ध कहते हैं। यहां चतुर्थ पद या अर्द्ध गर्भ में २५वें तत्व में 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजाय-मानो बहुधा विजायते' के अनुसार वही अजः प्रजापति यहां सबसे पहले सप्तर्षि रूप में प्रस्तुत हुआ है। अर्थात् यहां पर जिन सप्तर्षि रूप प्राणों का विकास हुआ है उनके मौलिक धर्म, आदि ब्रह्म में थे, वे विष्णु के 'त्रेधा

निदधे पदं' के अनुसार क्रमशः तीन सप्तक रूप पदों में विष्णु की सरणी से विकसित होते हुए अब इस गर्भ में विराजमान हैं। इसी लिए कई स्थानों में लिखा है, और इसी सूक्त में आगे दो स्थलों में मंत्र ४३, ५० में आया है 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' कि इनके पदों में क्रमिक विकास पाने के रूपों में विद्यमान थे। ये तो वास्तव में सात प्राण हैं। इन्हें ऋषि इसलिए कहते हैं कि ये योग करते हैं; नाम भी अङ्गिरस है, ये प्रथम तीन पाद रूप अङ्गों के रसरूप प्राण हैं।

'ते धीतिभिः-विपश्चितः'—जिस प्रकार उक्त प्राण रूप ऋषि सात है उसी प्रकार उनकी सात धीतियां भी हैं; प्रत्येक की एक धीति या धारण शक्ति या ज्ञानतेजस्वितामय धीति है जैसे—"मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त-धीतयः' (ऋ० वे० ९-८-४) और "एतमुत्यं दश क्षिपो मृजन्ति सप्तधी-तयः ॥ (ऋ० वे० ९-१५-८)। ये धीतियां इन सप्तर्षि रूप अध्यात्म प्राणों के शरीरों में सात ग्रहों के रूप में रहती हैं। प्राण की धीति अपान है जिससे वह गन्ध ग्रहण या धारण करता है वाक् की धीति नाम हैं जिनसे वह बोलती है, जिह्वा की धीति रस है जिससे वह रसास्वादन करती है, चक्षु का ग्रह रूप है जिससे वह रूप का ज्ञान करती है, श्रोत्र की धीति शब्द है जिससे वह सुनती है, हस्त की घीति कर्म है जिससे वह कर्म करता है, त्वक् धीति स्पर्श है जिससे वह स्पर्श की अनुभूति करती है (बृह० उप० ३-२)। इंन धीतियों को अतिग्रह नाम से पुकारते हैं और सप्त प्राणों को 'ग्रह' नाम से, अर्थात् प्राण और धीतियां परस्पर ग्राही और ग्राह्य तत्त्व है। इन प्राणरूप तत्त्वों में धीतियां स्वधारूप से स्वयं वर्तमान रहती हैं।

इन सब धीतियों और प्राणों को इन ग्राह्यता और ग्रहणता की ओर प्रवृत्त करने वाला मनो रूप काम है। इनमें काम रूप तत्त्व रेतो रूप में ही विद्यमान रहता है। क्योंकि रेतः तो इंसी मनः का काम रूप या कामनामय शरीर है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋ. वे. १०-१२९ ५)। ईसीलिए ऋषि यहां कह रहे हैं कि वे सप्तर्षि रूप प्राण, अपने-अपने ग्रह रूप से अपनी-अपनी धीतियों को अतिग्रह रूप में ग्रहण कर लेने से तथा मनो रूप ग्रह से काम रूप अतिग्रह को मुख्य द्वार बना लेने से विपश्चित या ज्ञानमय वेदना मय चेतनामय प्रकाशमय हो जाते हैं। अतः जब ये इन धीतियों से मुक्त होते हैं और सोम रूप मन की ज्योति की रस्सी पा जाते हैं तो इनको विप्राः या विपश्चितः नाम से पुकारा जाता है।

'परिभुवः······विश्वतः'—इन सप्तर्षि रूप प्राणों के ज्ञान का मुख्य कारण तो इनके देवता रूप मातरिश्वा, अग्नि, आपः, सूर्य, दिशा आकाश (आत्मा

हस्त कर्म) और वायु तथा चन्द्रमा हैं। इन देवताओं से युक्त ये सप्तर्षिरूप प्राण अपने अतिग्रह रूप धीतियों से युक्त हो जाने पर ही विपश्चित बनते हैं। अतः यहां पर ये द्यावापृथिवी दोनों के एक सम्मिलित स्वरूप एक अखण्ड ब्रह्माण्ड या ब्रह्म या व्यक्ति या वैयाक्तिक ब्रह्माण्ड या ब्रह्म रूप बन जाते हैं। इसीलिए ऋषि लिखते हैं कि—ये इस प्रकार से विपश्चित या ज्ञानमय रूप में भुवः या उत्तरार्द्ध रूप शरीर में उत्पन्न होने वाले, पृथक्-पृथक् न रह कर सब एक दूसरे में व्याप्त होकर रहते हैं। पर जब ये अपना अपना ज्ञान करना चाहते हैं तो प्रत्येक केवल अपनी धीति से ही तत्तद् ज्ञान कर सकता है। यदि ये सम्मिलित रूप से व्याप्त होकर न रहें तो न कोई शरीरी बन सके, न कोई ज्ञानवान्। यदि ये सब पृथक् होते तो प्रत्येक के चक्षु श्रोत्र मन वाक् प्राण आदि पृथक् पृथक् बिखरे रहते, और कोई भी 'मैं इन इन का ज्ञान रखता हूँ' यह कहने वाला नहीं हो सकता। तब चक्षु पृथक् रहकर मात्र देखने का कार्य करता, श्रोत्र सुनने का ही इत्यादि। अतः मनोरूप कामात्मा की डोंरी से ये सब एक तन्तु से बँधे रहते हैं, आत्मा रूप रथी को अपने द्वारों या अङ्गों या भागों से व्याप्तिमय ज्ञान कराते रहते हैं। यह अखिल ब्रह्माण्ड भी हमारे शरीर के समान इन मनः वाक् प्राण श्रोत्र चक्षु इत्यादि सब अङ्गों का एक व्याप्तिमय ब्रह्माण्ड है।

सृष्टि के दो भाग द्यावा पृथिवी को क्रम से भू और भुवः नाम से भी पुकारते हैं जैसे 'भूर्जज्ञ उत्तानपादो भुव आशा अजायन्त' (ऋ. वे. १०-७२-२)। इसी भुवः का संकेत यहां पर दिया गया 'परिभुवः' शब्द कर रहा है (मंत्र ४१ देखें)। अग्नि का इस प्रकार के शरीर से युक्त होना ही उसे ईश ईशान और ईश्वर की पदवी देता है। ब्रह्म इस पदवी से रहित है, क्योंकि वह ऐसे शरीर से बहुत दूर है।

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥३७॥

'न विजानामि यदि वेदमस्मि'—इस मंत्र में पाकः नामक प्रजापति, 'अग्निर्विद्वान्' से व्याख्यात पूर्वोक्त ३५,३६ मंत्रों के विषयों को सुन कर उससे पुनः प्रतिप्रश्न कर रहा है। पाकः कहता है कि आपने तो यह कहा है कि सप्तर्षि रूप प्राण अपनी धीतियों और कामनाओं से विपश्चित या ज्ञानवान् हो जाते हैं। पर मुझे तो ऐसा कुछ प्रतीत नहीं हो रहा है। इस प्रस्तावना से वह अखिल ब्रह्माण्ड रूप पाक, जिसको, पूर्वार्द्ध के अहः (दिन) नामक भाग से आविर्भूत होने के कारण 'अहम्' या 'अस्मि' नाम से पुकारा जाता है, अपने को यहाँ 'अस्मि' या 'अहम्' नाम से घोषित कर रहा है।

इस बात का विवरण बृह. उप. (१-४-५) में देते हुए लिखा है "अहं वाव सृष्टिरस्मि, अहं हीदं सर्वं ततः सृष्टिरभवत् ॥"। यही भाव छा. उप. (७-२५) में देते हुए लिखा है "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम् ॥"

परन्तु सृष्टि के इस मात्र अहं या अस्मि रूप में ज्ञान का स्रोत नहीं है। इस अहं या अस्मि सृष्टि में प्राणरूप पात्र और धीतिरूप आकार तथा कामनारूप विस्तार या घनफल मात्र है। इनमें तेल बत्ती दीपक है पर ज्योति नहीं है। अतः पाकः कहता है कि मुझे तो यह भी विदित नहीं है कि मैं वेद या वेदि के जाग्रत रूप का हूँ; अर्थात् मैं योगभूमि रूप वेदि हूँ और उसमें वेद रूप ज्ञान ज्योति को जाग्रत किया जा सकता है जैसा कि बृह. उप. (१-४-६) ने लिखा है "मुखाच्च योने र्हस्ताभ्यामग्निमसृजत··· सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः, यन्मर्त्यं सन्नमृतानसृजत। तस्मादतिसृष्टिः ॥"। यह योग प्रक्रिया है, मर्त्यं प्राणों से उनके तत्तद् अमृत देवताओं को जागृत करना अतिसृष्टि कहलाती है। पाकः प्रजापति, नाचिकेता के यम से इसी ज्ञान के लिए प्रश्न करने के समान, यहां उसी पहेली को सामने रख रहा है।

'निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि'– पाकः प्रजापति कहते जा रहा है कि मैं इस भौतिक देह से तो निण्यः या 'निर्नाम' हूँ। मुझ में वाक् की धीति या अतिग्रह रूप में बोलने की शक्ति तो मिली ही नहीं है। यह नाम नामक वाक् की धीति ही अन्य सब ज्ञानों को अपने शब्दों या नामों के द्वारा प्रकट कर सकती है। जिसमें वाक् नहीं है वह पशुवत् पाषाण समुद्र नदी वायुवत् गतिमान् क्रियावान् होते हुए भी ज्ञानाभिव्यक्ति की शक्ति से शून्य है। इस समय मेरा यह पाकः नामक शरीर एक मनोब्रह्माण्ड रूप सप्तार्धगर्भा रूप में विद्यमान अवश्य है, पर है केवल मनोमय मात्र, मनोब्रह्माण्ड मात्र, एक अखण्ड मनोब्रह्माण्ड ही। और मेरा यह मनोब्रह्माण्ड तुम 'अग्निर्विद्वान्' रूप प्राण की डोरी में बँधा हुआ, बँधे हुए पक्षी के समान अस्वतन्त्र है। इसका विवेचन छा. उप. (६ ८) ने इस प्रकार दे रखा है "यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतति पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रायत एवमेव खलु सौम्य मनो हि दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वाप्राणमेवोपश्रयते, प्राण-बन्धनं हि सौम्य मनः ॥"। पाकः प्रजापति यहाँ पर ठीक इन्हीं वाक्यों को 'अग्निर्विद्वान्' के सामने प्रस्तुत कर रहा है कि मुझे तो तुमने नथ कर या डोरी में बाँध कर या अपने प्राणों की डोरी से अपने हाथ में लटका लिया है। मुझे इस बन्धन से छुटकारा पाने का उपाय बताओ। अर्थात् वह योग मार्गं बताओ जिससे मैं अपनी इस वेदि रूप काया के पिंजड़े में तुम्हारी

ज्योति को जगमगाता हुआ तुम्हीं सा निर्बन्धन हो जाऊँ, या जैसे तुमने मुझे बांध रखा है वैसे ही मैं भी तुम्हें अपने में बांध डालूँ, जैसे 'अबध्नन्पुरुषं पशुम्' तब यह बन्धन किसी को न खलेगा।

'यदा मागन्प्रथमजा······भागमस्याः'—इसमें केन्द्रविन्दु रूप शब्द 'ऋतस्य प्रथमजा' है। ऋत शब्द की व्याख्या 'हंसः शुचिषद्······ऋतं बृहत्' मंत्र ने दे दी है। ऋतं नामक तत्त्व दर्शन का या सृष्टि विकास क्रम का वह मौलिक तत्त्व है जो क्रमशः उत्तरोत्तर विकास पाता जाता है और विकास श्रेणिणों में, जिन्हें शुचिषद् अन्तरिक्षषद् आदि नामों से पुकारा जाता है—हंस, वसु आदि नामों से पुकारा जाता है। इस तत्त्व से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले तत्त्व को (सृष्टि या अतिसृष्टि में) अग्नि नाम से पुकारा जाता है। यह सर्वप्रथम विकसित होता है अतः इसे 'अग्रिरग्रिहि तमग्नि मित्याचक्षते' (श. प. ब्रा. ६–१–१–१०) कहा जाता है। स्वयं ऋग्वेद ने इसे ऋत का प्रथमजा नाम से घोषित करते हुए लिखा है कि 'अग्निर्हं नः प्रथमजा ऋतस्य' (ऋ. वे. १०-५-६)

यहां पर दीर्घतमा ऋषि विशेष करके पाकः के मुख से योग की प्रक्रिया का उद्बोधन करा रहे हैं। वे पाकः से कहलवा रहे हैं कि जब मेरे इस भौतिकात्मीय शरीर में उस प्रथमजा अग्नि की ज्योति जग जाती है या प्रदीप्त हो जावे तभी मैं तत्काल (आदित्) ही अपने इन प्राणों या (वाचः या) वाणी के अङ्गों के शरीरों की प्राप्ति या भाग का अशन या भोग कर सकता हूँ या इस शरीर के लाभ का फल पा सकता हूँ। अन्यथा मैं इस पशुवत् पाषाणवत् अज्ञानमय ठोस शरीर को एक भार सा अनुभूत करता हूँ। वाक् , अग्नि का शरीर है, 'अग्निर्विद्वान्' या ऋत का प्रथमोत्पन्न विकसित आत्मा है, वाक् उसका शरीर है, इस वाचः या इस शरीर के अङ्ग रूप प्राणों का नाम भी बहुवचन में 'वाचः' ही (कहा जाता) है। इसके प्रत्येक भाग या अङ्ग या प्राणों की धीतियों का अशन या भोग या—वाक् का भोग अग्नि द्वारा, (प्राण) त्वक् का वायु द्वारा, मनः का चन्द्रमा द्वारा, चक्षु का सूर्य द्वारा, श्रोत्र का दिशा द्वारा, गन्ध का नासिका द्वारा, इत्यादि—किया जा सकता है। अर्थात् मेरे इस शरीर में तुम भी सदा दीप्त बने रहो और मैं इस शरीर लाभ के फल को देव रूप में भोग सकूं, दानव रूप में नहीं। सृष्टि पक्ष में इस भौतिक ब्रह्माण्ड में जब तक आग्नेय तत्त्व न रहे तब तक इसका विकास भी सम्भव ही नहीं है। वह मौलिक अखिल ब्रह्माण्ड एक साक्षात् चैतन्यमय ब्रह्माण्ड है, वही ईश ईशान ईश्वर है। जब इसमें वाक् के अङ्ग या प्राण अङ्कुरित होकर उनमें तत्तद देवताओं की दीपवर्तिकायें

उद्दीपित करती हैं तभी वह ईश्वर है योगीश्वर है। पाकः उसके प्रतिपक्ष में योगेश्वर बनना चाहता है। ईश्वर स्वयं योगीश्वर या योगमय सृष्टि है, पाकः उसे अनुभूत करना चाहे तो उसे योगेश्वर बनना पड़ता है, नहीं तो उसका जीवन नदी प्रवाहवत् दानववत् स्थाणुवत् बन जाता है। योगेश्वर को गीता या उपनिषदों में दिये गये योगों की प्रक्रिया का प्रयोग करना पड़ता है। जो यह नहीं कर सकता, वह पशुवत् कीट सरीसृपवत् एक असुरवत् तमाशे की वस्तु है।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥३८॥

(१३१-३८) स्वधा का विवेचन वैदिक विश्व दर्शन में देखें। स्वधा नाम उस तत्त्व का है जो प्राणों को धारण करता है 'स्वान् प्राणान् धारयतीति स्वधा'। प्राणों को धारण करने वाले प्राणों के शरीर रूप 'आपः' वैद्युतीय शक्तिमय तत्त्व हैं। यही आपः स्वधा हैं जो तीन प्रकार के दैवी, दैव्यासुरी और आसुरी या मनुष्या नाम के हैं। इन्हीं से अमर्त्य और मर्त्य प्राण अपने में गृभीत गृहीत संगृहीत या व्याप्ति रूप से अपने शरीर में धारण किये जाते हैं। इन अमर्त्य (अमृत) और मर्त्य प्राणों को कोई 'प्राणोदानौ' (ऐ. ब्रा.) कहता है कोई 'प्राणापानौ' (श प. ब्रा.)। इनका पारस्परिक द्वन्द्व ही समुद्र मन्थन कहलाता है। ये प्राण अपने आपोमय शरीर के समुद्र में आपसी खींचातानी सी करते रहते हैं, निरन्तर खींचातानी में ही लगे रहते हैं। प्राण, अपान या उदान को ऊपर की ओर खींच लेता है तो अपान या उदान उस प्राण को तत्काल नीचे की ओर खीच लेता है। अतः उपनिषदों ने कई बार कई स्थलों में लिखा है "ऊर्ध्वं प्राण उन्नयत्यपानं प्रत्यगस्थति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥" (कठ. उप.)। इस प्रक्रिया का नाम ब्रह्मविन्दूपनिषद् 'अजपा गायत्री' देता है, और कहता है कि ये प्राणोदान या प्राणपान ऊर्ध्वाधः की खींचातानी थोड़ी करते हैं। ये तो अजपा या स्वयं जपा गायत्री का जप करते हैं। "हंकारेण बहिर्याति सकारेणाविशेत्पुनः। हंस हंसे त्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। अपजा नाम गायत्री··· इत्यादि।" अर्थात् प्राण तो 'हंकार' ध्वनि से ऊर्ध्वगामी होता है और उदान या अपान 'सकार' ध्वनि से नीचे को उतरता है। इन दोनों प्राणों की इन दोनों ध्वनियों की निरन्तर की खींचातानी से जीव या जगत् या अखिल ब्रह्माण्ड 'हंसः' 'हंसः' का जप अविछिन्न रूप से करता रहता है। यह इस ब्रह्माण्ड का बहुत बड़ा सौभाग्य है।

बृह. उप. में तो स्वधा नाम की वाक् धेनु के एक स्तन पीने वालों को 'पितर' तत्त्व कहा गया है। वाक् भी आपः ही है 'यदपोऽसृज्यन्त वागेव सासृज्यत'

(श. प. ब्रा.)। आपः अदिति और वाक् ये इस ब्रह्माण्ड के मौलिक त्रिवृत् हैं। यह तेजो रूप में वाक् , मनो रूप (ज्ञान प्रकाश रूप) में अदिति और प्राण रूप में आपः कहा जाता है। प्राण रूप तत्त्व ऋषि हैं, भौतिक ऋषिः ही प्रजापति हैं । अतः ये स्वधा के अधिकारी प्रजापति रूप पितर हैं। ये अमृत ऋषि, देवता और पूर्वे पितरः या पूर्वे ऋषयः कहलाते हैं। ये स्वाहाकार (अभौतिक, भौतिकता का स्वाहा रूप) और वषट्कार या मर्त्य अध्यात्म प्राणों के अधिकारी हैं । इस स्वधा की व्याख्या मंत्र ३० में भी दी जा चुकी है उसे भी देखें।

यही भाव इस प्रस्तुत ऋचा का भी है कि 'अमर्त्य या अमृत प्राण, मर्त्य या भौतिक प्राण या उदान या अपान के साथ एक ही गर्भ या योनि या महद्ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में रहते हुए भी, अपने आपोमय शरीर के प्राणों को स्वयं धारण करने की अलौकिक शक्ति से स्वयं एक दूसरे से गृभीत या सम्बद्ध होकर (वारुणेय शक्ति से वरुणपाशों से सम्बद्ध होकर) अपाङ् और प्राङ् अथवा ऊर्ध्व और अधः (या पश्चिम पूर्व को, क्योंकि दर्शन चित्र में दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध का नाम प्राङ् या पूर्व भी है और पूर्वार्द्ध का अपाङ् भी) आते (जाते) रहते हैं। इस प्रकार ये दोनों मर्त्यामर्त्य प्र ण (ता), ऊर्ध्वाधः को उच्छ्वासनाधःश्वसन करते हुए (श्वसन्ता) अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त होते हुए भी (विषूचीना) एक दूसरे के विपरीत मार्गों में जाते हैं या निरन्तर जाते रहते हैं (वियन्त)। इनकी इसी गति से यह अखिल ब्रह्माण्ड जीवित भी रहता या कहलाता है। परन्तु विशेषता तो यह है कि इन दोनों में से पूर्वार्द्धीय अमृत प्राण तो 'अन्यं' या मर्त्य या उदान अपान को भलीभांति जानता है; और यह 'अन्य' नामक मर्त्य या उदान या अपान प्राण अपने जन्मदाता पूर्वार्द्धीय अन्यं या अमृत प्राण को नहीं जान पाता (यही सबसे बड़ा दुःख है)। यही बात इससे प्रथम मंत्र ३७ में बतलाई भी जा चुकी है।

विशेष—जो व्यक्ति प्राणोदानौ या प्राणपानौ की इस महत्वपूर्ण स्थिति या इन विशेषताओं को नहीं जानता, उसे वैदिक रहस्यों से बहुत दूर समझना चाहिए। योगी को सबसे पहले इन्हीं का आनुभूतिक ज्ञान करना आवश्यक होता है, तब वह योग की अन्य सीढ़ियों में क्रम से चढ़ सकता है। इसी कारण यहां इनका विवेचन देना आवश्यक समझा गया है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमान् यास्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥३६॥

विशेष—इस मंत्र में 'पृच्छामि त्वा वाचः परमं व्योम' (मंत्र ३४) के उत्तर रूप 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम' सूत्र रूप मंत्र (३५) का भाष्य दिया जा रहा है। यह वाक् उभया गायत्री विद्या (गायत्री शाक्वरी – ऋग्यजू रूपा) है। इसे अक्षरब्रह्माणी कहते हैं। वेदो में जिसे ब्रह्मविद्या कहते हैं उसका मूल आधार तत्त्वों को ऋग्यजुः साम या ऋग्यजुः या ऋक्साम नाम के भागों में बांटना हैं, इनमें ॐ का निवास है। इस विद्या को 'विद्या' या ब्रह्मविद्या या वेदविद् विद्या के नाम से पुकारा जाता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'—इस मंत्र में 'ऋचः' शब्द सृष्टि या दर्शन के दो भागों के विद्या और अविद्या परक ऋक् और यजु नामों का एकशेष द्वन्द्व है 'ऋक् च यजुः च तयोः समाहार ऋक् तस्य ऋचः' इसकी व्युत्पत्ति है। इसका विशद विवेचन 'अक्षर ब्रह्म' (पृष्ठ १०२ अध्याय ७) शीर्षक में वैदिक विश्व-दर्शन में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है, उसे पढ़ लिया जावे। सृष्टि, अति-सृष्टि और दर्शन के दो भागों के ऐसे ही कई अन्य नाम हैं जिनमें से एक जोड़ा भूः और भुवः का भी है जिसका प्रमाण 'भूर्जज्ञ उत्तानपादो भुव आशा अजायन्त' (ऋ० वे० १०-७२-२) है। इन दोनों भागों के सूक्ष्म और तात्त्विक विभाजनों को 'अक्षर' नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार छन्दा-क्षरों से तत्त्वों का संकेत किया जाता है उसी प्रकार इन ऋक् यजु नामक भागों के अक्षरों से तत्त्वों का विवेचन दिया जाता है। इन्हीं अक्षरों की व्याख्या के आधार पर संवत्सर ब्रह्म को 'अक्षर ब्रह्म' नाम से पुकारा जाता है। अक्षर शब्द में भी एकशेष द्वन्द्व है। पूर्वार्द्ध के अक्षरों को अक्षर (अमृत अक्षिति) कहा जाता है और उत्तरार्द्ध के अक्षरों की 'क्षर' या क्षरण या विकास वाले मर्त्यधर्मा, जिन्हें गीता 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' कहती है। इन दोनों के अक्षरों को यहां 'अक्षर' या उपनिषदों के 'द्वे अक्षरे' कहा है। अतः स्पष्ट है कि 'अक्षरे' शब्द उपनिषदों के प्रमाण से यहां पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के अक्षरक्षरों के एक शेष द्वन्द्व अक्षर शब्द का द्विवचन और 'द्वे अक्षरे' अर्थ वाला है।

अक्षरों की गिनती कई प्रकार से की जाती है, दिनों और रातों (३६० + ३६० = ७२०) मासों ऋतुओं अयनों पक्षों से तथा इनके सूक्ष्म भेद— मूहूर्त, क्षिप्र, एतर्हि, इदानि, प्राण. अना, निमेष, लोमगर्ता स्वेदायन और स्तोका से जो ३२८०५०००० होते हैं (श० प० ब्रा० १२–३–२-५ से ८ तक)। प्रथम दिनादिकों के मूहूर्तों की संख्या १५ × ३६० = १०८० दी है (श० प० ब्रा० १०–४ २-१८ से २० तक)। ऋक् और यजु नामक उक्त 'ऋचों अक्षरे' की

संख्या भी श० प० ब्रा० (१०-४-२-२१ से २५ तक) में इस प्रकार दी है। ऋक्—में बृहती १२०० × ३६ = ४३२०००, पंक्ति १०८०० × ४० = ४३२०००। इनके ३०, ३० के व्यूह बनाये गये। इतनी ही संख्या यजुः भाग में किए गये। कुल मिलाकर ८६४००० अक्षर हुए। इन्हीं अक्षरों का दूसरे प्रकार का परिपूर्ण विवेचन आगे की ऋचा ४१ में (१ + २) = ३ × × × ८ × ९ × १००० × १००० = ८६४०००००० अक्षर दोनों भागों के या 'ऋचो अक्षरे' के अर्द्ध अहोरात्रों के बताये गये हैं। यह अक्षर ब्रह्म पूर्ण अहोरात्रों में ४३२०००००० अक्षरों का है जिसके 'ऋचो अक्षरे '८६४०००००० संख्या के हैं।

'परमे व्योमन्' नाम में परम शब्द संकेत करता है कि इसका स्थान उत्तरार्द्ध की प्रथम रेखा है। व्योमन् नाम इसी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के सम्मिलन विन्दु के 'आकाश या अन्तरिक्ष या 'गर्भ या नाभि या योनि या सेतु या गर्त या अयः स्थूण या विषुवान्' नामक स्थान का है। इसकी व्याख्या श० ग० ब्रा० (८-६-२-१९) ने दे रखी है जिसमें लिखा कि 'अर्क ही देवताओं का परमे व्योमन् है। यह अर्क पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत से निसृत सोम रूप अमृत भौतिकात्मीय अर्क है जिसमें पूर्वार्द्धीय अमृत रूप अजायमान अज या प्रजापति, 'तत्सृत्वा तदनुप्राविशत्' के अनुसार प्रविष्ट होता है। इन दोनों के सम्मिलन को 'उत्तमः पुरुषः' या पुरुषोत्तम कहते हैं। इसी का नाम उत्तमा चिति भी है। इसी उत्तमा चिति में यह अर्क या त्रिपादामृतीय अग्निर्विद्वान् नामक प्रजापति या अजायमान अज निवास करता है। अग्नि से निश्च्योतित होने से अर्क भी अग्नि ही कहलाता है, ओर अग्नि तथा अर्क का सम्मिलन सोम या चन्द्रमा या सविता या प्रसविता कहलाता है (श० प० ब्रा० १०-४-२ २७)। 'व्योमन्' शब्द की भी एक रहस्यमय व्युत्पत्ति है—'वि + ओमन् = व्योमन्' जिसमें सुपर्ण सविता रूप ॐकार, अ + उ + म् नामक अक्षरब्रह्माणि त्रयी विद्या रूप में निवास करता है। अर्क या सविता या चन्द्रमा को इसीलिए 'सोम' या ॐ से सहित 'ओमा सहितः सोमः' कहते हैं। ऐ० ब्रा० ने इसी ओम् की व्याख्या दी है (ऋचो अक्षरे देखें), सोम ही ब्रह्मा है।

'यस्मिन्…निषेदुः'—इस अर्क रूप परमे व्योमान् के अर्क के गर्भस्थित अग्नि के नवीन रूप चन्द्रमा में अखिल देवताओं के दिव्य शरीर मौलिक बीज रूप में रहते हैं जिनका विकास साकंजा प्राणों के साथ साथ एकाएक होता है। अतः लिखा है कि इस परमे व्योमन् में अखिल देवता निवास करते हैं। यहां पर इस परमे व्योमन् में देवताओं के निवास के माने, प्रत्येक देवता को

अपना अपना आध्यात्मिक प्राण शरीर रूप अङ्ग का प्राप्त हो जाना है जिससे यह अक्षर ब्रह्म, अक्षर अक्षर में या प्रत्येक अतितमसूक्ष्मतम शरीराङ्ग में प्रत्येक देवता से युक्त होकर इस अखिल ब्रह्माण्ड को भौतिकात्मीय सृष्टि की जयन्ती सी मनाने के लिए देवतारूप दीपकों या बल्बों से जगमगाता ईश ईशान या ईश्वर सा बना देता है। यह स्वरूप गीता में भी इस प्रकार वर्णित किया हुआ मिलता है :—दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥" (११)

'यस्तन्न···करिष्यति'—अग्निर्विद्वान् पाकः प्रजापति से कहता है कि भला जो व्यक्ति पूर्वोक्त और 'अक्षर ब्रह्म' शीर्षक (वैदिक विश्व दर्शन पृ० १०२) में दिए गये इस अक्षर ब्रह्म के इन अक्षर रूप नाना प्रकार के विभाजनों को नहीं जानता वह वेदों की ऋचाओं को भले ही कण्ठस्थ कर उनकी रुद्राक्ष की माला सी पहिना करे उससे वह क्या लाभ उठा सकता है? वह तो यास्क के उद्धृत मंत्र 'स्थाणुरयं भारहरः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्' (१-१८) के अनुसार केवल एक सूखे पेड़ के ठूंठ के समान है, उसमें वेद मंत्रों के अर्थ रूप चेतना या ज्ञान का नितान्त अभाव है, वह तो इस वैदिक मंत्र मंडली का बोझा सा ढोने वाला नितरां पशु रूप है। और जो लोग ऐसे जनों को वैदिक कहने या समझने की धृष्टता या अनभिज्ञता करते हैं वे भी इन्हीं की कोटि के स्थाणु और अज्ञान के भारवाही ही हैं, इसमें कभी भी दो मत नहीं हो सकेंगे।

'य इत्तद्विदुस्त इमे समासते'—हां, जो व्यक्ति अक्षर ब्रह्म के उक्त नाना प्रकार के विभाजनों का स्पष्ट और अभिमत ज्ञान रखता है, वे सचमुच में इस वैदिक मण्डली में बैठने के योग्य व्यक्ति हैं, या जो इन विषयों के ज्ञाता हैं वे ही अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण देवताओं के रूप में सर्वत्र आदर सम्मान के पात्र समझे जाते हैं! इसका भाव यास्क के उस मंत्र के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार दिया है :—'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा' कि जो व्यक्ति वेदों के उक्त प्रकार के रहस्यमय अर्थ को जानता है उसे सभी मंगलमय सिद्धि प्राप्त होती है और अपने ज्ञान से पापात्मा विचारों को धो पोछ कर नाक या उसी परमे व्योमन् स्थान को प्राप्त होता है जिसके ज्ञान को यहां इतना महत्व दिया जा रहा है। भला जो उस 'नाक' या 'परमे व्योमन्' तत्व को जानता तक नहीं उसे वह मिल भी कैसे सकता है, यह तो सीधी सी बात है।

यह ध्यान रहे कि इस 'परमे व्योमन्' के अक्षर ब्रह्म के ज्ञान पर इतना बल इसलिए दिया जा रहा है कि योगी के योग की पराकाष्ठा इसी अक्षर ब्रह्म की

अनुभूति है, जिस तक पहुँचने के लिए योगी को उसके प्रत्येक अक्षर की सीढ़ियों में क्रमशः उत्तरोत्तर चढ़कर जाना पड़ता है। जो इन सीढ़ियों ही को नहीं जानता, वह योग ही कैसे करेगा, जायगा किस मार्ग से ? अतः वेदों के रहस्य को खोलने जानने आदि के लिए अक्षर ब्रह्म के इन अक्षरों का जानना नितान्त अनिवार्य है। यही वैदिकों की वास्तविक ब्रह्मविद्या है। इसीसे ॐकार या प्रणव का ज्ञान या ध्यान प्राप्त हो सकता है। इसी सरणि का नाम वेद भी है, इसके ज्ञाता वेदविद् ब्रह्मविद् या अक्षरब्रह्मविद् कहलाते हैं। अतः जो इस विषय को नहीं जानता उसे वेदों को छूना ही नहीं चाहिए।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ ४० ॥

यह छान्दसी अदितिरूपा गौ है जिसे 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' कहा गया है। अभी उसी 'ब्रह्माऽयं वाचः परमं व्योम' की व्याख्या चल रही है अथवा पिछले मंत्र में वर्णित ब्रह्मविद्या, वेदविद्या या अक्षरब्रह्मविद्या की वैदिकों या वेदों की भरपूर भावना की विद्या नामक अभूतपूर्व तत्त्व का विवेचन दिया जा रहा है। यहां पर इस विद्या को अघ्न्या गौ रूप में वर्णित किया जा रहा है। यह ब्रह्मविद्या रूप गौ गायत्री विद्या है जिसका विवेचन पिछले मंत्र ६, ७, २७, २८ में छन्दोमयी धेनु के रूप में किया जा चुका है। यहां पर उसी को ऋग्यजुः शरीरिणी अक्षर ब्रह्माणी धेनु (ऋचो अक्षर वाली धेनु) के रूप में या उसी विषय को अखिल ब्रह्माण्ड के दो भागों को क्षेत्र क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र भौतिकात्मा, क्षेत्रज्ञ क्षेत्रचरी धेनु) के रूप में, या गायत्री और सोम रूप में, वैज्ञानिक रूप में वर्णित किया जा रहा है। अर्थात् त्रिपादामृत रूप गायत्री नाम्नी विद्या ही अघ्न्या गौ है, उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मीय औषधियां उसकी चरने को घास है और उन ओषधि रूप भौतिकात्मीय तत्त्वों का सिञ्चन करने वाला तत्त्व गायत्री विद्या रूप अघ्न्या धेनु का लाया सोम रूप अमृत या आपः नामक तत्त्व है। इस आशय को यह ऋचा निम्न ढंग से दे रही है।

इस मंत्र में 'सूयवसात्' भगवती, भगवन्तः, तृण, विश्वदानीं, शुद्धमुदकं, शब्द पारिभाषिक हैं।

'सूयवसाद् भगवती हि भूया'—वैदिक विश्व दर्शन के दो मुख्य भागों को 'सोम सर्वादेवता' पक्ष में 'व्रीहि यवौ' नाम से भी पुकारा जाता है। व्रीहि नाम पूर्वार्द्ध या त्रिपादामृत का है और यव नाम सोम या उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा का है (श. प. ब्रा. १-२-१-७) और श. प. ब्रा. (२-४-३-१,८) ने यव तत्त्व को वरुण के यव और वरुण के प्रघास

(वरुण प्रघासाः) नाम से पुकारा है। श. प. ब्रा. (५-४-७-९) ने 'व्रीहि-यवौ' का सम्बन्ध साक्षात् त्रयी विद्या या अक्षरब्रह्म विद्या से इस प्रकार जोड़ा है। "तदुभयेषां व्रीहियवाणां गृह्णाति' व्रीहिमयमेवाग्रे पिण्डमधिश्रयति तद्यजुषां रूपमथ यवमयं तदृचां ँ रूपमथ व्रीहिमयं तत्साम्ना ँ रूपं तदेतत् त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते ॥" सोम का नाम यव है 'सोम शीर्षक' में देखें (वै. वि. द.)। अतः 'सूयवसाद्' के माने सु (=प्राणमय) + यवस (=सोम) ओषधि (घास) से युक्त होने के कारण, होता है। भगवती = भग (विभाग) + वती (युक्ता) = समाष्टि से व्यष्टि में 'अविभक्तं विभक्तेषु' रूप में रहने वाली है; क्योंकि भग नाम विभक्तकारी व्यष्टि सृष्टिकारी का है 'भगो विभक्ता' (ऋ. वे.)। 'भगः' देवता शीर्षक देखें। इस प्रकार यह त्रिपादामृत युक्त अक्षरब्रह्माणी गायत्री रूपिणी धेनु अपने देवतामय आत्माओं को उत्तरार्द्धीय सोमीय ओषधि या यव रूप घास की व्यष्टि सृष्टि रूप भागों के प्राणों या भाग्यों या धनों से युक्त बनकर भगवती या भाग्यवती या सौभाग्यवती बने (भूया)।

'अथो वयं भगवन्तः स्याम'—जिस प्रकार वह अक्षर ब्रह्माणी गायत्री धेनु उक्त प्रकार से अपने देवतामय आत्माओं को व्यष्टि सृष्टि के भागों या प्राणों के शरीरों से युक्त बनकर स्वयं भाग्यवती बनी उसी प्रकार हमारे ये व्यष्टि सृष्टिमय वैयक्तिक ब्रह्माण्ड के भागमय प्राण अक्षर ब्राह्मणी की विद्या रूप या त्रयी विद्या रूप विभिन्न ज्ञान ज्योति रूप देवताओं के भागों या भाग्यों से युक्त होवें, या हम भी भाग्यवान् बनें। हम जैसे लोगों का इस प्रकार का भाग्यवान् बनना योग प्रक्रिया की अपेक्षा रखता है। यह त्रयी विद्या या ॐ या प्रणाव विद्या का योग है जिसका विवेचन कठ उपनिषदादिकों ने इस प्रकार दिया है 'शरीरमरणिं कृत्वा प्रणावं चोत्तरारणिम्। ध्यान निर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥" इसी आशय को गर्भ में रखकर इस वाक्य को उच्चारित किया गया है।

'अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं'— स्पष्ट है कि यहां पर 'तृण' शब्द 'सूयवसात्' शब्द के प्राणमय यवों या सोमीय प्राणों का प्रतिनिधि है। इसको दूसरे ढंग से सोमपान कहा जाता है। गाय के रूप में उसी सोम को सोमोषधि रूप या यवतृण रूप घास रूप में खाना कहा जा रहा है, सोम रस रूप है तो पिया जाता है, यव तृण या घास ('वरुणस्य घासान् जक्षुः' ऊपर देखें) है अतः उन्हें खाने का महावरा प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार के वर्णन की शैली उन दिनों सभी को सामान्यतः विदित थी। अतः उसी का यहाँ भोले रूप में प्रयोग किया गया है। अघ्न्या नाम अहन्तव्य अर्थ का है, वह ऐसे शरीर

वाली है जिसको कोई मार नहीं सकता अर्थात् वह अमृतमयी अहिंसिता अहिंसिका, अमर्त्या, अमृता है। 'विश्वदानीं' शब्द 'तृण' (यव, सोम) का विशेषण है। क्योंकि यह यव या तृण सोम रूप में इस अखिल भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड का दाता या खण्ड खण्डशः विकास कर्ता या विश्वरूप या अनन्त रूप रूपान्तरों में प्रतिरूपता पाता है। अतः कहा है अहिंसिके अमृते अक्षरब्रह्माणि ! तुम उन यवमय सोममय प्राणमय भौतिकात्मीय ओषधियों को खाओ जो इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड को अनन्त रूप रूपान्तरों में परिणत करने में समर्थ है।"

'पिब शुद्ध सुदक माचरन्ती'—खाने के पश्चात् पीना एक स्वाभाविक नियम है। साथ में खाने की शक्ति वाला तत्व प्राण भी आवश्यक है। अतः इस रूपक को पूरा करने के लिए यहाँ पर उस अमृत धेनु से सोमीय यव (घास) खाने के पश्चात् शुद्ध उदक पीने की प्रार्थना की गई है। इस शुद्ध उदक की खोज की जाती है, सभी जगहों का पानी नहीं पिया जाता। अतः उस धेनु से कहा जा रहा है कि उस शुद्ध उदक की खोज में 'आचरन्ती' या खोज (योग) में विचरण करती हुई उसे पा जाने पर पी लो। यह शुद्ध उदक प्राणों का शरीर है, इसके पीने से प्राणों की प्राप्ति निश्चित है। जब यह प्राण शरीर आपः को पी लेगी तभी वह खा भी सकती है, पचा भी सकती है। उसके बिना सब असंभव है।

मंत्र का शाब्दिक सामान्य अर्थ प्राप्त कर लेने पर भी अभी तक इसके पूर्ण रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सका है। इस मंत्र का मुख्य रहस्य इस धेनु, भाग्य, यव, तृणादन, उदकपान' का रहस्य—क्या है ? यह अभी व्यक्त नहीं हो सका है। वह इस प्रकार है :—

यह सृष्टि मूल में एक मौलिक त्रिवृत् से चलती है। इस मौलिक त्रिवत् के तत्वों का नाम 'वाक् अदिति और आपः' है। तीनों का अर्थ भी वाक् है, तत्व भी वाक् है। ये वाक् के विभिन्न रूप हैं। अतः वाक् का ही त्रिवृत् है। वाक् की आत्मा अग्नि है, अदिति का शरीर अन्न, या मनः है, और आपः की आत्मा प्राण है। अतः इन्हें दूसरे ढंग से वाक्मनः प्राणः' भी कहते हैं। यह अक्षर ब्रह्माण्डी वाक् (ॐ त्रिवृत्) रूपिणी अन्नाद स्वभाविनी अग्नि स्वरूपिणी त्रिपादामृतीया है। उत्तरार्द्ध में आकर यह पहले अदितिमय अन्नमय (मनोमय) सोमीय यव रूप भौतिकात्मीय अमृत का यव घास रूप में पान या खान या पान करती है। इन दो को प्राणता प्रदान करने के लिए वह आपः का पान करके उसमें प्राण फूकती है। ये आपः सोमीय ही हैं। वाक् से प्रथम आपः ही उत्पन्न होते

हैं, आपः से ओषधि या यव रूप। पर यव रूप उत्पत्ति तब होती है जब आपः में पूति रूपता आती है। पूतिरूपता माने दुर्गन्धवती या गन्धवती ओषधि है। दर्भ या प्राणों के रूप वाली आपः में निर्गन्ध प्राणमयी आपः हैं। अतः शरीर पुष्टि के निमित्त यवमय घास रूप ओषधि या अमृत या सोमपान के पश्चात् उसमें प्राण फूंकने या गला साफ करने के लिए और उसे पचाने के लिए उन यवों के जन्मदाता शुद्ध उदक रूप आपः तत्त्वों के पान का रूपक दिया गया है। सृष्टि के इस क्रम का विवेचन श. प. ब्रा. (१-१-३-३) ने आदि में ही इस प्रकार दिया है :—

"वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम॥ तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापोऽभिप्रसुस्राव सर्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्युपर्यति पुप्लुविरे त इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति॥"

"जब पूर्वार्द्धीय अमृत से भौतिकात्मा का आविर्भाव प्रथम वार हुआ तो उसने सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध को आवृत या आच्छादित कर दिया, उससे अन्धकार छा गया। इसीलिए उसे वृत्र नाम से पुकारते हैं। उसको इन्द्र ने मारा या छिन्न-भिन्न किया, उससे दुर्गन्धिमय आपः की धारायें फूट निकलीं जिससे महान् समुद्र सा बन गया। ये आपः गन्दगी से युक्त हो गये। उसी में दर्भ (या श. प. ब्रा. की व्युत्पत्ति के अनुसार दृभन्ति उद्धवन्तीति दर्भाः) या यव रूप वरुण के कुश (नामक घास उत्पन्न हुए जैसे "वृत्राद्बीभत्समाना आपो धन्व दृभन्त्य उदायंस्ते दर्भा अभवन्" ता है ता शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भाः" (श. प. ब्रा. ७-२-१-२)। इनमें अनापूयित या सुगन्धिमय आपः है। अतः इनके पवित्र से पूत किया जाता है। "पूत जलों के माने अमृतमय प्राणों का शरीर रूप आपः है। यव में जो सुगन्धिमय आप हैं वे मर्त्य या अदनयोग्य, भोज्य या योग्य आपः हैं। या यों कहिए जब दुर्गन्धिमय आपोमय यवों के मर्त्य शरीरों के कोश में सुगन्धिमय आपः प्राण रहें तभी मर्त्ययवादि प्राणता पाते हैं। इसका विवेचन छा. उप. (१-२) ने सूक्ष्म रूप में देते हुए लिखा है कि सुरभि प्राण तो दैवी प्राण हैं और दुर्गन्धिमय प्राण आसुरी हैं। प्रथम त्रिपादामृतीय है द्वितीय सोमीय आसुरीय वार्त्रीय। "तेह नासिक्यं प्राण मुद्गीथमुपासांञ्चक्रिरे ताँ हासुरा पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च ह्येष विद्धः॥" इन सुगन्धिमय या शुद्ध उदकों या आपः की खोज (योग प्रक्रिया) करनी पड़ती है। आचरन्ती शुद्ध इसका संकेतक है। यह

आचरण करने वाली वही वाक् है जो अग्नि आत्मा वाली अक्षरब्रह्माणी विद्या स्वरूपिणी इस यवमय शरीरवाली या कोश में विद्यमान है। उसी को अपने को उद्दीप्त करके, उस दुर्गन्धिमय शरीर को मथ कर उससे सुगन्धिमय आपः का साक्षात्कार प्राणरूप दर्भ के अङ्कुरों को ऊपर जागृत करके तदनन्तर चन्द्रभा रूप सोम की या मनोब्रह्माण्ड की ज्योति जगानी पड़ती है। इस मनो-ब्रह्माण्ड में उसी की मौलिक विद्यामयी ॐकारीय आदित्य की ज्योति प्रति-विम्बित हैं। इस विद्यारूपिणी ज्योति का केवल प्रतिबिम्ब मात्र अनुभूत किया जा सकता है। कोई उसी को देखना चाहे तो उसे इस दुर्गन्धिमय शरीर को छोड़ना ही पड़ता है। यही भाव गीता के 'ॐमित्ये काक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनु-स्मरन्। य यातित्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥' (८. २१) श्लोक का है।

कर्मकाण्ड में इस अघ्न्या गौ का अभिनय यज्ञ में प्रयोग किए जाने वाले दूध दही घी के लिए प्रपूजित एक सुनिश्चित आमान्त्रित गौ के रूप में यज्ञ दिन से कई दिन पहले ही कर लिया जाता है।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नव पदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्। ४१॥

इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन तो वैदिक विश्व दर्शन के 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक पृष्ठ १०२ में पूरा दे दिया गया है। यहां अभी तक 'ऋचो अक्षरे' मन्त्रवाली वाक् ॐकारीय धेनु का ही विवेचन दिया जा रहा था। अब इस मंत्र में इसका वर्णन गौरी या सोम नामक प्राणरूप महिष की पत्नी 'महषी' के रूप में दी जा रही है। यह जलहस्तिनी रूप महिषी है। आपः इसका शरीर है, महिषी (जलहस्तिनी) इसके प्राण; इसके प्राणों की ज्योति अग्नि रूप सोम या दिव्य शरीर है। "प्राणावै महिषाः" (श. प. ब्र. ६-५-४-५; यजुः १२-२०;) 'अग्निर्वै महिषः' (श. प. ब्रा. ७-२-३-२३; यजुः १२-१०५)। "महत्तत्सोमो महिषः' (ऋ. वे. ९-९७-४१) 'समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति' (ऋ वे. ९-९६-१९)। अतः महिष माने जो मही या उत्तरार्द्ध में रहता है 'महीषु सदतीति महिषः, तस्य पत्नी वा वाग्वा शरीरं वा महिषी'। महिषी वह गौरी है जो सोम की अमृतमय शरीरी सहस्राक्षरा वाक् है।

यह गौरी सोम का शरीर रूप वाक् है जिसे उक्त रूप से महिषी भी कहते हैं। सोम सर्वा देवता है (श. प ब्रा. १-५-२-२१); क्योंकि इसे सभी देवता पाते हैं। इसका विकास आठों रूप आठों पदों में क्रमशः एक एक पद में होता है। इसके चार पद पूर्वार्द्ध में आते हैं चार पद उत्तरार्द्ध में,

जिनके नाम ये हैं (क) "शुचिषद् , अन्तरिक्षषद् , वेदिषद् दुरोणषद् ।।२।। नृषद् , वरषद् ऋतषद् व्योमषद् ।।" इन दो भागों के मध्य में गर्त स्थूण, सेतुः का एक सर्वोच्च अद्भुत नवम पद है। सोम की सृष्टि प्राणमयी सृष्टि है। जिनका शरीर 'आपः' है। इनके विकासीय उक्त नव पदों को पञ्चसागर सप्तसागर या नवसागर कहते हैं। मध्यवर्ती का नाम 'समुद्रं तुरीयं धाम' उक्त उद्भूत ऋचा (ऋ वे. ९-९६-१९) में स्पष्टतया कहा है। इन्हीं समुद्रों का विवेचन अगली ऋचा ४२ में 'तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति' 'वाक्य द्वारा स्वय दे रखा है। अतः यह दिया हुआ विवेचन अपने आप संशयहीन परम प्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। इसमें तो स्पष्ट कहा है कि ये समुद्र क्रमशः 'अधिविक्षरन्ति' या क्रमशः विकास पाते हैं, अतः लिखा है :—

'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति'— यह आपोमयी शुक्लवर्णा सोम-शरीरिणी गौरी महिषी नामधेया वाक् अपने सलिल रूप आपो रूप शरीरों को क्रमशः नौ भागों में शब्दायमान वाक् ब्रह्माणी रूप में नापती है नाप नाप कर बराबर बराबर पद रूप भागों में सलिल रूप नव सागर रूप नव नव नौ शरीरों को निर्मित या क्रमशः विकसित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह गौरी अपने विकास क्रमों में विकास पाते समय विभिन्न वाक् रूपों में-पूर्वार्द्ध में तूष्णीम् , अ + उ + म् + रूप में, मध्य में ॐ रूप में, उत्तरार्द्ध में अन्तःस्थ, ऊष्माण, पञ्चजना रूप पञ्च वर्गों की ध्वनियों और अन्त में इन सब के समाहार रूप अखण्ड ब्रह्म 'प्रणव' रूप प्रकर्षरूप नव पदों की वाक् के समाहार रूप में (क्रमशः विभिन्न ध्वनियों में शब्दायमान होती हुई) या प्रणव या नव पदी वाक् रूप में प्रस्तुत होती है। योग प्रक्रिया में योग की साधना प्रणव के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होती है। यह चरण विवर्त नामक (अहंकार उपनामक) वैदिक दर्शन का अन्तिम तत्त्व है। जैसे 'विवर्तोऽष्टाचत्वारिंशद्' (श० प० ८-४-१-२५)। यही विवर्त नामक शरीर उपनामक ४८ वां तत्त्व योग प्रक्रिया करने वालों की अधरारणि है 'शरीरमरणिं कृत्वा' और प्रणव उत्तरा अरणि, 'प्रणवं चोत्तरारणिम्'। इन दोनों को मथ कर मध्यवर्ती ॐकारीय वाक् की अनुभूति की जाती है। यही योग की पराकाष्ठा है, तूष्णीम् अ + उ + म् के पदों की पृथक् पृथक् अनुभूति चाहने वाले को इस शरीर ही से पृथक् होना पड़ता है, शरीर छोड़ना पड़ता है जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

यहां पर प्रणव और ॐकार की स्थितियों का भेद जान लेना आवश्यक है। लोग इन दोनों को एक दूसरे का पर्याय समझते हैं, पर 'ॐकार' त्रिपदी मात्र है और 'प्रणव' 'नवपदी' या अखिलब्रह्माण्ड का एक मौलिक स्वरूप है।

'एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी' 'अष्टापदी'—यह गौरी वाक् रूपिणी है। प्रथम सदः में एकपदी या एक कोशमयी होती है, द्वितीय सप्तक में द्विपदी या दो कोशमयी। एकपदी में केवल मौलिक आकाशमयी विद्युच्छरीरिणी प्रकाशमयी अन्तर्बहिः प्रवाह मयी होती है। द्वितीय पद में इसका सुषुप्त सा प्रवाह मौलिक वायवीय प्राणरूपतामय हो जाता है। और 'सा' माने= एकपदी + द्विपदी = त्रिपदी है। इस त्रिपदी में यह वायवीय प्रवाह के संघर्ष से वैद्युतीय तेजोमयता में परिणत हो जाती है। ये तीनों पद इस सृष्टि के तीन अमृत हैं या त्रिपादामृत हैं, इनके देवता अग्नि वायु आदित्य हैं। ये पद तो मात्र आध्यात्मिक शरीर है, देवता इनकी आत्मायें हैं।

जब यह त्रिपदी के २३ वें के उत्तरार्द्ध में या २३ वें दक्षक्रतू या मित्रावरुणों के क्रतु या वरुण भाग में क्रममय आवरणशील दैवी भौतिकात्मा के चक्षु या अङ्कुररूप में नवीन तत्त्व रूप में प्रस्तुत होती है तब यह चतुष्पदी बन जाती है। अब इसको एक नवीन अद्भुत कोश मिल जाता है। इस चतुष्पदी को वैदिक ऋषियों ने माता और वत्स दो चतुष्पदी गौओं के रूप में देखने की एक अपनी नई शैली बना रखी थी। इनका विवेचन पहले मंत्र ८, ९, १०, २६, २७ और २८, २९, ३०, ३३ तथा ४० में नाना रूपों और ढंगों से कर भी दिया है। उन्हें एक गिद्धदृष्टि से पुनः देख लिया जाय जिससे पूरा विश्वास हो जावेगा। इस परिस्थिति में यह गौरी वाक् अब द्विधा चतुष्पदी हो गई; माता रूप या पूर्वार्द्धीया, और वत्स रूप उत्तरार्द्धीया। पूर्वार्द्धीया के चार पद-ब्रह्म अग्नि वायु आदित्य; शुचिषद् अन्तरिक्षषद् वेदिषद् और दुरोणषद् हैं। उत्तरार्द्धीय वत्स के चार पद या पाद—वाक्, प्राण, चक्षुः और श्रोत्रं हैं, इनके देवता भी वही हैं जो इसकी माता के थे, अर्थाद् क्रम से अग्नि वायु आदित्य और दिशायें। इन्हीं का विवेचन छा. उप. (३-१८) ने अध्यात्म और अधिदैवत रूप में इस प्रकार से दे भी रखा है "मनो ब्रह्मेत्युपासीताध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाऽधिदैवतं च; तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म, वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्म मथाधिदैवतमग्निः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवा दिष्टं भवति ॥ इत्यादि ॥"

इस प्रकार अब यह गौरी वाक् धेनु यहां पर दो रूपों में माता और वत्स रूपों में चार चार पदों से युक्त हो गई है। यहां पर माता और वत्स का रूपक तो अध्यात्म और अधिदैवत नामक दो तत्त्वों का है। पर दोनों एक दूसरे से भिन्न-भिन्न शरीरी नहीं हैं। माता तो आत्मा है

या देवता है और वत्स शरीर है अध्यात्म है। चार देवता हैं, और चार अध्यात्म शरीर हैं। प्रत्येक देवता से एक एक अध्यात्म शरीर की उत्पत्ति हो गई है। 'त्रिस्रोमातृस्त्रीन् पितृन्बिभ्रत्' (मंत्र १०) में तो पूर्वार्द्ध में ही छह पदों की उत्पत्ति बताई जा चुकी है। उत्तरार्द्ध में मनः और आकाश नामक दो तत्त्व और उत्पन्न हो गये हैं। क्योंकि ये सब एक ही शरीर में हैं, अपने-अध्यात्म शरीरों में बसे है, अतः छा. उप. उक्त उद्धरण के आगे, इनमें से प्रत्येक को ब्रह्म का चतुर्थ पाद कहकर इन पादों की संख्या पूरी आठ कर देता है जैसे :—

वागेव ब्रह्मण चतुर्थः पादः सोऽग्निना···प्राण एव ब्राह्मण श्चतुर्थः पादः स वायुना ··चक्षुरेव ब्रह्मण श्चतुर्थः पादः स आदित्येन···श्रोत्रमेव ब्रह्मण श्चतुर्थः पाद. स दिग्भिर्ज्योतिसा भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥" (३-१८)। इस प्रकार पूर्वार्द्ध के चार देवता (स्त्रीलिङ्ग होने से माता रूप में वर्णित) और उत्तरार्द्ध के चार अध्यात्म रूप शरीर दोनों ही क्रमशः विकास पाने वाले पद हैं। पद माने पद्यते विकसतीति पदं या निष्पाद्यते विकसतीति पादः है। इन्हीं आठ पदों को गौरी के अष्ट पद कहते हैं और इन्हीं अष्ट पदों के कारण इस गौरी का नाम यहां पर अष्टापदी पड़ जाता है। इन अष्टपदों के नाम—अग्नि, वायु, आदित्य, दिशः + वाक् प्राणः चक्षु श्रोत्रम्—हैं। इसी को ऋग्वेद (८-७६-१२) भी 'वाचमष्टापदीमहं नव स्रक्तिमृतस्पृशम्' कहता है। शेष 'वैदिक विश्वदर्शन' के 'अष्ट चक्र वाद' (पृष्ठ ३६–४२) में देखें।

'नव पदी बभूवुषी'—उक्त अष्टपदों में एक बड़ी भारी कमी है। इनमें 'मनः' नामक प्राण नहीं है। उत्तरार्द्धीय वत्स तो मात्र मनोब्रह्माण्ड है। यह सोम रूप है। इसी लिए छान्दोग्य ने जब उक्त पदों या पादों का विवेचन दिया है तो इनका केन्द्रीय तत्त्व 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' 'आकाशो ब्रह्मेत्युपासीत' वचनों द्वारा मनः शरीरी आकाश या चन्द्रमा (प्रकाशमान आकाश रूप) को बनाया है। अध्यात्म शरीरों और उनके चार देवता रूप आत्माओं का पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ने वाला यही मानस अध्यात्म शरीरी चान्द्रमस प्रकाशमय देवता है या तन्तु है। इसको इस अष्टपदी में जोड़ देने से यह गौरी वाक् 'नवपदी' के रूप में प्रस्तुत हो जाती है (बभूवुषी)।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि 'क्यों इसी चतुर्थ पद में यह गौरी वाक् अष्टापदी भी और नवपदी भी हो गई? यहां पर इस स्थिति में इन सब का विकास केवल मौलिक बीज रूप में प्रस्तुत होता है। इनका पूर्ण विकास अन्तिम विवर्त नामक प्रणव तत्त्व में होगा। यहां से सृष्टि का नया दौर चल पड़ता

है, उससे विकसित होने वाले अगले सम्पूर्ण तत्वों के बीज इसमें मौलिक रूप से यशः रूप में या विश्वरूप बीज रूप में या अध्यात्म अधिदैवत रूप में प्रस्तुत हो जाते है। अतः मत्र के अन्तिम चरण में लिखा है —

'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्'—यहां का 'परमे व्योमन्' और मंत्र 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (३९) का 'परमे व्योमन्' तत्त्व या स्थान एक ही है जिसकी व्याख्या दी जा चुकी है। यह पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों के सम्मिलन विन्दु गर्त अयःस्थूणा, विषुवान्, अन्तरिक्ष, आकाश, नाभि, योनि, या सेतु नाम का तत्त्व है। यही माता का गर्भ है और इसी में उत्तरार्द्ध की अनन्त रूपा भौतिकात्मीय वत्स रूप सृष्टि के विश्वरूप बीज अन्नत अक्षरों के मौलिक रूप में प्रस्तुत माने जाते हैं। देव रूप में इन दोनों के सम्मिलन को अक्षर या अक्षर ब्रह्म कहते हैं। दोनों को पृथक् पृथक् कहने में 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' (गीता १८) के अनुसार अक्षर और क्षर पुरुष कहते हैं, तथा सम्मिलित देवी रूप में या गौरी वाक् रूप में इसको 'सहस्राक्षरा वाक्' नाम से पुकारते हैं। इसी अक्षर ब्रह्म या सहस्राक्षरा वाक् (या अक्षर क्षर दो पुरुषों) के शासन में सभी देवता सभी प्रकार के तत्त्व रहते हैं। इसका विवेचन पहले मंत्र १८ में 'दैवं मनः कुतो अधिप्रजातम्' में तथा याज्ञवल्क्य ने गार्ग्यी के प्रश्न के उत्तर में बृहदारण्यक में विस्तारपूर्वक दे रखा है, बृह. उप. ३-६ और ३-८ देख लिये जायें। यहाँ तक कि इस भौतिक सृष्टि का आदि स्वरूप वैद्युतीयशरीरी आकाश तत्त्व भी या 'परमे व्योमन्' भी इसी 'अक्षर ब्रह्म' या 'सहस्रक्षरा वाक्' में ओतप्रोत है, इसी के शासन में रहता है, इससे उत्पन्न होने वालों की चर्चा ही व्यर्थ है, सब इसी के वश में हैं। यही अक्षर ब्रह्म 'ॐमित्येकाक्षर ब्रह्म' है; व्योमन् माने भी वि (सुपर्णरूप) ओम् (अ + उ + म्) या एकाक्षर ब्रह्म ही है, सोम माने भी 'ओमा सहितः-ॐकार से युक्त होता है। इसमें दोनों तत्त्व सम्मिलित हैं।

'सहस्राक्षरा'—इस मंत्र में जहां पदों या पादों और अन्य विषयों का गूढ विवेचन भरा पड़ा है वहां इसी में इस अक्षर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्मणी के जितने अक्षर वैदिक ऋषियों को अभीष्ट थे उनका भी रहस्य रूप में साथ साथ विवेचन दे दिया है। वह इस प्रकार है :—

एकपदी और द्विपदी मिलकर 'सा' या 'त्रिपदी' बनती हैं। यह चतुष्पदी में चौगुनी, अष्टापदी में आठ गुनी और नौ पदी में नौगुनी—उत्तरोत्तर गुणित होते हुए ३ × ४ × ८ × ९ = ८६४ हो जाते हैं, इन ८६४ में से प्रत्येक दस लाख गुना प्रगुणित होता है क्योंकि इस 'सहस्राक्षरा' शब्द में 'सहस्रा' 'अक्षरा'

दोनों पद द्विवचनान्त है. (जैसे मित्रावरुण, वरुण इत्यादि)। अतः सहस्र + सहस्र = सहस्रा या सहस्र × सहस्रा व्युत्पत्ति आवश्यक है। अतः उक्त ८६४ × १००० × १००० = ८६४०००००० अक्षर हो जाते हैं। यही संख्या 'युगं सहस्र पर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः' (मनु और गीता) के वाक्य से—चार युगों का जोड़ ४३२०००० × १००० = ४३२०००००० होती है; ४३२०००००० पूर्ण अहोरात्रीय अक्षर है; ८६४०००००० संख्या अहोरात्रों के जोड़ हैं; ४३२०००००० दिन + ४३२०००००० रात = ८६४०००००० अहोरात्र। 'ऋचो अक्षरे' की व्याख्या में श. प. ब्रा. ने इन संख्याओं को दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है, मंत्र ३९ देखें। उस अक्षर ब्रह्म में इस संख्या के मौलिक बीज हैं, उसी को अक्षर ब्रह्माणी या गौरी धेनु या वाक् कहते हैं, उसमें भी इतने ही संख्या के अक्षर होते हैं। अतः उसे जब 'सहस्रा-क्षरा' वाक् या सहस्रबीजा वाक् कहते हैं तब सहस्र माने इन्हीं निश्चित संख्या के अक्षर वाली समझना चाहिए। 'गौरी मिमाय' में गौरी ने जिस रूप में ध्वनि की, या जिन्हें शब्द रूप में प्रकट किया वे ये ही अक्षर हैं। ये अक्षर बीजरूप ऋषि या प्राण हैं। अतः शौनकादि ऋषियों की संख्या ८८ हजार इसी संख्या की ओर संकेत करने के लिए बताई गई है। ८८ हजार नहीं वरन् उक्त संख्या के हैं इसमें त्रैष्टुभी शैली अपनाई गई है।

"तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥ ४२ ॥"

'तस्याः......चतस्रः"—इस मंत्र में इससे पहले के मंत्र ४१ की गौरी महिषी वा ब्रह्माणी या ॐमित्येकाक्षर ब्रह्माणी का जिसमें उक्त ८६४०००००० अक्षर रूप अनन्त ब्रह्माण्डों के तथा उनके तत्त्वों के मौलिक बीज एकमेवा-द्वितीयं बीज रूप में विद्यमान हैं, और जिसमें आठ या नौ कोश बन गये हैं—ही वर्णन दिया जा रहा है। लिखा है—उसी ॐमित्येकाक्षर ब्रह्माणी गौरी के उस उक्त स्वरूप से ही सप्त या पञ्च सागरों का विकास होता है। उन सागरों को 'इक्षुनीर घृतक्षीर दधिक्षारं मधूनि च' के बतलाया गया है। इस अक्षर ब्रह्माणी की इसी परिस्थिति या स्वरूप से चारों दिशायें जीवित रहती हैं। अर्थात् इसी से ससीम की या सीमावाले या सीमित की या मर्त्य भौतिकात्मा की जीवनी या सृष्टि होती है। वह अक्षर ब्रह्माणी तो स्वयं असीम अमृत, दैवी ज्योतिर्मयी, ज्ञान चेतनामयी है, उसी से चार दिशा वाला 'चतुष्पाद्ब्रह्म' भौतिकात्मा के चार पाद वाला—'वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रं' नाम के चार पाद या चार दिशाओं वाला चतुष्पाद्ब्रह्म अपने आध्यात्मिक अग्नि वायु आदित्य

दिशः के अधिष्ठाता देवताओं सहित प्रकट होता है। इसीलिए गीता ने लिखा भी है 'ब्रह्माक्षर समुद्भवम्' कि ब्रह्म या यही चतुष्पाद्ब्रह्म या चार दिशाओं के पादों वाला ब्रह्म उत्पन्न होता है। चार दिशाओं की स्थिति का वर्णन, अगले मंत्र (४३) के चार प्रकार के वीरों के वर्णन में बताया जावेगा।

'ततः क्षरत्यक्षरं'—उक्त चार दिशाओं के चार पादों वाले उक्त चतुष्पाद्ब्रह्म की परिस्थिति से जो उक्त अक्षर ब्रह्माणी से विकसित हुआ है—वह अक्षरं (ब्रह्म) (या अक्षर ब्रह्माणी गौरी) अपने उक्त संख्या के अक्षरों या मौलिक बीजों में क्रमशः क्षरित या विकसित होता है। या इन अक्षरों को क्रमशः टपकाता है; या इन अक्षरों में क्रमशः रस रूप में टपकता है। जो या जितने अक्षर (८६४००००००) उस अक्षर ब्रह्माणी में एक मौलिक बीज रूप में विद्यमान थे वे विवर्त नामक अणु (अहंकारावस्था) तक क्रमशः पूर्ण रूप में विकसित हो जाते हैं।

'तद्विश्वमुपजीवति'—उक्त परिस्थिति में जितने अक्षरों का विकास होता है, उसी संख्या के वर्षों की इस भौतिक ब्रह्माण्ड (विश्व) की आयु भी है। और यह भौतिक ब्रह्माण्ड उसीसे जीवित भी रह सकता है। वे कितने वर्ष हैं ? इसमें ८६४०००००० अक्षर तो अहोरात्रों के जोड़ों का समूह है, १२ घंटे के दिन १२ घंटे के रातों के अहोरात्रों का योग है। २४ घंटे के अहोरात्रों में इनकी संख्या ४३२०००००० वर्ष होती है। अतः इस ब्रह्माण्ड या पृथ्वी की आयु भी यही चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष है। आश्चर्य है कि सूर्यादि तारों की आयु भी आजकल के वैज्ञानिक विद्वान् इतनी ही मानते हैं। उनका कैसा अद्भुत गणित था यह ?

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥ ४४ ॥

यह 'अयं सोमो वृष्णो अश्वस्यरेतः' उत्तर का विस्तार है—

इस ऋचा में वैदिक विश्व दर्शन के कई तत्वों को एक साथ गूथ दिया गया है। सबसे पहले ऋतुओं को लीजिए। ऋतुयें तो पांच छह या सात बताई गई हैं (संवत्सरब्रह्म देखें)। पर यहां पर इन ऋतुओं में से देवता सम्बन्धी मुख्य तीन ही प्रसिद्ध ऋतुओं को लिखा गया है जिन्हे 'देवानां पूर्वे युगे' के अनुसार देवताओं की तीन प्रथम प्रसिद्ध ऋतुयें मानी गई हैं। इनके विवेचन 'वसन्तोऽस्यासी दाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः' (पू. सू.) में इन्हें वसन्त ग्रीष्म और शरत् नाम से पुकारा है। वसन्त अज एक पाद् 'वृक्ष' का विकास रूप प्रथम ऋतु है। यह सृष्टि वृक्ष का प्रथम प्रसवमय प्रसूनमय प्राणामय अग्निमय ऋतु है।

दूसरी ऋतु ग्रीष्म है यह इध्म या इद्ध करने वाली दीप्त या प्रदीप्त करने वाली वायुप्रधान ऋतु है। तीसरी ऋतु हविरूप सोमरूप भौतिकात्मारूप सविता प्रसविता आदित्य रूप ऋतु है। इन्हीं तीन तत्त्वों अग्नि वायु आदित्य को यहां पर तीन ऋतु नामक तीन जटाधारी योगियों या यतियों के रूप में 'त्रयः केशिनः' के नाम से पुकारा गया है। क्योंकि ये अग्नि वायु आदित्य नामक तत्त्व 'सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत' की ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली से प्राण रूप में सदा श्रम और तपः से उत्तरोत्तर विकास पाते हैं, अतः इन्हें स्पष्ट रूप से यतिः या यतयः कहा है जैसे "केश्यग्निः केशी विषं केशीर्विभर्ति रोदसी। केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ १ ॥ मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ २ ॥" (ऋ. वे. १०-१३६-१,२)। इसमें इन केशियों को अग्नि (रुद्र) वायुः और आदित्य नाम से पुकारते हुए इन्हें 'मुनयः' और 'वात रशनाः' (वायु से प्राणित) पिशङ्ग मटमैले वस्त्र (भौतिकात्मा) युक्त और वायु को ध्राजि या शक्ति से युक्त होकर गतिमान् बताया है। शेष 'त्रयः केशिनः' शीर्षक (वैदिक विश्व दर्शन) में देखें। इस सूक्त के अन्त में लिखा है कि केशी ने विष के पात्र से (शरीर से-भौतिक मर्त्य शरीर से) रुद्र के साथ दैवी भौतिकात्मा सोम (शरत् ऋतु) का हवि रूप में पान किया। जैसे "केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेण पिबत्सह ॥" यहाँ पर इन तीन तत्त्वों को 'त्रयः केशिनः' या तीन जटाधारी कहा है। यह 'केशी' शब्द कपर्दी का प्रतिनिधि है, कपर्दी नाम ईश ईशान रुद्र ईश्वर और पूषा का है। 'कपर्द' के माने 'पाद' है। क्योंकि छन्दोमयी देवी का नाम चतुष्पदा या चतुष्पदी कहने के स्थान में 'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' (ऋ० वे० १०-११४-४) कहा गया है। यहां पर तीन पाद हैं अग्नि, वायु और आदित्य। अतः इन्हें त्रिपदा या त्रिपात् कहने के स्थान में त्रिकपर्दा या 'त्रयः केशिनः' कहा है। केशिनः के माने केश स्थानीय या शिरः स्थानीय है, तीन पाद रूप तीन जटायें शिर में या पूर्वार्द्ध में रहती हैं, शिरः नाम पूर्वार्द्ध का है, ये जटायें पूर्वार्द्ध रूप शिर में पादों के समान लटकी हैं, प्रत्येक में मनोवाक् प्राण का त्रिवृत् है। अतः ये जटा या कपर्द नाम से पुकारे गये हैं। इनका आशय 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' या पूर्वार्द्धीय 'त्रिपादामृत' तत्त्व मात्र है। इस भूमिका से अब प्रस्तुत ऋचा का अर्थ स्वयं जलसम स्पष्ट होते हुए निम्न प्रकार से निखर कर आ जाता है :—

'त्रय···वि चक्षते'—अग्नि, वायु और आदित्य नामक तीन मुख्य देवता रूप तत्त्वों में से प्रत्येक मनो वाक् प्राण के त्रिवृत् से युक्त होने से जटा या कपर्द से युक्त या केशी या जटाधारी या कपर्दी के समान होते हुए सृष्टि चक्र के

पूर्वार्द्ध रूप शिर में छन्दोमय तीन पादों के समान तीन कपर्द या जटा से लटके हैं। ये तीनों 'त्रिपादामृत' हैं। ये तत्त्व रूप देवता अज एकपाद रूप सृष्टि वृक्ष को अपने (अग्नि वायु आदित्य के) प्रतिनिधि वसन्त ग्रीष्म शरद् ऋतुओं के क्रमिक छन्दोमय पादों में क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित करते हैं। अतः लिखा है कि ये देवता अपनी-अपनी ऋतु के क्रम से विकासमान रूप में अपना दर्शन देते हैं (ऋतुथा वि चक्षते)।

'संवत्सरे···एषाम्'—इन तीनों में से एक अर्थात् अग्निर्विद्वान् अपने मनोवाक्प्राण की त्रिजटा या कपर्द से युक्त कपर्दी बनकर उस अज एक पात् सृष्टि वृक्ष को संवत्सर ब्रह्म रूप में सबसे पहले बीज रूप में बोता है। यही इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड का मूलभूत बीज और अपने उस त्रिवृत् बीज का बीजारोपण सबसे पहले करता है। इसीलिए इसे 'अग्निर्हिनः प्रथमजा ऋतस्य' (१०-५-६) कहते हैं।

'विश्वमेको···शचीभिः'—इनमें से एक, अर्थात् सन्दर्भ से या वर्णनानुकूलता से, आदित्य नामक तत्त्व, अपनी देदीप्यमान ज्योतिष्मत्ता से या अपनी चक्षुः स्वरूपता की 'शचीभिः' या शक्तियों से—क्योंकि इसे 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कहा जाता है—इस अखिल सृष्टि की द्रष्टा रूप में देखभाल (अभिचष्टे) करता है। यह भी मनोवाक्प्राण के त्रिवृत् का जटाधारी केशी कपर्दी या ईशान है। इसी को 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा जाता है। यह रूपवान् तत्त्व है, प्रकाशमय रूपवान् है, विश्व रूप है, प्रकाशमय दैवी भौतिकात्मा के रूप से अनन्त चक्षु रूप बीजों को अङ्कुरित करता है।

'ध्राजि···रूपम्'—इनमें से एक का-सन्दर्भ या वर्णनानुसार शेष वायु नामक केशी या मनोवाकप्राण के त्रिवृत् की कपर्द या जटा वाले तत्त्व का केवल वेग या गति या प्रवाह या संचार (ध्राजि) अनुभूत मात्र किया जा सकता है, पर उस का कोई रूप देखने में नहीं आता। क्योंकि यह सृष्टि दो प्रकार की है 'द्वावेव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च, सच्च त्यच्च।" (बृह० उप० २-३-१)। ये दो रूप (१) मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत् तथा (२) अमूर्त अमृत, यत् और त्यत् हैं। इनमें से दूसरे दल के सबको अमूर्त अरूप या रूपहीन कहा जाता है जैसे 'अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च यच्च त्यच्च' (बृह० उप० ३-२-२)। यह वायु, रूप हीन अमूर्त है अमृत है यत् और त्यत् नाम से संकेतित मात्र किया जा सकता है। अतः इसे इन चर्म चक्षुओं या किसी प्रकार की आखों से नहीं देखा जा सकता। इसकी तो मात्र अनुभूति ही सकती है। यह तो सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ देव है। अग्नि में भी यही मुख्य प्राण रूप देव है। अतः लिखा है 'एको देवस्तु प्राणः स

ब्रह्म ।' (बृह० उप० ३–९) 'वायुमेव प्रशशंसः, वायुरेव व्यष्टिर्वायुरेव समष्टिः' (बृ० उप० ३–३)

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ४५ ॥
चत्वारि······मनुष्या वदन्ति—

इस मन्त्र में वाग्ब्रह्माणी के पदों का वर्णन है । वैदिक दर्शन के सात पद हैं जिनमें से प्रथम तीन पूर्वार्द्ध कहलाते हैं और अन्तिम तीन उत्तरार्द्ध । इन दोनों के मध्य का चतुर्थ पद पूरे दर्शन के तत्त्वों का केन्द्रविन्दु कहलाता है । ये पद गायत्री प्रभृति छन्दों के पादों से भी नितान्त भिन्न हैं । उनका और इनका मेल तत्त्वों की विभिन्न संख्या के कारण नहीं हो सकता । और कई भोले लोग परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार प्रकार की वाणियों का भी उक्त चार पदों से तादात्म्य करते दिखाई देते हैं । ऐसे लोग भी बड़े भारी भ्रमसागर में हैं । उक्त चार वाणी के रूपों में से केवल परा वाणी चतुर्थ पद का संकेत करती है । शेष पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी नाम स्फोटवाद की वाणियों के नाम हैं । इनका उक्त चार पद वाली वाणी या वाक् से किसी भी प्रकार का साक्षात्सम्बन्ध नहीं है । इन सब बातों का विस्तृत विवेचन वैदिक विश्वदर्शन के 'चतुष्पाद्ब्रह्म' नामक शीर्षक में दे दिया गया है, उसे पढ़ने का कष्ट किया जावे ।

वाग्ब्रह्माणी के चार पद निश्चित हैं । ये चार पद सात सप्तकों के सात पदों में से प्रथम चार सप्तक रूप पद हैं, छन्दों के पाद रूप नहीं । इनको तो केवल अनूचान शुश्रुवान्त्स ब्राह्मण देवता ही जानते या जानने की क्षमता रखते हैं । हमारे आज तक के वेदों के सभी भाष्यटीका अनुवाद करने वाले 'ऐरे गैरे नत्थू खेरे' जैसों को इनको जानने की कोई सामर्थ्य नहीं रही है ।

इन चार पदों में से प्रथम तीन पद तो दर्शन चक्र के पूर्वार्द्ध के उपनाम गुहा में नितान्त गूढ और रहस्य रूप में सुरक्षित कर दिये गये हैं, जो अपनी गतिविधियों को जानने का कोई भी संकेत साधारण या अनूचान शुश्रुवन्त्स ब्राह्मण देवताओं से भिन्न व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार प्रकट करते ही नहीं, वे तो रहस्य हैं, गूढ हैं, गुहास्थ हैं । उन्हें जानने के संकेत सभी को सुलभ नहीं हो सकते, यह खुली बात है । शेष रह गया चौथा पद; वह भी तो उक्त तीनों से किसी बात में कम रहस्यमय नहीं, वरन् उनसे और अधिक गम्भीर रहस्य भरा है । इसके बोलनेवालों का नाम मनुष्य नामक तत्त्व है । ये मनुष्य हम आप जैसे नहीं हैं वरन् ये तो वे आध्यात्मिक प्राण हैं जिनको नर, नृ, ना नामों से पुकारा जाता है और 'नृषद्' सप्तक (चतुर्थ पद) का वासी कहा जाता है ।

ये प्राण रूप हैं, देवताओं के अध्यात्म शरीर हैं, अमृतभौतिकात्मीय भी हैं। प्राण नितान्त गूढ तत्त्व है 'प्राणो ह्यविज्ञातः'। अतः ये तत्त्व या यह मनुष्य नामक तत्त्वों से बोला जाने वाला वाक् पद, सबसे अधिक कठिन और अविज्ञात तत्त्व है, इसे भी अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मणदेवता ही जान सकते हैं सब नहीं ॥ ४५ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ४६ ॥

इसमें 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' उत्तर का विस्तार दिया गया है। यह यज्ञ या नाभिः स्वयं अग्नि है। यज्ञ माने विकास होता है। यज्ञ शब्द का यह अर्थ 'स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्' (विश्वकर्मा सूक्त १०–८१, १०-८२) वाक्य में यज् धातु को अकर्मकरूप में और विकासार्थ में प्रयुक्त करने से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इस अग्नि के जितने मुख्य विकास (यज्ञ रूप में) होते हैं उनको इस ऋचा में एक-एक करके दिया है। श० प० ब्रा० (२-२-४-९ से १३ तक में) रुद्र (अग्नि) वरुण, इन्द्र, मित्र, ब्रह्म (चन्द्रमा) का अग्नि रूप में क्रमिक विकास दिया है, धूपायमान या धूमायमान अग्नि रुद्र का रूप है, प्रदीप्ततर वरुण है, अतिधूम और ज्वालामय इन्द्र है, शान्ति की ओर झुकाव मित्र है, अंगार रूप कोयले के रूप में ब्रह्म (चन्द्रमा) है। अब तक अन्य रूपों में सृष्टि विवेचन और योग प्रक्रिया दी गई थी, अब ऋषिरूप प्राणों से सृष्टि का क्रम और उनका विकास किन किन नामों से होता है इसका विवेचन इसमें दिया जा रहा है। इन्द्र से सृष्टि का इस ढंग का विकास श. प ब्रा. (६-१–१–१) ने दिया है देखें।

इन्द्र षोडशी कहलाता है 'इन्द्रो ह वै षोडशी' [श. प. ब्रा. ४–४–४ षोडशी ग्रह), उसका विकास सोलह कलाओ में पूरा होता है। श. प. ब्रा. (पूर्वोक्त २-२–४–१) में इसी इन्द्र का विकास उक्त ढंग से दिया है। जब यह इन्द्र अग्नि रूप में शरीर में बसता है तब यम राजा कहलाता है, उसी के विकास आहवनीय गार्हपत्यादि कहलाते हैं। अनश्नन् रूप में वह नैषिध नड (नल) राजा कहलाता है, यही अन्वाहार्यपचन है, गार्हपत्य यम कहलाता है। यही दक्षिणाग्नि है, इसीलिए नैषिध नड से इसे दक्षिण भाग में रखा जाता है। मित्रावरुण (दक्षक्रतू) का वर्णन श. प ब्रा. (४-१-४; ३–२–१–१३ और २–४–१ में मिलता है। यहाँ पर वह एकदैवत्य मित्रा-वरुणौ है। सर्वदेवता रूप में इसका विकास विराट् छन्दः के पादों और अक्षरों से होता है। इन्द्र का एक नाम 'हारियोजन' भी है। यह नाम छान्दस

इन्द्र का है। इन्द्र का छन्दः त्रिष्टुप् है। इस रूप में यह त्रैष्टुभ सुपर्ण कहलाता है (ऋ. वे. १०-१३०-४,५)। यही कपिञ्जल इन्द्र या शकुनि इन्द्र भी है। उष्णिक् छन्द का सविता सुपर्ण है, विराट् मित्रावरुण का सुपर्ण है। अपने सुपर्ण या छन्द के साथ ये देवता भी सुपर्ण कहलाते हैं। इन्हें सुपर्ण श्येन गरुत्मान् नाम से भी पुकारते हैं। गरुत्मान् नाम सविता का है, 'गरुत्मानेष सविता' (श. प. ब्रा. ९-२-३-३४)। श्येन को सुपर्ण का पिता बताया है (ऋ. वे. १०-१४४ ४)। सुपर्ण या चन्द्रमा या सविता ही गरुत्मान् है। श्येन सूर्य है। दोनों सूर्याचन्द्रमसौ को ही 'द्वा सुपर्णा' सुपर्णौ सूर्याचन्द्रमसौ' कहते हैं (यजु १७-७२ श. प ब्रा. ९-२-३-३४)। सविता चन्द्रमा या सोम रूप गरुत्मान् सुपर्ण का ही नाम 'दिव्यः सुपर्ण' है 'दिव्यः सुपर्णोऽव चक्ष सोम' (ऋ. वे. ९-९७-३३)। ('गायत्री ब्रह्म' 'सूर्य' 'सोम' और 'त्रिसुपर्ण' शीर्षकों को वैदिक विश्वदर्शन में देखें)। मातरिश्वा नाम की व्याख्या ऋ. वे. (३-२९-११) ने इस प्रकार दे रखी है "मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणिः।" अर्थात् मातरिश्वा वह भौतिकात्मीय प्राण वायु है जिसका निर्माण आपो रूप माताओं के प्राण शरीरों से हुआ। प्रथम अग्नि अग्निर्विद्वान् रूप त्रिपादामृत है, द्वितीयअग्निर्वैश्वानर। इस प्रकार एक अग्नि के विभिन्न प्रकार के विकासों के ये विभिन्न नाम हैं। अतः कहा है 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः' (ऋ. वे. ८-५५-२) एक ही अग्नि विकसित होकर नाना रूपों और नामों को धारण करता है। यहाँ पर पाकः के प्रश्न का उत्तर देने वाला भी अग्निर्विद्वान् ही है। वह सभी तत्वों को अपने एक अग्नि अग्नि देव रूप अग्नि से उत्पन्न बतला रहा है। इसी निर्णय को वेदों के सभी दार्शनिको (विप्रों) ने स्वीकार करके एक अग्नि की विवेचना (वदन्ति) उक्त नाना नामों और विकासों द्वारा (बहुधा) की है और होती भी है। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों ने अग्नि को सर्वा देवता माना है जैसे 'अग्निः सर्वा देवता' (ऐ. ब्रा. १-१-१)। "देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा विभ्यतोऽग्नि प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति" (तै. सं. ६-२-२)। यही भाव ऐ. ब्रा. (६-४) ने और श. प. ब्रा. (१-५-२-२०) ने भी दिया है।

सर्वा देवताओं में अग्निः सोमः विष्णु आदि को अन्य सब देवताओं का होता या आह्वाता या जुहोति कर्म कर्ता का कार्य दिया गया है। अतः इन्हें सर्वा देवता कहते हैं। परन्तु इन सब सर्वा देवताओं में से ऐसा देवता केवल इन्द्र ही है जिसके क्षात्रवलीय शासन से प्रत्येक देवता इस ब्रह्माण्ड शरीर के अपने अपने स्थान में उचित रूप से व्यवस्थित होता है। अतः इन्द्र को सब

देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना जाता है, यद्यपि यह मौलिकतया अग्नि ही का एक मुख्य विकास इध्म इद्ध समिद्ध रूप विकास है, पर प्रभुता इसी की चलती है। अतः यही सर्वश्रेष्ठ सर्वा देवता मध्यमप्राण रूप अमृतमय देवता है, अग्नि वायु इसकी आत्मायें हैं, सोम इसका पान या शरीर। इसी-लिए लिखा है 'अथ यदिन्द्रे सर्वे देवास्तत्स्थानाः। तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्र ज्येष्ठा देवा इत्येतद्ध वै देवास्त्रधैक देवत्याऽअभवन्त्स यो हैवमेतद्वेदैकधा हैव स्वानां श्रेष्ठो भवति॥" (श. प. ब्रा. १-५-२-२२)। इसी कारण यहाँ पर इस मंत्र में इन्द्र से देवताओं का विकास प्रारम्भ किया गया है। इन्द्र ही प्रधान देवता है, उसी के सर्वदेवता रूप के विकास रूप देवताओं को यहाँ दिया गया है। इन देवताओं के नाम से इसी इन्द्र की उपासना होती है। अग्निर्विद्वान् और अग्निर्वैश्वानर भी क्रम से इसकी आत्मा चेतना और इध्म इद्ध या समिद्ध रूप हैं। इसी लिए अग्नि का नाम दो बार आया है। श. प. ब्रा. (६-१ १-१) ने इसी इन्द्र के इध्म रूप से मौलिक सृष्टि विकास का क्रम भी दिया है। अतः यहां पर यह इन्द्र पद्धति के विकास को प्रमुखता दे रहा है। दूसरे, इस सूक्त में इस मंत्र में दिए गये देवताओं के नाम नहीं आये हैं अतः इनको यहां सूचित करना भी आवश्यक था, वह इस प्रकार से किया गया है।

सर्वदेवता रूप में प्रत्येक का विकास अपने अपने छन्द के पादों और अक्षरों से होता है। अग्नि का गायत्री से २४ तत्त्वाक्षरों तक, सविता का उष्णिक् से २७ तत्त्वाक्षरों तक, इन्द्र का त्रिष्टुप् से ३३ तत्त्वाक्षरों से। क्योंकि देवताओं की संख्या ३३ आंकी गई है। अतः इन्द्र के त्रैष्टुभ शरीर में सभी देवता यथास्थान भाग पा जाते हैं, अतः उसकी सबसे बड़ी महिमा है क्योंकि अग्नि तो अमृत ही रह जाता है २४ वें से आगे सूर्यसविता वैश्वानर आदि हो जाता है। इसी का नाम एक ही तत्त्व की नानाविध व्याख्या है उसी शैली को वैदिक दार्शनिकों ने यहां अपनाया भी है।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् य सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥

यह मंत्र ३५ के 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम' उत्तर के 'वाचः' तत्त्व की शेष व्याख्या यहां सरस्वती रूप में दे रहा है। इसका वर्णन पहले अक्षर ब्रह्माणी (३९) अघ्न्या (२७; ४०) गौरी सहस्राक्षरा (४१,४२) वाक् (४५) इत्यादि रूपों में दिया जा चुका है; सरस्वती रूप की वर्णना शेष रह

गई थी, उसको यहाँ पूरा कर दिया जा रहा है। यह सरस्वती देवता की व्याख्या का मंत्र है। सरस्वती की वर्णना दो प्रकार से दी गई है (१) वाक (२) नदी। नदी देवता वाक् का रूपकमय विवेचन देता है। यह वाक् रूप नदी गंगा नदी की तरह केवल एक सीमिति धारा में बहने वाली नदी नहीं है। वरन् यह सर्वतः प्रवाही ब्रह्माण्ड स्वरूपिणी अखिल ब्रह्माण्डमयी ऊर्मिमयी प्रवाह वाली है। 'तस्मात्सर्वासु दिक्षु वाग्वदति' (श. प. ब्रा. ६-२-३-४४) "वाग्वै सरस्वती" (श. प. ब्रा. ५-४-६-१६)। यह वाक् तो शरीर है सर्वतोमुखी या सर्वतः प्रवाही शरीर है। इसकी आत्मा या देवता 'अग्निर्विद्वान्' है वह भी इसी की तरह सर्वतो मुख है "सर्वतोमुखोऽयमग्निः··· तेनान्नादः" (श. प. ब्रा. २-५-४-१५)। इन दोनों का नित्य अभिन्न शरीर है। इन दोनों का आध्यात्मिक स्वरूप वैद्युतीय है 'वाग्वै विद्युत्'। और सरस्वती तो रसवती, सरसवती आपोमयी है। आपः भी विद्युत् के ही रूप हैं, 'वज्रो वै आपः' (श. प. ब्रा.)। यह विद्युन्मयी प्रकाशवती इसलिए कहलाती है कि यह ज्ञानमय प्रकाशरूपिणी है जिसका प्रवाह वैद्युतीय (ऋत सत्य) शरों के प्रवाह रूप में या ऊर्मिवान् रूप में सतत क्रियाशील रहता है। इसी 'विद्युद्ब्रह्म' (बृ. उप. ५-७) की विवेचना के साथ बृ. उप. ५-८, वे-इस वाक् की वर्णना धेनु रूप में दी है। इसके पहले इसी बृह. उप. ने 'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' वाक्य द्वारा वाक् को संविदाना या ज्ञानप्रवाहमयी विद्युत् (संवित्ति) कहा है। इस वाग्ब्रह्माणी सरस्वती की जब वाग्धेनु के रूप में वर्णना की जाती है तब इसका भौतिक ब्रह्माण्डीय दैवी स्वरूप चार स्तनों वाला कहलाता है 'वाचं धेनुमुपासीत तस्या चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारःस्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितर स्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥" (बृह. ५-८)। इन चार स्तनों में से दो स्तनों को—स्वाहाकार वषट्कार को—तो देवता पीते हैं, और तीसरे को—स्वधाकार को-पितर पी जाते हैं। अब केवल एक ही स्तन—हन्तकार नामक स्तन शेष रह जाता है जिसे मनुष्य नामक पञ्च पञ्च द्विधा प्राण पीते या पी सकते हैं। ये चार स्तन अग्नि वायु आदित्य और दिशा या सोम हैं जिनमें प्रथम तीन अमृत तो बट गये हैं केवल चौथा दिशा या सोमीय स्तन रह गया है। मार्कण्डेय ऋषि ने दुर्गा सप्तशती (१०-५,६) में इसी एक स्तन की महिमा इस प्रकार गाई है 'पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥ ततः समस्ता स्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखालयम् । तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदा-

म्बिका ।।" इसी स्तन का विवेचन इस ऋचा में दिया जा रहा है। यहां 'स्तनः' शब्द भी कम चतुराई से नहीं रखा गया है। स्तन माने वही विद्युन्मय ज्ञान दुग्धधारोर्मिमय स्तन है। स्तनयतीति विद्युद्रूपेण वर्षतीति ('वृष्टिर्विद्युत्' ऐ. ब्रा. ८-५) 'स्तनः' (या स्तनयित्नुः)। यह स्तन इस प्रकार शब्द ब्रह्ममय ज्ञान दुग्धमय, तुरीया वाक् रूप चतुर्थ स्तनरूप इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड की जो दैवी भौतिकात्मा रूप या देवीवाक् रूप या सोम रूप, या रस रूप आत्मा है, उसी अखिल ब्रह्माण्डों की आत्मा रूप है। यह 'स्तनः' ही स्तनयित्नुः है, स्तनिता, तनिता, सन्तानिता या ज्ञान विद्युन्मय विकास कर्ता है। इस आशय को बृह. उप. (५-२-३) में इस प्रकार दिया है 'तदेतदेवैषा देवीवागनु वदति स्तनयित्नु र्दद्द इति।' इस सन्दर्भ से अब ऋचा का अर्थ यह स्पष्ट होता है :—

हे सरस्वति ! (उक्त चार स्तनों में से) तुम्हारा जो (हन्तकार नामक) स्तन (मनुष्य नामक तत्वों के लिए या प्राणों के लिए सुरक्षित या निश्चित है, और) इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का (शशय या) अक्षीण (अक्षिति) स्रोत है, जो अनन्त आनन्दों की जन्मभूमि है, जिससे तुम अखिल विश्वे देवताओं के अमृतमय शरीरों (प्राणों) का पालन पोषण करती हो, जो क्रमशः विकास प्राप्त अखिल देवताओं की ज्योतिरूप रत्नों की आभा दूध को धारण करने वाला, स्फटिक शिला सम चमचमाता या देदीप्यमान है, जो सबको वसुरूप मूलधन रूप निवास या शरण रूप अन्तरिक्ष सम विस्तृत खुला क्षेत्र रहने या पनपने या विचरण के लिए पहले ही से आरक्षित रखकर यथासमय तत्काल प्राप्त करा देता है, और जो इस प्रकार सभी प्रकार के आवश्यक प्राणों को पूर्वोक्त प्राण रूपों में ही विना मांगे ही पुत्र को माता-पिता के समान, अपनी आत्मीयता की स्नेहमयी जीवनी की मूर्तिमयी उपासना के रूप में जैसे देने वाला है; उसे हमारे प्राणों की पुष्टि के लिए (हमारे पीने के लिए) यहां (हमारे मुख में) कर दो या लगा दो ।। ४९ ।।

विशेष—"इस स्तन को मंत्र २६ में भौतिकात्मीय दूध से भरा, और सूर्यरूप कटाह (स्तन) में खौलता या उष्ण हुआ कहकर उससे दूध की धार अपने आप पिचकारियों की तरह सर्वतः बरसने को तैयार सा हो रहा है कहा गया है 'ऐसे ही स्तन को जो इस रूप में दूध टपकाने को उष्ण होकर अतीव आतुर हो रहा है, उसे शीघ्र हमारे मुख में लगा दो' कहने की इस मंत्र में प्रार्थना है। यह योग की प्रक्रिया है; अतिसृष्टि का विवेचन है। सृष्टि क्रम में तो इसी दूध से प्राणों का निर्माण होता है, अतिसृष्टि या योग में, उस

स्तन को उक्त रूप से पगुरा कर उष्ण करके धार बहाने को प्रस्तुत होने को उद्यत किया जाता है। जब दूध आने लगे तभी पात्र या मुख स्तन पर लगाना उचित है। मंत्र २६ में योग प्रक्रिया पूरी हो गई है, इस मंत्र में उस योग क्रिया के फल का पान या आस्वादन या अनुभूतिक विवेचन है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ ५०॥

इस मंत्र की पूरी व्याख्या पुरुषसूक्त भाष्य में देदी जा चुकी है। इसमें आदित्यों और आङ्गिरस ऋषियों की उस होड़ का विवेचन है जिसमें प्रत्येक दल यह चाहता था कि मैं दूसरे से पहले स्वर्ग या नाकलोक में पहुँच जाऊँ। उस होड़ में आदित्य स्वर्ग में पहले पहुँच गये। आङ्गिरस स्वर्ग में न जा सके केवल स्वर्ग का स्पर्श मात्र कर सके। अतः इन्हें पृष्ठयः या पिछड़े या उत्तरार्द्ध का वासी कहा गया है, आदित्यों ने चार पृष्ठों के लघु सामों से स्वर्ग या पूर्वार्द्ध को पा या नाप लिया। यहाँ पर आदित्यों का ही नाम साध्या या छन्दो देवता है। 'यज्ञेन' के माने अग्नि रूप आत्मा से है यज्ञं माने पूर्वार्द्धीय पुरुष है। उत्तरार्द्धीय अग्निरूप आत्मा के ही अङ्गरूप आङ्गिरस ऋषि या प्राण वाक् मनः चक्षु श्रोत्रं प्राण आदि हैं। इन प्राणों के धर्म या मूल स्वर्गीय स्वाभाविक बीज उस अग्निरूप आत्मा में थे, उन्हीं की उद्दीप्ति या जागृति करने को 'ते ह नाकं महिमानं सचन्तः' या 'उन्होंने स्वर्ग की महिमा रूप प्रदीप्ति का संचय किया कहा गया है। उसी जागृति रूप, मूल चित्र रूप दीप्ति में साध्या या आदित्या या छन्दोमय देवता अपने पूर्ण रूप में विद्यमान थे. प्रत्येक छन्दोमय देवता अपने अपने पूर्ण पादों की पूर्ण रूपरेखा में विद्यमान था जिसकी अनुभूति अग्निरूप आङ्गिरसाङ्गी प्राणों ने यज्ञ या त्रिपात्पुरुष के योग से या ध्यान से की। इसका विस्तृत भाष्य ऐ. ब्रा, (१-३-१६) श. प. ब्रा. (१२-२-२-९ से ११ तक) तथा (१०-२-२-१ से ३ तक) में विस्तारपूर्वक दे रखा है जिनका अर्थ (सोद्धरण) पुरुषसूक्त ऋचा १६ की व्याख्या में पूर्णतः दे दिया गया है। इस ऋचा का यज्ञ वास्तव में योग यज्ञ ही है, यह उक्त वर्णना से स्पष्ट है। क्योंकि अङ्गिरस ऋषि रूप प्राण उत्तरार्द्धीय या भौतिकात्मीय हैं, अतः वे सदा ही उत्तरार्द्ध के ही या पृथिवी नामक भाग के ही वासी या शरीर स्थानीय ही हैं; केवल ये उस स्वर्ग या नाक नामक पूर्वार्द्ध से स्पर्श मात्र करने वाली उत्तरार्द्ध की सबसे प्रथम रेखा में रहते हैं, और आदित्यों या छन्दों का स्थान तो दोनों भागों में है पर पूर्वार्द्ध में इनका अपना अकेला स्वाराज्य या साम्राज्य है जिनकी अनुभूति प्राणरूप अङ्ग या आङ्गिरस ऋषि अपने योग द्वारा ही कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥ ५१ ॥

आपः तत्त्व इस सृष्टि के मूल त्रिवृत् का एक प्रधान अङ्ग है। सृष्टि का मूलकारण वाक् अदिति (अन्नमयं मनः) और आपः हैं। इन्हीं के देवता अग्नि मनः और प्राण हैं। अतः सृष्ट्यादि काल के वर्णन में सबने आपः तत्त्व को प्रधानता दी है। आपः में वाक् भी है मनः या अदिति भी। प्रत्येक में यही त्रिवृत् है। यह पूर्वार्द्ध में अमृत या एक है तो उत्तरार्द्ध में यही मर्त्य और अनन्त रूपों में परिणत हो जाता है। यह एक तत्त्व इस प्रकार द्यावा भूमि में एक होते हुए समान होते हुए दो विभिन्न रूपों में परिणत होता है। अतः ऋचा प्रारम्भ में ही कहती है 'समानं एतत् उदकं' कि दोनों भागों का उदक या आपः का त्रिवृत् (आपः वाक् मनः) दोनों भागों में एक ही है। यह उद् (उत्) च एति अव च (एति) उत्तरायणीय भाग में भी (विकास पाता) जाता है और दक्षिणायनीय भाग में भी विकास पाता जाता हैं। इन दोनों भागों को 'अहभिः' या 'अहोरात्रों' के नाम से पुकारा जाता है। अतः यहां की विकासपद्धति पूर्वार्द्धीय दिन में प्रकाशमयी ज्योति रूप में और उत्तरार्द्धीय रात्रि में अन्धकारमयी पर्जन्य या आवरणीय रूप कही जाती है। इसी भाव को और अधिक स्पष्ट करगे के लिए लिखा है कि उत्तरार्द्धीय भूमि नामक मर्त्य भाग में वे आपः भौतिकात्मीय पर्जन्य रूप में प्रस्तुत होकर उस पृथिवी में अनन्त रूपा सृष्टि करने के लिए आपोमयी अनन्तरूपा प्राणों की वृष्टि करते हैं। पर पूर्वार्द्ध को वे प्रकाशमय तेजोमय एकमय और अमृतमय बनकर दैवी ज्योति रूप अग्नि नामक अमृत से सीचते हैं। इन आपः के पूर्वार्द्धीय ज्योतिर्मय रूप की ही अनुभूति योगी यति किया करते है, और अनुभूति करने वाले उत्तरार्द्धीय पर्जन्योद्भूत बृष्टि रूप प्राण ही होते हैं। पर्जन्य भी दैवीभौतिकात्मा है, इसमें त्रिपादामृत आवृत रहता है और भौतिक प्राणों (वाक् मनः चक्षुः श्रोत्रं प्राण) की सृष्टि इसी पर्जन्य रूप देवता से होती है। यह पर्जन्य, आपः का भौतिकात्मीय रूप है, पूर्वार्द्धीय आपः इसी रूप से वृष्टि करके पर्जन्य को प्रस्तुत करते हैं, पर्जन्य भूमि पर प्राणों की वृष्टि करता है, भूमि स्थूल या आसुरी भौतिकात्मा का नाम है।

पुरुष सूक्त योगाः

पुरुषः

'पुरुष' तत्त्व वेदों का एक परम प्रसिद्ध और परम रहस्यमय देवता है। वेदों में पुरुष शब्द की चर्चा केवल पुरुषसूक्तों में मिलती है, पर ब्राह्मणों और उपनिषदों में तो इस 'पुरुष' शब्द का प्रयोग इतनी अधिक मात्रा में मिलता है कि पता नहीं चल पाता कि आखिर यह शब्द किस तत्व का संकेत कर रहा है। इस प्रकार के प्रचुर प्रयोगी 'पुरुष' शब्द के नाम से प्रसिद्ध पुरुष सूक्त का पुरुष क्या है, किसका संकेतक है इसका भी निर्णय किसी व्यक्ति ने यथार्थतः अब तक नहीं कर सका है। सबने अपनी अपनी डफली और अपना अपना कपोलकल्पित राग अलापा है। वस्तुस्थिति यह है :—पुरुषसूक्त में प्रयुक्त या व्याख्यात प्रसिद्ध 'पुरुष' शब्द कई प्रकार के पुरुषों का संकेत करता है, (१) सप्तपुरुषी पुरुषों का एक पुरुष है जिसे पुरुषपशु या यज्ञ या यज्ञपुरुष या विकासीय पुरुष कहते हैं इसका विवेचन 'यज्ञपुरुष' और 'अष्टौ पुरुषाः अष्टौ प्रजापतयः' नामक शीर्षक में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है, उसमें सात तो सप्तकीय पुरुष हैं आठवाँ ब्रह्म है प्रत्येक तत्व यज्ञ या यज्ञपुरुष या पुरुष भी कहलाता है, और सबसे बड़ी बात यह है कि यह प्रजापति भी कहलाता है जैसे "संवत्सरे पुरुषोऽभवत्स प्रजापतिः।" (श. प. ब्रा. ११-१-६-३) और जैसे "स वै सप्त पुरुषो भवति, सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्ष पुच्छानि; चत्वारो ह्यस्य पुरुषस्यात्मा, त्रयः पक्ष पुच्छानि" (श. प. ब्रा. ६-१-१-६)। यह चतुर्धात्मा, त्रिपक्षपुच्छी पुरुष ठीक ठीक में वही है जिसे पुरुष-सूक्त 'सप्तास्या सन्परिधयः' वाक्य से सात परिधि वाला पुरुष कहता है। ये सात पुरुष, वैदिक दर्शन के सात सप्तक हैं, जिसके प्रथम चार सप्तक, चतुष्पाद रूप चतुष्पाद ब्रह्म का संकेत करते हैं इन चार पादों या सप्तकों को चतुर्धात्मा कहा गया है, शेष तीन सप्तकों में से दो को उसके पक्ष, एक को पुच्छ बतलाया है। इसी बात को श. प. ब्रा. १०-२-२-४ में पुनः दुहराया गया है। इस पुरुष को श्रीवान् या शारीर पुरुष कहा गया है (वहीं) 'सर्वमभिमन्नात्मन्नश्रयन्त तस्माद् शरीरं', 'सप्तान्तं पुरुषाणां श्रीः' (श, प. ब्रा. ६-१-१-४)। यह पुरुष पर्व पर्व का या सन्दर्भ के अनुसार भिन्न तत्व रूप पुरुष का विवेचन देता है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में प्रायः इसी प्रकार के पुरुषों का वर्णन है जिनमें प्रत्येक पुरुष अलग अलग तत्वों की व्याख्या देता है, वे सब एक ही तत्व की व्याख्या नहीं देते, यह निश्चित बात है। जैसे लिखा है कि जितने तत्त्वों के पुरुष का यज्ञ

हो उतने ही संख्या का वह पुरुष माना जाना चाहिए जैसे "पुरुषो यज्ञः पुरुष-सम्मितो यज्ञः। स यावानेव यज्ञो यावत्यल्प मात्रा तावान्तमेवैनयैतदाप्नोति यदनुष्टुकुभैत्रिशंदक्षरया जुहोति।" (श. प. ब्रा. ३-१-४-२३) 'सप्तदशो वै पुरुषः, एकविंशो वै पुरुषः' (श. प. ब्रा. ६-२-१-९,४)। ऐसे ही अन्यत्र देखें (ऋचो अक्षरे में उद्धृत है। गायत्र पुरुष त्रिपदी और चतुष्पदी दो प्रकार का है। चतुष्पाद् को आनुष्टुभ् कहते हैं।

(२) दूसरे प्रकार का पुरुष पुरुषसूक्त का पुरुष है, यह गायत्री का पुरुष है 'गायत्रो वै पुरुषः' (ऐ. ब्रा. ४-१-३) क्योंकि इसका वर्णन गायत्री के पादों और अक्षरों के अनुसार किया जाता है। यह २४ से ३१ वां है जिसकी व्याख्या यह पुरुष शब्द स्वयं भी करता है। 'पुरुष' शब्द की व्याख्या, वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों ने, देते हुए लिखा है, कि पुरुष वह तत्व है जो पूः या पुरि में रहता है या सोता है, "पुरिशयः, पुरि शेते, पुरि षदतीति पुरुष" (बृहदा, उप. १-४-१७ श. प. ब्रा. १३-६-२-१ (सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुष); तै. उप. २-३-४)। अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'पुरी' कौन सी है जिसमें वह सोता है। पुरुषसूक्त ने स्वयं इस 'पुरी' का उल्लेख करते हुए लिखा है "ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः। स जातोऽतिरिच्यत पश्चात् भूमिमथो पुरः।" कि इस पुरी का निर्माण विराट्, अधिविराट् और भूमि नामक तत्वों के प्रस्तुत हो जाने के पश्चात् होता है। बतलाया जा चुका है कि वेदों में भूमि या पृथिवी या उर्वी शब्द प्रायः उत्तरार्द्ध या चतुर्थ सप्तक के भौतिक तत्वों के लिए आता है, उन्हीं से 'पुरी' या भौतिकात्मा का निर्माण होता है उसी भौतिकात्मा में वह (त्रिपादामृत) सोता या रहता है या उसे स्वीकार करता है, या वह भौतिकात्मा उसी से उद्भूत होकर उसी पर व्याप्त हो जाता है। इसको अथर्ववेद 'अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥" (१०-१-२-३१) मन्त्र द्वारा आठ चक्रों वाली देवताओं की अयोध्या नाम की पुरी बतलाता है और इसी को त्रिपादामृत का स्वर्गीय (दिव्य) ज्योति से आवृत हिरण्मय कोष या गर्भ कहता है। देवता रूप तत्त्वपुरी का नाम तो अयोध्या है पर महाभौतिक ब्रह्माण्ड या शरीर का नाम 'योध्या' पुरी है जैसा कि ईश. उप. ने लिखा है "युयोध्यस्मिज्जुहरामेनो भूयूष्ठाते नमउक्ति विधेम।" भ. कृष्ण ने अर्जुन को इसी पुरी की आसुरी वृत्ति से युद्ध, करने का उपदेश दिया है। कौरव अनन्त असुर है पाण्डव पञ्च प्राणरूप पञ्च-देवता। इन्हीं का युद्ध महाभारत है। इस पुरी का ऋग्वेद में एक दूसरा नाम 'पुष्कर' या अथर्व में पुण्डरीक भी है। पुण्डरीक का वर्णन, अथर्व वेद (१०-४-८-४२) इस प्रकार देता है 'पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन्

यद् यक्षमन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥" इसमें त्रिगुण त्रिपादामृत हैं उस पुण्डरीक में इन त्रिपादामृत गुण युक्त ब्रह्म बसता है। ऋ. वे. ७·३३-११ में 'उतासि मैत्रावरुणो······विश्वेदेवा पुष्करे त्वाददन्त ॥' ऋचा द्वारा मैत्रावरुण रूप त्रिपादामृत के रेतः से वशिष्ठोर्वशी रूप चतुर्थ सप्तक के मनोरूप पुष्कर या पुण्डरीक या नगरी में प्राप्त होने की सूचना दी गई है। पुष्कर शब्द की व्युत्पत्ति में श, प. ब्रा. (७–४–१–१३) ने लिखा है "इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत् ता अब्रवीद् विभेमि वै, पुरं में कुरुतेति, स योऽपां रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहँस्तामस्मै प्रम कुर्वस्तद्यदस्मै पुरम कुर्वस्तस्मात्पूष्करं पूष्करं हवै तत्पुष्कर मित्याचक्षते परोक्षं परोक्ष कामा हि देवाः ॥" कि इन्द्र (त्रिपादामृत) ने जब वृत्र (भौतिकात्मा) का हवन (वशीकरण) कर लिया उसे डर लगी, वह जलरूप भौतिक तत्वों में प्रविष्ट हुआ, उनसे कहा मुझे डर लगती है मेरे लिए 'पुरी' बनाओ तब उन्होंने यह पुरी बनाई, अतः इसे पुष्कर (नगरी निर्माण) कहते है। श. प. ब्रा. ने इसके पहिले ७–४–१–८ में पुष्कर माने 'आपः' या भौतिक तत्त्व ही लिखा है 'आपो वै पुष्करं'। इसी क्रम में 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् विषीमत सुरुचो वेन आवः। सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा सतश्चयोनिमसतश्च विवः ॥" (यजु १३–३) की ब्रह्म विषयक उपयुक्त व्याख्या भी दी है। यह पुरुष ब्रह्म की व्याख्या देने वाला मंत्र है जो असत् (त्रिपादामृत) और सत् भौतिक दोनों के मिलन को विषीयत या मध्यस्थान में करते हुए अब्धि या भौतिकतत्त्व से उत्पन्न होने वाले दिशारूप बुध्नों का प्रसारण करके व्याप्त हो जाता है।

यह 'पुरुष' भौतिकात्मा युक्त पुरुष है, अतः इसे पुरुष ब्रह्म भी कहते हैं। अथर्ववेद ने इस पुरुष रूप ब्रह्म की पहेली और समस्या को बहुत स्पष्ट रीति से हल करते हुए लिखा है कि जब दर्शन के पूर्वार्द्ध में सब देवताओं की सृष्टि हो हो चुकी तब वे सब उत्तरार्द्ध के मर्त्य पुरुष (भौतिकात्मा) में प्रविष्ट हो गये। जैसे "सेसिचो नाम ते देवा ये सम्भारान्त्समभरन्। सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥" (११–४–८–१३)। इस मर्त्य पुरुष रूप गृह या पुरी का निर्माण त्वष्टा ने किया जैसे "यदा त्वष्टा व्यतृणत्पिता त्वष्दुर्य उत्तरः। गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुष माविशन्।" (११–४–८–१८) । तब इस पुरुष में स्वप्न तन्द्रा आलस्य खालत्य दुष्कृत पाप पुण्य भूति अभूति भूख प्यास निन्दा प्रशंसा आदि शरीर में प्राप्त सब गुण धर्म प्रविष्ट हुए। यहां तक कि विराड् ब्रह्म भी, आपोमय सब देवताओं से युक्त इस शारीर ब्रह्म या शरीरी ब्रह्म में प्रविष्ट हो गये। अतः विद्वान् लोग इस शारीर ब्रह्म या शरीरी ब्रह्म या मर्त्य ब्रह्म को प्रजापति और पुरुष ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि इसमें सभी

देवता वैसे ही समा गये जैसे सब पशु गौशाला में निबद्ध हो जाते हैं जैसे "या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शारीरं ब्रह्म प्राविशत् शरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ सूर्यश्चक्षुर्गतः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे । अथास्येतरमात्मानं देवा प्रायच्छन्नग्नये ॥ तस्माद्वैविद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठमिवासते ॥" (अथर्व ११-४-८-३०, ३१, ३२ तथा इसके पहिले के १२ मंत्र) यह विराट् पुरुष तीसरा पुरुष है ४० तत्त्वों का पुरुष है । चौथा पुरुष अधिपूरुष है । सविता सोम बृहस्पति भी वार्हत पुरुष और ३६ तत्त्वों के हैं, जागत पुरुष ४८ तत्त्वों का है । प्रत्येक छन्द एक पृथक् पुरुष की वर्णना करता है । इस प्रकार पुरुष अनेक प्रकार के हैं ।

पुरुष तत्त्व चाहे सप्तपुरुषी एक हो, या पुरिशेता पुरिशयः या पुरिषद् हो दोनों का लक्ष तो वैदिक दर्शन के तत्वों के विकास क्रम को दिखलाना या समझाना है । सप्तपुरुषी पुरुष जब त्रिःसप्त समिधों (२४ तत्त्वों) में विकास पा कर उत्तरार्द्ध के विकास की ओर जाता है तब वह पुरिशेता, पुरिशयः, पुरिषद्, पुष्कर, पुण्डरीक पुरुष कहलाता है या उसे तब पुरुष पशु कहते हैं । अथवा त्रिः सप्तसमिधों ["यदेक विंशतिर्भवति एकविंशो वा एष य एष तपति द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असौ आदित्यः ।" (श० प० ब्रा० १३-५-३-२६) यहाँ बारह मास भी २४ तत्त्व हैं पञ्चर्तु भी २४ तत्त्व हैं त्रयो लोका + सूर्य भी २४ ही तत्व हैं । इक्कीस नाम तो त्रिःसप्तक का ठग नाम हैं ।] (२४ तत्वों) का पूर्वार्द्धीय पुरुष तो आध्यात्मिक या त्रिपादामृत है, वही त्रिपादामृत पुरुष उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा की नगरी में प्रसुप्त या निवसित होने पर पुरिषयः पुरिषत्ता, पुष्कर या पुण्डरीक या पुरुषपशु कहलाता है । वैदिकों का 'पुरुषमेध' इसी भौतिकात्मा रूप पशु का मेध या शुद्धि है 'शुनः शेप' के मेध का तात्पर्य अश्वरूप भौतिकात्मा का मेध या शुद्धि है । 'शुनः प्राणस्य शेपः ऋच्छतीति शुद्धि र्मेधः शुनः शेपः' व्युत्पत्ति है । इस पुरुषमेध का इसी रूप में ही वर्णन मिलता है । श० प० ब्रा० १३-६-१ पूरा प्रपाठक पुरुषमेध की भूमिका में लिखता है कि पुरुष नाम का तत्त्व नारायण है । भौतिकात्मा में व्याप्त है 'नारः आपो तासु अयनं पूः यस्य स नारायण' जैसा कि मनु ने भी लिखा है 'आपो नारा इति प्रोक्ता···तं वै नारायणं विदुः" । ऐसे भौतिकात्मा युक्त नारायण ने जब यह चाहा कि वह भौतिकात्मा का अतिक्रमण करके सर्वतो वशीभूत करके केवल अपना (त्रिपादामृत का) प्रभुत्व विस्तृत रखे तब उसने पञ्चरात्रीय पुरुषमेध किया । जो ऐसा करता है वही सर्व भौतिकता को वशीभूत कर सकता है । इसकी २३ दीक्षा या पूर्वार्द्धीय विकास हैं (२४वें में भौतिकता आती है, इसके १२ उपसद् है, पाँच सुत्याः)

४०वें में यह विराट् छन्द द्वारा विराट् कहलाता है, विराट् १०, १० के ४ चरणों के तत्वों से ४० तत्वों का होता है, यही पुरुष पशु इस चरणों से विराट् रूप में उत्पन्न होता है। अतः लिखा है 'ततो विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः'' अधिपूरुष वही ४४वां त्रैष्टुभीय पुरुष तत्त्व है। श० प० ब्रा० १३–६–२ पूरे प्रपाठक में पुरुष मेध के पुरुष पशु का आलभन (दमन वशीकरण या मारण) मध्यम दिन या मध्यवर्ती २५वें तत्व में बतलाया है। पुरुष पशु का सम्बन्ध जगती के जागत ब्रह्म या अखिल ब्रह्माण्डीय ब्रह्म से है। जगती ब्रह्म ४८ तत्वों का है। अतः पुरुष पशु का आलभन ४८ तत्व रूप यूप के मध्य या २५वें तत्व में जिसको सविता सोम आदि नामों से भी पुकारा जाता है, किया जाता है, यह पुरुष पशु, प्रजापति या ब्रह्म कहलाता है। (१३–६–२–१ से ९ तक)। यहाँ पर सृष्टि नाना रूपों को धारण करने लगती है अतः उन सबका आलभन किया जाता है। पुरुष सूक्त का मंत्र 'सप्तास्यासन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषम्पशुम्'' उक्त पूर्ण विवरण के यज्ञ का वर्णन दे रहा है। यह पुरुषमेधीय पञ्चरात्रीय यज्ञ है। यही पुरुष पशु पुरुष सूक्त का 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्ष सहस्र पात्, सभूमि सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिषद्दशङ्गुलम्।' नामक पुरुष है। यहाँ पर 'भूमि सर्वतः स्पृत्वा' के माने स्पष्टतया 'विश्वतः वृत्वा' (ऋ० वे० अथर्व) या भौतिकात्मा को सर्वतः व्याप्त करके है, और 'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्' का भाव भी ''पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवं सर्वं स्यामिति स पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञ क्रतुमपश्यत् तमाहरत्तेनायत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्, अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद॥'' (श० प० ब्रा० १२–६–१–१) तथा १३–६ ६ से भाष्य सा लिखकर स्वयं स्पष्ट करके लेखक का भार हलका कर दिया है। 'दशाङ्गुलम्' को अतिक्रान्त या अभिभूत करने के सम्बन्ध में दश मौलिक तत्वों से विकसित को 'दशाङ्गुलम्' कहा है। दशांगुल शब्द वेदों में पञ्चपर्वा विद्या का मुख्य सूचक शब्द है। इसमें सन्दर्भानुसार किन्हीं भी दश तत्वों का संकेत किया जा सकता है। यहाँ पर सन्दर्भानुसार 'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्' का अर्थ उद्धृत उद्धरण के 'अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानीति अहमेव सर्वं स्याम्' का प्रतिनिधि रूप 'अत्यतिष्ठत्' सर्वाणि भूतानि, स एव सर्वं स्यात्' या उसने सब भौतिक तत्वों का अतिक्रमण दमन या वशीकरण या आलभन कर लिया है। ये दश तत्व क्या हैं इसका खुलासा यह है :— जहाँ कहीं भी 'अङ्गुली' सरणि की व्याख्या दी गई है वहाँ दशाङ्गुलम्' का अर्थ 'दशेमे प्राण' लिखा है (श० प० ब्रा० ३–१-४-२३ और ३–६–५-१)।

क्योंकि यह पुरुष गायत्र पुरुष है अतः हस्तपादादिकों की अङ्गुलियों द्वारा तत्वों का संकेत करता है, पुरुष के बाहु द्वितीय सप्तक है पाद चतुर्थ सप्तक, पर अंगुलियाँ पञ्चपर्वा के संकेतक हैं, दश दश के तत्वों के गुच्छे हैं। अतः ये सप्तक संकेतक न होकर दशक के संकेतक हैं। दशकों में प्रथम दश प्राण है, द्वितीय दशक हस्ताङ्गुलियाँ, तृतीय दशक पादाङ्गुलियाँ। उस गायत्र पुरुष ने उक्त दो दशकों के अङ्गुलियों से संकेतित प्राण रूप तत्वों का अतिक्रमण दमनादि कर आलभन कर दिया। स्पष्ट शब्दों में चतुर्थ सप्तक में तृतीय दशक में या पादाङ्गुलियों में निम्न दश देवताओं का निवास है। इन्होंने ही पुरुष रूप में उनका अतिक्रमण किया। लिखा है जब प्रजापति (पुरुष) ने तप करके सृष्टि रचना को भौतिक प्रजा में परिणत करना चाहा तो एक अद्‌भुत श्रीः (स्त्री उत्तरार्द्ध रूप रात्रि रूप स्त्री रूप में) त्रिपादासृतीय दश देवताओं को निगलने को उद्यत सी हुई। देवताओं ने उसे मारना चाहा, पर पुरुष ने कहा, नहीं, उसको जीवित ही दमन कर लो, उसके अन्नाद्य को अग्नि ने, राज्य को सोम ने, साम्राज्य को मित्र ने, क्षत्र को मित्र ने, वल को इन्द्र ने, ब्रह्मवर्चस को बृहस्पति ने, राष्ट्र को सविता ने, भग को पूषा ने, पुष्टि को सरस्वती ने और रूपों को त्वष्टा ने छीन लिया। अतः दशाङ्गुलम्' नामक वाक्य अनाद्य, राज्य, साम्राज्य, क्षत्र, बल, ब्रह्मवर्चल, राष्ट्र, भग, पुष्टि और रूप' नाम वैदिक दर्शन के उक्त दश पारिभाषिक तत्वों के देवों का संकेत करता है। दश शब्द से संकेत करना विराड् की व्याख्या देना है जैसे रौद्र विराड् में 'तेभ्यो दश प्राची दश दक्षिणा दश प्रतीची दशोदीची दशोर्ध्वाः' में पाँच १०; कुल ५० तत्व हैं, और इन को क्रम से वसु रुद्र आदित्य विश्वेदेवता मरुतों तथा राज्ञी विराट् सम्राट् स्वराड् बृहती नाम दिये गये हैं। पुरुष ने इन सब का अतिक्रमण कर भौतिकात्मा की श्री का दमन कर अपने में व्याप्त कर लिया (श० प० ब्रा० ११–४ ३–१,२; और ९–९–१–३८ तथा ८–६–१–५ से ६ तक)। यहाँ श्रीः नाम रात्रि का या उत्तरार्द्ध का भी है 'रात्रिरेव श्रीः' (श० प० ब्रा० १०–२–६–१६), यह भौतिम श्री है जिसे लक्ष्मी कहते हैं 'श्रीश्च तेः लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे; (यजु० पु० सू० २३)। इसी का दमन किया गया।

पुरुष को पुरुष पशु क्यों कहते हैं ?—बतलाया जा चुका है पुरुष तो गायत्री ब्रह्म का पुरुष या पति है। प्रथम से ३१वें तत्वों का संकेत करता है। समस्त वैदिक दर्शन विभिन्न शारीरिक भागों में विभक्त है। अग्नि रूप पुरुष सर्वदेवता या सर्वदर्शनीय देवता का शिर गायत्री या पूर्वार्द्ध के २४ तत्व हैं, इसकी ग्रीवा सविता देवता और उष्णिक् छन्द है और इसका अनूक मध्यवर्ती

बिन्दु बृहती छन्द और बृहस्पति है "तदाहुः किं छन्दः का देवताग्नेः शिर इति ? गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शिरः ।। १ ।। किं छन्दः का देवता ग्रीवा इत्युष्णिक् छन्दः सविता देवता ग्रीवाः ।। २ ।। किं छन्दः का देवतानूकमिति बृहती छन्दो बृहस्पति र्देवतानूकम् ।।" (श० प० ब्रा० १०–३–२–१, २, ३)। जिसका पूर्वार्द्ध गायत्री २४ तत्व शिर है, २५वाँ बृहस्पति अनूक है, २६वां सविता ग्रीवा है उसका शेष २७ से ५० तक का भाग धड़ हुआ यह इसी प्रपाठक में आगे विस्तार से लिखा है, पर श० प० ब्रा० ३–१ ३–१ से ५ तक ने इस का वर्णन एक रमणीय ढग से दिया है। लिखा है कि अदिति के आठ पुत्र हुए जिन्हें आदित्य कहते हैं उनमें से सात विकार (विकास) ग्रस्त हो गये, तब आठवाँ मार्तण्ड नामक पुत्र हुआ। यह ऋ० वे० १०–७२–८, ९ दो ऋचाओं की व्याख्या के रूप में देते हुए लिखा गया है। इसके विस्तार में लिखा है कि मार्तण्ड नामक आदित्य एक विचित्र ढंग का उत्पन्न हुआ था। उसका जितना बड़ा धड़ था उतना ही बड़ा शिर भी था, पर था पुरुष सा। तब कुछ बोले इसके बढ़े भाग काट दें; जो मांस का भाग काटा गया उससे हस्ती बन गया (इसी हाथी की खाल को लेकर रुद्र का ताण्डव नृत्य होता है इसी हाथी का शिर गणेश का मुख है यह भी निश्चित सा है)। जैसे "अष्टौ ह वै पुत्रा आदितेः। यांस्तेतद्देवा आदित्या इत्याचक्षते, सप्त हैव ते ऽविकृतं, हाष्टमं जनयांचकार मार्तण्डं सन्देघो हैवास यावानेवोर्ध्वस्तावाँस्तिर्यङ पुरुष सम्मितः इत्युहैक आहुः। त उ हैक ऊचुः, देवा आदित्या यदस्मा नन्व-जानिमा तदमुमेव भूद्धन्तेमं विकरवामेति तं विचक्रु र्यथायं पुरुषो विकृतः तस्य यानि मांसनि संन्यसु स्ततो हस्ती समभवत् तस्मादाहुर्नहस्तिनं प्रतिगृह्णीयात् पुरुषाजानो हि हस्ती। यमुह तद्विचक्रुः स विवस्वानादित्य स्तस्येमाः प्रजाः" इस उद्धरण में जो ऐता वेडौल पुरुष है उसे पशु तो नहीं कहा है पर इसको 'पुरुष' और मार्तण्ड नाम का शिर धड़ बराबर वाला बतलाकर—जो पिछले उद्धरण के दार्शनिक व्याख्या के अनुरूप ही है—ठीक ठीक पुरुष पशु ही संके-तित किया गया है और यह भी बतलाया है क्यों इसे पुरुष पशु कहा गया। इसका यही दार्शनिक वेडौल रूप इसे पुरुषपशु कहने का कारण बना है। वैसे प्रत्येक देवता छन्द गाथा आदि पशु कहलाते हैं, क्योंकि इनका इन रूपों का वर्णन कल्पना के आधार पर दर्शन की कहानी बनाने के लिए किया गया है। अतः लिखा है 'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः (श० प० ब्रा० ६-१-४-२) 'पशवो वै स्वराः पशवः प्रगाथाः पशवः वाचो' (ऐ० ब्रा० ३-२-२४)। मार्तण्ड नामक पुरुषपशु की व्याख्या भी रोचक है 'मृतस्य रजसो भौतिकस्य अण्डः मृताण्डः तस्माज्जातो मार्तण्डः इससे भी इसकी भौतिकता सिद्ध होती है।

ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० ने अपने-अपने ग्रन्थों के प्रायः प्रारम्भिक प्रकरणों में ही इसी पुरुष पशु का विवेचन दिया है। बड़े आश्चर्य की बात है कि दोनों की भाषा और भाव इस सम्बन्ध में प्रायः इतने अधिक मिलते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में पुरुषपशु विद्या प्रशस्त रूप में प्रचलित थी, सब इस विषय में एकमत रखते थे -- वेद या शाखा चाहे कोई भी क्यों न हो। ऐ० ब्रा० २-१-८ और श० प० ब्रा० १-२-१-६, ७, ८, ९ में इस प्रकार लिखा है :—"पुरुषं वै देवा पशुमालभन्त तस्मादालब्धा न्मेध उदक्रान्सोऽश्वं प्राविशदश्वो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त सः किम्पुरुषोऽभवत् तेऽश्वमालभन्त सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्स गां प्राविशत् तस्माद्गौर्मेध्योऽभवत् अथैन मुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौरमृगोऽभवत्ते गात्रालभन्त स गोरालब्धादुदक्रामत्सोऽविं प्राविशत् तस्मादवि र्मेध्योऽभवत् अथैनमुत्क्रान्तं मेधमत्यार्जन्त स गवयोऽभवत् तेऽविमालभन्त सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्सोऽजं प्राविशत् तस्मादजो मेध्योऽभवत् अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स उष्ट्रोऽभवत् शरभोऽभवद् व्रीहिः अभवत्···उत्क्रान्तमेधा अमेध्या पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्'।" यह ऐ० ब्रा० का उल्लेख है। श० प० ब्रा० ने यही भाव व्यक्त करते हुए यह जोड़ा है कि यह 'आत्र सम्पत्ति' है 'आत्रो सा सम्प्रदाहुः पाँक्तः पशुरिति'। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पशु वाद अत्रि के चौथे सप्तक से सम्बन्ध रखता है, अन्य से नहीं। यहां पर जो क्रम पुरुष पशु-अश्व गौ अवि अज गवय उष्ट्र शरभ व्रीहि इत्यादि दिया है वह पुरुष सूक्त के 'तस्मादश्वा अजायन्त ये केचोभयादतः (गवय उष्ट्रशरभादयः)। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।" मंत्र की पूरी व्याख्या कर देता है। यहां पर हमारे पुरुष पशु के स्थान का निश्चित निर्धारण उत्तरार्द्ध के चतुर्थ सप्तक में—जिसका मुख्य ब्रह्म अत्रि है और जहां से भौतिकता का आभास प्रारम्भ होता है—हो जाता है। इस पुरुष पशु का एक दूसरा नया नाम यहीं पर 'किम्पुरुष' भी दिया मिलता है। यह दोनों ग्रन्थों में दिया है। ये पशु वास्तव में शब्द ब्रह्म के भौतिक या आसुरी रूप की इन पशुओं से उच्चारित ध्वनियों के अनुरूप ध्वनियों के क्रम से भौतिक शब्द ब्रह्म या परा वाणी या तुरीया वाणी के पाँच साम स्वरों के या ऊष्माण ध्वनियों के प्रतीक रूप हैं जिनका विशद वर्णन शब्द ब्रह्म की व्याख्या में दिया जावेगा। इसका संकेत ऐ० ब्रा० (२-१-७) ने इस प्रकार दिया है "स यदि कीर्तयेत् उपांशु कीर्तयेत् तिर इव वा एनज्जनितो योऽयं राक्षसी वाचं वदति स यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्त सा वै राक्षसी वाङ आत्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्त आजायते य एवं वेद॥" पूर्वार्द्ध की वाणी मौन अंशु और उपांशु है। वह

मानसी वाणी कहलाती है । अत. मन और वाणी की होड़ की कथा (श० प० ब्रा० १·४-१·११, १२, १३) में वाणी को परा या उत्तरार्द्धीय या भौतिकी कहा तो उसका गर्भपात हो गया, और उसको तब विदित हुआ कि मानसी वाणी ही हव्यवाट् है, भौतिकी परा वाणी अहव्यवाट् कहलाती है, उसके गर्भ-पात को 'अत्र त्यात्' शब्द से संकेतित करने से उससे अत्रिः उत्पन्न हुए। अतः उक्त पशुओं या भौतिकी वाणियों को 'आत्रो सा संपद्' या अत्रि की संपद् कहा है। उद्धरण अत्रि की व्याख्या में दिया गया हैं। इस विश्लेषण से पुरुष सूक्त के 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांँसि जज्ञिरे तस्माद्यजु-स्तस्मादजायत ॥" मंत्र की व्याख्या हो जाती है। अष्टपुरुषी पुरुष से क्योंकि यहाँ सर्वहुत· कहा है—ऋचः स्वरा, यजुः अन्तस्था सामानि अनुनासिका, और छन्दांसि उष्माणा सप्तक क्रम से उत्पन्न हुए। गीता के 'छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वदेविद्' के छन्द रूप पर्णानि यही भौतिक वाणी ही छन्दों के सप्तसुपर्णों के पशुरूप सुपर्ण है, येही पुष्कर के पुष्कर पर्ण हैं या सोम या श्येन के सुपर्ण हैं। और जिसका वर्णन सहस्राक्ष सहस्र शिर सहस्रपाद रूप में किया गया है वह पुरुष तो स्वयं महान् पशु या महतोमहीमान् पुरुषपशु स्वयं है।

पुरुष पशु प्रभृति पञ्चपशु, सोम या भौतिकात्मा के प्रतिनिधि हैं। इसका समर्थन श० प० ब्रा० (७-४-२-७) करते हुए लिखता है कि दर्शन के पूर्वार्द्ध में प्रजापति अकेला एक था, उसने अन्न या भौतिकता की सृष्टि की कामना की; कामना की तो उसने प्राणों से पशुओं का निर्माण किया, जिनमें सर्व प्रथम पुरुष पशुः है। जैसे "प्रजापति वा इदमग्न आसीदेक एव सोऽकामयतान्नं सृजेयं प्रजायेयेति स प्राणेभ्यः पशून्निरमिमीत, मनस पुरुषं, चक्षुषो अश्वं प्राणाद्गाँ श्रोत्रादविं वाचोऽजं तद्यद्येनेनान्प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत तस्मादाहुः प्राणाः पशवः इति । यतो वै प्राणान् प्रथमं तद्यन्मनस पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः प्रथमः पशूनाम्······॥" ये पशु द्वादशादित्यों में आते हैं, अतः श० प० ब्रा० ७–४–२–२७ में इनका आह्वान इसी रूप में किया गया है। श० प० ब्रा८ ६-१–४-१५ से १० तक पुनः उक्त पशुओं को 'अन्नं' (भौतिक') के नाम से पुकारा है और 'पुरुषपशु अश्व गौ अवि अजा' इस क्रम से पूर्व पूर्व को पर पर से श्रेष्ठ बतलाया है और इन्हें अग्नि नाम से भी पुकारा है। 'पञ्चह्येतेऽग्नयः' 'एतान्यथापूर्वं यथाश्रेष्ठमालभते'। पञ्च पशुओं में, जैसे अभी बतलाया गया है, पुरुषपशु सर्वश्रेष्ठ है और सर्व प्रथम पशु है अन्य और पुरुषपशु होने से पुरुषमेध का पात्र है। पुरुषमेध माने नरवलि नहीं है। यहाँ पर पुरुषपशु वलि या नरपशु वलि शब्द, शुद्ध रूप से पारिभाषिक हैं। सिद्ध हो चुका है कि इस पुरुषपशु का विकास चतुर्थ सप्तक में होता है, चतुर्थ सप्तक का नाम नृषद् या

नर स्थान है, नर स्थान माने आपोमय नारायण है, पुरुषपशु का भी यही अर्थ है, यह आपोमय पशु है, रूपाकारहीन वेडौल व्याप्तिमान् भौतिक शब्द ब्रह्म है। इसको त्रिपादामृत में अतिक्रमित या प्रशासित समर्पित या अधीन करना या प्राप्त करना पुरुषपशु का आलभन या पुरुषमेध है, भौतिकता का दमन शमन वशीकरण स्वायत्तीकरण, या भौतिक शरीर धारण करना नृमेध या पुरुषमेध या पुरुषपशु का आलमन है या भौतिकता की दमन शमनादि से शुद्धि है। यही भाव शुनःशेष की कथा के नृमेध का भी है। यह पुरुष पशु दूसरे शब्दों में सोमपान है, विष्णु का शेष शय्या में सोना है, सविता का प्रसव है, भौतिक रूप अंश का धारण करना है। अतः इसे षोडशकल ब्रह्म कहते हैं, इसकी १५ कलायें पूर्वार्द्ध की हैं और त्रिपादामृत की हैं जो अतीव जाज्वल्यमान हैं, उनको एक भौतिकांश रूप यह पुरुष पशु सन्तुलितताप का कर देता है। (पित्र अहोराक्ष के पक्ष देखें)। यही भौतिकांश हो सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष और सहस्रपाद् है। यही अन्न या भौतिकता से अतिरोहित होता या उगता या पनपता है। यही दश तत्त्वों पञ्चप्राण प्राणवाक् चक्षुःश्रोत्रं मनः वायु अग्नि सूर्य दिक् और चन्द्रमा का अतिक्रमण (अत्यतिष्ठत्) दमन करता है। यही भौतिकता में व्याप्त होता है (त्रिपादामृतात्मा)। अतः पुरुष सूक्त की सोलह ऋचायें इस पुरुष पशु की सोलह प्रकार की क्रमिक विकास पद्धतियों पर वैदिकों की विचार धारा के अनुसार प्रकाश डालती हैं, इसी का नाम पुरुषमेध या पुरुष पशु का विकास है। यह श० प० ब्रा० (१३–६–१३-३) स्वयं अपने स्पष्ट शब्दों में बतलाते हुए लेखक के भार को हलका कर देता है जैसे "ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारागणेनाभिष्टौति 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्' इत्येतेन षोडशर्चेन षोडश कल वा इदं सर्वं, सर्वं पुरुषमेध सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्या इत्थमसीत्थ मसीत्युपस्तौति एवेनमेतन्महयत्येवाथो यथैव तथैनमेतदाह तत्पर्याग्नि कृताःपशवोबभूवुरसंज्ञप्ताः॥' इसमें स्पष्ट लिखा है कि पुरुष पशु के बारे में कहा गया है कि "तुम ऐसे हो तुम ऐसे हो" यही वर्णन षोडशकल वर्णन है। अतः पुरुष सूक्त ठीक ही लिखता है 'सप्तस्यासन्परिधयस्त्रिः सप्तसमिधः कृताः। देवा यद्यज्ञन्तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥" यहां अबध्नन् के माने वध करने के नहीं है, पर भौतिकता को आध्यात्मिकता में बाँधना है भौतिकता को आध्यात्मिकता को समर्पण कर वशीभूत कर देना है। जो लोग हिंसक यज्ञ करते थे उनके लिए अबध्नन् का अर्थ मारना ही होता है।

पुरुष पशु मार्ताण्ड नामक है, इससे विवस्वान् नामक आदित्य का जन्म होता है (श० प० ब्रा० ३–१–३–३), भौतिकता युक्त है, अतः अंश या कला युक्त कहलाता है। अश नाम स्वयं आदित्यों का है जैसे आदित्यों के वर्णन में लिखा जा चुका है "इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नू सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।

श्रृणोतु मित्रोअर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ।।" (ऋ० वे० ९–२७–१)। इसी अंश नामक पुरुष या आदित्य को गीता भी 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' और 'एकांशेन स्थितो जगत्' वाक्यों द्वारा प्रस्तुत करती है। त्रिपादामृत को १५ कलायें है और भौतिक ब्रह्माण्ड उस १५ कलाओं का केवल एक क्रीड़ा का समान है। यह एक अंश भौतिकात्मा रूप चन्द्रमा या सोम है दोनों मिलाकर पुरुष (पशु) षोडशकल ब्रह्म कहलाता है। इसी की यजुर्वेद जगत्पुरुष नाम से पुकारते हुए लिखता है 'मा हिंसी पुरुषं जगत्' (१६-३ रुद्री ५ ३)

पुरुष पशु में त्रिपादामृतैक्य के तीन पादों की व्याप्ति है। अतः त्रिपादामृत के तीन तत्त्व रूप पुरुषों के एक में रहते हुए भी पृथक् रूप से समझने के लिए उसे त्रिपुरुष कहा जाता है। जैसे "त्रि र्ह वै पुरुषो जायते। एतन्वेव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायतेऽथ यं यज्ञ उपनमति (श० प० ब्रा० ११-२-१,४) पिता ब्रह्म, माता वेदि और यज्ञ (तृतीय सप्तकीय विकास) है।

पुरुष पशु के माने उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा है। भौतिकात्मा वाहन या पशु है उसका सवार या अधिष्ठानता पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत पुरुष। दोनों मिलकर पुरुष पशु कहलाते है। जितने भी देवताओं के द्वन्द्व हैं सब पुरुष पशुके प्रतीक हैं जैसे द्यावापृथिवी अग्नीषोमी इन्द्रग्नी, इन्द्रापर्वतौ, अश्विनौ, इन्द्राबृहस्पती, ईशावास्यं, अग्निमरुतौ इन्द्रसोमौ इत्यादि।

अन्त में पुरुष पशु के कई अन्य नाम और व्याख्यान हैं जैसे नृसिह वामन हयग्रीव गणेश अजदक्ष और वृषाकपि। ये सभी पुरुष पशु हैं। इनका पूर्वार्द्ध पुरुष है उत्तरार्द्ध पशु। वृषाकपि का प्रतिरूप रामायण का मारुति हनूमान् है। हनूमान् या वृषाकपि राम या इन्द्र को इतने प्यारे हैं कि इनके विना ये आनन्द नहीं पाते (वृषाकपि देखें)। हनूमान् के हृदय में राम की मूर्ति के माने ही यही हैं कि उस अखिल ब्रह्माण्ड रूप हनूमान् या वृषाकपि के अन्तस्तल में त्रिपादामृत रूपी राम या इन्द्र व्वाप्त है। विना हनुमान् के राम का देवत्व ही नहीं है। और भौतिक सृष्टि करने में वृषाकपि इन्द्र को अधिकारी नहीं मानता, यही बात हनूमान् के विषय में समझनी चाहिए, यद्यपि रामायण में ऐसा नहीं लिखा है पर ऋग्वेद में यह स्पष्ट लिखा है। अजमुख दक्ष तथा गजमुख गणेश भी पुरुष पशु हैं। इनमें 'अदितेर्दक्षो अजायत' के स्थान में 'अजाद्दक्षो अजायत' कहना उपयुक्त है अदिति और अजएकपाद त्रिपादामृत है, पूर्वार्द्ध हैं; दक्ष दक्षिणायन उत्तरार्द्ध है। इसी प्रकार 'गज' मार्ताण्ड का कृत्तशरीर पूर्वार्द्धीय है उत्तरार्द्ध का पुरुष भौतिक। ये सब साक्षात् पुरुष पशु हैं, अखिल ब्रह्माण्ड हैं, अतः सभी कार्यो के आरम्भ में इनकी पूजा आवाहन और ध्यान नमस्कार आदि किये जाते हैं।

पुरुष के सम्बन्ध में निम्नलिखित आवश्यकीय सामग्री देदी जाती है। यह पुरुष सब पुरियों का या सब तत्वों का वासी या उनमें सोने वाला है (श. प. ब्रा. १४-५-५-१८) पुरुष सोम पवमान है, उसकी पुरी में सोने से पुरुष है (श. प. ब्रा. १६-६-२-१), यह प्राण रूप सोने वाला पुरुष है (गो. पू. १-३९). वह सबसे पूर्व का और पुनः सबकी उषा करता है, अतः पुरुष है। यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुष' (श. प. ब्रा. १४-४-२-२)। यह पुरुष प्राणरूप होने से ब्रह्म और अमृत है (जै. उ. १-२५-१०)। यह अक्षितिः है (श प. ब्रा. १४-४-३-७)। यह सहस्र प्रतिमा है (यजुः १३-४१)। प्रजापति ने मन से पुरुष को उत्पन्न किया (श. प. ७-५-२-६)। पुरुष प्राजापत्य है (तै० २-३-५-३)। पुरुष प्रजापति है (श० प० ६-२-१-२३, ७-४-१-१५)। पुरुष तत्त्व वैष्णव है (श० प० ५-२-५२)। यह पुरुष सौम्य है। (सोम रूपी दैवी वृत्ति का है) (ब्र० १-७-८-३)। पुरुष प्रथम पशु और पशुओं का अधिपति है (ताण्ड ६-२-७-तै० ३-३-८-२)। पुरुष यज्ञ का नाम है, (श०प० ३-१-४-२३ सभी ब्राह्मणों में)। पुरुष संम्मित यज्ञ है (श० प० ३-१-४-२३)। पुरुष आपः का गर्भ है(गो९ ५-१-३९)। पुरुष उद्गीथ है (जै उ-१-३३-९; ४-९-१)। पुरुष अग्नि है (श० प० १०-४-१-६, १४-९-१-१५)। पुरुष ही समुद्र है (जै० उ० ३-३५-५)। पुरुष सुपर्ण भी है (यजु १३-१६, श० प० ७-४-३-३५)। पुरुष संवत्सर है (गो० ५-५-३-५; श० प० १०-२-४-१)। पुरुष सविता है, होमा है, चक्षु है, नारायण है (जै० उ० ४-२७-१७; गो० उ० ६-६; जै० उ० १-२७-२)। पुरुष षोडषकल भी है (तै० १-७-५-५, श० प० ११-३-६६)। सप्तदश पुरुष ही है (श० प० ६-२-२-९)। सप्तदश २५ वां तत्त्व है १७ वां नहीं। यह काममय ऋतुमय पुरुष है (श० प० ब्रा० १४-७-२-१) यह व्याममय है (श० प० ब्रा० ७-१-१-३७)। पुरुष द्विप्रतिष्ठ अर्थात् पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों में स्थित है (ऐ० २-१८; ३-३१, ५-६-२; गो ६० ४-२४, गो० उ० ६ १८ तै० ३-९-१२-३)। पुरुष ककुप् है (ता ८-१०-६-८; १६-६-४)। पुरुष वैराज भी है (ताण्ड २-७-०- तै० ३-९-८-२)। पुरुष गायत्र भी है (ऐ० ४-३)। पुरुष औष्णिक् भी है (ए ४-३)। पुरुष पांक्त भी है (कौ १३-२ ए० २-१४-६-९)। पुरुष षड्विध और षडङ्ग है (ए० २-३९)। पुरुष सप्तपुरुषी है चार आत्मायें दो पक्ष एक पुच्छ है (अनेक बार श० प० ६-१-१-६)। पुरुष के दो कपाल है (कौ० ३०-४)। पुरुष विंश है, चतुर्विंश है (ताड्य० २३-१४-५, श० प० ६-२-१-२३)। पुरुष शतायु शतपर्वा है

(कौ० १८–१०), शतवीर्य है, शतोन्द्रिय है (तै० ३–५–१५–३– कौ० २५–७ ए० २–१७, ४–१९)।

अस्तु गीता ने पुरुष पशु को छोड़ दिया है, उसके स्थान में इसने उसे तीन प्रकार के तीन पुरुषो को वर्णित किया है। "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोक त्रयमा विश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः" "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽपि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" "(१५–१६, १७, १८)। पुरुष तीन हैं, उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष। इनका पुरुषोत्तम या उत्तमपुरुष तो ईशान नामक या ईश्वर या परमात्मा अव्यय सर्वव्यापक सर्व पालक है, दूसरा पुरुष अक्षर ब्रह्म है जीव ब्रह्म है संवत्सर ब्रह्म है, यह कूटस्थ है पर भौतिकता के अक्षर रूप दुख का भोक्ता हैं। यह मध्यम पुरुष है। तीसरा पुरुष क्षर या केवल भौतिक पुरुष या परा प्रकृति रूप भौतिकात्मा क्षर है, विकास ह्रास धर्मा है, यह शरीर भी है, सर्वभूतमय सर्वरसमय सर्वगुणमय और अनन्त मुख है। अक्षर ब्रह्म अनन्त बीजमय है (ऋचो अक्षरे देखें)। इस तृतीय क्षर पुरुष को दूसरे स्थल पर क्षेत्र और शरीर तथा जीव को क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारते हुए समस्त वेद मंत्रों ऋषियों छन्दों और ब्रह्मविषयक सूत्रों की दुहाई देते हुए लिखा है :—"ऋषिभि बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥" "महाभूतान्यहंकारो बुद्धि रव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रिय गोचराः" "इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम्॥" श्री शंकराचार्य जी ने उक्त वैदिक ऋषियों से निर्णीत वैदिक सांख्य के तत्त्वों का खण्डन किया है। ब्रह्म का विवेचन देते हुए गीता ने लिखा है "ज्ञेयं यतत्तत्प्रवक्षामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सन्नासदुच्यते" "सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्। सर्वतः श्रुति मल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्तं सर्वभृश्चैव निर्गुणं गुण भोक्तृ च" "बहिरन्तश्च भूताना मचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वत्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्" "अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च" (१३–१२, १३, १४, १५, १६,)। ब्रह्म की इस परिभाषा में विरोधा भास ही महत्व रखता है, उसकी कोई परिभाषा करना यह भाषा का कार्य नहीं, उसकी परिभाषा मौन है। फिर भी इस परिभाषा में सब वैदिक पारिभाषिक शब्दों का संकलन है, गीता ने जहाँ पर 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्' कहा है वहाँ पुरुष अक्षर ब्रह्म है, अनन्तबीजवान् पुरुष है, प्रकृति अपरा प्रकृति या ४० वें तत्त्व से आगे की है। इसीलिए गीत

ने इस बात की पुष्टि में लिख दिया है कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, जितने विकार होते हैं वह परा प्रकृति में होते है जैसे "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धत्यनादी उभावपि । विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान् ।।" (१३-१९)। प्रायः चालीसवें तत्व को ही ये पुरुष कहते हैं, वह अपरा प्रकृति है, सांख्य की प्रकृति अष्टधा और भौतिक है।

अब पुरुष सूक्त का अर्थ लीजिए—'षोडशर्च षोडशकलं नामक पुरुष सूक्त सोलह ऋचा वाला है, प्रत्येक ऋचा में पुरुष की व्याख्या नये नये ढंग से की गई है। इन्हीं नई नई रीतियों को सोलह कला का सूक्त या पुरुष भी कहते हैं। पुरुष में जों सोलह कलायें समझी जाती हैं वे एक तो उक्त प्रकार की १६ रीति विषयक कलायें हैं, दूसरे प्रकार की कलायें उत्तरायण दक्षिणायन नाम के दो पक्षों में से उत्तरायण या पूर्वार्द्ध रूप शुक्लपक्ष की १५ कलायें तथा उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन या कृष्णपक्ष की एक कला अमावस्या रूप भौतिकात्मा मिलकर १६ कलायें बनती हैं। इन्हीं १६ कलाओं का वर्णन ये १६ ऋचा वाला षोडषर्चं सूक्त देता है। अतः इसे और इससे वर्णित पुरुष को षोडशकल पुरुष या ब्रह्मा कहते हैं। ये षोडशकलायें सोलहों सूक्तों में चतुष्पाद ब्रह्म की व्याख्या करते हैं अतः षोडशकल ब्रह्म या पुरुष की व्याक्या चतुष्पाद् ब्रह्म या चतुष्पाद् पुरुष की ही व्याख्या समझनी चाहिए।

पुरुष सूक्त

पुरुष सूक्त चारों वेदों में संकलित पाया जाता है। यह बात इसके महत्व की ओर संकेत करने के लिए पर्याप्त है। यह सूक्त वास्तव में वेदों का कोमलतम हृदय और आर्यों की दार्शनिक खोजों का सारभूत नवनीत है। इस सूक्त में आदि से लेकर अन्त तक वैदिक दर्शन के अनुसार वैज्ञानिक सृष्टिक्रम का वर्णन दिया हुआ मिलता है! पर अभाग्यवश इस सूक्त में जिन मुख्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है उनकी ओर अब तक किसी भी पौर्वात्य या पाश्चात्य विद्वान् का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। इस कारण सभी भाष्यकार चाहे वे यास्क सायण शंकर महीधर उव्वट हों, चाहे वे पाश्चात्य देशों के अनुवादक मैक्समूलर ग्रिफिथ लानमैन; म्योर, रोथ, ग्रासमैन लुदविग आदि हों, सब ने पुरुष सूक्त में प्रयुक्त उन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ, कोष निघण्टु और श्रौत सूत्रों की रूढ़ि से लगाकर, इसके दार्शनिक भावों के अर्थ का अनर्थ किया है, यह आगे दिये गये उसके स्वाभाविक और वास्तविक अर्थ से विदित हो जावेगा।

जिन पारिभाषिक शब्दों की ओर यहां संकेत किया गया है उनका विवरण तो तत्व निर्णय नामक प्रकरण में दिया जा चुका है। इन पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण विवेचन एक ओर से ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों उपनिषदों में, दूसरी ओर से अथर्ववेद गीता, महाभारत और स्मृतियों तथा प्राचीन पुराणों में मिलता है। प्रतीत होता है कि ये पारिभाषिक शब्द पौराणिक काल तक सबको विदित थे, बाद में इनके तदर्थक प्रयोग का लोप हो गया। अस्तु इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या, उन अन्य वैदिक मन्त्रों, वचनों और उद्धरणों के साथ साथ की जावेगी जो इस सम्बन्ध में समान भाव तथा भाष्य रूप विवरण सा रखते हैं।

पुरुष सूक्त में जिन पुरुषों का वर्णन मिलता है उन की व्याख्या उनकी निम्न चार प्रकार के पुरुषों के रूप में सोलह प्रकार से की गई है, जैसे (१) पुरुष पशु, (२) यज्ञ पुरुष, या गायत्र पुरुष (३) विराट् पुरुष (४) अधिपूरुष या पुरुष। इन की व्याख्या पृथक् पृथक् दी गई हैं। गायत्र और विराट् पुरुष पहले वर्णित है अन्त में पुरुष पशु का वर्णन है। श. प. ब्रा. (३–४–३–१) ने लिखा है कि पुरुष का नाम यज्ञ है, अतः यज्ञ भी पुरुष है। यह यज्ञ पुरुष, परुषों या पर्वों का पुरुष या यज्ञ है। दर्शन के ५० तत्वों के प्रत्येक पर्व या परुष या तत्व का नाम यज्ञ या पुरुष या यज्ञपुरुष है। जिस संख्या का तत्व है, वैधानिक यज्ञ में उतने ही पात्रों का प्रयोग, उस पुरुष या यज्ञ तत्व की क्रमसंख्या सूचित करने के लिए किया जाता है। जैसे "पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञः। यदेनं पुरुष स्तनुत एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः॥" इस प्रकार यज्ञ का अर्थ क्रमिक विकास या विकास परम्परा होता हैं, जिसका समर्थन ऋग्वेद निम्न ऋचाओं में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग विकास अर्थ में करके स्वयं कर देता है "विश्वकर्मन् हविषा (सोमेन) वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवी मुत द्याम्" (१०·७–१–६) "शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः।" (१०–०–१–५) "उस्रः पितेव जारयामि यज्ञैः" (६–१२–४)। यजुर्वेद भी इसका समर्थन करता है "येन यज्ञ स्तायते सप्त होता"। यहां पर श. प. ब्रा. और यजु के "एष वै तायमानो" और 'यज्ञस्तायते' प्रयोगों की समता पर ध्यान आकर्षित कर लेना अतीव सहायक सिद्ध होगा। अतः पुरुष सूक्त में 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्' (७) 'तस्मा द्यज्ञात्सर्वहुतः' (८,९) 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (१६) 'देवाः यद्यज्ञं तन्वाना' (१५) 'देवा यज्ञम-तन्वत' (६) आदि में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग यज्ञ पुरुष और विकास परम्परा प्रदर्शक अर्थों में प्रयुक्त स्वयं दीख रहा है। यहां भ्रम का स्थान ही नहीं है। इसी

प्रकार इस सूक्त के पुरुष शब्द के प्रयोग में भी ध्यान देने की आवश्यकता है जैसे पहिले कहा है सब कुछ जो था, जो है, जो होगा, वह सब पुरुष है' (पुरुषऐवेदं सर्वमित्यादि), फिर तुरन्त पश्चात् कहा है पहिले त्रिपाद् पुरुष उदित हुआ फिर चौथा पाद बना (त्रिपादूर्ध्व मुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः), उससे विराट् विराट् से अधिपुरुष (ततो विराज्जायत विराजोअधि पूरुषः), यह भी कहा है कि उस पूर्व उत्पन्न यज्ञ पुरुष को बर्हिः में प्रोक्षित कर दिया (तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जात मग्रतः) और जिस पुरुष का निर्माण किया था (यज्ञरूप दर्शनपुरुष) उसकी कल्पना कितने प्रकार से की गई जैसे 'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयत्' । ये सब बातें बतलाती हैं कि पुरुष नाम प्रत्येक तत्व तत्व का है, अतः पुरुष, यज्ञः, यज्ञपुरुष पुरुष पशु आदि शब्दों की व्याख्या सन्दर्भ की परम आवश्यकता रखती है । यजुर्वेद ने एक स्थल पर (१६–३, रुद्री ५-३) पुरुष शब्द से जगत्पुरुष या जगती के पुरुष का भी संकेत किया है, यह अखिल ब्रह्माण्डीय पुरुष या जगत्पुरुष है जैसे 'मा हिंसी पुरुषं जगत्' । ऋ० वे० (१०-१३०-१, २) ने इस अखिल ब्रह्माण्डीय जगत्पुरुष को यज्ञ और पुमान् दो नामों से पुकारते हुए लिखा है कि जो यह यज्ञ (रूप सृष्टि) चारों ओर से तन्तुओं (ताने वाने के तागों) से बुना गया है, इसको सैकड़ों दैवी शक्तियों से ताना जा सका गया है । इसको वे पितर बुन रहे हैं जो वहां आये हैं, जिस बुनने की राँच में उसे सुन्दरतम बनाने के लिए वे उसे बार-बार बुनते उधेड़ते रहते हैं । और इस में मुख्य बुनकर तो पुरुष हैं, उसी ने इसे काट छाँट कर साज और रांच में सजाया और लगाया, उसी ने इसे आध्यात्मिक तानों में विस्तृत किया, वही अब भौतिकात्मा की रश्मिमय वैद्युतीय तरंगीय वानों को विभिन्न सदों में (विभागों में) बैठाते हुए अपने साम के (गीत के) साथ बुनने में डोरी को बार बार इधर उधर करते जा रहा है । जैसे "यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः एकशतं देवकर्मेभिरायतः । इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयापवयेत्यासते तते ।। पुमाँ एन तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वितत्ने अधिनाके अस्मिन् । इमे मयूखा उप सेदुरूः सदः सामानि चक्रुस्तसरारायोतवे ।।" कितना सुन्दरतम रूपक हैं, हाँ यही यज्ञ 'ब्रह्मसूत्र' है जिससे अखिल ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है, जिसका गीता ने 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे माणि गणा इव' और 'ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' वाक्यों द्वारा तथा ब्रह्मोपनिषद् और नारद परिव्राजकोपनिषद् ने 'गायत्री ब्रह्म' शीर्षक में उद्धृत श्लोकों द्वारा सजीव वर्णन दिया है ।

पुरुष सूक्त की व्याख्या आरम्भ करने के पहिले इसके ऐतिहासिक पहलू पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है । कई लोग जैसे पीटर पीटर्सन, म्योर, और

आर्नल्ड प्रभृति इस सूक्त को वेदों में अर्वाचीन मानते हैं। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का ९० वां सूक्त है, इसकी भाषा अन्य सूक्तों की तुलना में शास्त्रीय संस्कृत की ओर अधिक झुकी प्रतीत होती है। पर इससे इसे वेदों का अति अर्वाचीन सूक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह सूक्त अन्य तीन वेदों में भी मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि इसका निर्माण यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद के निर्माण के पहिले हो चुका था। अतः इसका निर्माण युग ऋग्वेद का अन्तिम चरणीय काल तथा यजुसामार्थव से बहुत पहिले समझना युक्ति संगत है। 'पुरुष' गायत्री का पति है उसकी चर्चा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही 'गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः' (ऋ. वे. १०–१) में की गई है। अतः प्रस्तुत पुरुष सूक्त ऋ. वे. के ऐसी १–१० सूक्त का विस्तार सा है बहुत प्राचीन है। हां ऋ. वे. की 'प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिं अग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे' (१–१४३·१) ऋचा के अनुसार पुरुष सूक्त को ऋग्वेदीय काल की नव्यसी (नूतन) वाणी, कह सकते हैं।

जैसा बताया जा चुका है, पुरुष सूक्त सोलह ऋचाओं में पुरुष पशु और एक ही चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या गायत्र और विराट् पुरुष रूपों में सोलह प्रकार से करता है। प्रत्येक ऋचा का वर्ण्य विषय केवल चतुष्पाद ब्रह्म है, पर शाखान्तर रीत्यन्तर और प्रकारन्तर से, एक ही वस्तु सोलह प्रकार से सोलह ऋचाओं में बखान की गई है। वर्ण्य विषय दर्शन का पूर्ण पूर्वार्द्ध (त्रिपादामृत) और उत्तरार्द्ध का प्रथम पाद—जो आदि से चतुर्थपाद कहलाता है—ये ही सोलह ढंग से कहे गये उत्तरायण या शुक्लपक्ष की १५ कला + दक्षिणायन की एक कला अमावस्या मिलकर षोडश कल ब्रह्म भी कहलाते हैं।

मन्त्र १—'सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यत्तिष्ठ दशाङ्गुलम्॥''

यह मन्त्र 'पुरुषास्त्वनन्ताः' के भाव को एक में अनन्त पुरुषों के समाहार या 'अविभक्तं विभक्तेषु' की व्याख्या देता है। इस अनन्तपुरुषी एक पुरुष के उत्तरार्द्ध की व्याख्या 'पुरुष' व्याख्या के पञ्चम षष्ठ परिच्छेद में विस्तार पूर्वक की जा चुकी है, फिर दुहराना पिष्ट पेषण होगा। जिस तत्व का वर्णन एक पुरुष के रूप में या एक अजीव पुरुष के रूप में किया गया हो, वह, वैदिकों की वर्णना के अनुसार एक पशु या अजीव पशु है या तत्व का एक साहित्यिक कल्पनामय प्रस्तुत पशु रूप पुरुष, अप्रस्तुत ब्रह्म की सर्वतः अनन्तता का पर्दा मात्र हटाता है। इसमें उस तत्व को सहस्र शिर आँख पाँव का बताया जाना ही उस की अनन्त बीज रूपता की ओर संकेत करता है।

सहस्र संख्या वाचक नहीं अनन्त वाचक है। जिसके पाद हस्त आखों का वर्णन किया जाय वह ब्रह्म क्या आदिरूप भी नहीं हो सकता। ब्रह्म चतुष्पाद होने तक, केवल एक ही होता है। त्रिपाद को भी 'एकं सदेतन्त्रयं' कहा गया है। पूर्वार्द्ध या त्रिपाद् का चक्षु भी एक ही है जो सूर्य २५ वां तत्व है जैसे 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकेवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥' (ऋ. वे. ८-५८-२)। उसकी द्वितोय फूटी आँख चन्द्र है। शिर तो एक (पूर्वार्द्ध) है ही इसी लिए उसे पुरुष पशु कहते भी हैं। अतः जो अनन्त शिर आँख पाँव का पुरुष है वह भौतिकता की अनन्त बीजरूपता की अनन्तता मात्र की वर्णना देने वाला पुरुष पशु हो सकता है इसी को अनन्त पुरुषी एक महा पुरुष भी कहते हैं और यह चतुर्थ सप्तक के आपोमय ब्रह्म सागर का वासी नारायण है, सोम है, सविता हैं, विष्णु है, रुद्र है या अग्नि है या वृषभ है जिसे अथर्व में 'सहस्रशृङ्गो वृषभो य' (४-५-१) ऋ. वे. ७-५५-७ में 'सहस्रधारं वृषभं' १.७९-१२ में 'सहस्राक्षो विचर्षणि' और 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' (१-१५४-६) कहता है (निऋ'ति देखें)। और यजुर्वेद 'अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धन् शतं ते प्राणाः शतं ते व्याना त्वं साहस्रस्य राय ईशिषः'' (१७-७१) कहता है। इसे सूक्त का ऋषि ही नारायण हैं। नारायण तब भी इसी चतुर्थ सप्तक के नृषद् नरसद् या आपोमय सप्तक का वासी देवता है। अतः हमारा सहस्रशीर्षा पुरुष चतुर्थ सप्तक के आपोमय सागर या नार (नृषद्) के अयन (वास) का नारायण ही है। अथर्व वेद ने 'सहस्रशीर्षा' के स्थान में 'सहस्रबाहुः' शब्द का प्रयोग करके, शेष में ऋ. वे का अनुसरण किया है। काव्य के अनुसार अथर्व का 'सहस्रबाहु' शब्द अधिक अच्छा है, दार्शनिकता में 'सहस्र-शीर्षा' शब्द उत्तम हैं। यजुर्वेद ने उक्त दोनों के 'विश्वतो वृत्वा' के स्थान में 'सर्वतः स्पृत्वा' लिखकर 'स्पृत्वा' का अर्थ 'वृत्वा' है करके स्पष्ट सूचित कर दिया है, और सर्वतः तथा विश्वतः दोनों पर्य्याय है हां। दोनों पाठों में अनुप्रास का लोभ भी दिखाई देता है। पर जो अनुप्रास आरम्भ ही से चलता है उसे यजुर्वेद ने तृतीय पाद तक खीच ले जाने की उत्तम चेष्टा की है। इस मन्त्र को अनेक पुराणों और उपनिषदों ने अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है, बहुतों ने ऐसा ही रख लिया है गीता ने 'सर्वतः पाणि पादं' श्वे० श्वे० उप० का पाठ दिया है।

सायण आदि भाष्य कारों ने सहस्रशीर्ष सहस्र आँख सहस्रपाद शब्दों के सहस्र शब्द को तो अनन्तता का वाचक ठीक बतलाया है, पर जब ये अनन्त शिर आँख पादों को इस भूलोक मात्र के प्राणिमात्र के शिरों आखों और पादों

का समाहार मानने लगते हैं, उसे ये विराट् कहते हैं तो आश्चर्य होता है। यहां तो मौलिक तत्व रूप पुरुष का वर्णन है, उसमें प्राणियों की स्थिति ही कहाँ बनी है, वहां तो वे अलिङ्ग बीज रूप में हैं, वे भी केवल इसी भूलोक के नहीं वरन् अखण्ड ब्रह्माण्ड के अनन्त गोलों के भी हैं, प्राणियों के ही नहीं वरन् सर्वजात (भूतस्य जातस्य पतिरेक आसीत्) अखिल भौतिक तत्वों का वह अलिङ्ग अनन्त बीज रूप एक बीज है। इसी बात को यजुर्वेद श. प. ब्रा. ९-२-३-३२ हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः' और 'शतमूर्द्धन' का अर्थ 'शत-शीर्षारुद्रोऽसृज्यत' कहता है एक बात। दूसरी बात यह है यहां पर शीर्ष, अक्षि और पाद शब्द पारिभाषिक है, अध्यात्म तत्त्व है, प्राणों या आत्माओ के वाचक हैं भूमि शब्द भी पारिभाषिक ही है। शीर्ष अक्षि और पाद तो द्यावा के प्रतिनिधि हैं, भूमि, पृथिवी की, और दोनों मिलकर (भूमि विश्वत वृत्वा) ये 'द्यावापृथिवी' या अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैदिक दर्शन में ब्रह्म का शिर तो केवल एक है, पर भौतिकता के प्रारम्भिक तत्व (२५ वें) को भी दूसरा शिर कहते हैं, ये गायत्री छन्द रूप २४ तत्वों के दो ओर छोर प्रथम और अन्तिम हैं। पाद शब्द की विवेचना भी इसी गायत्री के पादों के अनुसार (पुरुष सम्बन्ध में) की जाती है। पूर्वार्द्ध में केवल तीन पाद हैं, चार मुख्य ब्रह्म हैं। इसी को "चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्यपादाः द्वे शीर्ष्णे सप्त हस्तासो (सात सप्तक) अस्य" व्याख्यावान् वृषभ या महादेव कहा गया है। पर अनन्त शिरस्कता अक्षिता और पादता तो केवल भौतिक ब्रह्म सोम सविता की है जिसका वर्णन अगली ऋचा—"यदन्नेनातिरोहति' और अथर्वकार अर्वाग्बिल-श्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' मन्त्र ऊर्ध्वमूलमवाग्शाखा या वृक्ष के रूप में करता है। इस वृक्ष में एक आंख (सूर्य चक्षु) था, अब वह एक आंख (अंकुर निकलने का प्रथम चिह्न) में अनन्त आखें या अंकुर निकलने के चिह्न हो गये हैं, जो भौतिकता का दूसरा शिर था उसमें अब अलिङ्ग और अनन्त बीज रूप शिर उस आंख से झांकने लगे हैं, और वही अंकुर अब अनन्त पादों या मूलों (जड़ों) के रूप में भौतिकता की व्याप्ति को विकसित कर रहे हैं। यहां पर शिर आँख पाद भूमि शब्दों की पारिभाषिकता का एक ही और यही मुख्य आध्यात्मिक अभिप्राय है। यह वेदवृक्ष या देववृक्ष के शिर आंख पाद है। दशाङ्गुल शब्द भी पारिभाषिक ही है उसकी व्याख्या 'अत्यतिष्ठद्' शब्द की पारिभाफिक व्याख्या के साथ साथ दी जा चुकी है। सायण आदि इस पारिभाषिकता को न जानकर इसे 'उपलक्षण' कह गये, उन्होंने पुरुष को सचमुच में दश उंगली लम्बा समझा अतः 'परिमित' शब्द और 'ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्य स्थितः' लिख गये, क्या ब्रह्माण्ड से बाहर भी कुछ है ? ब्रह्म में ब्रह्माण्ड है, ब्रह्म

ही ब्रह्माण्ड है, उसमें बाहर भीतर कैसा ? उसमें 'परिमित' शब्द का प्रयोग कैसे हो सकता है ? परिमित और व्याप्त दोनों शब्द विरोधी हैं, ब्रह्माण्ड शब्द के साथ 'बहिरपि' कहना दार्शनिक होगा भी ? तीसरी बात यह है कि इस मन्त्र में अनन्त पुरुषी एक पुरुष का वर्णन गायत्री के त्रिपादयुक्त चतुष्पाद (ब्रह्म रूप) पुरुष की व्याख्या रूप में है जो विराट् से दश अंगुल या दश तत्व पीछे है और दश प्राणों का अतिक्रमणकारी है। वह विराट् दूसरी वस्तु है । उसकी उत्पत्ति की बात फिर पञ्चम मन्त्र में वतलाई गई है । कई लोगों ने 'दशाङ्गुल' माने दशों दिशायें 'अत्यतिष्ठत्' माने व्याप्त लिखा हैं, वह भी कोरी कल्पना ही है, निराधार है ।

उक्त ऋचा का जो भाव है वह ऋ. वे. १०—८१-३ की ऋचा'' विश्वत-श्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमीं जनयन् देव एकः ।।'' का भी है, कहना यह पड़ेगा कि इस ऋचा ने पुरुष सूक्त के प्रथम मत्र का भाष्य लिखा हैं या पुरुष सूक्त का प्रथम मन्त्र इस ऋचा का ही आशय उगलता है । इस मंत्र के विश्वतः चक्षु, मुख, बाहु, पाद, द्यावाभूमी, वाहुभ्यां, पतत्रैः शब्द सब पारिभाषिक हैं । यह 'एक' जिसने द्यावा भूमी' (अखिल पह्माण्ड) की रचका की वह वही स्वयं है । वह 'त्रिपाद् अमृत युक्त चतुर्थपादीय भौतिकात्मा युक्त (एकं सदेतत्त्रयं) है । कहा जा चुका हैं कि २५ तत्व तक एक ही चक्षु (रूप सूर्य) हैं. एक ही मुख है. एक ही पाद (त्रिपादयुक्त है पर 'एकं सदेतत्त्रयं) है, वह द्वितीय पाद पें दो बाहु रूप अरणियों की धमन क्रिया से जीवात्मा रूप रुद्र को और त्रिपादामृत के संयोग से पतत्र पर्ण रूप सुपर्ण (प्रथम भौतिक पतत्र या पत्र या कोमलतम पत्र पक्ष पंख या अंकुर से द्यावा भूभी की सृष्टि करता है । जव द्यावाभूभी दोनों का निर्माण हो जाता है तब उसका भौतिक भाग 'विश्वतश्चक्षु रुत विश्वतोमुख' इत्यादि रूपों में या नाना अंकुरों के अलिङ्ग बीज रूप के नाना रूपों में सा प्रतीत होने लगता है । यहां 'विश्व' शब्द प्रधान संकेतक है जो भौतिक सृष्टि का सूचक है (विश्वेदेवता देखें) । यहीं से एक में अनेकता, अनेकों में एकता का बखेड़ा प्रारम्भ होता है । यह वेद वृक्ष या देव वृक्ष या सृष्टि वृक्ष है, उसी की ये आंख मुख वाहु पाद आदि आध्यात्मिक अंग हैं जिनका विवेचन हो चुका है । श्वे. श्वे. उप. इस मंत्र को रुद्र की व्याख्या में देता है । गीता में 'सर्वतः पाणिपादं' आदि ब्रह्म की परिभाषा में इसी मंत्र के भाव का उल्था करके रखा गया और श्वे श्वे. से उद्धृत किया है ।

अन्त में यह कहना आवश्यक हैं कि सहस्र शीर्षा माने यह है कि ब्रह्म का प्रत्येक अंग शिर सा काम करता है या प्रत्येक अंग चक्षुरूप है या प्रत्येक

अंग गतिरूप है। उसी रूप में वह सर्वत्र व्याप्त हुआ है। जहाँ चक्षु श्रोत्र पाद शिर आदि नाम से ब्रह्म या पुरुष की व्याख्या की जाती है उसे अध्यात्म व्याख्या कहते हैं।

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

[अन्नं ब्रह्मेत्याहुः]

प्रस्तुत मन्त्र में मुख्य पारिभाषिक शब्द 'अन्नेन' है। अब तक के समस्त भाष्यकारों तथा अनुवादकों ने इस अन्न शब्द का अर्थ खाया जाने वाला अन्न (अनाज) लगया है। कहां तो उस पुरुष की इतनी व्याप्ति का वर्णन हो रहा है कि जो कुछ भी है सब पुरुष है, 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' रूप है, उसका उस मौलिक रूप में भूत, भव्य और अमृत रूपों में इसे उगने वाले अन्न से कौन सा सीधा या तत्कालिक सम्बन्ध होगा ? किसी ने सोच भी नहीं दिया। खैर अन्न नाम सोम का है, भौतिकात्मा का है, वही भूत और भव्य रूप में वृत्र बनकर अन्नाद या स्वयं को स्वर्ग से विकसित या पुष्ट करने वाला कहलाता है। इसका वर्णन श. प ब्रा. ११–१-६–१९ में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार दिया है "अन्नाद एवाग्निरभवत् अन्नं सोमो अन्नादश्च वा इदं सर्वं अन्नं च ।।" 'यज्ञो हि देवानामन्नं' (श. प. ब्रा, ५-१-१-२) "वृत्रो वै सोम आसीद्" (श प ब्रा. ४–१-४ ७) "अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ।" 'अन्नं सोमो अन्नादश्च' (श. प. ब्रा. १-५-२-१७; तै. उप.) इत्यादि। यह सोम या अन्न रूप भौतिकात्मा अग्नि रूप उदर भी है और स्वयं पोषक तत्त्व भी (अन्न की तरह)। इसी लिए इसका नाम 'अन्नं' रखा भी गया है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि इस मंत्र का 'अतिरोहति' शब्द फिर सृष्टि वृक्ष की ओर संकेत करता है। अतिरोहण सदा ही वृक्ष का ही होता है। इस अखिलब्रह्माण्डीय सृष्टि वृक्ष के अतिरोहण का क्रम इसी अन्न नामक सोम या चन्द्रमा या वृत्र या भौतिकात्मा के अभ्युदय के पश्चात् पूर्व ऋचा में वर्णित 'सहस्र शीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्' या 'विश्वतश्चक्षुरूप विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्' रूप में अनन्तता की ओर झुकने लगता है। इसी भाव को मन में रख कर लिखा है कि वह पुरुष रूप सृष्टि वृक्ष अन्न रूप सोम या भौतिकात्मा से अतिरोहण करता है या नाना रूपाकारों की मौलिकता की ओर अग्रसर होने लगता है। अतिरोहण माने अनन्त रूपों में विकसित होना है। इस कथन की पुष्टि अथर्व वेद का 'यदन्नेनातिरोहति' के स्थान में दिया पाठान्तर 'यदन्येनाभवत्सह' वाक्य कर देता है जिसका सीधा अर्थ यह है कि जो पुरुष अन्य से

या द्वितीय भौतिकात्मा से युक्त हुआ। इस भाव को पुन अथर्व १०-८-७-१३ 'अर्द्धेन विश्वं भुवनं जनान, यदस्य अर्द्ध क्वतद् बभूव' (कतमः स केतुः) पुष्ट करता है, कतम वाला पूर्वाद्र्ध है दूसरा उत्तराद्र्ध। यही भाव बृहदारण्यक ने 'स एकाकी न रमते विभेति, आत्मानं द्वेधापातयत् पतिश्च पत्नीश्चाभवताम्' वाक्य करता है। द्वितीय आत्मा यही भौतिकात्मा सोम है जिसे पुरुष की पत्नी या द्यावा की पत्नी या पृथिवी कहते हैं, दोनों मिलकर 'द्यावा पृथिवी' या अद्र्धनारीश्वर बन गये।

इस मंत्र का दूसरा पारिभाषिक शब्द अमृतत्वस्य' है। अमृत नाम दर्शन के पूर्वाद्र्ध के २४ तत्त्व रूप देवताओं का है। इनको गायत्री छन्द के त्रिपादों में त्रिपाद अमृत भी कहते हैं। इसके समर्थन के लिए दूर जाने की भी आवश्यकता नहीं है। इस सूक्त के तृतीय मंत्र में त्रिपाद (गायत्री के तीन पाद रूप पूर्वाद्र्ध या द्यावा या दिवि) को अमृत नाम से पुकारते हुए साफ लिखा है 'त्रिपादस्यामृतं दिवि'। अतः यहां पर द्वितीय मन्त्र कहता है कि वह भौतिकात्मा सोम या अन्न से नानारूपाकारों में अतिरोहण या विकसित होने पर भी अमृतत्व या पूर्वाद्र्ध द्यावा या दिव के त्रिपादामृत का स्वामी बना रहा ('उत' शब्द का अर्थ यही 'भी' है)। वह द्यावा पृथिवी रूप अद्र्धनारीश्वर आदित्य (सूर्य) आध्यामिक और भौतिक आत्माओं का एक मधुमय मिश्रण या मीठा या रसमय ब्रह्म बन गया। अथर्व ने पाठान्तर में 'अमृतत्वश्येश्वरो' कहकर उक्त आशय की पुष्टि सी कर दी है, यहां पर ईशान का अर्थ ईश्वर, स्वामी दे भी दिया है। वेदों में ईशान नाम उस पूषा वा रुद्र का है जिसको आदित्यों का प्रतिनिधि कहते है जैसे 'आदित्यो वा ईशान' (श. प. ब्रा. ७-१-३-१० से १८ तक)

'यद्भूतं यच्च भव्यम्' खण्ड को पढ़ते ही यजुर्वेद के 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तागते सप्तहोता···' मन्त्र की, अथर्व के 'यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति' (१०-८-१) मन्त्र की तथा ऋ. वे के 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' मन्त्र की प्रतिध्वनि स्वयं कानों में गूंजने लगती है। इन सबका आशय भी प्रायः एकसा है, एक दूसरे की व्याख्या सी कर रहे हैं। यजुर्वेद ने 'भूत' को भुवन नाम से पुकार कर उसे त्रिभुवन-भूर्भुव स्वः-त्रिपादामृत का प्रतिनिधि बना दिया है। यही भाव ऋ. वे. के उद्धृत 'भूत' शब्द का भी है (कः हिरण्य गर्भः देखें)। जिसको हमारा यह द्वितीय मन्त्र भव्यम् कह रहा है उसे यजुर्वेद भविष्यत् या भौतिकात्मा के नाम से और हिरायगर्भीय सूक्त पृथिवी नाम से पुकार रहा है। अतः 'यद्भूतं' माने 'जो कुछ

भी पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृतीय दैवी भाग था' है 'यच्च भव्यम्' माने 'जो कुछ भी उत्तरार्द्धीय में होने वाला था भौतिकात्मा या आसुरी भाग था' है; वह सब 'पुरुष एवेदं सर्वम्' पुरुष ही था, 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' था और वह अमृत का स्वामी या त्रिधात्मा युक्त था, जिसको यजुर्वेद अपने शब्दों में 'परिगृहीतममृतेन सर्वम्' कहता है और जो (यदन्नेनतिरोहति) भौतिकात्मा की विकास शीलता से स्वयं नानारूपाकारों में अनन्तता में विकसित होता है। महाभूत बहुत स्थूल तत्त्व हैं, भूत तो आत्मा (त्रिधात्मा) का वाचक है। अतः लौकिक संस्कृत में इसका अर्थ 'प्राणी' हैं पर यह प्राण रूप है।

अथर्ववेद ने इस ऋचा को चौथे मंत्र में दिया है जिसमें 'ईशान' के स्थान में 'ईश्वरः' और 'यदन्येनातिरोहति' के स्थान में 'यदन्येनाभवत्सह' पाठान्तर दिये हैं। यजुर्वेद ने 'भव्यम्' के स्थान में 'भाव्यम्' पाठ दिया है। भाव्यम् का वही अर्थ है जो 'भविष्यत्' या 'भव्यम्' का है, यह उत्तरार्द्ध में होने वाले भौतिकात्मा का संकेतक है। सायण ने 'भूत' शब्द का 'अतीतं' अर्थ करके न जाने क्या सोचा है ? उनकी दृष्टि स्यात् चालू सृष्टि पर—बड़ी मोटी जगह पर-पड़ी है। कह भी गये हैं कि जैसे इस कल्प के प्राणियों के देह विराट् के अवयव हैं वैसे ही अतीतानागत प्राणियों के भी देह उसके अवयव हैं। वे विराट् माने दृश्य ब्रह्माण्ड समझे बैठे हैं। यहाँ पुरुष का वर्णन हो रहा है, विराट् का नहीं; अभी इस सूक्त ने विराट् की उत्पत्ति पर प्रकाश ही नहीं डाला है, उसका वर्णन तो पञ्चम मन्त्र में आयेगा। सायण जी गर्भस्थित विराट् को अभी से कंगना दिखा रहे है। विराट् कुछ और ही तत्त्व है, पुरुष कुछ और ही, एक गायत्री पुरुष है दूसरा विराट् छन्द का पति। दोनों की तत्त्व संख्या और क्रमों में आकाश पाताल का अन्तर है। कहने का तात्पर्य यह है कि सायण ने इन मंत्रों की व्याख्या बिलकुल लौकिक और अदर्शनिक शैली में तथा वैदिक दर्शन के वातावरण से एकदम दूर होकर लिखी है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

[त्रिपाद, चतुष्पाद्ब्रह्म]

प्रस्तुत पुरुष की इतनी और उतनी बड़ी बड़ी गम्भीर और अनिर्वचनीय महिमायें हैं, जो विवक्षित और विवक्षमाण मंत्रों या प्रार्थनाओं में जितना भी गाया जाय उनसे भी वह कहीं लाखों करोड़ों गुना अधिक बडी महिमा का पुरुष है। (कितना ही कहें कितना ही लिखें उसकी महिमा कहीं कभी पूरी न हो सकेगी)। ऐसा महतोमहीयान् नेति नेति महिमावान् वह महा पुरुष है। यह

मंत्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ है। इस मंत्र का उत्तरार्द्ध बड़े महत्व का है इसमें सभी शब्द पारिभाषिक हैं। पादः, विश्वा, भूतानि, त्रिपाद अमृतं और दिवि। वैदिकों ने ब्रह्म की विवेचना भी छन्दों को आधार बनाकर उनके प्रत्येक अक्षर को एक एक तत्त्व तथा उनके पादों को ब्रह्म के विकास खण्डों के रूप में वर्णित किया है। परन्तु जहाँ पर त्रिपाद या चतुष्पाद ब्रह्म का वर्णन आता है वहां पर केवल गायत्री या चतुष्पदा गायत्री (अनुष्टुप्) के ही पादों का विवेचन आता हैं। इन छन्दों के अनुसार ब्रह्म को पुरुष या पति नाम से पुकारा गया है। हमारे पुरुष सूक्त का पुरुष गायत्री का पति रूप पुरुष है। वह दिवि या पूर्वार्द्ध में गायत्री के तीन पाद २४ तत्त्वों में अमृत रूप में विकसित होता हैं। छान्दोग्य उपनिषद ने तो गायत्री ब्रह्म के वर्णन में इसी ऋचा को अथर्व के पाठ में उतार कर उक्त भाव की पुष्टि करते हुए लिखा है "सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेत दृचाभ्यनूक्तं 'तावनस्य महिमा······अमृतं दिवीति यद्वै तद्ब्रह्मे· तीदं वाव।" इत्यादि ॥ (१–३–१२)। फलतः छन्दोग्य ने इस ऋचा का अर्थ स्वयं लिख कर सबको सन्देह हीन कर किया है। वही गायत्री जब दर्शित चतुर्थ-पदा बनती है या चतुर्थ पाद का या विश्वा भूतानि रूप भौतिक आत्मा का विकास करती है तब वह पुरुष चतुष्पाद ब्रह्म या चतुष्कल ब्रह्म कहलाता है। यह चतुर्थ पाद चतुर्थांश नहीं बरन् चार आत्माओं वाला है। पूर्ण पुरुष तो सप्तपुरुषी या सप्तात्मा होता है जिनको 'सप्तपुरुषोह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मानः त्रयः पक्ष पुच्छानि (श० प० ब्रा० १०–२–२) कहा है (चतुष्पाद ब्रह्म व्याख्या देखें)। इनमें से प्रथम चार पादों को चतुष्पाद ब्रह्म कहते हैं। चतुर्थ पाद से भौतिकता का आरम्भ होता है। अतः इस पाद को यह मंत्र 'विश्वाभूतानि' या भौतिकात्मायें कहता है भूतानि = आत्मायें, पूर्वार्द्ध या दिवि में त्रिपाद की तीन अमृत रूप आत्मायें हैं पर वे 'एकंसदेतत्त्रयं' नियम से 'एकं भूतम्' एक या एक ही आत्मा रूप में कही गई है। विश्व शब्द का वेदों में सर्वत्र 'भौतिक' अर्थ है। यहाँ 'विश्वानि भूतानि' = अनन्त भौतिकात्मायें— जिनका विवेचन प्रथम मंत्र में किया जा चुका है'! अथर्व ने 'एतावान्' की जगह 'तावन्तो' और अतः के स्थान में 'ततः' पदों का प्रयोग करके 'महिमा' को संख्यातीत बतला देने का अच्छा संकेत दिया है।

यास्क सायणादिकों में से किसी भी भाष्यकर या अनुवादक या निरुक्तकारों को वैदिक छान्दस दर्शन प्रणाली का ज्ञान नहीं है। वे त्रिपाद द्विपाद चतुष्पाद वा एकपाद के माने पशुओं या पक्षियों या मनुष्यों के से पाद वाले समझ कर, वैदिकों के एतद्विषयक गम्भीर दार्शनिक रहस्य के सागर से बहुत दूर छिटक गये हैं। अतः सायण जी तैत्तिरीय आरण्यक (८–१) और तैत्तिरीय उपनिषद

(२–१) के वाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' को वैदिकों की शैली में न समझ कर वरन् शंकराचार्य के शारीरीक भाष्य (ब्रह्मसूत्र) का अनुणरण करके लिख गये हैं "परं ब्रह्मण इयत्ताभावात् पाद चतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं ततोऽपि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः ।" कि ब्रह्म की इयत्ता ईदृग्ता का अभाव होने से उसका वर्णन चतुष्पाद रूप में नहीं किया जा सकता, फिर भी 'यह जगत् (केवल भूलोक) ब्रह्म स्वरूप की अपेक्षा बहुत छोटा है' इस भाव को व्यक्त करने के लिए उसका वर्णन पाद रूप में किया गया है। उधर वे इस मंत्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या में लिखते हैं कि 'अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तिनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोअंशः । यस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूप ममृतंविनाश रहित सद्दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवस्थित इति शेषः ।" आप देखलें यहां पर सायण को न तो वैदिक छान्दस दर्सन की अक्षर विद्या और पाद विद्या विदित है, न शंकरादि के ब्रह्म व्याख्या का अनुसरण करके वैदिक ब्रह्म की यथार्थता ही ज्ञात है। वैदिक आर्य ब्रह्म के विकास के दो मुख्य भाग मानते थे, ज्ञान और अनन्त रूप जो दोनों सत्य हैं, ये भौतिक जगत् को असत्य या अभाव रूप में समझते है उधर अन्य पारिभाषिक पद 'विश्वा भूतानि, पाद त्रिपाद् अमृत और दिवि' में से सबके अर्थ भी लौकिक संस्कृत के अनुसार अटकल से ऐसे लगाये हैं कि जो वैदिक साहित्य से अच्छी तरह परिचित नहीं उन्हें बहुत शुद्ध और उत्तम से लगें। यहां पर विशेष करके, दिवि माने न द्योतनात्मक होता है, न अमृत माने विनाशरहित ही, न त्रिपाद् माने कभी भी कालत्रयवर्तीनि, न भूतानि माने सर्वत्र प्राणि जातानि, न विश्वानिमाने सर्वाणि मात्र। इनका शुद्ध सही उचित और सत्य तथा वैदिक अर्थ पहिले दे दिया गया है।

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥

['अशनाया हि मृत्युः से त्रिपाच्चतुष्पाद्ब्रह्म']।

क्या किया जाय सायण जी यहाँ पर 'त्रिपात्पुरुषः' माने 'संसाररहितो बहुल स्वरूपः' कह गये हैं। ये दोनों विशेषण एक दूसरे के बिलकुल विरोधी हैं। जो संसाररहित हैं वह अभौतिक है तो वह बहुलस्वरूप या भौतिक नहीं हो सकता, न इसके विपरीत। ऐसा वे क्या समझकर लिख गये, यह वही स्वयं बता सकेंगे ; ऐसी ही सब बातें यहां के पाद : शब्द तथा शेष उत्तरार्द्ध की व्याख्या में लिखगये हैं। अस्तु, यह ऋचा पूर्व ऋचा के भाव को और अधिक स्पष्ट करने के लिए दी गई है, पूर्व ऋचा में त्रिपाद् और चतुर्थपाद की चर्चा आ चुकी है। इन

पादों के बारे में वैदिक युग में जो धारणायें या आख्यान या व्याख्यान विद्य-मान थे उनका यहां पर ऐतिहासिक संकेत दिया जा रहा है। इस ऋचा का जो पाठ ऋ० वे० और यजुर्वेद में (जैसा यहां दिया है) मिलता है वह कुछ अधिक स्फुट नहीं है, पर अथर्व ने इस पहेली को सुलझाने के लिए जो अधिक स्पष्ट पाठ दिया है, वह इसके भाष्य का सा काम कर रहा है। इसीलिए अथर्व ने इस ऋचा को द्वितीय स्थान दिया है तब पूर्व ऋचा को। अथर्व का पाठान्तर यह है "त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येदाभवत्पुनः। तथा व्यक्रामत् विष्वङ्शनानशने अनु॥" अब अथर्व के मन्त्र के अनुसार उक्त ऋचा के 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' का अर्थ या भाष्य 'त्रिभिः पद्भि द्यामरोहत्' हुआ; अर्थात् वह पुरुष तीन पादों से (ऊर्ध्वमाने) द्यौं या पूर्वार्द्ध रूप दिन में उदित हुआ या आरूढ हुआ (उदैत् = अरोहत् , ऊर्ध्वम् = द्याम्)। यह भाव वामन नामक विष्णु की कथा से लिया गया है जिसका वर्णन श. प. ब्रा. (१-२-३-५ से १० तक) में दिया गया है। इस वामन रूप विष्णु की कथा का मूल स्रोत 'इदं विष्णुर्वि-चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' (ऋ. वे १-२२-१७) ऋचा है। इसके अनुसार वामन नामक (५२ अंगुली या ५२ तत्त्व के) पुरुष या विष्णु ने अपने तीन लोक पदों को, भूर्भुवः स्वः प्रथम तीन लोक या सप्तक या दर्शन के पूर्वार्द्ध के २३ तत्त्वों को अति-क्रमण कर लिया, और वे तीन पाद या पूर्वार्द्ध, चतुर्थपाद की पांसुल रजोमयता में अदृश्य से हो गये (विष्णु शीर्षक देखें)। पद और पाद में अन्तर है, पद तो सप्त सप्तकों के सप्तक का नाम है, पाद गायत्री त्रिष्टुप् आदि के पादों का है। त्रिपद में २३ तत्त्व है, त्रिपाद में २४। इसीलिए बृह० उप० गायत्री को दर्शित चतुर्थपदा कहती है क्योंकि २४वें में चौथा पद प्रारम्भ हो जाता है। वास्तविक अर्थ तो यही है। पर सायण जी कहते जा रहे हैं कि 'अस्माद-ज्ञानात्कार्यात् बहिर्भूतः अत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्'। कहां तो विष्णु के पादों के अतिक्रमण कीं वैदिक कथा या दर्शन की बात चल रही है, कहां ये इस लोक की लौकिक बातों में घटाते जा रहे हैं। यहां अज्ञान के कार्य का क्षेत्र कहां है? बाहर कहां है? कहाँ अस्पृश्यता है? ऊँचे उठकर ठहरने की चर्चा कहां है?

'पादोऽस्येहाभवत्पुनः' का अर्थ पूर्वपाद की सम्मिलित विचारधारा से यह होता है 'तब उसके चतुर्थ पाद (रूप भौतिकात्मा) का विकास हुआ'। अब वह पूर्ण चतुष्पाद ब्रह्म बन गया। सायण ने पुनः इस पद को (शंकर की बाह्यार्थ शून्यतावादी) माया बतलाया है। परन्तु वेदों में इसी को यथार्थ भौतिकात्मा, अखिल ब्रह्माण्ड की सोमात्मा माना है। यह ठीक है कि भौति-कात्मा ब्रह्म का अंश है, पर यह शतप्रतिशत सत्य, नित्य, अजर और अमर है,

हां परिणामिनी होने से अनृत या माया नाम से पुकारा जाता है, नश्वरता परिणामों की है न कि परिणामी तत्त्व की, यह भौतिक तत्त्व ब्रह्म की तरह विभु और नित्य है।

'ततो' साशनानशने अभि विष्वङ्व्यक्रामत्' इसमें 'साशनानशने' पद का द्वन्द्व समास तो वैदिक परिभाषिक शब्द है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने आरम्भ ही में इसका प्रयोग किया है, लिखा है "नैवेह किञ्चनाग्र आसीद् मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोकुरत मन्वीस्यामिति" (१–१–१) (श० ब० ब्रा० १०–६–५-१)। यहाँ पर अशनायया और अशनाया दो पदों का प्रयोग है। अशनाया की मृत्यु ही मृत्यु रूप स्थिति है, वह स्थिति अशनाया (अशनायया) से आवृत है या मृत्यु से व्याप्त है, दोनों एक ही बात है, यह इसी उद्धरण में उल्लिखित हैं। यहां पर जिसको 'मृत्युना आवृतं' या अशनायया आवृतं कह रहे हैं वह मृत्यु या अशनाया दोनों भौतिकात्मा के रजः पटल या पाँसुल स्वरूप के लिए प्रयुक्त किये जा रहे हैं, भौतिकात्मा का स्वरूप इससे पहिले था ही नहीं, जो कुछ था वह भौतिक शरीर न होने से उसका स्वरूप मृत्यु या अशनाया ही कहा जा सकता है। आत्मा का भौतिकता से या शरीर से पृथक् रहना ही मृत्यु है अशनाया है। तब इस भौतिक ब्रह्माण्ड के विकास ह्रास का कोई कारण (खाद्यादि सम) रहा ही नहीं। छा० उप० (६–८–३) ने इस अशनाय की उत्तम और स्पष्ट व्युत्पत्ति दे रखी है। लिखा है "अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनायः एवं तत्तेज आचक्षते उदन्येति।" "आप एव तदशितं नयन्ते······अप आचक्षते अशनाय" कि अशनाय नाम अपः या आपः का है, इन्हीं आप को धारण करना भौतिकता को धारण करना अशनाय या अशनाया कहते हैं। जैसे गाय ले जाने वाला गोनाय कहलाता है वैसे ही आपः को ले जाने या धारण करने वाले को अशनाय कहते हैं। इसी लिए कहा है 'मृत्युरेवापः' (बृह० उप० वही०)। ऐसी परिस्थिति में चतुष्पाद् ब्रह्म उस अनशन और अशन रूप मृत्यु को चारों ओर से व्याप्त कर के अब मनस्वी, वाग्मी और अदिति के अत्ता रूप को प्राप्त हुआ, या आदित्य रूप में या सूर्य चन्द्र सोम वैश्वानर आदि देवों के मनः वाग् प्राण रूपो में विकसित हुआ। यहां पर 'साशनानशने' एक शब्द है, अनशन पूर्वार्द्ध है अशन उत्तरार्द्ध, वह इन दोनों से युक्त पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों को (अभि) सर्वतः व्यतिक्रमण कर गया और उस मृत्यु रूप अशनाया को अपनी आत्मा बनाकर, मृत्युञ्जय रूप महो देव बन गया। 'स मृत्युञ्जयति मृत्युरस्यात्मा भवति' (श० प० ब्रा० १०–६–५–८)। श० प० ब्रा० १०-५–१–४ में स्पृष्ट शब्दों में लिखा है कि

मृत्यु नाम उन तत्त्वों का है जो आदित्य से अर्वाचीन हैं, जो इन तत्त्वों को अपनाता है वह मृत्यु से आप्त या व्याप्त हो जाता है। इस मृत्यु रूप आत्मा को विद्या से जीता जा सकता है, विद्या उसे आदित्यों से ऊर्ध्व या बसु रुद्रों के पूर्वों या तत्त्वों में ले जाती है, ऐसों को ऊध्वञ्चित कहते हैं। इस मृत्यु रूप तत्त्व का विस्तृत व्याख्यान पुन० श० प० ब्रा० (१०-५-२-३ से १८ तक के ब्राह्मणों) में दिया है। मृत्यु नाम मरने का नहीं है, वरन् यह तो एक तत्त्व है, पुरुष का नाम है, अमृत है, मृत्यु के अन्तर्भाग में अमृत है मृत्यु विवस्वान् में वसती है, यह भौतिकात्मा है, अमृत है, अमर है। जब भौतिकात्मा या मृत्यु, का उच्छेद करके त्रिपादामृत शुद्धरूप में रहता है तब लोग कहते हैं कि मृत्यु हो गई, वहां समझना चाहिए कि मृत्यु पृथक् हो गई, तब उसे प्रेत कहते हैं कि वह अलग हो गया (वह अमर है) ऐसी परिस्थिति में त्रिपादात्मा पुरुष प्राण रूप में अपने मे सब कुछ आशयित करके रहता है तो लोग कहते हैं वह 'स्वाः' बन गया या सोता है या स्वप्नमय हो गया। इस परिस्थिति में वह न तो कुछ ज्ञान रखता है, न मन से संकल्प करता है, न वाणी से अन्न का रस जानता है, न प्राण से गन्ध, न आँख से देखता है, न कान से सुनता है। इन उपकरणों वाले शरीर से वह पृथक् हो गया, वह एक में अनेकों के बीजों को एक बीज रूप में समाविष्ट करके 'एक' होके रहता है, तब उस मृत्यु को एक कहें या बहुत? उसे बहुत कहना चाहिए, वह समीप भी है दूर भी है। इसी दो रूपों को अशनाया, मृत्यु या 'अशनानशने' कहते हैं। इसी को अत्ता कहते हैं, शरीर को अन्न कहते हैं (शेष मृत्यु नामक देवता शीर्षक में देखें)। और इसी भाव को "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिसष्वजाते। तयोरेकं पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (ऋ० वे० १-१६४-२०) ऋचा 'स्वाद्वति अनश्नन्' (साशनानशने) धातुओं के द्वारा अभिव्यक्त करती है। इसी भाव को ईशावास्योपनिषद् 'अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृत मश्नुते' मन्त्र में देता है। त्रिपादूर्ध्वमुदेत्पुरुषः' में ऊध्वमुदैत् की सन्धि अनियमित या वैदिक है। सन्धिविच्छेद यह है, ऊर्ध्वः + उत् = ऊर्ध्वमुत्।

तस्माद्विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ५॥

(विराट्पुरुषः, विराड्चतुष्पाद्ब्रह्म)

इस ऋचा के यजुर्वेदीय पाठ में सर्व प्रथम शब्द 'तस्माद्' के स्थान में 'ततो' दिया है जिससे अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु अथर्व वेद के पाठ में प्रथम पाद में जो 'विराडग्रे समभवत्' पाठ ('तस्माद्विराडजायत' के स्थान में) दिया गया है, वह अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इस पाठान्तर से

पुरुषसूक्त की व्याख्यान शैली पर एक ऐसा ज्वलन्त प्रकाश पड़ता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूक्त का प्रत्येक मन्त्र पुरुष या यज्ञ पुरुष की व्याख्या नाना रूपों में नाना शैलियों में कर रहा है। प्रत्येक ऋचा उसका व्याख्यान वेदों में स्वीकृत नानारीतियों के रूपों में संक्षिप्त, पर सूत्र रूप में पूर्ण दे रही है। प्रस्तुत ऋचा पुरुष की व्याख्या 'विराट्' रूप में कर रही है। पुरुष की विराट् रूप व्याख्या अपने ढंग की अलग है, अथर्व ने तो 'विराट्' पर एक पूरा सूक्त लिखा है। उसी का सारांश सा इस मन्त्र में मिलता है। इस ऋचा का अर्थ श० प० ब्रा० १३-६-१ पूरे प्रपाठक में भाष्य के रूप में जैसा दिया हुआ मिलता है, उसी को यहां पर देकर सब के सन्देह की निवृत्ति कर दी जाती है। प्रथम वाक्य को 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' की व्याख्या में दिया जा चुका है द्वितीय वाक्य जिसका सम्बन्ध सीधे इस ऋचा ही से है वह इस प्रकार है 'तस्य त्रयोविंशतिर्दीक्षा द्वादशोपसदः पञ्चसुत्याः स एव चत्वरिंशद्रात्रः सदीक्षोपसत्कश्चत्वरिंशदक्षरा विराट् तद्विराजमभि सम्पद्यते 'ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुष' इत्येषा वै सा विराडेतस्या एतद्विराजो यज्ञम्पुरुषं जनयति ॥ २ ॥ ता वा एताः चतस्रो दशतो भवन्ति, तद्यदेता चतस्रो दशतो भवन्त्येषाञ्चैव लोकानामाप्तौ दिशाञ्चेममेव लोकम्प्रथमया दशताप्नुवन्नन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया दिशश्चतुर्थ्या तथैवेतद्यजमान इममेव लोकम्प्रथमया दशताप्नोत्यन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया दिशश्चतुर्थ्यै-तावद्वा इदं सर्वं यावदिमे च लोका दिशं च सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्तौ सर्वस्या·वरुद्धयै ॥" यहां पर विराट् पुरुष की विवेचना का आधार विराट् छन्द को बतलाते हुए कहा है कि इसमें १०, १० के चार पाद होते हैं कुल ४० अक्षर या तत्त्व होते हैं, इसे यज्ञपुरुष कहते हैं। प्रथपाद ब्रह्मपाद है जिसका दूसरा पाद अन्तरिक्ष या गार्हपत्याग्नि है, तृतीयपाद दिव या भौतिकात्मा है, चतुर्थ-पाद दिशायें या भौतिक शरीर हैं (दिशाओं का सम्बन्ध भौतिकता ही से है ब्रह्म या त्रिपाद् पुरुष से नहीं, वे एक है विभु हैं अरूप हैं)। इस प्रकार के विराट पुरुष को इसी "ततोविराडजायत विराजोऽधिपूरुषः" ऋचा का पुरुष कहा है। इससे स्पष्ट है कि विराट् पुरुष का वर्णन इसमें आद्योपान्त किया जा रहा है, और यज्ञपुरुष रूप में किया जा रहा है और ऋचा में 'तस्मात्' या 'ततः' का अर्थ 'किसी अन्य तत्त्व से' निकलना या विकषित होना नहीं है वरन्, इसके माने 'तदुपरान्त दूसरी शैली से कहा जाय तो' है। इस सन्दर्भ से अथर्व का पाठान्तर अधिक संगत है। इस विराट् पुरुष या विराट् ब्रह्म की विशद और विस्तृत तथा सर्वाङ्गीण व्याख्या अथर्व ८-५ १० (१, २, ३, ४, ६) में दी गई है जिसका सार श० प० ब्रा० (१०-५-२ पूरे प्रपाठक में)

दे देता है। प्रतीत ऐसा होता है कि अथर्व ने उक्त श० प० ब्रा० की व्याख्या की है, इनमें कौन प्राचीन कौन नवीन है इसका निर्णय करना सीधा नहीं है। श० प० ब्रा० ने सूक्ष्म में, अथर्व ने विस्तार में कहा है, दोनों प्राचीन हो सकते हैं।

विराट् क्या है ? इसकी व्याख्या अथर्ववेद (१०-५-१०-२४) ने बड़ी सरल और स्पष्ट भाषा में देते हुए लिखा हैं "विराड् वाग् विराट् पृथिवी, विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः। विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥" कि विराट् वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है, विराट् सोम या पृथिवी नामक भौतिक ब्रह्म है, विराड् अन्तरिक्ष नामक गार्हपत्याग्नि है। इसका समर्थन श० प० ब्रा० (७-२-१-२३) ने कर रखा है, इसका उद्धरण निर्ऋति नामक शीर्षक में देखें। और यही बात पुनः अथर्व (१०-५-१०) के १ और २ मन्त्रों में कहता है। विराट् प्रजापति है जिसमें सर्वाःप्रजाः अपने मौलिक रूप में (अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश) सन्निविष्ट रहती हैं, वही विराट् 'साशनानशने' या मृत्यु रूप है, वही साध्या ऋषियों (या सप्त महर्षियों) में अधिराज या सर्वप्रथम है (साध्या ऋषि देखें)। उसी के वश में भूत (दैवी आत्मायें) और भव्य (भौतिक आत्मायें) हैं, वह उन भूत भव्यों को हमारे वश में कराये या करे। अथर्व वेद ने इस मन्त्र को ऋ० वे० के 'अस्यवामस्य' दैर्घतमस सूक्त (१-१६४) के मन्त्रों को पूरा उद्धृत करते हुए जोड़ रखा है, अतः बड़े महत्त्व का है।

अब उक्त ऋ० वे० की ऋचा 'तस्माद्विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः। स जातोऽतिरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।' में विराट् के १०, १० तत्वों के चार पादों के नाम विराट् अधिपुरुष भूमि और पुरः दिये हैं। ये ब्रह्म के क्रमिक विकास हैं। विराट् नामक छन्द उत्पन्न हुआ तदनन्तर उसका अधिष्ठता अधिपूरुष या मध्यवर्ती पुरुष विकसित हुआ; उसका पुनः अति विस्तार या विकास (अतिरिच्यत) होने से वह तृतीय पाद के भूमि नामक भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत हुआ, इन सब के विकास के पश्चात् चतुर्थ सप्तक में पुरः या अखिलब्रह्माण्डीय एक भौतिक शरीर (पुरः) प्रस्तुत हो गया। भूमि और पूः की व्याख्या 'पुरुष' की व्याख्या में दे दी गई है। वह बिराट् पुरुष इस पुरी में शयन निवास या आश्रय करने लगा तो 'पुरुष' कहलाने लगा। पादों के तत्त्वों की क्रमिक संख्या जैसा श० प० ब्रा० (१३ ३-१-२) में दी गई है इस प्रकार समझनी चाहिए—प्रथमपाद १ से १० तक, द्वितीय पाद १० से २० तक, तृतीयपाद २१ से ३० तक चतुर्थपाद ३१ से ४० तक। सहस्रशीर्षा पुरुष त्रिपात्पुरुष या १ से ३० तक का पुरुष है वह विराट् ४० तत्त्वों से

'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' या दश तत्त्व पहिले हैं और इसने तृतीयपाद में १० तत्त्वों (अग्नि सोम मित्र इन्द्र बृहस्पति सविता पूषा सरस्वती त्वष्टा और भग) का अतिक्रमण कर लिया, विराट् से १० तत्त्व पीछे रह गया।

इस मन्त्र में 'विराट्, अधि पूरुष, भूमि और पुरः' चारों शब्द पारिभाषिक हैं। यहां इनका लौकिक अर्थ नहीं है। सायण को इनमें से किसी का भी ज्ञान नहीं है अतः उनकी सारी व्याख्या एकदम अवैदिक और लौकिक वन गई है। नृसिंह तापिनी का उद्धरण भी इसमें लागू नहीं होता, वह दूसरी बात कहता है। यह स्वतन्त्र वर्णन है, क्रमिक नहीं, यह भी सायण का भ्रम है।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ ६॥

[ऋतं ब्रह्मेत्याहुः] इस मंत्र को यजुर्वेद ने १४वें और अथर्व ने १०वें स्थान में दिया है। अथर्व और ऋग्वेद का पाठ एक सा है पर यजुर्वेद ने उक्त दोनों के पाठों के 'वसन्तो अस्यासीदाज्यं' को ससन्धि रूप में 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं' लिखकर छन्दोभङ्ग कर रखा है। पर इस पाठ में 'वसन्तो' के 'न्तो' को प्लुत (चार मात्रा का) उच्चारित करके उक्त क्षति की पूर्ति कर ली जाती है।

यह ऋचा संवत्सर ब्रह्म के ऋतुमय विकास-क्रम का वर्णन देती है। इस संवत्सर ब्रह्म को ऋतं ब्रह्म या ऋतु ब्रह्म या ऋतव्य ब्रह्म कहते हैं। वैदिकों ने व्याख्या भेद से संवत्सर ब्रह्म की इस सरणि में कहीं पाँच ऋतु मानी हैं कहीं छह और कहीं सात। पञ्चपर्वा में पाँच हैं, षडष्टक में छह, सप्त सप्तकों में सात। यहां पर हविर्मय पुरुष की व्याख्या है। हवि नाम सोम का है 'हवि वैं देवानां सोमः' (श० प० ब्रा० ३-४-३-२)। सोम का स्थान चतुर्थ सप्तक में आता है, वहीं चौथी ऋतु शरद् का स्थान पड़ता है। अतः शरद् ऋतु को हविः या सोम नाम से पुकारा है। "सोमो वै देवानां हविः" (श० प० ब्रा० ४-३-४-१)। प्रत्येक सप्तक एक ऋतु है। प्रथम सप्तक वसन्त है। श० प० ब्रा० २-१-३-५) ने वसन्त को ब्रह्म ही बतलाते हुए लिखा है 'वसन्तो ब्रह्मैव क्षत्रं ग्रीष्मो विडेव वर्षा' आदि। ब्रह्म शिशिर ऋतु के पतझड़ के समान है, नये पत्ते और फूल वाला यह वासन्तिकं ब्रह्म प्रथम सप्तक का ब्रह्म है। यह अज का आज्य या प्राण रूप है। वास्तव में आज्य शब्द का सम्बन्ध अज (एक पात्—वसन्ततुं) से है। इस अज का विकास ही आज्य कहलाता है, यह अथर्व ९-३-२८ से स्पष्ट है। इसीलिए अज के इसी विकास को वेदों में आज्य या घृत या प्राण कहा है, ये प्राण रूप पत्र और पुष्प वैद्युतीय स्वरूप के हैं अतः

आज्य को वज्र नाम से पुकारा गया है 'वज्रो वा आज्यम्' (श० प० ब्रा० १-४-४-४)। ग्रीष्म ऋतु क्षत्र है, द्वितीय सप्तक है इध्म नामक अग्नि है। अतः लिखा है 'इध्मेनाग्नि तस्मादिध्मो नाम' (श० पा० ब्रा० १-३-२-१), यह सप्तक अग्नि ही का है। इस ऋतु का नाम तनूनपात् भी है "ग्रीष्मो वै तनूनपात् ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूः" (श० प० ब्रा० १-४-४-१०)। तीसरी ऋतु वर्षा है जिसका नाम प्रस्तुत मंत्र में नहीं दिया है पर इनके अभ्यन्तर्गत है, यह वर्षा इड और विड है। इड नाम क्षुद्र सरीसृव या मौलिक कीटाणु का है जिसका अभ्युदय अमीवा के रूप में इसी सप्तक में तेजोरूप रेतः स्वरूप में होता है (श० प० ब्रा० १-४-४-११)। चतुर्थ सप्तक शरद् है जिसे यहां हविः या सोम कहा गया है। उसीं को अन्यत्र 'बर्हिः' या आसन या वाहन (अश्वादि) या भौतिकात्मा कहा है 'शरद्वै बर्हिः' (वहीं)। अतः ऋचा इस विकास क्रम का उपोद्घात देते हुए कहती है कि जिस हविः या बर्हिः नामक शारदीय पुरुष के विकास को जानने के लिए तत्वों ने यज्ञ का विस्तार किया या तत्वों ने विकास क्रम को अपनाया उसमें वसन्त तो वैद्युतीय प्राण रूप प्रथम सप्तक था, ग्रीष्म, इध्म नामक या 'इध्मेनाग्नि तस्मादिध्मो नाम' (श० प० ब्रा० १-३-२-१)है, तनूनपात् नामक अग्निरूप द्वितीय सप्तक रहा, शरद् हवि नामक सोम रूप भौतिकात्मा या चतुर्थं सप्तक बना "सोमो वै देवानां हविः" (श० प० ब्रा० ४-३-४-१)। शिशिर ऋतु को इन सब ऋतुओं का सिर और द्यौ नाम से पुकारा गया है 'द्यौरस्य शिशिर ऋतुः' (श० प० ब्रा० ८-७-१-७ तथा १३-६-१-१०, ११)। श० प० ब्रा० ने वर्षा ऋतु को 'अन्तरिक्ष' या आदित्य स्थानीय बतलाया है (२३-६-१-१०) और हेमन्त ऋतु को छटी ऋतु बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार हेमन्त में पतझड़ होता है वैसे ही इस स्वाहाकार नामक हेमन्त ऋतु में सब तत्व पत्तों या पक्षियों की तरह भौतिक शरीरों में बिखरने लगते हैं (श० प० ब्रा० १-४-४-१३, १४) "अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारोऽन्त ऋतूनां हेमन्तो वसन्ताद्धि पराद्धर्यो। वसन्ते एव हेमन्तात्पुनरसुरे तस्माद्धयेष पुनर्भवति पुनर्हवा अस्मिल्लोके।" अगला उद्धरण अधिक स्पष्ट है। "हेमन्तो वा ऋतूनां स्वाहाकारो, हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते तस्माद्धेमन् म्लायन्त्योषधयः प्रवनस्पतीनां पलाशानि मुच्यन्ते प्रतितरामिव वयांसि भवन्त्यधस्तरामिव वयांसि पतन्ति, विपतित लोमेव पापः पुरुषो भवति। हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते स्वो ह वै तमर्द्धं कुरुते श्रिये अन्नाद्याय यस्मिन्नर्द्धे भवति य एवमेतद्वेद ॥" (श० प० ब्रा० १-४-५)। जिस भाग (उत्तरार्द्ध या परार्द्ध) में ये तत्व भौतिक गोलों की भौतिकात्मा-रूप पत्तों या पक्षियों की

तरह सर्वतः विखरने लगती है उसमें वह पुरुष (४० वें तत्त्व में विराट् रूप में) पापः या पूर्ण भौतिक हो जाता है। वह विराट् पुरुष, अपने पूर्वार्द्ध या उत्तरायण के भाग के दैवी आत्माओं को अपने वश में करके श्री और अन्नाद्य भौतिक शक्तियों की वृद्धि करता है। पूर्वार्द्ध की चार ऋतुयें यज्ञभाग भोगी हैं दैवी हैं, उत्तरार्द्ध की आसुरी या भौतिकी है, इनको पूर्वार्द्ध वाली दवोच देती है (श० प० ब्रा० १–४–६–९१), मध्य में रक्षोहणी अग्नि (वैश्वानर) है। यहाँ पर ऋतुओं को समिध नाम से पुकार कर यज्ञ पुरुष की साधना का एक मार्ग बतलाया है! ऋतुयें समिध हैं जिन से पुरुष रूप यज्ञाग्नि उद्दीप्त की जाती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋतु प्रणाली से ब्रह्म व्याख्या नानारूपों में की गई है। यह बहुत प्रसिद्ध मार्ग रहा। प्रथम चार ऋतुयें चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या करती है, जैसा कि यहां पर प्रस्तुत मन्त्र में। इस विषय पर तत्त्व निर्णय शीर्षक में 'ऋतुवाद' नाम से बहुत लिखा जा चुका है उसे भी देख लें। इस ऋचा में 'हविषा' वसन्त, आज्य, ग्रीष्म इध्म, शरद और हवि शब्द पारिभाषिक हैं। यह केवल मानसिक यज्ञ ही नहीं, साक्षात् सृष्टि और अतिसृष्टि का विकास रूप यज्ञ है जिसे यज्ञपुरुष या पुरुष कहते हैं। यहां भी कोई परतन्त्र विषय नहीं है। यह ऋचा स्वतन्त्र रूप से योग सम्बन्धी संवत्सर ब्रह्म के ऋतु सम्बन्धी भागों का आदि से अन्त तक (यहां पर चतुर्थ सप्तक तक) का वर्णन देती है।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

"सप्तपुरुषोह्ययं पुरुषः चत्वारः आत्मानस्त्रय पक्षपुच्छानि" "छन्दांसि वै साध्या देवाः"

यजुर्वेद में इसका स्थान ९वां है, और पाठ में कोई अन्तर नहीं है। पर अथर्व वेद में इसका स्थान ११ वां है और इसके पाठ में 'वर्हिषि' के स्थान में 'प्रावृषा'; 'अग्रतः' के स्थान में अग्रशः और और 'ऋषय.' के स्थान में 'वसवा' दिया है।

इस ऋचा में यज्ञ, वर्हिषि, देवाः, साध्याः और ऋषयः शब्द पारिभाषिक है। इनके ज्ञान के विना इस ऋचा का अर्थ ही नहीं लग सकता। इस ग्रन्थ में इन पारिभाषिक शब्दों पर पृथक् पृथक् शीर्षकों में विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है। पहिले उन्हे देख लें तब यह ऋचा स्वयं समझ में आने लगेगी। संक्षेप में यज्ञ नाम विकासीय सृष्टि पुरुष या यज्ञ पुरुष का है; वर्हिः चतुर्थ सप्तकीय शरद नामी हविः संज्ञक भौतिकात्मा या भौतिक शरीर या आसन है जिसका कुछ उल्लेख अभी पूर्ववर्ती ऋचा में भी हो चुका है; देवा नाम तत्त्व रूप समस्त देवता या तत्त्व हैं 'इमे देवा इमानि भूतानि, (बृह० उप० २–६–६)

साध्याः देवता तो छन्दोरूपी देवता हैं। श० प०ब्रा० (१-३-१६) ने लिखा है "छन्दासि वै साध्या देवा:" इनमें मुख्य १२ देवता है, 'साध्या देवता १२ हैं। इन छान्दस देवताओं का वर्णन अगली ऋचा में पशुरूप में किया जाता है। पर यहां पर इनको देवता रूप में दिया है। 'छन्दो मया देवा: (३-२-१५)। ऋषयः' तीन प्रकार के हैं, महर्षि ऋषि आङ्गिरस 'प्रत्येक में सात-सात का गुच्छा है। मंत्रों में रचयिता ऋषियों के नामों का तादात्म्य भी इन्हीं ऋषियों के साथ किया गया है। महर्षि प्रत्येक सप्तक के प्रथम ऋषियों का नाम है, ऋषि प्रत्येक सप्तक के सात ऋषियों का नाम है, अङ्गिरस चतुर्थ सप्तक के ऋषि हैं। इस ऋचा का अर्थ वाली एक दूसरी ऋचा भी है जैसे "त्रीणि शतात्रीणिसहस्राण्यग्निंत्रिंशश्च देवा नव चासपर्यन्। औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मादिद्धोतारं न्यसादयन्त।" (ऋ० वे० १०-५२-६)। अग्रतः जातं तं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्रौक्षन्। तेन (प्रोक्षित पुरुषेण) ते देवाः ये साध्या, (आसन्) (ये च) ऋषयः (आसन् तेन) अयजन्त। अग्रतः नाम दर्शन का पूर्वार्द्ध है, इस पूर्वार्द्ध में विकसित यज्ञ पुरुष को चतुर्थसप्तकीय भौतिकात्मीय बर्हि रूप आसन वाहन शरीर या आत्मा में सन्निविष्ट कर दिया। त्रिपादामृतीय यज्ञ पुरुष को या विकासीय ब्रह्म पुरुष को भौतिकात्मा का चोला पहिना दिया। तब सृष्टिविकास में जो छान्दोमयी साध्या देवता या तत्त्व थे या महर्षि या ऋषि नामक तत्त्व थे वे भी अपने त्रिपादामृत रूप को भौतिकात्मा का चोला पहिनाने का यज्ञ या विकास करने लगे। यज् धातु अकर्मक है, वे स्वयं यज्ञ करने लगे या स्वयं विकसित होने लगे। 'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्' (ऋ० वे० १०-८१-५, ६) का भाव भी ठीक यही है। यहां बर्हिः के स्थान में 'हविः' शब्द दिया है। हविः नाम शरद् या भौतिकात्मा बर्हि का ही है यह पिछली ऋचा में स्पष्ट हो चुका है। विश्वकर्मा ऋचा यज धातु का अर्थ स्वयं ही 'विकास' अर्थ और अकर्मक धातु रूप में स्पष्टतया प्रयुक्त कर रही है। अथर्व वेद ने बर्हिषि के स्थान में 'प्रावृषा' लिखा है, यहां पर प्रावृषा या वर्षा ऋतु या चतुर्थ सप्तक में प्रोक्षणा बतलाया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर बर्हिः शब्द शरद् ऋतु का वाची है। एक बर्हि में (सप्तमी से) प्रोक्षण कहता है। दूसरा प्रावृषा या वर्षा से (तृतीया से) चतुर्थ में प्रोक्षणा कहता है, विभक्त्यान्तर से भाव में एकता आ जाती है। और साथ में इनके अर्थ के सम्बन्ध में एक लुप्त श्रुति मिल जाती है कि बर्हि और प्रावृष् शरद ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म के चतुर्थ पाद का संकेत कर रहे हैं। 'शरद्वै बर्हिः' (श० प० ब्रा० १ ४-४-११) 'बर्हिः' की पूर्ण व्याख्या 'बर्हिः' शीर्षक में दी जा चुकी है।

यह ऋचा सप्तपुरुषी दर्शन की व्याख्या चतुष्पाद ब्रह्म तक देती है। महर्षि सात हैं। यही सप्त पुरुष हैं जिनके प्रथम चार को 'चत्वारः आत्मा' कहते हैं, चतुर्थ सप्तक में अङ्गिरस ऋषियों का विकास होता है, अन्य ऋषियों का प्रत्येक सप्तक में। इनकी व्याख्या 'अष्टौलोका अष्टौपुरुषा तथा ऋषयः और देवा तथा साध्याः शीर्षकों में देखने का कष्ट करें।

वर्हिः शब्द का अर्थ अग्नि भी है, कुश भी है। अग्नि इसलिए है कि यह वैश्वानर अग्नि का प्रतिनिधि है, कुश इसलिए है कि यह चतुर्थ सप्तकीय आपोमय सागर के वार्त्र दुर्गन्धिमय से उगे विद्युत्किरणमय तीक्ष्ण शिखा है (वृत्र देखें तथा श० प० ब्रा० १–४–४–१३, १४)। वर्हिः चूडा का नाम भी है। यह अर्थ भौतिकात्मा को द्वितीय शिर मानने से अपनाया गया है। वर्हिः शब्द की व्युत्पत्ति 'बृंहदेव वर्हिः या बृंहयतीति, उद्बर्हयतीति वर्हिः' है। जो महत् या विभु या व्यापक है, वर्द्धन शील है वह वर्हिः है। छन्दों को साध्या देवा इसलिए कहते हैं कि समस्त वैदिक दर्शन की साधना छन्दों के अक्षरों छन्दः पादों से ही की गई है। सबसे पहिले अग्नि रूप गायत्री का यज्ञ या विकास किया गया। अतः ऐ० ब्रा० ने 'यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवा···साध्या।' के अर्थ में लिखा है "तेह नाकं महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्तिदेवा इति छन्दांसि वै साध्या देवा तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निमयजन्त ते स्वर्गलोकमायन्नादित्या-श्चेवैहासन्नङ्गिरसश्च तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निमयजन्त ते स्वर्गलोकमायन्।" (१–३–१६) अन्तिम वाक्य के आदित्य और अङ्गिरस नाम देवता (देवा) और ऋषयः शब्दों की व्याख्या कर रहा है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये॥ ८॥

[छन्दांसि पशवः] यह मन्त्र यजुर्वेद में छठा और अथर्व में १४ वां है। सब का पाठ एक सा ही है। वैदिक पशुवाद पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जा चुका है जो इस सूक्त के आदि में इसलिए दिया गया है कि हमारे इस सूक्त का पुरुष भी तो एक पशु ही है। बिना पशु को समझे पुरुष को कैसे समझा जा सकता ? यहां पर ये पशु लौकिक पशु नहीं हैं वरन् दार्शनिक या योग की अनुभूति रूप परिभाषिक पशु हैं।

प्रस्तुत मन्त्र वैदिक छान्दस दर्शन की व्याख्या छान्दस पशुओं के रूप में दे रहा है। वैदिकों के सर्वाङ्गीण दर्शन का मौलिक आधार छान्दस दर्शन है जिससे दर्शन के एक एक तत्त्व और पाद तथा अर्द्धों का विवेचन सुगम, तथा सुबोध बन जाता है और व्याख्यान शैली में संक्षेप तथा सुविधा हो जाती है।

इस मन्त्र में तीन प्रकार के पशुओं का वर्णन दिया गया है, वे हैं वायव्य आरण्य तथा ग्राम्य। श. प. ब्रा. (३-६-५-१६) ने लिखा है "छन्दांसि गच्छ स्वाहेति' सप्त वै छन्दांसि, सप्त वै ग्राम्या पशवः सप्तारण्यास्तानेवैतदुभयं प्रजनयति।" कि सात छन्द हैं, इनमें से सात ग्राम्य पशु हैं सात अन्य आरण्य पशु हैं। यहां पर इस ब्राह्मण ने वायव्यारण्यग्राम्य पशुओं का सीधा सम्बन्ध छन्दों से ही जोड़ा है। अन्यत्र इसी ब्राह्मण ने ८-६-२-१ में इन्हीं छन्दों में से कुछ को ग्रामणी या ग्राम्य कहा है। लोगों को वहां पर वायव्य आरण्य और ग्राम्य शब्दों के लौकिक अर्थ 'अन्तरिक्ष चारी जंगली और गांव के, समझ में आये। पर यहां ये शब्द सबके सब पारिभाषिक हैं, इनका यहां पर उक्त लौकिक अर्थों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इन शब्दों की पारिभाषिक व्याख्या श. प. ब्रा. (८-४-३-२ से २९ तक ८-५-२, ८-२-८-२-४- और १०-३-१, १०-३-२-) ने स्वयं दे रखी है। श. प. ब्रा. ने (८-२-३ और ८-२-४ में) १९ वायव्य पशुओं को गिनाया है जिनमें ९ अनिरुक्त पशु हैं, १० निरुक्त। अनिरुक्त पशु पूर्वार्द्धीय है, निरुक्त उत्तरार्द्धीय। इनके नाम छन्दसहित ये हैं :— प्रजापति छन्द (मूर्द्धावयः), मयन्द प्रजापति छन्द (क्षत्रं वयः), अधिपति छन्द (विष्टभो वयः), परमेष्ठी प्रजापति छन्द (विश्वकर्मा वयः)। ये मूर्द्धादि पक्षी बन कर उड़ गये। फिर एकपदी विवलं छन्द (वस्तो वयः), द्विपदी विशाल छन्द (वृष्णिर्वयः), तन्द्र पंक्ति छन्द (पुरुषो वयः), अनाधृष्ट विराट् छन्द (व्याघ्रो वयः), छदिच्छन्द (सिंहो वयः)। ये भी वस्त आदि पक्षी बनकर उड़ गये। ये सब के सब अनिरुक्त या पूर्वार्द्धीय पक्षी रूप छन्द हैं। इसके अनन्तर बृहती (पष्टवाड़), ककुप् (उक्षा), सतोबृहती (ऋषभ), पंक्ति (अनड्वान्), जगती (धेनु), त्रिष्टुव् (अविः), विराट् (दित्यवाट्), गायत्री (पञ्चाविः), उष्णिक् (त्रिवत्सं), अनुष्टुप् (तुर्यवाड़), ये सब छन्द कोष्ठान्तर्गत पशु नामी पक्षी बनकर उड़ गये। ये उत्तरार्द्धीय निरुक्त पशु हैं। ये उड़ने वाले अन्तरिक्ष दैवत्यं छन्द हैं। अतः ये सबके सब वायव्य पशु कहलाते हैं जैसा कि तै. ब्रा. (३-२-१-३) ने लिखा है "अन्तरिक्ष दैवत्याः खलु वै पशवः वायव एवेनान्परिदधाति॥" यह वाक्य सायण ने ठीक उद्धृत किया है पर उनकी समझ में यह बिलकुल नहीं आया। यजुर्वेद १४-९ और १० में इनका विस्तार पूर्वक वर्णन मिलेगा। ये पशु सातों सप्तकों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः सात-सात की गिनती के पशु कहलाते हैं, क्योंकि छन्द में सभी सप्तक आ जाते हैं। (श. प. ब्रा. ८-४-३-२ से १९ तक में ग्राम्य पशु, एकशफपशु, क्षुद्रापशव, आरण्याः पशवः का वर्णन है)।

आरण्य का अर्थ अरणिभवा आरण्या है। समस्त दर्शन आरण्य है, इसलिए भी ये आरण्य तत्त्व या पशु कहलाते हैं। यह आरण्य पाद रूप अरणियों से बनता है। अतः अरण्य कहलता है, और 'अरण्य भवा आरण्या' भी दार्शनिक और पारिभाषिक ही व्याख्या है जैसे ऋ. वे. लिखता है 'कि स्विद्वनं क उ सवृक्ष आस यतो द्यावापृथिवीं निष्टतक्षुः' (ऋ. वे. १०–८१–४; १०–३१–७) कि वह कौन बन (अरण्य) था और कौन वृक्ष था जिससे द्यावाभूमि या अखिलब्रह्माण्ड की सृष्टि की गई। यह बन छन्दों के पाद रूप अरणियों और अक्षर रूप वृक्षों का है। यह छान्दस दर्शन रूप बन है। ऋ. वे. १०–१४६ में अरण्यानी से प्रश्न किया है "अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि कथा ग्रामं न पृच्छसि। न त्वा भीरिव विन्दतीं ३ ॥ १ ॥" कि तुम बन-बन फिरती हो क्यों भौतिकात्मा रूप ग्राम या साथी को नहीं पूछती? तुम्हें डर भी नहीं लगता? ये अरणियाँ वे हैं जिनसे आग निकलती है, ये प्रत्येक पाद रूप अरणियाँ हैं जिनके बारे में ऋ० वे० स्वयं लिखता है "अरण्योर्निहिता जातवेदाः गर्भ इव सुधितो गर्भिणीभिः" (३–२९–२)। इसी को अश्मवाद में 'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान' (ऋ० वे० २–१२–३) कहा गया है। इन अरणियों या अरण्यों के निर्माता आरण्य पशु या छन्द हैं। श० प० ब्रा० ९–३–१–२४ में इन सप्त अरण्यों को सप्त मरुत बतलाया है, ९–१–२–४ में अरण्यों को अनूच्य वाणी कहा है)। इनका विवेचन यजु० वे० (१५-४–५) और श० प० ब्रा० (८–५–२) में भी दिया गया है। इन छन्द रूप पशुओं की संख्या विराट् छन्दाक्षरों में ४० दी गई है। इनके नाम ये हैं एवच्छन्द, वरिवच्छन्द, परिभूच्छन्द, आच्छच्छन्द, शम्भूच्छन्द परिभूच्छन्द, मनश्छन्द, व्यचश्च्छन्द सिन्धुच्छन्द समुद्रच्छन्द, सरिं च्छन्द, ककुप्छन्द काव्यं छन्द, अङ्कुपं छन्द', अक्षरपंक्ति छन्द, पदपंक्ति छन्द, विष्टारपंक्ति छन्दः, क्षुरोभ्राजछन्द, आच्छच्छन्द, प्रच्छच्छन्द, संयच्छन्द, विपच्छन्द, बृहच्छन्द, रथन्तरं छन्द, निकामच्छन्द, विविधच्छन्द, गिरच्छन्द, अजच्छन्द, सँस्तुप्छन्दः, अनुष्टुब्च्चन्द. एवच्छ्रन्द, परिवच्छन्द, वयच्छन्द, विपर्द्धाच्छन्द, विशालं छन्द, इरीहणं छन्द, 'तन्द्रं पंक्तिश्छन्द ॥ श० प० ब्रा० ने इनका तादात्म्य दर्शन के विभिन्न लोकों सप्तकों तत्त्वों और देवों के साथ किया है, वहीं देख लें। जैसे आद क्रम से ब्रह्मलोक (अयं लोकः) अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशः, अन्नं, प्रजापति, आदित्य प्राण, मनः, वाक्, प्राण, उदान, त्रयी विद्या, आपः, असौलोकः, अयं लोकः, दिश, आदित्य, अन्नं, रात्रिः अहः, असौलोकः, अयंलोक, वायु अन्तरिक्ष, अन्नं, अग्निः, वाक्, असौ लोकः, अयं लोकः; अन्तरिक्षं, आदित्य, आपः। श० प० ब्रा० (३–७–२) ने इसका विवेचन पश्वेकादशिनी में भी दिया है जहां इन्हें आग्नेय सारस्वत सौम्य पौष्ण बार्हस्पत्यादि पशु कहते हैं।

ग्राम्य पशु ग्रामों के पशु हैं, ग्राम नाम सप्तकों का है जैसे कि संगीत में माने जाते हैं "सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।" एक सप्तक में सात स्वर होते हैं तो यहां एक सप्तक में कहीं सात, कहीं आठ कहीं, छह ध्वनि रूप सत्त्व या अक्षर ब्रह्म के अक्षर या छन्दों के अक्षर होते हैं। 'यत्र वाचः प्रजातानि छन्दांसि सप्तपदा वै' (श० प० ब्रा० ९-२-४-१)। इन ग्राम्य पशुरूप छन्दों का विवेचन ग्रामणी के नाम से श० प० ब्रा० ८-६-२ और तै० सं० ४-४-२-६, मै० सं० ११-८-९-१० कठ सं० १७-८-९ तथा कपिष्ठली २६-७-८ में विस्तार पूर्वक दिया गया है। इन छान्दस ग्राम्य पशु के शरीराङ्गों का तादात्म्य विभिन्न छन्दों से किया गया है। गायत्री शिर है, (पूर्वार्द्धं है) त्रिष्टुप् उरः है, जगती श्रोणी है, अनुष्टुप् सक्थि है, बृहती पर्शु है, ककुप् कीकस है, उष्णिक् ग्रीवा है, पंक्ति पक्ष है, अतिच्छन्दा उदर है। श० प० ब्रा० १०-३-१ और का० श० १३-२-५ में लिखा है कि गायत्री प्राण है, उष्णिक् चक्षु है अनुष्टुप् वाक् है, बृहती मनः है, पंक्ति श्रोत्र है, त्रिष्टुप् प्रजननप्राण है, जगती अवाङ् प्राण है। ये सात छन्द है, पुरुषों में ये सात प्राण हैं। पुनः श० प० ब्रा० १०-३-२ में लिखा है अग्नि का शिर गायत्री, देवता अग्नि हैं उसका अनूक बृहती है और देवता बृहस्पति है, उसके पक्ष बृहद्रथन्तर हैं, द्यावापृथिवी देवता, उसका मध्य त्रिष्टुप् है देवता इन्द्र; उसकी श्रोणी जगती है देवता आदित्य, रेतः सेचक छन्द अतिच्छन्द है और प्रजापति देवता है, इसका अवाङ् प्राण यज्ञियायाज्ञिय छन्द है और वैश्वानर देवता, इसके उरू अनुष्टुप् है विश्वेदेवता देवता, इसके ष्ठीवन्त पंक्तिछन्द हैं मरुत देवता, इसकी प्रतिष्ठा द्विपदा छन्द है, विष्णु देवता, इसके प्राण विच्छन्दाछन्द है वायु देवता, इसके ऊनातिरिक्त, न्यूनाक्षरा छन्द और आपो देवता है। ये सब ग्राम या सप्तक वाची छान्दस पशु है जिनको श० प० ब्रा० (३-२-४-१) "यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दांसि वै सप्तपदा" कहता है और इनके विकास को ऋ० वे० (१०-११७-८-९) इस प्रकार देता है 'एकपा-द्भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपाद् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदाम-भिस्वरे सम्पश्यन्पंक्तीरुपतिष्ठमानः॥ "समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥" इसको बृहदारराय (२-७-१४-७) दूसरे ढंग से कहता है "गायत्री एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदो मा प्रापदिति॥" तथा छान्दोग्य तीसरे ढंग से कहता है "सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री" (१-३-१२) और अन्त में इन छान्दस पशुओं को ग्राम या पाद रूप में त्रिष्टुप् छन्द के पशुओं में रूप में वर्णित करते हुए श० प० ब्रा० (३-६-५-१) ३३ देवताओं के बारे में लिखता है

"त्रीणि ह पशोरेकादशानि एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा, दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणाः प्राणः उदानो व्यान इत्येतावा 'वै पुरुषः य पराद्धर्यः पशूनां यं सर्वेऽनु पशवः ।।'' दश प्राण + प्राण प्रथम पाद या ग्राम या एकादशी है, दश पाण्यङ्गुलि + उदान द्वितीय पाद ग्राम या एकादशी है, दश पाद्याङ्गुलि + व्यान तृतीयपाद या ग्राम या एकादशी है। प्रयाजा माने प्रकर्षेण विकासमाना, अनुयाजा माने अनुपश्चात् विकासमाना, उपयाजा माने उप तदनन्तरं विकासमाना। कर्मकाण्ड में ये कर्मठों का संकेत करेंगे। पूर्वार्द्ध के पादों का विकास नर नामक चतुर्थ सप्तक में पूरा होता है। अतः इस नर सप्तक को देवताओं का ग्राम कहते है 'नरो वै देवताया ग्रामः' ताण्ड्य (६- ९-२)। इस ग्राम के पशु ग्राम्य कहलाते हैं।

छन्दों को पशु इसलिए कहा गया है कि ये प्रायः चतुष्पाद होते हैं, वैसे एक पदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी पञ्चपदी षट्पदी सप्तपदी अष्टापदी नवपदी तक छन्द होते हैं "वाचमष्टापदीमहं नव स्रक्ति मृतस्पशम् ।" (ऋ० वे० ८-७६-१२) इत्यादि, शेष के उद्धरण पूर्ववर्ती परिच्छेद में आ गये हैं। ये पशुओं की तरह बोझा ढोते हैं, एक तो वेदों के लिए मंत्ररूप शरीर। दूसरे दर्शन के लिए अक्षर और पाद रूप तत्त्वों का बोझ, जिससे तत्त्वों का स्थान मान और उपयुक्त विवरण सुविधा पूर्वक दिया जा सकता है। तीसरे ये भावात्मक ज्ञानात्मक ब्रह्म शरीर को स्वयं धारण करते हैं (पशुवाद देखें)। अतः दर्शन की समुचित व्याख्या करने लिए उपर्युक्त वायव्य आरण्य और ग्राम्य नामक छान्दस पशुओं की अवतारण या निर्माण वैदिकों ने ब्रह्म या यज्ञ के विकास को दर्शाने के लिए किया था। यज्ञ नाम ब्रह्म का भी है, प्रत्येक तत्त्व का भी; जिस तत्त्व का विवेचन करना है उसको उतने अक्षर या पाद का तत्त्व बतला कर, उसकी व्याख्या उस तत्त्व रूप यज्ञात्मक छान्दस पशु के रूप में प्रस्तुत की जाती है। प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञ, सर्वहुत, और सम्भृत पृषदाज्य शब्द सब परिभाषिक हैं। यज्ञ का भाव यजन शील और विकास शील है, जब यह प्रथम तत्त्व का निर्देश करता है तब इसे सर्वहुत या 'स्वहा' या स्वाः या सुप्त कहते हैं (श० प० ब्रा० १०-५-२-२४) तथा हेमन्त ऋतु में स्वाहाकार का प्रारम्भ होता है (छठी ऋचा देखें) शिशिर ब्रह्म का शिर है। श्रीयुक्त शिर को श्रीशिर या श्रिशिर या शिशिर कहते हैं। वसन्त से सृष्टि विकास का आरम्भ होता है। ऐसे उस सर्वहुत सर्वस्वाहा रूप आदि तत्त्व सम्भृत पृषदाज्य के रूप में विद्यामान रहता है। पृषदाज्य के माने प्राण रूप अन्न या आध्यात्मिक और भौतिकात्मा का मीठा घोल होता है, पर छान्दस पशुओं के सम्बन्ध में उनमें जो दूध होता है वह प्राण रूप है, उससे दधि और आज्य बनाता है अत; पृषदाज्य माने

'दही घी' का मिश्रण रूप दूध या प्राण है। दही त्रिपादामृत का संकेतक है, घी भौतिकात्मा का। कर्मकाण्ड में इनका अभिनय लौकिक दही घीं के मिश्रण से ही किया जाता है। इसका स्वष्ट विवरण श. प. बा. (३-६-५-७, ८) ने इस प्रकार दे रखा है "अथ पृषदाज्यं गृह्णाति, द्वयं वा इदं सर्पिश्चैव दधि च। द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते। तेनानुयाजेषु चरति, पशवो वा अनुयाजाः पयः पृषदाज्यं तत्पशुस्वेतत्पयो दधाति। तदिदं पशुषु पयो हितं प्राणः, प्राणो हि पृषदाज्यमन्नं हि पृषदाज्यमन्नं हि प्राणः॥" यहां पर पृषदाज्य के लिए अनुयाजा रूप छान्दस पशुओं में विचरण करने को कहा है। ये प्राण रूप आज्य या अज पुरुष के विकास रूप. पशु है। चतुष्पाद ब्रह्म रूप, पशु हैं दधिसर्पि रूप हैं। इन छान्दस पशुओ में जो पायो रूप अन्नं या प्राणाः या पृषदाज्य 'सम्भृत' है या सुरक्षित है या अन्तर्निहित हैं, वह पूर्वार्द्ध युक्त उत्तरार्द्ध के रूप चतुष्पाद ब्रह्म का रूप है, उसकी व्याख्या के लिए इन (पूर्वोक्त वर्णित) वायव्य आरण्य और ग्राम्य नामक नाना छान्दस पशुओं की अवतारण की गई। यह ब्रह्म व्याख्या की छान्दस दर्शनीय अद्भुत परिपाटी हैं जो अब तक किसी के समक्ष में नही आ सकी है। क्योंकि यास्क से बहुत पहिले ही यह छान्दस दर्शन एकदम लुप्त हो गया था।

यदि प्रस्तुत ऋचा में हरिणादि आरण्य पशु और गवादि ग्राम्य पशुओं का विवेचन होता तो दशवीं ऋचा में अश्व गो अवि अजा का वर्णन क्या व्यर्थ नहीं होगा ? निम्न ऋचा (नवम) जब वेद रूप ब्रह्म तथा उसके विकास क्रम ऋग्यजुः रूप ब्राह्म शरीर की व्याख्या देती है तो इससे भी सिद्ध होता है कि यह (प्रस्तुत) ऋचा अवश्यमेव छान्दस दर्शन के छान्दस पशुओं का ही वर्णन देती हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ६ ॥

['वेदोऽसि येन त्वं देव वेद' 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्']

यजुर्वेद में यह सातवां मन्त्र है, अथर्व में तेरहवां। ऋग्यजुः दोनों का पाठ तो एक सा है, पर अथर्व ने 'छन्दांसि' (छन्दा ँ सि) की जगह 'छन्दो ह' पाठ दिया है, वहुवचन का एकवचन कर दिया है, जिससे अर्थ में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

कहने में बड़ा कष्ट होता है कि जिस प्रकार छान्दस दर्शन का बहुत पहले लोप हो गया था उसी प्रकार प्रस्तुत ऋचा में वर्णित वेद दर्शन या वेदविद्

दर्शन का भी आंशिक लोप बहुत पहिले ही हो चुका था। वेद नाम वेदों का तो है ही, पर साथ में यह ब्रह्म का नाम भी है, और ब्रह्म नाम भी वेदों या वैदिक मंत्रों का भी है। जैसे "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यं वेदो भूयाः॥" (यजुः २-२१) "एतानि वामश्विना वर्द्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्" (ऋ॰वे २-३९-८) इत्यादि। इस वेद नामक ब्रह्म का विकास वेद शाखा रूप ऋग् साम यजुः छन्दः (अथर्व) के नाम वाले भागों द्वारा वर्णित करने की उस प्राचीन काल में एक प्रशिद्ध शैली थी। इसके ज्ञाताओं को वेदविद् या ब्रह्मविद् नाम से पुकारते थे। श्रीमद्भगवद्गीता (१५१) ने इस शैली को अपना कर वेदविद् की परिभाषा दी है। वह पाठान्तर से अथर्व (१०—२१—९) और कठ श्वेत मुण्डक में भी मिलती हैं। ऋ. वे. (१०—३१—७; १०—८१—४) का मंत्र 'किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवीं निष्टतक्षु' मन्त्र इनका मूल स्रोत है। अथर्व का पाठ है" अर्वाग्बिलश्चमस मूद्ध्र्न बुघ्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' है, कठ का पाठ "ऊर्ध्वमूलमवाग्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।" (५-६) है और मुण्डक का— अराइव रथ नाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च'। इनका सार गीता देती हैं "ऊध्वमूल मधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद्॥" इस वेद' या ब्रह्म की जड़ें ऊपर शिर की ओर हैं" शाखायें नीचे की ओर उगी हैं; यह अव्यय अश्वत्थ या प्राणमय सृष्टि वृक्ष है, छन्दासि या छन्दः इसके पर्णों के समान है। जो इस वेद वृक्ष विद्या को या इस ब्रह्म विद्या को जानता है वही 'वेदविद्' कहलाता है, अन्य नहीं। यह वेदविद् दर्शन अक्षरब्रह्म दर्शन भी कहलाता था या अक्षरों से ब्रह्म की व्याख्या करता था जैसा कि गीता ने पुनः लिखा है 'यदक्षरं वेदविदो वदान्ती' त्यादि। ब्रह्मविद् भी इन्हीं अक्षर ब्रह्म वेत्ताओं का दूसरा नाम है। संहिता सम्बन्ध में में ऋग्यजुसाम नाम विभिन्न मंत्रात्मक संहिताओं के हैं। तीनों को वेद कहते हैं, पर ब्रह्म अर्थ वाले वेद के साहचर्य में इनका अर्थ पारिभाषिक है, वेद ब्रह्म का विकास अक्षर ब्रह्म विकास है। यह विकास दो भागों में विभक्त है, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में ऋक् और साम का विकास होता है उत्तरार्द्ध में यजु और छन्दाँसि (छन्दों) का; प्रारम्भिक नामों से पूर्वार्द्ध को ऋक्, उत्तरार्द्ध को यजुः भी कहते हैं। जिस प्रकार छन्दाक्षरों से ब्रह्म' विकास के क्रमिक तत्वों और पादों का निर्धारण किया जाता रहा उसी प्रकार १६ स्वर ८ ऊष्माण ४ अन्तःस्थ और २५ पंचवर्गीय ध्वनियों से पादों और तत्वों का निर्णय किया जाता रहा। 'ऋक् माने ऋ से क् तक के तत्व हैं और यजुः माने य से जवन शील को यजूः कहलाते है 'यच्च जूश्च जवते तस्माद्यजुः' (श. प. ब्रा १०—

३–५–१)। प्रथमपाद प्रथम आठ ह्रस्व स्वरों का होता हैं आ से प्रथम विकास ऋ है फिर लृ इ उ आदि, द्वियीय पाद इनके दीर्घों का है। तृतीयपाद आठ ऊष्माणों का है, स्वर ऋचः है उष्माण साम हैः फिर उत्तरार्द्ध में पहिले अन्तःस्थ य से प्रारम्भ यरलव तदनन्तर पंञ्चवर्गीय व्यञ्जन या छन्दांसि उदीयमान होते हैं। पूर्वार्द्ध को ताने उत्तरार्द्ध को बाने बता कर अथर्व इन ध्वनियों से व्रात्य के लिए आसन्दी प्रस्तुत करते हुए लिखता है "तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन्। तस्य ग्रीष्मश्च वसन्तश्च पादावास्तां शरच्च वर्षा च द्वौ बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं वामदेव्यं च तिरश्चे। ऋचः प्राञ्च तन्तवो यजूषि तिर्यञ्च। वेद आस्तरणं ब्रह्मोपवर्हणम्। समासाद उद्गीथोपश्रयः। तामासन्दीं व्रात्य आरोहत्।।" अथर्व १५–३–३ से ९ तक। ऐ० ब्रा० (६–४–७) ने इस आसन्दी के प्राचीन ताना तो ऋक् को कहा है, साम को तिरश्चीन बाँया (बाने), यजूंषि को इतीकाशा, यशः को आस्तरण, श्री को उपबर्ह। सविता बृहस्पति ने पूर्वपाद और वायु पूषा ने दूसरे धारणा किये, मित्रावरुण को शिर और अश्विनी को अनूच्य कहा है यह वह आसन्दी है जिसके ताने बाने ऋग्यजुः है उसमें ४९ ध्वनियां तो स्थूल प्रतीकी या तत्त्व प्रतीकी है। वेद ब्रह्म में तो अनन्त अक्षर हैं जिनका विवेचन ऋ० वे (१–१६४–३९, ४१) इस प्रकार देता है "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत।।" 'गौरीमियाय सलिलानि तक्षत्यकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नव पदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।।" यहां ऋचो अक्षरे में षष्ठी का द्विवचन 'ऋचां यजुषां समाहार ऋक् तयोः 'ऋचः' नामक समाहार हैं और दोनों को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के संकेतक हैं, उसके अक्षरों का 'अक्षरे' द्विवचनान्त ही दोनों भागों के अक्षरों की संख्या की सूचना देता है। ऋचाकार का कहना है कि जो इन 'अक्षरों, को नहीं समझ सकता वह ऋचाओं को पढ़ के ही क्या करेगा? उसकी समझ में वेदब्रह्म नहीं आ सकता। इन्हीं अक्षरो में तो अनन्त तत्त्व (देवा) निवास करते हैं। हां जो इन अक्षरों को जानता है उन्हे वेद विद् या ब्रह्मविद् कहा जा सकता सकता है। तब ये अक्षर हैं कितने? इसका इसका उत्तर दूसरी ऋचा देती हैं। वह कहती है, कि गौरी नामक वाक् का अक्षर रूप सागर (सलिलानि) है उसमें १ + २=३ × ४ × ८ × ९ × १००० × १०००= ८६४००००००० मुहूर्त रूप अक्षर है। इनके भीं सूक्ष्म विभाग हैं जिनका विभाजन श० प० ब्रा० (१२–३–२–४ से ८ तक) ने ३२८०५००००० दिये है। ये अक्षर ब्रह्म के सूक्ष्म अक्षरीय तत्त्व है जो अखिलब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं।

इसकी दूसरी गणना चार युगों के वर्षो के प्रमाण को १००० से गुणा करने से मिलती है वह ४३२००००००० है। यही अक्षर तत्त्व भी है यही वर्ष रूप में इस सृष्टि की आयु की सूचना भी देती है जो वर्तमान वैज्ञानिक मत से भी पूरा पूरा मेल रखता है। यह कम आश्चर्य की बात नही है। 'ऋचो अक्षरे' पर एक विस्तृत लेख अलग दिया गया है उसे देखकर इस विषय का पूर्ण ज्ञान हो जावेगा।

वेद ब्रह्म की अक्षर ध्वनियों का विकास या विवर्त इस प्रकार होता है। ब्रह्म विवृत् है, उस विवृत् से विवर्त का प्रारम्भ होता है। "विवृदसि विवृते त्वा त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा" (यजुः १५–९) 'विवृत्ताय स्वाहा' (यजुः २२–८)

ध्वनि विवर्त—

ऋग्	पूर्वार्द्ध	विवृत् अ ईषद्विवृत् अः ह ँक	ऋ ष	ऌ स	इ श	उ ँक	ए ऐ ओ औ इनके दीर्घ भी।	ऋग साम
यजुः या छंदांसि	उत्तरार्द्ध	ईषत्स्पृष्ट ह	र	ळ	य	व	'अन्तःस्थाः'	यजुः छंदांसि
		स्पृष्ट क क वर्ग	ट वर्ग	त वर्ग	च वर्ग	प वर्ग		

पहिले ऋक् या स्वरों का विवर्त हीता है, फिर साम या ऊष्माणों का, तदनन्तर उत्तरार्द्ध के यजुः और छन्दांसि का अपने पृथक् पृथक स्वरों और ऊष्माणों से होता है। विकास को वैदिक दर्शन के अनुरूप ऐ० ब्रा० (५–५–३२) ने देते हुए लिखा है "प्रजापति रकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इमाँ स्त्रीं लोकानसृजत पृथवीमन्तरिक्षं दिवं च तानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य स्त्रीणि ज्योतींषि अजायन्तार्माग्नरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्योस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्ने रजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् तान् वेदानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राणि अजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात् तानि शुक्राणि अभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त अकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेतदोमिति तस्मादोमिति प्रणौति ॐमिति वै स्वर्गो लोकः। ओमित्यसौ योऽसौ तपति स प्रजापतिः यज्ञमतनुत तमाहृत्तेनायजत—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा ॥" यहां पर स्पष्ट लिखा है प्रजापति ने सृष्टि विकास के लिए तप किया उससे तीन लोक-पृथिवी (भूः) अन्तरिक्ष (भुवः) दिव (स्वः) हुए। उनसे ऋग्यजुः साम रूप अ उ म् तीन आद्याक्षरीय सप्तक उत्पन्न हुए, उनका समाहार ॐ है, वही प्रजा-

पति है जिसने तप किया। ॐ ही स्वरों का विकास ही तप है, उनका विकास ही यज्ञ है। देवताओं का यही यज्ञ है। 'यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवाः' माने स्वरों के विकास के लिए ॐ रूप अग्नि ने अग्निविकासीय प्रतीकरूप ध्वनियों का विकास किया। देवता ध्वनि प्रतीकी स्वर हैं। इसमें केवल पूर्वार्द्ध की ध्वनियों का विकास दिया है। उत्तरार्द्ध की छन्दांसि या वर्गीय ध्वनियों की चर्चा, समझने के लिए छोड़ दी है। यहां यजु नाम दीर्घ स्वरों का है। यह ऋग्वेदीय मत है। अतः वैदिक वेदवाद, शब्दब्रह्म विकासवाद है। इस सरणि से जो विकास ध्वनियों का होता है, उनके विकास शैली से ब्रह्म के विकास को वेदविद् आचार्य वैदिक अक्षर ब्रह्म रूप में संहिता के नामों तथा मंत्रों की संख्या देकर करते रहे। अतः ब्रह्म से ऋग्साम यजु और छन्द या मंत्र उत्पन्न हुए कहने की प्रणाली अक्षरब्रह्म की विकास परम्परा को पूर्वोक्त रीति से बतलाती रही। इसे सब भूल गये, पर 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' वचन और ब्रह्मा के चार मुखों से चार वेद निकलने की पौराणिक भावनायें अवैज्ञानिक रूप धारण कर मंत्रात्मक संहिताओं को अपौरुषेय कहने की हठधर्मिता के लिए बाध्य करती स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। वास्तव में उपनिषद् वाक्य और पौराणिक गाथा जो इसी ऋचा के स्रोत से निकलते हैं, वे सत्य हैं, पर उनका विश्लेषण भ्रामक है। जिन भागों को ऋग् साम यजु और छन्दः कहा है वही ब्रह्म या ब्रह्मा के चार मुख हैं, उन्हीं से निश्वास या प्राण रूप ब्रह्म का अग्नि रूप स्वरों में प्रारम्भिक विकास हुआ, यह आत्मविकास है। ध्वनिविवर्त के चित्र में जिन ध्वनियों का विकास है वह विकास मार्ग शिक्षा शास्त्र का मुख्य अंग था। इस शास्त्र से दुहरा काम लिया जाता रहा। एक तो भौतिक शब्द का विकास दूसरे उसके वर्गों या विभागों से ब्रह्मविकास के वर्गों भागों और तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन वाक् रूप में दिया जाता रहा। ध्वनिविवर्त ब्रह्म का प्राणाग्निरूप स्वर विवर्त, और ब्रह्मविवर्त समझने समझाने का एक उत्तम और सरल उपाय है। पूर्वार्द्ध को स्वरों और ऊष्माणों के समाहार रूप को 'ॐ' कहते थे जिसे पादीय भाषा में त्रिपादामृत कहते हैं। शब्द या वाक् का स्वरूप विद्युत् है। ब्रह्म मधुविद्युत् स्वरूपी सर्वव्यापी प्राण तत्त्व है। भौतिक तत्त्वों में शब्द ही सबसे अधिक सूक्ष्म है, वह ब्रह्म के अनुकूल सा तत्त्व है। यदि हम अपने में त्रिपादामृत रूप ब्रह्म ॐ कारी प्राणरूपी मधुमयी विद्युत् को खोज सकें तो हमें यह अखिल ब्रह्माण्ड व्यापी प्रकाश रूप में मिल सकता है, वही ज्ञानरूप में प्रतीत हो सकता है। उसके विकास की ५० सीढ़ियां हैं जिस सीढी में पहुँचे उसी का ज्ञान होगा। स्फुट ध्वनियां बहिर्जगत् की हैं, ब्राह्म ध्वनियां अन्तर्जगदीय व्यापक

मधु विद्युतीय वाक् या दैवी वाक् हैं। बाहर के प्रतीक से भीतर की खोज करनी है। अथर्व ११-७-२४ ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है "ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे देवा दिवि श्रितः॥"

भौतिक शब्द में भौतिक विद्युत्तरंगें होती हैं जो भौतिक झङ्कार को सीमित सर्वतो व्यापी तरंगों मे प्रवाहित करते हैं पर अक्षरब्रह्म की आध्यात्मिक अभौतिक मनोमयी सार्वजनीन व्यापक तरंगें असीमित और स्वयं प्रवाह मयो होती है। ये अनन्ताक्षर बीज रूप अनन्त प्रकार की होती हुई भी एक रूप में ॐ प्रतीक में रहती हैं। उस अनन्ताक्षरी ध्वनि के स्थूल भेदों को स्वरादि प्रतीकों में भेदमय समझा जाता है। यह अखिल ब्रह्माण्डीय ध्वनि का वैद्युतीय तरंगीय अनन्त भेदी एक संगीतमय प्रवाह है जो अखिल ब्रह्माण्ड तथा पारिवारिक और वैयक्तिक ब्रह्माण्डों में आभ्यन्तर ध्वनि रूप में अनुभूत किया जाता है। वह बाहर भीतर सर्वत्र है, बाहर वह भौतिकाधिक्य से भौतिक संगींत मात्रा में कुछ कुछ अनुभूत हो सकता है। ब्रह्म तीन प्रकार का मुख्यत है (१) कैवल्य ब्रह्म या पुरुषोत्तम, जो अखिल सृष्टि बीजों के उगने की भूः है (२) अक्षरब्रह्म जो विकासोन्मुख ब्रह्म है मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत् है, अनन्त बीजों को एक बीज प्रस्फुटित कर लेता है। ब्रह्म में ये बीज ब्रह्मात्मक एकात्मीय थे। यह बीज त्रिपादामृत में २४ सीढियों में त्रिधा विकसित होता है। यह पूर्वार्द्ध है। (३) उत्तरार्द्ध में क्षर ब्रह्म का विकास होता है। यहां बीज को प्रथम पर्ण या भौतिकता मिलती है जिसे सुपर्ण कहते हैं। यहाँ पर ब्रह्म चतुर्धात्मा तो हो ही जाता है पर रहता मधु वैद्युतीय ही है। पूर्वार्द्ध में केवल ऋतशर (पोजिटव चार्ज) था अब सत्यशर या भौतिकशर (नेगेटिव चार्ज) उत्पन्न हो जाता है। इनका विकास व्यञ्जन ध्वनियों की तरंगानुसार, स्वरानुश्लिष्ट रूप में चतुष्पाद् ब्रह्म रूप में केवल विद्युत्प्रवाह रूप में ही होता है, मात्र इस विद्युत्प्रवाह रूप में ही होता है। इस विद्युत्प्रवाह का ही नाम प्राण है जो विद्युत्परमाणु की तरह स्वयं संचारी है। आजकल के ईथर या मैगनेटिक तरंग बहुत स्थूल पदार्थ हैं। रेडियो किरण भी स्थूल वस्तुयें हैं, इनसे उक्त अक्षर ब्रह्म के अक्षर रूप आध्यात्मिक और अक्षर ब्रह्म के भौतिक विद्युन्मयी लहरियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, सर्वव्यापक हैं, एकमय हैं, एक ही है, अनेक में भी विभक्त हो सकते हैं (अक्षर ब्रह्म-व्याख्या 'ऋचो अक्षरे' देखें)

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ १०॥

['प्राणं ब्रह्मेत्याहुः' 'वाचं धेनुमुपासीत' 'आविः संन्निहितं गुहायां' 'अजस्य रूपे किमपिस्विदेकम्' 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते' 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति']

यह ऋचा यजुर्वेद में आठवीं और अथर्व में बारहवीं है। सबका पाठ एक सा है।

यह ऋचा भी विद्वानों को कम भ्रम में डालने वाली सिद्ध नहीं हुई है। प्रायः सभी भाष्यादि लेखकों ने इसमें आये 'अश्वाः गावः अज, अविः' शब्दों का अर्थ लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त अभिधा रूप में किया है जिससे वैदिकों का लेश-मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। ये सब शब्द तो पारिभाषिक हैं, प्रत्येक का रहस्य दर्शन की अपनी अलग शैली देता है। सीधी सी बात है उस आदि पुरुष से एकदम घोड़े बैल गाय भेड़ बकरी कैसे पैदा होने लगे ? ऐसी कोई भावना उसमें नहीं है। उक्त पारिभाषिक शब्दों का वैदिक साहित्य में बहुत प्रयोग है। जहां इनका प्रयोग है वहीं इसका समाधान भी प्रस्तुत है। वैदिकों का प्रत्येक तत्त्व या देवता जैसे इन्द्र मित्रावरुण पूषा रुद्र विष्णु आदि पशु नाम से पुकारे गये हैं। इनकी अवतारणा इन देवता रूप पशुओं में की गई है। जब इससे भी पूरा नहीं पड़ा तब साक्षात्पशुओं को भी तत्त्व में स्वीकार किया गया। यह उलटी गंगा है। यह उलटी गंगा, यज्ञ समारोह की नाना विधियों को साकारता देने के लिए बहाई गई थी। इन पशुओं को अग्नि का स्वरूप मानते थे 'त एते सर्वे पशवो यदग्निः' 'अग्निर्ह्येष यत्पशवस्ततो वै प्रजापति रग्निरभवत्।' (श० प० ब्रा० ६–१–४–१२)। ये अग्नि के स्वरूपों के प्रतिनिधि रूप पशु हैं। अपनी अपनी अलग अलग उचित व्याख्यायें रखते हैं। अग्निरूप में कितने पशुओं का आधान करना चाहिए ? इसके उत्तर में लिखा है कि केवल पांच पशुओं का—पुरुषपशु अश्व गौ अवि अजा—का। "कति पशवोऽग्नावुपाधीयन्त इति पञ्चेतिन्त्वेवब्रूयात्" (श० प० ब्रा० ६–१–२–३२)। इनमें से पुरुष की व्याख्या पहिले इसी सूक्त के आदि में दी जा चुकी है, अश्व की अश्वमेध और 'स्वः स्वाः अश्व इत्यादि शीर्षक में। अश्व [सप्तयुञ्जन्तिरथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्र मजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाऽधि तस्थुः॥" (ऋ० वे० १–१६४–२)] नाम प्राणों का है प्राण रूप ब्रह्म का है। गौ नाम सब लोकों का है 'इमे वै लोका गौ यद्धि किं च गच्छतीमांल्लोकान् गच्छतीमे उ लोका एष अग्नि स्तस्माद् गौरिति ब्रूयात्।' (श० प० ब्रा० ६–१–२–३५)। इस प्रकार गौ नाम अग्नि रूप ब्रह्म का ही है। इसी प्रकार 'अविः' नाम भी अग्नि का ही है जैसे "अविरितीयं वा अधिरितीयं हीमाः सर्वा प्रजा अवतीयमु वा अग्निरस्यै हि सर्वो अग्निश्चीयते" (श० प० ब्रा० ६-१–२–३३); जो इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करती है उस अग्नि का नाम अवि है। अब अग्नि से अश्व रासभ और अज की उत्पत्ति की व्याख्या देखिए। "अथ यो गर्भोन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्हवैतमग्निरित्याचक्षते

परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः । अथ यदश्रु संक्षरित मासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्हवै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षकामा हि देवा । अथ यद्रसदिव स रासभोऽभवत् , अथ यः कपाले रसोलिप्त आसीत् सोऽजोऽभवत् अथ यत्कपालमासीत् सा पृथिव्यभवत् ।।" (श० प० ब्रा० ६ १–१-११)। पुरुषोत्तम से सबसे पहिले अक्षरब्रह्म रूप में (अग्रे अग्रे) आगे-आगे जिसकी उत्पत्ति हुई उसे अग्रि नाम में न कह कर अग्नि नाम में कहने लने। उससे जो अश्रु रूप रस निकला उसको अश्रु कहने के स्थान में अश्व कहने लगे। कोई इसी को अश्म स्फटिकशिला - या पाषाण या ग्रावणदेवता कहने लगे-(श० प० ब्रा० ६–१-२–३)। उस कपाल पर जो रस सा दीख पड़ा उसी को रासभ कहने लगे, उसी रस को ही 'अज' नाम से भी पुकारने लगे, कपाल से पृथिवी भौतिक तत्त्व बना ।" कर्मकाण्ड में प्रयुक्त अभिनयी इनके नाम से प्रसिद्ध पशुओं के मांस को खाना श० प० ब्रा० (७–४–२–३७-१-२-१–९) और ऐ० ब्रा० (२–१–३) ने मना करते हुए स्पष्ट लिखा है कि ये अपक्रान्तमेधा के पशु हैं जैसे "पञ्च पशवोऽभवंस्त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञिया स्तेषां ब्राह्मणो नाश्नीयात्" इन लौकिक पशुओं को तो यहां पर अयज्ञिया अमेध्या- यज्ञ के अयोग्य और अपवित्र तथा अपक्रान्तमेधा (यज्ञ रूप बुद्धि विनाशकारी) बतलाया है, इनसे यज्ञ करना और इनका मांस खाना मना किया है। यहां पर वर्णित पञ्च पशु तो 'सर्वाः देवताः' वाची पञ्चपशु हैं इनका विकास आदि से अन्त तक क्रम से होता है। यही पांच पशु उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ के पांच तत्त्व है जिनका वर्णन श० प० ब्रा० १–२-१-६ से ९ तक और बृहदारण्यक ने इस प्रकार दिया है "स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत्सहैतावानासा यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इयमेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इतिस्माह याज्ञवल्क्यश्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया सम्पूर्यंत इव तां समभवत् ततो मनुष्याः (चतुर्थसप्तकीया) अजायन्त । सो हेयमीक्षां चक्रे कथं नु मात्मनएव जनित्वा सम्भवति हन्त तिरोसानीति सा गौरभवत् ऋषभ इतरः तां सममेवाभवत् ततो गावोऽजायन्त बडवेतराभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्तां सममेवाभवत् तत एकशफमजायताजेतराभवत् वस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्तां सममेवाभवत् ततो अजावयोऽजायन्त एवमेव यदिदं किंच मिथुन-मापिपीलिकाभ्यः सर्वमसृजत् (१-३-४–५)। श० प० ब्रा० १·२–१–९ ने पुरुष पशु का एक नया नाम 'किंम् पुरुष' भी दिया है। तथा कुछ व्यतिक्रम और नये अन्य नाम भी दिये है जैसे "स यं पुरुषमालभन्त स किं पुरुषोऽभवत् यावश्वं च गां च गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवत् यमजममालभन्त स शरभोऽभवत् तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधा ह्येते पशवः ।।"

पिछले परिच्छेद में वर्णित विषय से स्पष्ट हो गया होगा कि हमारी ऋचा के पशु सर्वा देवता है जिनका विकास क्रमशः आदि से अन्त तक अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् प्रणाली से जैसा कि इनके स्वतन्त्र शीर्षकों में विस्तार पूर्वक अन्यत्र दे दिया गया है- होता है। वृषभ-अश्वमेध:- गौ गौरी धेनु-अज एकपाद-अश्व-आदि शीर्षक देखें। परन्तु इस ऋचा में इन पशुओं का वर्णन यहां पर विश्वेदेवता या चतुर्थ सप्तकीय भौतिकात्माधारी तत्त्वों के रूप में किया गया है। इनकी भौतिकात्मता अश्वादि स्वरूपी न होकर इन शब्दों से अभीष्ट परिभाषिक अर्थ के भाव वाले प्राण रूप, गतिरूप, अनादि रूप, श्रवणशील रूप की भौतिकता है जैसा कि पिछले परिच्छेदों में दे दिया गया है। इस प्रकार की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या बृहदारण्वक के उद्धरण में दी गई है, वह इस प्रस्तुत ऋचा का अक्षरशः भाष्य सा दे देती है। अतः उसके अर्थ के रूप में ही इस ऋचा का अर्थ किया जा रहा है। "यह पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत पुरुष एकात्मा होने से अकेले में (नहीं रमता रहा); उसे बुरा लगता रहा, उसने साथी की कामना की तो प्रथम मनोरूप भौतिक तत्त्व का उदय हुआ। उस काम रूप मनः से वह इतना विवृद्ध हो गया कि वह भौषिक तत्त्व स्त्रीरूप में उसके चारों ओर व्याप्त हो गया। तब उसने इन दो प्रकार के शरीरों को द्विधा विभाजित किया (यह समझाने मात्र की कथा है विभाजित तो हो ही नहीं सकता) वे दो भाग पति पत्नी बने। वह अर्द्धनारीश्वर रूप में प्रस्तुत हो गया। और अखिल ब्रह्माण्ड रूप त्रिपाद पुरुष उस स्त्रीरूप भौतिकात्मा (दिव्यशरीर) से व्याप्त हो गया। इन दोनों के जोड़े या संयोग से मनुष्य नामक चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का क्रमशः विकास हुआ। यही अर्द्धनारीश्वरी दूसरे शब्दों में पुरुष पशु कहलाता है, पुरुषपशु भी मनुष्य ही है, तथा चतुर्थ सप्तक को 'नृषद्' और नर या नारा (आपः) कहते हैं, इसका नाम अब्जा भी है। उस अर्द्धनारीश्वर के भाग भौतिकात्मा रूप स्त्री ने सोचा कि मैं तो उसी से उत्पन्न हुई हूँ, मैं बेटी (दुहिता) के समान हूँ, मैं इसकी पत्नी कैसे हो सकती हूँ, इस लाज को छिपाने के लिए उसने कहा मैं तिरोधान या अन्तर्धान हो जाती हूँ। तब वह स्वयं तो भौतिकात्मा गौ (गाय) बन गई और पुरुष भाग तब वृषभ या ऋषभ बन गया। इन दोनों से गायें बनीं। यह संदर्भ है 'गावों ह जज्ञिरे तस्मात्' टुकड़े का। वेदों मे 'गावः' नाम आदित्यों का हैं, अर्द्धनारीश्वर रूप तत्त्व छह आदित्य या सूर्य नामक तत्त्व हैं, इसके अगले विकास छह आदित्य और होंगे। ये 'गावः अगले छह आदित्य हैं, जिन्हें सविता भग विवस्वान्, यम, विष्णु नामों से पुकारा जाता है। यहां पर बृहदारण्यक ने कुछ

व्यतिक्रम दिया है। पञ्चपशुओं का वैदिक क्रम 'पुरुषपशु–अश्व-गौ अवि अज' है अत; पहिले 'अश्ववडवा' रूप में अन्तर्धान होना लिखना चाहिए था। परन्तु ये पांचों पशु सब आदित्यों के प्रतिनिधि हैं और आदित्यों को 'गाव.' कहते हैं। अत: इस प्रकार के वर्णन से दार्शनिक वैज्ञानिकता का लोप तो नहीं हुआ है फिर भी साधारण विद्यार्थी के लिए यह खटकने वाली बात अवश्य कही जायगी।

जब भौतिकात्मा ने उस पुरुष पशु के (ऐ० ब्रा० २-१-८) उस वृषभ रूप के अन्तर्धानीय स्वरूप का भी पीछा या पल्ला न छोड़ा, तो वह 'अश्व' बन गया, फिर भी भौतिकात्मा वडवा बन गई इन दोनों के सम्मिलन से अश्वा' उत्पन्न हो गये। जैसे कहा गया है पुरुषपशु सबसे पहिले अश्वरूप में या प्राण रूप में प्रस्तुत हुआ। यही अश्व रूप जोड़ा 'अश्विनी' भी कहलाता है। अश्विनी की जन्मकथा 'सररायू:' शीर्षक में दे दी गई है। त्वष्टा की पुत्री सररायू विवस्वान् पति के लिए 'सवर्णा' को छोड़कर स्वयं 'अश्वी' (घोड़ी) बन कर भाग गई तो विवस्वान् भी अश्व बन कर पीछे लग गया। इन दोनों से अश्विनी का जन्म हुआ। उनके प्रथम शरीरों से यममयी और सूर्य सवर्णा से 'सावर्णि: हुए (सावर्णि' सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः)। पूर्वोक्त अर्द्धनारीश्वर ही सूर्य है और पत्नी त्वष्टा की पुत्री सररायु: सरणशीला सांसारिका भौतिकात्मा या उसकी दीप्ति है। उनसे अश्विनी नामक तत्त्व भी अर्द्धनारीश्वर ही है। अतः हमारी ऋचा कहती हैं कि उस यज्ञपुरुष रूप पुरुष पशुसे 'अश्वा:' भौतिकात्मा के प्रथम भौतिक प्राणा: रूप तत्त्वों का विकास हुआ, तदनन्तर गमन शील गतिशील देह रूप या गाव:' रूप भौतिक दीप्ति युक्त आदित्यों का विकास हुआ। यह सन्दर्भ 'तस्मा दश्वा अजायन्त' पद का है (शेष 'अश्वमेध' शीर्षक में देखें)। इसी प्रकार रासभ रासभी उष्ट्र उष्ट्री आदि उभय दन्त पंक्ति वालों का ज्योति रस रूप में, या दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की ज्योतियों के रूपों में सृष्टि का क्रम चल पड़ा। रासभ रसमय पुरुष तत्त्व है, रासभी या गर्दभी भौतिकी या आसुरी दीप्तिभरी रसमयी आपोमयी सृष्टि है जिसे वृत्र से उद्भूत माना गया 'वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार' (ऋ० चे० १-३२-१०, ११)। इसीलिए ऋचा यहाँ पर नाम न देकर 'जो कोई भी दुहरे दांत के (पशु) हैं, कहती हैं 'ये के चोभयादत:'। ठीक इसी प्रणाली से तदनन्तर पुरुष-पशु वृष से अज बना तो वह भौतिकात्मा 'वस्त' 'अजा' बनी, और वह अवि बना तो भौतिकात्मा मेष बना, इन दोनों संयोगों से क्रम से 'अजा: और अवय: (भेड़े) रूप तत्त्व बने। यह अर्थ है 'तस्माज्जाता अजावय:' का। ये सब तत्त्व अग्निरूप, विद्युद्रूप, भौतिकात्मा सहित त्रिपादामृत रूप, रस रूप

पूर्णभौतिकता रूप, दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों से भरे हैं। ये पशु नहीं 'पश्यन्' तत्त्व हैं आदित्यरूप प्राणरूप, गतिशील रससागर हैं सृष्ट्यादि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व हैं। ऋ० वे० ३-५३-२३ में 'नवाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति' मन्त्र गर्दभ पशु को अश्व से पहिले रखने को मना करते हुए, 'अश्व को भौतिकता वाला ही नहीं समझना चाहिए वह अभौतिक भी है, कहता है।

इस ऋचा के ये पञ्चपशु हमारे दर्शन के चतुर्थ सप्तक के ही तत्त्व है इन्हीं से भौतिक सृष्टि का सर्वप्रथम उदय होता है इस प्राकरणिक कथन का समर्थन निम्न प्रमाणों से भी कर दिया जाता है। जब श० प० ब्रा० (१-२-१-६ से ९ तक) पुरुषपशु का विकास अश्वादि पशुओं में दर्शाता है तो सातवें भाग में कहता है कि 'आत्रो सा सम्पद् यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति" कि ये उक्त पञ्चपशु तो अत्रि की सम्पदा या सन्तान या विलास हैं। इस 'अत्रि' की व्याख्या बृहदारण्यक ने इस प्रकार दे रखी है जैसे 'वागेवात्रि र्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह नामेतद्यदत्रि रिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद।" (१-४-२-४)। अत्रि नाम वाग् ब्रह्म का है, वाणी रूप ब्रह्म भौतिकात्मा है, वह सर्वभक्षी है, जो 'अत्ति' (खाता है) वही 'अत्रि' या वाणी रूप सर्वभक्षी भौतिक तत्त्व है। इसी बात को ऐ० ब्रा० ने बृहदारण्यक के प्रथम उद्धरण से मेल खाने वाले आख्यान के रूप में एक नये ढंग से प्रस्तुत किया है। इन सब कथाओं में ऋग्वेद के मंत्रों का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। ऐ० ब्रा० कहता है कि "प्रजापति स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्ये आहु रूषसमित्यन्ये—तामृष्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोति इति ते मा दुषदिति मादुषमभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह जायैतद्यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्ष प्रियाहि देवाः।" (३ ३-३३)। यह प्रजापति भी अत्रि ही है, वह अपनी दुहिता के— जिसका नाम दिव् या ऊषा है—पीछे लग गया, देवताओं ने इसे अकृत्य समझा, कहने लगे यह उसे दूषित न कर डाले (मा दुषद्)। इसी मादुष् शब्द को कहते-कहते उसे 'मानुष' कहने लगे अर्थात् उनके योग से 'मानुष' नाम के चतुर्थ सप्तक के वही भौतिक तत्त्व निकले जिनको बृहदारण्यक ने 'मनुष्या समजायन्त' लिखा है। ऐ० ब्रा० का यह प्रजापति अत्रि ही है। यह श० प० ब्रा० (१-४-१-११, १२, १३) के अत्रि उत्पत्ति की कथा से स्पष्ट है। इसमें लिखा है कि एक बार मनः या मानसिक वाणी और भौतिक वाणी में विवाद छिड़ गया कि कौन बड़ी है ? प्रजापति ने मानसिक वाणी (मनः) को श्रेष्ठ बताकर भौतिक वाणी को 'परा' नाम से

पुकार दिया। यह सुनकर भौतिक वाणी अहब्यवाट् सिद्ध हो गई और उसका गर्भपात हो गया। तब देबता उसके गर्भपात को ढूंढने लगे तो उन्होंने कहा वह यहां गिरा था—'अत्र त्यात् इति'। इसी कथन से "अत्र त्यात्" 'अत्रत्यात्' कहते कहते वे उस गर्भपात को 'अत्रि' नाम से पुकारने लगे थे। मानसिक (मनः की) वाणी उपांशु होती है, भौतिक वाणी स्फुटध्वनि की। अतः देवताओं की आराधना मानसिक वाणी में की जाती है। भौतिक वाणी परा है। दैवी वाणी 'अपरा' या पूर्वार्द्धीय है। "सा ह वाग् परोक्ता विसिष्मिये तस्यै गर्भः पतातः······ तद्धैतद्देवा रेतश्चर्मन् वा यष्मिन्वा वभ्रुस्तद्ध पृच्छन्ति 'अत्रैव त्या ३ दि।त' ततोऽत्रिःसम्बभूव।"

वैदिक ऋचाओं में लिखा है कि इस भौतिकात्मा रूप राहु तत्त्व से सूर्य २५वां तत्त्व ढक गया, उसे अत्रि ने चतुर्थ (सप्तक) के ब्रह्म बनकर देख पाया: जैसे "गूढं सूर्यं तमसापवृतेन तुरीयेन ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः।" अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत्॥" (ऋ० वे० ५–४०–६, ८)। यहां यह भी लिखा है कि उक्त सूर्य नामक तत्त्व अत्रि कीं चक्षुः या आँख (अङ्कुर) है उसी ने उस भौतिकात्मा के राहु सम अन्धकारकारी तमोमय रूप की माया को दूर हटाया। इस ऋचा का अर्थ भी श० प० ब्रा० (५–२–६–२) ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार दे दिया है 'स्वर्भानु ह वा आसुरः (भौतिकः) सूर्यं तमसा (भौतिकात्मकतया) विव्याध। स तमसा विद्धो न व्यरोचत। तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपाहताम् स एषऽपहतपाप्मा तपति······ शूद्रस्वद्यांस्त्वत्तस्य·· कृष्णं वै तमस्तत्तमोऽपहन्ति तस्यैवैव श्वेता श्वेतवत्सा दक्षिणा।" इत्यादि॥ इसी प्रकार सूर्य की स्तुतियों में इस तमोरूप भौतिकतत्त्व की चर्चा अवश्य दी गई है, उसे 'चक्षुमित्रस्यवरुणस्याग्नेः' या मित्र वरुण और अग्नि या अत्रि की चक्षु भी इसीलिए कहा गया है। (सूर्य शीर्षक देखें)। मंत्र रचयिता ऋषि अलग हैं।

जिस प्रकार के भाव वाले उद्धरण बृहदारण्य ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० में मिले है उन्हीं भावनाओं को हम ऋ० वे० में भी पाते हैं जैसे "द्यौ में पिता जनिता नाभिरत्र बन्धूर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो र्योनि रन्तरत्रा पित। दुहितुर्गर्भमाधात्॥" और 'यईं चकार न सो अस्य वेद यईं ददर्श हिरुग्निन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिं माविवेश।" (ऋ० वे० १–१६४–३३, ३२)। इनमें इसी भौतिक तत्त्व को एक स्थल में 'दुहिता' और दूसरे स्थल में मही, पृथिवी और मातुर्योनिः कहा हैं। अन्तिम द्यावापृथिवी दो विभाजनों के अनुसार हैं। अतः जो व्याख्यान यहां पर 'अश्व गो अवि अज' के बारे में प्रस्तुत किया गया है वह निश्चयपूर्वक इन्हीं तथ्यों पर पूर्ण

प्रकाश डालता है। और ऐ० ब्रा० ३–३–३३ के उद्धरण में 'प्रजापति ने 'उषा से अकृतकार्य किया' लिखा है, इसका आधार ऋ० वे० का पूषा को अपनी बहिन उषा का जार कहना है 'स्वसुर्यो जार उच्यते' (६–५५–१) और साथ में वहीं इसे 'मातुर्दिधिषु:' भी कहा है, यह 'स मातुर्योना परिवीत:' का भाव दुहराता है और ब्राह्मणों की श्रुतियों की पुष्टि करता है।

अथाध्यात्मम्

अब तत्त्वों का वर्णन पुरुष के अङ्ग रूपों में किया जाता है। इस शैली को अध्यात्म कहते हैं। प्रत्येक अंग आत्मा है, अतः उन पर आधारित वर्णना अध्यात्म नाम से पुकारी जाती है। इस शैली में उलटा क्रम है। अध्यात्म योग का नाम है। योगी प्रत्येक आत्मा (भौतिक) से उनके देवता रूप की उद्दीप्ति या अनुभूति करता है, इसका नाम अतिसृष्टि है (बृह० उप० १–४·६)। यहां मर्त्य तत्त्वों से अमृत तत्त्वों की सृष्टि या अनुभूति होती है। शिर बाहु उरु पाद वाक् (मुख) चक्षु श्रोत्र मन प्राण तो अध्यात्म शरीर हैं और द्यौ ब्राह्मण अग्नि सूर्य चन्द्रमा दिश उनके क्रमिक देवता हैं।

> यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
> मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥
> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

'पद्भ्यां भूमि दिशः' 'ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशास्यो दशशिरः' "इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं आत्मा" 'शौद्रं वर्णं पूषणं' 'पशवो वै पूषा पुष्टिः पूषा, पुष्टिः पशवः' 'जन्मना जायते शूद्रः' 'चक्षुः पादः' श्रोत्रं पादः'।

यजुर्वेद में ये दशवीं और ग्यारहवीं ऋचायें हैं, अथर्व में पाचवीं और छठी। यजुर्वेद ने प्रथम ऋचा के 'कौ बाहू' और 'का ऊरू' के स्थान में 'किम्बाहू' और 'किमूरू' पाठ दिया है, और अथर्व ने भी यही पाठ दिया है। दूसरी ऋचा के सम्बन्ध में यजुर्वेद का पाठ वही है जो ऋवेद का है, पर अथर्व ने 'राजन्यः कृतः' के स्थान में 'राजन्योऽभवत्' तथा 'ऊरू तदस्य' के स्थान में 'मध्यं तदस्य' पाठ दिया है। इन पाठान्तरों से इन ऋचाओं के भाव में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

वर्तमान ऋचाओं की प्रचलित भ्रामक व्याख्याओं और अर्थों ने हमारे हिन्दू समाज में ऊँच नीच भावना का विषाक्त प्रभाव डाल रखा है। बहुत से ब्राह्मणादिक अपने को इन ऋचाओं के बल पर साक्षाद् ब्रह्म से निकला समझ कर दूसरों को तिरस्कृत करते दीखते हैं। वास्तव में इन मन्त्रों में

आये ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र शब्द जाति परक होते हुए भी यहां पर पारिभाषिकतया तत्वों या तत्वों के गुच्छों या सप्तकों के संकेत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ये वर्ण या जातियाँ देवताओं की हैं। प्रथम आठ या दस तत्व ब्राह्मण कहलाते हैं, द्वितीय सप्तक क्षत्रिय, तृतीय सप्तक वैश्य और चतुर्थ भौतिक सप्तक शूद्र नाम से पुकारा जाता है। यह पुरुष पशु के अंगों का विवेचन देता है। एक ही तत्व कभी ब्राह्मण कहलाता है, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य और कभी शूद्र। इस प्रकार वर्णों के कर्मानुसार विभाजन स्वीकार करके उनके ऊँच नीच भेदभावमूलक भावना की सत्ता ही मिटाकर, सब को समान पद दिया है, विशेषकर शूद्र तत्वों को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। यद्यपि पंक्ति रचना का क्रम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र का ही क्रम नियमित रूप से तत्व क्रम समझने के लिए अनिवार्य माना गया है। इस दृष्टि से उक्त वर्णों के ऊंच नीच क्रम की सत्ता को मना भी नहीं किया जा सकता, पर यह सत्ता उनके गुण और कर्मों से मानी गई है, आजकल के वंश परम्परा मूल से नहीं।

इन ऋचाओं में जिन्हें पुरुषपशु के अंगभूत मुख बाहु ऊरू और पादों को ब्राह्मण क्षत्र विश् शूद्र वर्णों के नाम से पुकारा गया है वे ब्राह्मणादि हमारे मनुष्य जाति या हिन्दू समाज के वंशानुक्रमी ब्राह्मणादि कदापि नहीं हैं। ये तो देवताओं की जातियाँ हैं या वर्ण हैं, या तत्वों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का वर्णन करने वाली सीधे भाव से कही गई पारिभाषिक पदावली है। हमारे अज्ञान ने इनके अर्थ को गलत समझने के लिए बाध्य किया है।

ऋचाओं में प्रथम प्रश्न करती है कि जिस अखिल ब्रह्माण्ड नायक को पुरुष रूप में कल्पित किया गया था उसका मुख कौन था, बाहु कौन, ऊरू कौन थे ? और पाद कौन थे ? इसके उत्तर में दूसरी ऋचा कहती है कि ब्राह्मण मुख था, राजन्य या क्षत्र को बाहु बनाया, वैश्य ऊरू बने, और पावों से शूद्रों की रचना हुई।

अस्तु उक्त ब्राह्मणादिकों को खोजने के लिए दूर जाने की आवश्यकता न पड़ेगी। आपके छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद तथा अथर्व इस विषय पर सन्देहहीन निर्भ्रान्त व्याख्यान दे देंगे, यद्यपि ब्राह्मणों और अन्य उपनिषदों में इस विषय पर स्थल स्थल पर स्पष्ट प्रकाश डाल रखा है प्रत्येक देवता या तत्व को उसकी जाति या वर्ण के नाम के साथ साथ उद्धृत या आमंत्रित कर रखा है। प्रस्तुत ऋचा के पारिभाषिक शब्द साक्षाद् उस विद्या के हैं जिसे हमारे यहाँ ब्रह्म विद्या कहते हैं और जिसके ज्ञाताओं को 'ब्रह्मवादिनः' या 'ब्रह्म· विद्'कहते हैं। क्योंकि इन वर्णाभिधेय तत्वों का विकास साक्षात् 'ब्रह्म' से सूचित

किया गया है । ब्राह्मणों या उपनिषदों में या गीता में जहां जहां ब्रह्मविद् या ब्रह्मवादिनः शब्दों का प्रयोग है वहां इन्हीं तत्त्वों से संकेत समझना चाहिए । जैसे छान्दोग्य (१-२-२४) ने लिखा 'ब्रह्मवादिनो वदान्ति यद्वसूनां प्रातः सवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनमादित्यानां च विश्वेषां देवानां च तृतीय सवनम्" । इस ब्रह्म के चार पाद हैं अतः इसे चतुष्पाद् ब्रह्म कहते हैं उसके चार पादों के क्रमिक नाम वाक् (ब्राह्मण) प्राणः (क्षत्र) चक्षुः (वैश्य) और श्रोत्र (शूद्र) हैं जैसे 'तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाग्पादः प्राणः पाद श्चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः ॥" छान्दोग्य (१ ३-१८) । जिसको छान्दोग्य 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' (१-३-१४) कहता है उसी को बृहदारण्यक 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा' (२-६-६) कहकर ब्रह्म के विकासों में क्षत्र को द्वितीय सप्तक, और देवताओं को तत्त्व (भूतानि) नाम से पुकार कर सब को आत्मा या ब्रह्म कहता है । फलतः प्रथम पाद ब्राह्मण है जिसे वाक् या ब्राह्मण कहते हैं, द्वितीय पाद क्षत्र या प्राणः है, तृतीय पाद वैश्य या चक्षुः है चतुर्थ पाद श्रोत्र या शूद्र है । प्रत्येक पाद में अनुष्टुप् गायत्री के आठ आठ अक्षरों के आठ आठ तत्त्व रूप देवता हैं । अन्य छन्दों के अनुसार पाद के तत्वों की संख्या कम या अधिक होती है जैसे विराट् का अनुसरण करते हुए अथर्ववेद प्रथम १० तत्वों को ब्राह्मण कहता है जैसे "ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशशीर्षो दशास्यः ॥" (४-६-१) । यही दशानन ब्राह्मण है जिसका भौतिक विकास आसुरी सम्पदा में रावण कहलाया अर्थात् जब इसका विकास २४ वें से ३१ वें तक आसुरी भौतिकता में हुआ तो वह रावयतीति रावणः हो गया, वही दैवी शक्ति सम्पन्न हुआ तो रामयतीति रामः भी हो गया । दोनों एक ही के द्वन्द्व हैं । यजुर्वेद सप्तम काण्ड में भी इस ऋचा के अनुरूप भाव दिये गये हैं जिसमें ब्राह्मणादिकों की मुख से त्रिवृत् रूप में उत्पन्न होने की चर्चा की गई है, वहां भी यही उक्त भाव समझना चाहिए । उक्त भाव की कुञ्जी 'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्' आगे का मन्त्र है । जिन दो पावों से यहाँ शूद्र तत्त्वों की सृष्टि बतलाई गई है उन्हीं दो पावों से इसी सूक्त के अगले १४ वीं ऋचा में भूमि की उत्पत्ति बताई है । यहाँ का भूमि शब्द भौतिकवादी है यह वहां बताया जायगा, देखें, उसी के भौतिक श्रोत्र या स्रोतों से दिशायें या सीमायें बनीं । जब ये भौतिकों की सृष्टि करते हैं तो यहां के शूद्र तत्त्व भी इन्हीं भूमि और दिशा के समकक्ष भौतिक तत्त्व स्वयं सिद्ध हो जाते हैं । इन दोनों का सामञ्जस्य, भाष्यकारों का स्वयं खण्डन कर देता है ।

बृहदारण्यक ने लिखा है कि आदि में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व था, उसने अपने को ब्रह्म हूँ करके समझा तो उसी से सब देवता क्रम से उत्पन्न हुए । अतः

वामदेव ऋषि ऋ० वे० ४-२६ सूक्त में कहते हैं कि मैं ही सूर्य था मैं ही मनु था वही सब कुछ था इत्यादि। वह ब्रह्म पहिले अकेले था, ब्राह्मण रूप में ८ तत्त्व तक प्रथम पादीय था या एकपाद था। उससे पूरा नहीं पड़ा तब उसने श्रेय रूप क्षत्र या राजन्य नामक तत्त्वों या देवों का विकास किया। वे क्षत्र या राजन्य तत्त्व ये हैं:—इन्द्र वरुण सोम रुद्र पर्जन्य यम मृत्यु और ईशान। एक एक से एक एक की उत्पत्ति हुई। अतः ब्राह्मण से क्षत्र तत्वों की दूसरी श्रेणी है। इससे भी सृष्टि कार्य पूरा न हो सका, तब इन क्षत्रों से विश् या वैश्य नामक तत्त्वों की सृष्टि की गई। वे वैश्य तत्व ये हैं:— अष्ट वसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य, विश्वेदेवता और मरुत। इनसे भी सृष्टि का कार्य पूरा नहीं हो सका। तब उक्त विश तत्त्वों से शूद्र तत्त्वों की सृष्टि की गई। यह शूद्र तत्त्व पूषा पूणाण या पोषणकारी भौतिक तत्त्व हैं जिनको पशु रूप में वर्णित किया जा चुका है, चतुष्पाद रूप सभी देवताओं को पशु रूप में वर्णित किया गया है अतः सब देवता शूद्र ही हैं। पूषा नाम पशु का है 'पशवो वै पूषा''। इससे भी पूरा नहीं पड़ा तो श्रेयो रूप धर्म की प्रतिष्ठा की गई। धर्म नाम सत्य(बोलने)का है। जो सच बोलता है वही धर्म बोलता है। अन्त में कहा है कि वह ब्रह्म इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र नामक तत्त्वों में अग्नि रूप में प्रस्तुत या विकसित हुआ। अतः वेदों में अग्नि सूत्रों में जहां जिस वर्ण नाम की अग्नि का उल्लेख है वहां उसी की स्तुति समझनी चाहिए। सब एक ही अग्नि के वर्णन के सूक्त नहीं हैं। यह वर्ण भेद वर्णना के भेद दर्शाने के निमित्त अपनाया गया है। "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्सर्वमभवत् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां च मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषि वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" "ब्रह्म वा इदमग्र आसी देक मेव तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रःपर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति" "स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुतः इति।" 'स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च॥" "स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं,···यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति इत्येतदुभयं भवति॥" (१-१-४-१०, ११, १२, १३, १४, १५) "पशवो वै पूषा पुष्टि र्वैपूषा, पुष्टिः पशवः" (श० प० ब्रा० ३-१-४-९-१४)

उक्त वर्णात्मक देवताओं में जब रुद्र अकेले हो तो क्षत्र है, पर गणात्मक रुद्र वैश्य है, सूर्य, सविता, क्षत्र हैं पर गणरूप में ये आदित्य नाम के वैश्य हैं, एक-एक विश्वेदेवता शूद्र हैं पर गणयुक्त वैश्य हैं; वायु तो क्षत्र है पर गणरूप

में यह मरुत नाम से वैश्य है। बृहस्पति ब्राह्मण है देवताओं का पुरोहित है, पर गणरूप में जब यह ब्रह्मणस्पति कहलाता है तो वैश्य है। सोम वरुण और इन्द्र क्षत्र हैं पर जब ये सर्वदेवता कहलाते हैं तो ये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सब हैं। यही बात अग्नि और विष्णु के सम्बन्ध में लागू होती है क्योंकि ये भी सर्वादेवता है। देवता कोई भी हो, जब उसका विकास चतुर्थ सप्तक में पूषा रूप में या पशु रूप में या भौतिक रूप में होता है तो वह शूद्र ही है। सब देवता पशु रूप में वर्णित हैं अतः सब देवता शूद्र ही हैं। क्योंकि चौथे पाद में सब देवता चतुष्पद या पशु हो जाते हैं अतः वे सब शूद्र जाति के हो जाते हैं, मित्र वैश्य के पाद में होने पर क्षत्र कहलाता है, फिर भी सोम दक्ष ऋतू शूद्र पाद में होते हुए भी क्षत्र ही हैं। अतः देवताओं के वर्ण किसी ऊँच नीच भावना भरे नहीं वरन् वर्णना के वर्ण हैं। सभी देवता कभी ब्राह्मण हैं कभी क्षत्र, कभी वैश्य कभी शूद्र। विना शूद्र बने कोई देवता पूर्ण रूप भी नहीं पा सकता। ऐ० ब्रा० (७-४-२३) ने एक उत्तम उदाहरण दिया है कि इन्द्र और सोम क्रम से क्षत्र और राजन्य हैं, पर जब ये एक साथ 'इन्द्रासोमौ' होते हैं तो ये ब्राह्मण कहलाते हैं अतः वैदिक वर्ण सदा परिवर्तनीय हैं। इस प्रकार की कथायें पुराणों में भी कई वंशों के सम्बन्ध में आती हैं।

आज कल के आलोचकों का अनुमान है कि वेदों में वर्णित शूद्र जाति अनार्य हैं। यह बिलकुल भ्रम है। वेदों में जिन्हें शूद्र या दास नाम से पुकारा गया है वे सब आर्य जाति के ही हैं। वेदों ने असुरों और राक्षसों को आसुरी भौतिक वृत्ति तथा भौतिकात्मा के रूप में दास कहा है। त्रिपादामृत तो अरूप है, शरीर हीन है, उसको भौतिक शरीर पशु सा बनकर अपने में ढोता है अतः यह भौतिक तत्त्व स्वयं दास का कार्य करता है, पर यह है आर्य सन्तान ही या ब्राह्म सन्तान ही जैसे ऋ० वे० (२-१२ २) में 'दासं वर्णमधरं गुहाकः' लिखकर 'दास वर्ण तत्त्वों को गुहा से २४ तत्त्वों त्रिपाद् से बाहर किया' कहा है, और ऋ० वे० ६-२२-१० तथा १०-८४-१ में दास को आर्य नाम से पुकारा गया है जैसे "यदा दासान्यार्याणि वृत्राकरो वज्रि सुतुकान्नाहुषाणि" "साह्यानि दासमार्य त्वया युजा"। इसी प्रकार ऋ० वे० १०-८६-१९ और ६-६०-६ में "अयमेभिर्विचाकशद्विचिन्वन् दासमार्यम्" "हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती, हतो विश्वा अप द्विषः" में भी दास या शूद्र को आर्य कहा है। अवश्यमेव अथर्व ने अनार्यों को किरात नाम से पुकारा है और ऋ० वे० ने दाशराज्ञ युद्ध में पक्थास भलानस, भनन्तालिन विषाणिनः शिवास नाम अनार्यों के दिये हैं। (७-१८-७) इनको चातुवर्णों में कोई स्थान नहीं दिया है। ये महाभारत आदि में वर्णित चाण्डाल पुक्कस जातियों में आते हैं। इन्हें

पञ्चम वर्ण कह सकते हैं। हमारे ऋषियों ने भी हमारे प्रत्येक के भौतिक शरीर को शूद्र माना है। अतः कहा है 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते'। इसी दृष्टि से प्रथम त्रिपादामृतों की तरह प्रथम तीन वर्णों को शूद्र वर्णी भौतिक शरीर से ऊँचा समझा जाता है। यही भाव ऋ० वे० ७-३३ ७ में वशिष्ठ जी कहते हैं 'त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्र प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः'' इन्हीं तीन ज्योतियों को पाने के लिए त्रिपदा गायत्री का यज्ञोपवीत रूप संस्कार या ज्ञान देकर शूद्र शरीर को द्विज बनाया जाता रहा। अतः यह ऋचा सीधे-सीधे चतुष्पाद् ब्रह्म का विवेचन वर्ण नामी अंगों से देती है (चतुष्पाद ब्रह्म व्याख्या देखें)। यदि ये यहां वर्णित जातियां वंशपरम्परानुगत जातियों की उत्पत्ति की चर्चा करती तो, इनके पूर्व और पश्चात् की ऋचाओं में वर्णित वैदिक दर्शन के तत्वों की उत्पत्ति के देने का कोई वैज्ञानिक महत्त्व ही नहीं रह सकता। यद्यपि निम्न ऋचाओं के अर्थ के बारे में कम भ्रम नहीं है, फिर भी ये तो तत्त्व हैं वह प्रायः अधिक लोग समझते हैं। अतः निश्चयपूर्वक ही यहां पर दिये ब्राह्मणादिक शब्द देवताओं या तत्त्वों की जातियाँ हैं इसमें सन्देह नहीं रह जाता।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन् ॥ १४ ॥

['चन्द्रमा वै ब्रह्म' 'चन्द्रमा वै देवानामात्मा' श० प. ब्रा. १-५-२३ 'यदार्द्रं तत्सोम्यम्, चन्द्रमासौम्यः' 'रात्रिः सौम्या, योऽपक्षीयते स सौम्यः' '(वृत्रं) द्वैधाभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास (१-५-२-१) तं चन्द्रमसं चकार यदासुर्यमास तेनेमाः प्रजाः'' (३-५-२-१९) 'यो वै विष्णुः सोमः सः' (४-३-४-१) 'सोमो वै देवानां हविः' 'तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव'' (४-१-६ १) (अग्नेः) द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्चक्षुरध्वशेत स चन्द्रमा तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्नवत् (श० प० ब्रा० ७-१-२-८)]

ये ऋचायें यजुर्वेद में बारहवीं और तेरहवीं हैं, अथर्व में सातवीं और आठवीं, अथर्व का पाठ ऋग्वेद के पाठ के ही समान है, पर यजुर्वेद ने 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत' के स्थान में 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत' पाठ दिया है। ऋग्वेद ने इन्द्र की उत्पत्ति तथा प्राण से वायु की उत्पत्ति अधिक दी है, यजुर्वेद ने मुख से इन्द्र की उत्पत्ति नहीं दी है पर प्राण की उत्पत्ति श्रोत्र से अधिक दी है। ऋग्वेद ने वायु की उत्पत्ति प्राण से मानी है, यजुर्वेद ने श्रोत्र से। इनका विश्लेषण आगे किया जावेगा। द्वितीय ऋचा सब में एक सी है।

इन दो ऋचाओं में दो प्रकार के तत्त्व हैं; एक शरीर रूप हैं, दूसरे उनकी आत्मा या देवता रूप। मनः चक्षुः मुख (वाक्) प्राणः नाभिः शीर्ष्ण, पाद और श्रोत्र तो हैं शरीर या अध्यात्म, तथा चन्द्रमा सूर्य इन्द्र अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि दिश और लोक इनके क्रमिक देवता या आत्मायें हैं। शारीर तत्त्व तो मर्त्य हैं, पर देवता तत्त्व अमृत हैं। इसका नाम अतिसृष्टि है (बृह० उप० १ ४–६)।

वर्तमान दो ऋचायें तो पुरुष सूक्त के हृदय के दो पलड़े हैं। इनमें वैदिक दर्शन का प्रायः पूरा पूरा ढाँचा दे दिया गया है। जो व्यक्ति इन दो ऋचाओं के भाव को ठीक ठीक समझ ले उसको वैदिकों के दर्शन का अच्छा ज्ञान हो सकता है। इन ऋचाओं में आये चन्द्रमा, मनः चक्षुः सूर्यः, मुखं, इन्द्रः अग्निः प्राणः वायुः, नाभिः, अन्तरिक्षं; शीर्ष्ण, द्यौः, पद्भ्यां, भूमिः, दिशः, श्रोत्रं तथा लोकाः सभी शब्द पारिभाषिक तथा दर्शन के तत्त्वों के पृथक् पृथक् या सामूहिक वर्गों के नाम हैं। अब तक लोगों ने, इन शब्दों की कीहुई या दीहुई ब्राह्मणो-पनिषदों की व्याख्या पर ध्यान न देकर, इन्हें लौकिक व्यावहारिक और प्राकृतेय वस्तुओं का संकेतक समझा है। ये ऋचायें न तो गायत्र पुरुष के अङ्गों का वर्णन देती हैं न विराट् पुरुष की, प्रत्युत अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करने वाले पुरुष पशु के अङ्गों का पूर्ण विवेचन देती हैं। यह अध्यात्म दर्शन है योगियों के योग से उद्दीप्त अंगों का दर्शन या वर्णन है।

सबसे पहिले चन्द्रमा तत्त्व को ही लीजिए। ऋचा में कहा गया है कि 'चन्द्रमा' की उत्पत्ति उस रूप के सृष्टि पुरुष के मनः से हुई जिसका वर्णन पिछली ऋचा में ब्राह्मणादि अंगों द्वारा किया जा चुका है। वेदों में वर्णित चन्द्रमा कहीं भी इस स्थूल चन्द्रमा का संकेतक भी नहीं है। वैदिक चन्द्रमा महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है। लौकिक चन्द्रमा तो पृथिवीगोल का एक टुकड़ा है अतः पृथिवी से उत्पन्न हुआ है। परन्तु वैदिकों का यह चन्द्रमा सूर्य से उत्पन्न होता है। यह सूर्य भी आकाश में चमकने वाला सूर्य नहीं है. यह भी एक माह-महत्वपूर्ण तत्त्व है। वैदिक सूर्य चन्द्रमा को समझ लेने से वैदिकों के दर्शन की पूरी झलक मिल जाती है। दशवीं ऋचा में अत्रि नामक ऋषि या तत्त्व की व्याख्या दी जा चुकी है (मन्त्र रचयिता ऋषि दूसरे हैं)। इस अत्रि की चक्षु से 'सूर्य' नामक आदित्य की उत्पत्ति हुई। अत्रि नामक तत्त्व चतुर्थ सप्तक का प्रथम तत्त्व या महर्षि है। उसका प्रथमाङ्कुर चक्षु या आँख कहलाती है यह सृष्टि वृक्ष की विकासशैली को दृष्टिपथ में रखकर–वृक्षविकास में पहिले अङ्कुर या आँख (चक्षुः) निकलती है तब पत्ती फूटती है, तब टहनी बनती है। चक्षु या आंख रूपी अङ्कुर से जो पत्ती निकलती है उसे तत्त्वों में

'सुपर्ण' (सुकोमल पत्ती) कहते हैं, पक्षी रूप में 'सुपर्ण' माने सुन्दर पक्षी होता है पत्ते प्राय: दो होते हैं अतः 'द्वा सुपर्णा' कहा है। ये दो चन्द्रमा और आसुर्य भाग हैं। अस्तु अत्रि की जो आँख है वही चक्षुः रूप तत्त्व है, इसी बात को 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' (ऋ. वे० १-११५-१) कहता है, यहाँ अत्रि का सम्बोधक अग्नि है, अत्रिरूप अग्नि की चक्षुः का रूप ही सूर्य है। अतः यहां पर ऋचा कहती है 'चक्षोः सूर्यो अजायत' की अत्रिरूप महर्षि रूप चतुर्थ सप्तकीय प्रथम तत्त्व से जब सर्वप्रथम भौतिक ज्योति का अङ्कुर, आँख या अङ्कुर रूप में उदित हुआ उसी का विकास या उसी का परिवर्द्धित रूप 'सूर्य' नामक स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त सा या ग्रहणयुक्त सा शरीर वाला उत्पन्न हुआ। इसका विशद वर्णन 'सूर्य' शीर्षक और दशवीं ऋचा में हो चुका है। इस भौतिकता से युक्त ब्रह्म का नाम आत्मा है। यः आप्नोत् (भौतिकं रूपं) स आत्मा। अतः बृहदारण्यक इस आत्मा के सम्बन्ध में लिखता है 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव, सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वै कामोनेच्छच्च नातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोति अकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवं श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तः यज्ञः पांक्तः पशुः पांक्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदं सर्वं यदिदं किंच तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥" (१-१-४-१७)। इसमें उस भौतिकात्मा युक्त तत्त्व को 'चक्षुः' या सूर्य नाम से पुकारा है, तथा इसी भौतिकात्मा को वाक् रूपिणी जाया भी कहा है। वह स्त्रीपुमान्सपरिष्वक्त था, अतः पार्थक्य चाहता रहा उस पार्थक्य की कामना ही भौतिकात्मा के रूप में परिणत होकर स्त्री रूप में प्रस्तुत हो गई। अतः मन ही उसकी आत्मा, वाक् जाया और प्राण प्रजा रूप वित्त उसे मिल गये। 'चन्द्रमा मनसो जातः' के 'मनसो जातः' का यही भाव है कि यह चन्द्रमा रूप भौतिक ज्योति, उस सूर्य रूप स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त देह के मानसी रूप के काममय सूर्य रूप से उत्पन्न हुआ। यह यज्ञ रूप है, अत श० प० ब्रा० इसे 'यज्ञियायज्ञियं' नाम से पुकरता है। यज्ञ माने विकास है जैसे 'चन्द्रमा वै यज्ञियायज्ञियं' (श० प० ब्रा० ९ १ २-३९) और इसी चन्द्रमा को 'मति' (मनः से उत्पन्न) नाम से भी पुकारा 'इयमुपरि मतिरिति चन्द्रमा' (श० प० ब्रा० ८ १-२-७)। उक्त कामरूप चक्षु नामी सूर्य को छान्दोग्य 'चाक्षुषः पुरुषः' और 'मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' कहता है (९-१२)। और इस चक्षुः को चतुर्थपाद मानते हुए लिखा है 'चक्षुरेव ब्रह्मण

चतुर्थः पादः' और यह चक्षु नामक चतुर्थ पाद का व्याख्यान 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' शीर्षक में देता है । अतः चक्षुरूप चतुर्थ पाद का आरम्भ मनो रूप ब्रह्म से या सूर्य रूप चक्षु से ही प्रारम्भ कर रहा है(१–१८)। इसीलिए कहा है कि चन्द्रमा का जन्म मनः से हुआ । बृहदारण्यक के उद्धरण की वाक् ज्ञानमयता है, मनः शरीर है, प्राणः प्रजारूप चन्द्रमा है, प्राणों का शरीर आपोमय (विद्युन्मय) है, ज्योतिष्मान् है, इन दोनों से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है जैसे "अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतिरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आप स्तावानसौ चन्द्रः" (बृह० उप० १-१-५–१३)। यह तो चन्द्रमा के जन्म और स्थिति की परिस्थिति है। अतः मनः से भौतिक सृष्टि होने से हमारा अखिल ब्रह्माण्ड मनो ब्रह्माण्ड ही है । सारा वैदिक दर्शन उसी मनोविज्ञान की व्याख्या करता है ।

ऋ० वे० (१०–१९०–३) और तै० आ० (१०–१–१४) ने तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ये सूर्याचन्द्रमसौ दो तत्त्व इस अखिल ब्रह्माण्ड निर्माण करने वाले धाता और विधाता क्रम से हैं। इन्होंने ही सकल सृष्टि को यथापूर्व प्रस्तुत किया जैसे "सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्व मकल्पयत् । दिवं च पृथिवी-मन्तरिक्षमथो स्वः ॥" इसी लिए इस सूर्य को इस भौतिक ब्रह्माण्ड की आत्मा कहा गया है 'सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' । इन दोनों को दूसरे ढंग से, या सृष्टिपुरुष वृक्ष की दो आंखें बतलाते हुए लिखा है कि उस पुरुष का (अग्नि का) शिर तो द्यौ या पूर्वार्द्ध है और सूर्य तथा चन्द्रमा दो आँखें (अङ्कुर) हैं, इनमें सूर्य तो त्रिपादामृतीय एकात्मा रूप दिव्य स्वयं प्रकाशित आँख या अङ्कुर या बीज है, पर चन्द्र रूप आँख फूटी हुई है, ज्योतिहीन है, वह बन्द सी रहती है, उससे निरन्तर (पानी) रस चूता रहता है, उसी रसमय चन्द्ररूपी आँख से समुद्रादि रस सागर बनकर उस रसमय ब्रह्म से अखिल सृष्टि प्रारम्भ होती है । जैसे (अग्नेः) "द्यौ रेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी, यच्चक्षुरध्य-शेत स चन्द्रमा तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्रवत् ।" (श० प० ब्रा० ७–१–२–८)। इसीलिए ऐ० ब्रा० (२–५–४१) इस चन्द्र को ब्रह्म नाम से पुकारता है 'चन्द्रमा वै ब्रह्म'' यह चन्द्र ब्रह्म वही है जिसे सब उपनिषद् 'रसो वै सः' कहते हैं, रस इसी से वह स्रवित होता है । श० प० ब्रा० (१४–३–२–११) । इसीलिए वह चन्द्रमा को देवताओं या तत्त्वों की 'आत्मा' के नाम से पुकारते हुए लिखता है "चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा" । सृष्टि के दो पहलू हैं, एक शुष्क दूसरा आर्द्र । शुष्क आध्यात्मिक सृष्टि है अग्निरूप ज्योतिष्मान् प्रकाशवान् ज्ञानवान् व्यापक विभुः एक है और आर्द्र सृष्टि भौतिक है रात्रि, या उत्तरार्द्ध, नाम से या दक्षिणायन नाम से पृथिवी नाम से पुकारी जाती है । पूर्वार्द्ध दिन उत्तरायण और द्यावा कहलाता है । चन्द्ररूप तत्त्व इसके दक्षिणायन में नाना

रूपों में विभक्त होने से अपक्षीयमाण पक्ष या पितृपक्ष कहलाता है जिसको आलंकारिक भाषा में कहते हैं कि पितर सोमपान करते हैं अतः वह क्षीण होता है। यह सृष्टि सौम्य सृष्टि कहलाती है, सौम्य चन्द्रमा है आर्द्र है जैसे "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, आर्द्रं चैव शुष्कं चैव। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यं'''सूर्य एव आग्नेयः, चन्द्रमा सौम्यः। अहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्याः। य एवापूर्यतेऽर्द्ध-मासः स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्यः।" (श० प० ब्रा० २–५–२–२३, २४)। जब चक्षु रूप सूर्य तत्त्व से प्रथम भौतिक तत्त्व का निर्माण या विकास हुआ तब वह दो प्रकार कीं वृत्तियों से मिश्रित था। वे दो वृत्तियाँ दैवी और आसुरी थीं। इन दोनों का मिश्रण वृत्र या आवरणकारी भौतिक तत्त्व कहलाया। इन्द्र रूप सूर्य ने जब इसको मारना या नष्ट करना चाहा तो इसने (वृत्र ने) कहा, नहीं, मुझे नहीं मार सकते, मेरे नाश से तुम्हारा ही (तुम्हारे इस शरीर का ही) सर्वनाश हो जावेगा। तब इन्द्र रूप सूर्य ने इसके दो भाग किये, उसका जो सौम्य या दैवी भाग था उससे चन्द्र या दिव्य शरीर बना और उसका जो आसुरी भाग था उससे समस्त स्थूल सृष्टि रूप प्रजा बनी। अतः कहा है "तं (वृत्रं) द्वेधाभिनत् तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकार, यदासुर्यमास तेनेमाः प्रजाः।" (श० ब्रा० १–५–२–२३)। इसी चन्द्रमा का एक दूसरा नाम शुक्र भी है जिसको ब्राह्मण ग्रन्थों ने शुक्रामन्थी ग्रह भी कहा है। जब हम सूर्योपस्थान करते हैं तो चक्षु नाम सूर्य तत्त्व को इसी शुक्ररूप रस को अन्नरूप में निरन्तर प्रस्रवण करने वाला कहते हैं। यह शुक्र चन्द्रमा का ही रस है इसका प्रमाण श. प. ब्रा (४-१-६-१ शुक्रामन्थीग्रहः) का यह वाक्य है "तेनेषः शुक्रश्चन्द्रमा एव" तभी उपस्थान का मन्त्र कहता है "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् च्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥" (ऋ. वे. ७-६६-१६, वा० स० ३६·२४, तै० आ० ४ ४२ ५)। यह देवहितं या सूर्यदेव में सन्निहित सुरक्षित शुक्ररूप तो बीज रूप रस है जो चन्द्रमा रूप में दिव्य शरीर में प्रस्तुत हुआ। यह रस रूप चन्द्रमा सूर्य या इन्द्र की इन्द्रिय या रस कहलाता है। यह अद्वितीय अजातशत्रु है, अतः कहा है 'इमं देवाअसपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठाय जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्र मस्यै विश एव वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा॥" (यजु० ९-४०)। इन्द्रिय का अर्थ 'रस' बतलाने वाली ऋचायें 'सोम' शीर्षक में दे दी गई हैं। इन्हीं सब प्रधान कारणों से यह सबसे बड़ा क्षत्र, सबसे ज्येष्ठ भौतिकात्मा होने से ब्रह्मवादी ब्राह्मण इस तत्त्व को तत्त्वों का 'राजा' मानते थे। यही सोम नामी चन्द्रमा प्रजा-प्रणाली की व्याख्या में विष्णुः और यज्ञ प्रणाली में हविः कहलाता है जैसे

"यो वै विष्णुः सोमः स" (श० प० ब्रा० ३-५-२-१९) 'सोमो' वै देवानां हविः" (श० प० ब्रा० ४-३ ४-१)। शुक्र नाम भी इसी चन्द्र के रस का है, अतः शुक्र के मंत्र में भी इसी चन्द्रमा का वर्णन मिलता है जैसे "अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्राह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा॥" (यजु : १९-७५)। यहांइसको इन्द्र की इन्द्रिय या रस, अन्न, अमृत आदि नामों से ही सम्बोधित कर रखा है। ऐ० ब्रा० ने ब्रह्मणः परिमरः नामक शीर्षक (८-५-२८) में लिखा है 'आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते'। इसका समर्थन श० प० ब्रा० (१०-६-२-११) ने दीप्ति रूप की वर्णना द्वारा इस प्रकार किया है "प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते, अग्निना वायुः, वायुनादित्यः, आदित्येन चन्द्रमा, चन्द्रमसा, नक्षत्राणि, नक्षत्रैर्विद्युत्, एतावती वै दीप्तिरस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च" यह क्रम लौकिक तथा दार्शनिक दोनों अर्थ देने वाले उक्त शब्दों के संकेतकों की दीप्ति है। ये सब भावनायें ऋ. वे. की निम्न ऋचाओं के मूल स्रोत से प्रवाहित हुई हैं जो चन्द्रमा के जन्म को सूर्य से इस प्रकार संकेतित करते हैं ऋ. वे. (५-८०-२) सविता—"विश्वारूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीत् चन्द्रं द्विपदे चतुष्पदे।" 'ऋ. वे (९-६९-१०) "भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि। ऋ. वे (९-१०८ १०) वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमयां जिन्व गविष्ठये धिया"। ऋ वे (९-१०८-९) सहस्रधारं वृषभधियो वृध प्रियं देवाय जन्मने"। अन्तिम दो ऋचाओं में चन्द्रमा को वृष्टिः (परिस्रवण) और 'धी' नाम से पुकारा है। चन्द्रमा 'धी' (सांख्य की बुद्धि रूप) है जिसको सविता गायत्री में 'धियो यो नः प्रचोदयात्' कहते हैं। क्योंकि यही चन्द्र ही जब त्रिपादामृत युक्त होता है तब सविता प्रसविता कहलाता है। चन्द्रमा से वृष्टि (प्रस्रवण) या प्रसवन दोनों एक ही बात हैं "चन्द्रमसो वै वृष्टिः" (ऐ० ब्रा० ८-५-२८)। चन्द्रमा आदित्ये श्रित' (तै० ब्रा० १ ८ १३) (६-१२-३) यह बूद-बूंद टपक कर बढ़ता जाता है श० प० ब्रा० (६-१-१-११)—'अश्रुर्हतमश्वमित्याचक्षते, अश्मापश्निरभवत्। अतः 'इन्दु' (विन्दुः) भी कहलाता है। 'अव स्रवेदघशंसोऽवतरम्। अव क्षुद्रमिव स्रवेत्' (ऋ० वे० १ १२९-६) 'यः सुवान इन्दुः'। वेदों में इसका वर्णन सोम नाम से आता है, सोम के बारे में लोगों को बड़ा भारी भ्रम भरा पड़ा है। अतः सोम के भ्रम ने इस चन्द्रमा तत्त्व के रहस्य को भी मटियामेट कर रखा है। सोम पर इसी लिए एक स्वतन्त्र लेख दे दिया है उसे भी इसी का व्याख्यान समझा जाय।

'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' मुखादग्निरजायत'। मुख से इन्द्र और अग्नि की उत्पत्ति हुई। यह मुख किसका है? यह तो सब सृष्टि पुरुष के मुख को समझते ही हैं। प्रश्न यह है कि उस सृष्टि पुरुष का मुख वह कौन तत्त्व था जिससे इन

दोनों की उत्पत्ति हुई ? इसका उत्तर कम लोगों को ही विदित है। कुछ लोगों को इसका भी भ्रम है कि इन्द्र और अग्नि दो की उत्पत्ति उसी समय से एक साथ कैसे हो सकती है ? वास्तविक परिस्थिति दो मुख्य पहलुओं से विवक्षित की जानी चाहिए। (१) आदि तत्त्व की वास्तविक स्थिति यह है, अग्नि रूप ब्रह्म का विकास सर्वप्रथम होने से इसे पहिले 'अग्रि' अग्रि या सबसे आगे उत्पन्न तत्त्व कहते थे। उसी 'अग्रि' शब्द को रहस्यमय बनाने के लिए वे इसे 'अग्निः' नाम से पुकारने लगे जैसे "अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याग्रम सृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं परोक्ष कामा हि देवा॥" (श० प० ब्रा० ६ १-१-११)। इसका समर्थन ऋ० वे० १० ४५-१, वा० य० १२-१८, तै० सं० १-३ १४-५; ४-२-२-१ के मन्त्र "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्नि रस्माद् द्वितीयं परिजात वेदाः। तृतीयमप्सु नृम्णा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥" से पूर्णतया हो जाता है। इसीलिए अग्नि को देवताओं का मुख प्रजापति और पुरोहित नाम से पुकारा गया है 'अग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः" श० प० ब्रा० ३-७-२-६) "अग्निः सर्वा देवता, अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः, अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्, (श० प० ब्रा० १-५ १-७ से ९ तक)। यही बात ऐ० ब्रा० (१-१-१) भी लिखता है। अग्नि एक है पर बहुधा समिद्ध और कल्पित भी जैसे "एक एवग्नि बहुधा समिद्धएकः सूर्यो विश्व मनुप्रभूतः। एकेवोषा विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋ. वे. ९-५८-२)। शिर नाम गायत्री का है, गायत्री भी अग्नि ही है, उसके मुख से प्रथम विकास अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ३-७-५-१०)। यह अग्नि वाक् का शरीर है, अतः यही वाग्ब्रह्म का प्रथमावतार है 'वागेवाग्निः' (श० प० ब्रा० ३-२-१-१३)। यह अग्नि अरा वाली है सर्वतोमुख है 'अराँ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परि भूरसि' (श० प० ब्रा० १-३-४-१५)। यह सर्वदेवता है अतः इसके विकासों से ही वैदिक दर्शन की पूरी व्याख्या हो सकती है। अग्निवाद देखें। एक और बात है। ब्रह्म के चार पाद रूप चार शृङ्ग या मुख हैं पर दो शिर या मुख मुख्य हैं 'द्वे शीर्ष्णे'। वे दो आदि ब्रह्म तथा भौतिकात्मा ब्रह्म हैं, द्वितीय का नाम 'अग्निर्वैश्वानरः' है। इसकी उत्पत्ति में कहा गया है कि वह (श० प० ब्रा० १-३-३-१० से २० तक में) विदेघ माथव के मुख में बन्द थी, उसे उसके पुरोहित गोतम रहूगण ने 'घृतस्नवीमहे' इत्यादि ऋचा के उद्बोधन से उसके मुख से बाहर निकाला। बृह० उप० (१–४–६) में इस अग्नि की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि मुख योनि और हाथों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न हुई। इसी मन्थन के कारण मुख और योनि के अन्दर तथा हथेली में रोम नहीं होते। इसका नाम विसृष्टि या ब्रह्म की अतिसृष्टि है। जैसे "मुखाच्च

योनेर्हस्ताभ्यामग्निमसृजत । तस्मादुभयमलोमकं अलोमका हि योनिरन्तरतः इत्यादि ॥" इसका आशय यह है कि अग्निवैश्वानर का जन्म भी मुख से ही होता है, यह भौतिकात्मा रूप या सोम रूप अग्नि है। सम्भवतः यजुर्वेद इसी की चर्चा करता हो। अन्त में इस वाग्ब्रह्म रूपी अग्नि को श० प० ब्रा० ने आत्मा नाम से घोषित करते हुए लिखा है 'अग्निर्वैसर्वेषां देवानामात्मा' (१४-३-२-५) । इसी को प्राण रूप में ऋ० वे० (१-१-१) पुरोहित या प्रथम प्राण रूप आत्मा कहता है। पुरोहित शब्द की व्याख्या श० प० ब्रा० (६–१–२–१५) ने 'पुरः प्रथमं हितं प्राणा' दिया है। अग्नि ब्राह्मण है, गायत्री ब्राह्मणी है। अतः यह तत्वों की ब्राह्मण रूप व्याख्या देता है (श० प० ब्रा० ३–७–५–१०५१-३-४–२)।

(२) कुछ लोगों को इन्द्र की उत्पत्ति उसी मुख से मानने में भ्रम है जिससे प्रथम आत्मा रूप अग्नि की उत्पत्ति बतलाई गई है। इन्द्र तीन प्रकार से वर्णित है। (१) सर्वा देवता इन्द्र (२) षोडशी इन्द्र (३) शतक्रतु इन्द्र। वेदों में कई देवता सर्वा देवता हैं (१) अग्निः (२) इन्द्रः (३) सोमः (४) विष्णु (५) वरुण (६) रुद्रः (७) अदिति। प्रथम तीनों की व्याख्या अधिकतर सर्वा देवता में मिलती है। इनमें से एक की व्याख्या से समस्त वैदिक दर्शन की व्याख्या हो जाती है। अतः ऋग्वेद में प्रथम तीनों के सूक्तों की इतनी भरमार है कि पाठक ऊब जाता है। ये समस्त दर्शन की व्याख्या करते हैं। अतः इन्हीं के सूक्त अधिक हैं। अन्तिम तीनों के सूक्त कम हैं पर विश्वेदेवा सूक्त बहुत हैं उनमें इनकी व्याख्या अधिक आई है। ऐ० ब्रा० १–१–१ ने अग्नि और विष्णु को सर्वादेवता कहा है, तथा श० प० ब्रा० (१–५–२–१९, २०, २१, २) ने अग्निः सोम और इन्द्र तीनों को सर्वा देवता बताया है। रुद्र और वरुण की व्याख्या उन्हीं के शीर्षकों में देखें। इन्द्र सर्वादेवता होने से जिस प्रकार अग्नि की सर्वप्रथम उत्पत्ति बतलाई गई है वही तो मध्यम प्राण रूप अग्नि तथा इध्म है यही इध्म इन्द्र कहलाता है (श० प० ब्रा० ६–१–१–२)। इसीलिए ऋ० वे० (१०–१२०–१) लिखता है कि इन्द्र सब भुवनों में श्रेष्ठ है जैसे 'तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रत्वेष नृम्णः। सद्यो जज्ञानो निरिणीत शत्रून् यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥" यास्क ने इस ऋचा की व्याख्या में इन्द्र को आत्मा रूप में वर्णित किया है। ऋ० वे० (४–५४–५) ने पुनः उक्त वक्तव्य की पुष्टि करते हुए लिखा है "इन्द्र ज्येष्ठान्बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयां एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः। यथा यथा पतयन्तो वियेमिरे एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते।" इन्द्र विद्या पर्वविद्या की पर्वत विद्या है जिससे नद नदी दुर्ग आदि की कल्पना सरल हो जाती है। यही सविता का प्रसवन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार अग्नि रूप गायत्री

दोनों की उत्पत्ति हुई ? इसका उत्तर कम लोगों को ही विदित है। कुछ लोगों को इसका भी भ्रम है कि इन्द्र और अग्नि दो की उत्पत्ति उसी समय से एक साथ कैसे हो सकती है ? वास्तविक परिस्थिति दो मुख्य पहलुओं से विवक्षित की जानी चाहिए। (१) आदि तत्त्व की वास्तविक स्थिति यह है, अग्नि रूप ब्रह्म का विकास सर्वप्रथम होने से इसे पहिले 'अग्रि' अग्रि या सबसे आगे उत्पन्न तत्त्व कहते थे। उसी 'अग्रि' शब्द को रहस्यमय बनाने के लिए वे इसे 'अग्निः' नाम से पुकारने लगे जैसे "अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याग्रम सृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं परोक्ष कामा हि देवा ॥" (श० प० ब्रा० ६ १-१-११)। इसका समर्थन ऋ० वे० १० ४५-१, वा० य० १२-१८, तै० सं० १-३ १४-५; ४-२-२-१ के मन्त्र "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्नि रस्माद् द्वितीयं परिजात वेदाः। तृतीयमप्सु नृम्णा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥" से पूर्णतया हो जाता है। इसीलिए अग्नि को देवताओं का मुख प्रजापति और पुरोहित नाम से पुकारा गया है 'अग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः" श० प० ब्रा० ३-७-२-६) "अग्निः सर्वा देवता, अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः, अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्, (श० प० ब्रा० १-५ १-७ से ९ तक)। यही बात ऐ० ब्रा० (१-१-१) भी लिखता है। अग्नि एक है पर बहुधा समिद्ध और कल्पित भी जैसे "एक एवग्नि बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्व मनुप्रभूतः। एकैवोषा विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋ. वे. ९-५८-२)। शिर नाम गायत्री का है, गायत्री भी अग्नि ही है, उसके मुख से प्रथम विकास अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ३-७-५-१०)। यह अग्नि वाक् का शरीर है, अतः यही वाग्ब्रह्म का प्रथमावतार है 'वागेवाग्निः' (श० प० ब्रा० ३-२-१-१३)। यह अग्नि अरा वाली है सर्वतोमुख है 'अराँ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परि भूरसि' (श० प० ब्रा० १-३-४-१५)। यह सर्वादेवता है अतः इसके विकासों से ही वैदिक दर्शन की पूरी व्याख्या हो सकती है। अग्निवाद देखें। एक और बात है। ब्रह्म के चार पाद रूप चार शृङ्ग या मुख हैं पर दो शिर या मुख मुख्य हैं 'द्वे शीर्ष्णे'। वे दो आदि ब्रह्म तथा भौतिकात्मा ब्रह्म हैं, द्वितीय का नाम 'अग्निर्वैश्वानरः' है। इसकी उत्पत्ति में कहा गया है कि वह (श० प० ब्रा० १-३-३-१० से २० तक में) विदेघ माथव के मुख में बन्द थी, उसे उसके पुरोहित गोतम रहूगण ने 'घृतस्नवीमहे' इत्यादि ऋचा के उद्बोधन से उसके मुख से बाहर निकाला। बृह० उप० (१-४-६) में इस अग्नि की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि मुख योनि और हाथों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न हुई। इसी मन्थन के कारण मुख और योनि के अन्दर तथा हथेली में रोम नहीं होते। इसका नाम विसृष्टि या ब्रह्म की अतिसृष्टि है। जैसे "मुखाच्च

योनेर्हस्ताभ्यामग्निमसृजत । तस्मादुभयमलोमकं अलोमका हि योनिरन्तरतः इत्यादि ॥" इसका आशय यह है कि अग्निवैंश्वानर का जन्म भी मुख से ही होता है, यह भौतिकात्मा रूप या सोम रूप अग्नि है। सम्भवतः यजुर्वेद इसी की चर्चा करता हो। अन्त में इस वाग्ब्रह्म रूपी अग्नि को श० प० ब्रा० ने आत्मा नाम से घोषित करते हुए लिखा है 'अग्निवैंसर्वेषां देवानामात्मा' (१४-३-२-५)। इसी को प्राण रूप में ऋ० वे० (१-१-१) पुरोहित या प्रथम प्राण रूप आत्मा कहता है। पुरोहित शब्द की व्याख्या श० प० ब्रा० (६–१–२–१५) ने 'पुरः प्रथमं हितं प्राणा' दिया है। अग्नि ब्राह्मण है, गायत्री ब्राह्मणी है। अतः यह तत्त्वों की ब्राह्मण रूप व्याख्या देता है (श० प० ब्रा० ३–७–५–१०५१-३-४-२)।

(२) कुछ लोगों को इन्द्र की उत्पत्ति उसी मुख से मानने में भ्रम है जिससे प्रथम आत्मा रूप अग्नि की उत्पत्ति बतलाई गई है। इन्द्र तीन प्रकार से वर्णित है। (१) सर्वा देवता इन्द्र (२) षोडशी इन्द्र (३) शतक्रतु इन्द्र। वेदों में कई देवता सर्वा देवता हैं (१) अग्निः (२) इन्द्रः (३) सोमः (४) विष्णु (५) वरुण (६) रुद्रः (७) अदिति। प्रथम तीनों की व्याख्या अधिकतर सर्वा देवता में मिलती है। इनमें से एक की व्याख्या से समस्त वैदिक दर्शन की व्याख्या हो जाती है। अतः ऋग्वेद में प्रथम तीनों के सूक्तों की इतनी भरमार है कि पाठक ऊब जाता है। ये समस्त दर्शन की व्याख्या करते हैं। अतः इन्हीं के सूक्त अधिक हैं। अन्तिम तीनों के सूक्त कम हैं पर विश्वेदेवा सूक्त बहुत हैं उनमें इनकी व्याख्या अधिक आई है। ऐ० ब्रा० १–१–१ ने अग्नि और विष्णु को सर्वादेवता कहा है, तथा श० प० ब्रा० (१–५–२–१९, २०, २१, २) ने अग्निः सोम और इन्द्र तीनों को सर्वा देवता बताया है। रुद्र और वरुण की व्याख्या उन्हीं के शीर्षकों में देखें। इन्द्र सर्वादेवता होने से जिस प्रकार अग्नि की सर्वप्रथम उत्पत्ति बतलाई गई है वही तो मध्यम प्राण रूप अग्नि तथा इध्म है यही इध्म इन्द्र कहलाता है (श० प० ब्रा० ६–१–१–२)। इसीलिए ऋ० वे० (१०–१२०–१) लिखता है कि इन्द्र सब भुवनों में श्रेष्ठ है जैसे 'तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः। सद्यो जज्ञानो निरिणीत शत्रून् यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥" यास्क ने इस ऋचा की व्याख्या में इन्द्र को आत्मा रूप में वर्णित किया है। ऋ० वे० (४–५४–५) ने पुनः उक्त वक्तव्य की पुष्टि करते हुए लिखा है "इन्द्र ज्येष्ठान्बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयां एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः। यथा यथा पतयन्तो वियेमिरे एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते।" इन्द्र विद्या पर्वविद्या की पर्वत विद्या है जिससे नद नदी दुर्ग आदि की कल्पना सरल हो जाती है। यही सविता का प्रसवन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार अग्नि रूप गायत्री

(सविता का सवन) करती है। कुछ भी हो इन्द्र सब देवताओं में ज्येष्ठ है अतः वही देवताओं का अधिपति माना जाता है। यह इन्द्र क्षत्र है, अतः इन्द्र रूप व्याख्या तत्त्वों की क्षत्ररूप व्याख्या है। यह अग्नि के विकासों की तरह अपना अलग सरणि का विकास करता है। इन विकासों को ही इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि-यमं मातरिश्वानमाहुः ॥" (ऋ० वे० १-१६४-४६) ऋचा देती है। इनमें सब तत्त्व क्षत्र ही हैं। इन्द्र को ही ये नाम उसके क्रमिक विकासों में प्राप्त होते हैं। इन्द्र को ही मित्रादि नाम से पुकारते हैं, मित्रादि उसके विकास हैं। ये सब एक सरणि के विकास हैं जैसे २४वें तत्त्व में इन्द्र ही मित्र नाम से पुकारा जाता है इत्यादि। अग्नि के विकासों में जिस तत्त्व को इन्द्र कहते हैं वह शतक्रतु इन्द्र है। वृत्रहन्ता हारियोजन इन्द्र है। इन्द्र के बारे में शेष 'इन्द्र' शीर्षक में देखें। इन्द्र की उत्पत्ति, आगे 'समिधः' शीर्षक में दे रखी है। यह इन्द्र ही मध्यम प्राण नाम का तत्त्व है।

'प्राणाद्वायुरजायत'—'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च'। इन दो वेदों के दो वाक्यों में अवश्य गम्भीर अन्तर है। एक प्राण से वायु की उत्पत्ति दे रहा है दूसरा श्रोत्र से प्राण और वायु दोनों की; वायु का सम्बन्ध या क्रम नहीं देता। यहां पर ऋग्वेद अधिदैव व्याख्या देता है यजुर्वेद अध्यात्म। ऋग्वेद दर्शन के पूर्वार्द्ध की प्रारम्भिक तत्त्वों का विवेचन देता है तो यजुर्वेद उत्तरार्द्ध के प्रारम्भिक तत्त्वों का योग। ऋग्वेद पूर्वार्द्ध का नाम है यजुर्वेद उत्तरार्द्ध का। इसका निर्णय 'दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्' वाक्य कर देता है कि श्रोत्र से दिशाओं और लोकों का निर्माण किया गया। लोकों का निर्माण भौतिक होता है अतः उनकी निर्मिति भौतिक अर्द्ध उत्तरार्द्ध में ही होती है। श्रोत्र नाम शरद ऋतु का और विश्वामित्र ऋषि का है जैसे यजुः (१३-५७) ने लिखा है। "तस्य श्रोत्रं सौवां शरच्छ्रौत्री विश्वामित्र ऋषिः…"। इस श्रोत्र से या शरद ऋतु वाले विश्वामित्र नामक श्रोत्र से जो उत्तरार्द्ध के आदि की ऋतु और ऋषि है—लोकों की सृष्टि प्रारम्भ की गई। इसी श्रोत्र से भौतिक प्राणों और भौतिक वायुओं की उत्पत्ति की गई जैसा कि बृहदारण्यक ने लिखा है कि जो कुछ भी अविज्ञात वस्तु, भौतिकात्मा में है वही उसके प्राण हैं अविज्ञात माने व्यापक विभु तत्त्व। 'यत्किञ्चिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं, प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एवं तद्भूत्वावति।" इन प्राणों का भौतिक स्वरूप आपोमय (विद्युन्मय) ज्योतिरूप चन्द्रमात्मक है जैसे "अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूप मसौ चन्द्रस्तद्यावा नेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः।" (१-१-५-९, १३) इन्हीं प्राणों के साथ-साथ वायु या मातरिश्वा नामक वायु की उत्पत्ति हुई।

मातरिश्वा वायु वे हैं जिनका उदय आपो माताओं के प्राणों से होता है जैसा कि ऋ० वे० लिखता है "मातरिश्वा तद्भवति यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गः' (३–२९–११) । यह तो यजुर्वेद के श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च (अजायत)" वाक्य का अर्थ है। ऋग्वेद के प्राणाद्वायु रजायत' के प्राण और वायु दोनों अध्यात्म के तत्वों का विकास देता है यह योग का मार्ग है। वास्तव में श्रोत्र से दिशाओं और लोकों की अतिसृष्टि होती है। तब यह भी अध्यात्म योग होता। "नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्" वहां भी अध्यात्म दर्शन है। नाभि भौतिक तत्त्व से अन्तरिक्ष नामक आत्मा की उद्दीप्त कर उसकी अनुभूति की गई, यह इस पक्ष में युक्त अर्थ होगा। यह नाभि पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों के मध्य भाग वाली नाभि है। यह नाभि तत्त्व है, हमारे शरीर का अंग नहीं। वैदिकों ने नाभि शब्द का प्रयोग प्रथम तीन सप्तकों के लिए भी किया है। ये नाभियां रथ की सृष्टिरथ की है जिसमें सात चक्र, या सप्त चक्र का एक चक्र मानते हैं। उसकी तीन या सात नाभियाँ या, एक ही नाभि है। इसका विवेचन 'देव रथ' या 'अश्वमेध' या 'अश्व' शीर्षक में दे दिया गया है। यह नाभि पेट की नाभि नहीं है जैसा कि सायणदिकों ने इस नाभि को जाने बिना लिख दिया है। यह प्रजापति की नाभि अवश्य है पर वैसी है जैसी वेदों में रथ नाभि रूप में वर्णित है। पेट की नाभि की चर्चा तो वेदों में कहीं भी नहीं है। उसकी तीन नाभियाँ प्रथम तीन सप्तक हैं। उसके प्रथम सप्तक या प्रथम नाभि से अन्तरिक्ष बना। प्रथम सप्तक का ही नाम अन्तरिक्ष भी है। 'वसुरन्तरिक्ष सद्' (ऋ० वे० ४-४०-५) सबसे प्रथम सदः या षद्ु वसुओं की है उसे इसी 'अन्तरिक्ष' पारिभाषिक नाम से पुकारते हैं जिसको व्युत्पत्ति श० प० ब्रा० (७ १-२–२३) ने स्वयं दे रखी है। "योऽन्तरेणाकाश आसीदन्तरिक्षमभवत् ईक्षं हैतन्नाम ततः पुरा अन्तरा वा इदमीक्षमभूत् तस्मादन्तरिक्षं तद्गार्हपत्यम् ।।" प्रथम सप्तक आकाश का है, खं ब्रह्म है, उसी का नाम अन्तरिक्ष है, यह अन्तरिक्ष नहीं जिसे लौकिक भाषा में पृथिवी और खगोलों के बीच के भाग समझते हैं। यहां का अन्तरिक्ष ब्रह्म द्यौ और द्वितीय सप्तक के बीच या मध्यवर्ती आकाश या अन्तरिक्ष नामक तत्त्व है। यह प्रथम सप्तक है। यही गार्हपत्याग्नि भी है। यह प्रथम यज्ञ है, इसी को भुवन की नाभि कहते है "द्यौ र्मेपिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्" (ऋ० वे० १–१६४–३३)। यह नाभि बन्धु रूप है और "इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" के अनुसार प्रथम यज्ञ रूप अन्तरिक्ष या प्रथम सप्तक भुवन की नाभि है। जिससे दो अन्य नाभियां भी विकसित होती हैं। जिन्हें त्रिनाभि कहते हैं "त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः"। 'नाभिः' का सम्बन्ध

सर्वत्र 'देवरथ' या 'सृष्टि रथ' से ही दिया गया है, यह ध्यान में रखने योग्य है। द्यौ नाम आदि ब्रह्म का है उसका प्रथम विकास अन्तरिक्ष है "अदिति र्द्यौ रदितिरन्तरिक्षं·····स पितास पुत्रः' द्यौ पिता है अन्तरिक्ष पुत्र है। "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा कोकानकल्पयन् ॥" उस सृष्टि पुरुष के शिर से 'द्यौः' की उत्पत्ति हुई अथवा उसका शिर ही 'द्यौः' है। 'द्यौ' नाम उसी ब्रह्म के आदि रूप या अखिल सृष्टि के जनयिता रूप का है। अतः उस द्यौः को सर्वत्र पिता नाम से पुकारा गया है जैसे "द्यौ र्मेपिता जनिता' (ऋ० वे० १-१६४-३३) "मधु द्यौरस्तु नः पिता" (ऋ० वे० १ ९-६; शु० यजु० १३-२७; तै० सं० ४-१-९-३; तै० आ० १०-१०-२; श० प० ब्रा० १४-९-३-११)। यही बात 'अदिति र्द्यौ रदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः" (ऋ० वे० १-८९-१०) में अदिति माता है, द्यौ पिता है और अन्तरिक्ष पुत्र है। इसी लिए प्रस्तुत ऋचा कहती है कि योग में सृष्टि पुरुष के सिर से 'द्यौः' रूप पिता तत्त्व का विकास हुआ। उसके दो पांव चतुर्थ पाद हैं। इन दो पादों से पहिले शूद्र तत्त्वों की सृष्टि बतलाई जा चुकी है। इन शूद्र तत्त्वों को वहां प्रायः ठीक नहीं समझा जा सकता। अब प्रस्तुत पाद से दोनों का अर्थ सरल हो जावेगा। इन दो (चतुर्थपाद रूप) पावों से भूमिः भौतिकात्मा रूप धी तत्त्व उत्पन्न हुई। यहां भूमि माने हमारी मिट्टी की पृथिवी नहीं है। वेदों में पृथिवी और भूमि शब्द केवल भौतिकात्मा का संकेत करते हैं। यह आत्मा तो अभी चतुर्थ चरण में त्रिपादामृत युक्तं आपोमय चतुर्थ पाद युक्त है, अभी पार्थिवता का ही उदय नहीं हुआ है, पृथिवी या भूलोक कहां से होगा। चतुर्थ चरण तक वायु तेजः और आपः की मौलिक तत्त्वों में आत्मा रूपों में सृष्टि होती है। प्रथम आपोमय मौलिक सृष्टि से भौतिकता का प्रारम्भ होता है। अतः इसे भूमि या पृथिवी कहा है। प्रथम तीन शुद्ध आत्मायें और त्रिपादामृत हैं। दिशायें भौतिक तत्त्व की होती हैं; व्यापक तत्त्व की नहीं आदि। वह तो एक है दिशायें कहा से होंगी। चतुर्थ चरण की भौतिकात्मा की प्रथम भौतिकता के साथ साथ उसमें अन्य व्यापकता के कारण दिशायें भी आ गईं। ये दिशायें श्रोत्र से उत्पन्न हुईं, उसी से लोकों की भी सृष्टि हुई। त्रिपादामृत या ब्रह्म में कोई दिशा नहीं हो सकती। वह तो केवल है, एक है। इसी लिए इन्हीं दिशाओं रूप भौतिकता को शरद विश्वामित्र और श्रोत्र कहते हैं जिनसे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना शब्द ब्रह्म रूप में हो गई। इसका विवेचन 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च' के साथ साथ सोद्धरण वहीं दिया जा चुका है। चतुर्थ चरण की दो पांव रूप भूमि, महोरूप महर्लोक नाम की मही कहलाती है, प्रथम तीन चरण क्रम से 'भूर्भुवः स्वः' कहलाते हैं। ब्रह्म या प्रथम सप्तक भूः है जिसमें सृष्टि

पुरुष का वृक्ष ऊर्ध्व मूलमधः शाख रूप में अतिरोहित या प्ररोहित या विकसित होता है, यह ध्यान रहे। यह इसकी अधिदैव व्याख्या है।

अगली ऋचा की व्याख्या प्रस्तुत करने के पहले यहां यह पुनः सूचित कर देना आवश्यक है कि पुरुष पशु के पूर्व वर्णित अङ्गों के अतिरिक्त अगली ऋचा में आये दार्शनिक पारिभाषिक पदों को दृष्टिपथ में रखते हुए इसमें सन्देह का लेश भी नहीं रह जाता कि यह पुरुष पशु ही हमारा मध्य गणेश या गोबर गणेश या भौतिक गणेश है। क्योंकि पुरुष पशु के बेडौल अङ्गों के काटने से जो मांस शेष रहा उसी से हस्ती की उत्पत्ति, इसकी उत्पत्ति के वर्णन में दी गई है (पीछे उद्धरण देखें)। अतः इस गणेश का हस्तिमुख पुरुष रूप में वर्णन करना वैदिक पुरुष पशु के दार्शनिक स्वरूप को साक्षात् लौकिक रूप देना है। शिर पुरुष पशु का धड़ है, अतः यही साक्षात् वैदिक 'पुरुष पशु' या अखिल ब्रह्माण्ड का एक अनुपम वैदिक प्रतीक है। इसी लिए इसकी पूजा प्रतिष्ठा सर्वत्र सर्वादि में की जाती है। इसका सम्बन्ध रौद्री व्याख्या से होने पर भी वैदिक 'पुरुष पशु' का प्रतिनिधि होने से सब सम्प्रदायों को यह मान्य है। यही इस गणेश के वैदिक पुरुषपशु के प्रतीक होने का एक प्रबल प्रमाण है। आदि गणपति तो ब्रह्मणस्पति है, वह त्रिपादामृत मात्र है।

अब सबसे अधिक विवाद ग्रस्त, पर सबसे अधिक महत्व पूर्ण ऋचा सामने आती है।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

[यहां पर भी त्रिः सप्त समिधों द्वारा जो तात्त्विक यज्ञ है वह भी अध्यात्म यज्ञ या योग है। सप्त परिधियां तो सात सप्तक हैं, पुरुष पूरा दर्शन है, पर पुरुष पशु है, पशु या वाहन नाम उत्तरार्द्ध के भौतिकात्मा का है, उसको बांध कर अमृत पुरुष को प्राप्त किया गया है।]

इसका पाठ सब वेदों में एक सा है, और सब में यह १५ वीं ऋचा है।

विशेषः — प्रस्तुत पुरुष सूक्त में जिन जिन मुख्य मुख्य विषयों की चर्चा की गई है वे ऋ० वे० १०–१३० सूक्त में प्रायः वर्णित और व्याख्यात हैं। इस सूक्त में एक प्रश्न कारिणी ऋचा है, जिनमें पूछा गया है, कि जिस यज्ञ को या दर्शन तत्त्व विकास शैली को तत्त्वों ने अपनाया था उसमें प्रमा क्या थी, प्रतिमा क्या थी, मूलस्रोत-क्या था, आज्य क्या था और परिधि क्या थी, छन्द क्या था और उक्थ क्या था? जैसे "कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत्प्रयुगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥" (१०–१३०–३)। इनका उत्तर छन्दोमय ब्रह्म द्वारा इस

प्रकार दिया गया है:—"अग्नेर्गायत्र्यमभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव। अनुष्टुभा सोम उक्थै र्महस्वान् बृहस्पते र्बृहती वाचमावत्॥ "विराट्मित्रावरुणो रभि श्री रिद्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः। विश्वान्देवान् जगत्या विवेश तेन चावलृप्त ऋषयो मनुष्याः॥" चावलृप्ते तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्ये इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥ "सहस्तोमा सह छन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः। पूर्वेषां पन्था मनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥" (४–५–६–७)। इनमें सबका उत्तर आ गया है पर परिधि नाम से कुछ नहीं कहा गया है, उसका उत्तर हमारी यह प्रस्तुत ऋचा दे रही है। आज्यादि के बारे में पहिले कहाजा चुका है।

सप्तास्यान्परिधय :—

यह ऋचा पुरुष पशु की व्याख्या देती है। यह पुरुष पशु अग्नि रूप सर्वा देवता का पूर्ण रूप है। यद्यपि पुरुष पशु का प्रथम उदय २५ वें तत्त्व में होता है, पर उसका पूर्ण विकास पूरे तत्त्वों से होता हैं। इसका निर्माण प्रथम तत्त्व से ही प्रारम्भ होता है। इसकी सात परिधियां तो ऋ० वे० १० १३०–६ में वर्णित 'ऋषयः सप्त दैव्याः' या सप्तर्षि हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में सातों सप्तकों के प्रथम ऋषि या महर्षि कहते हैं। ये दिव्य या दार्शनिक तत्त्व रूप ऋषि हैं, प्रत्येक से सात-सात का पृथक् पृथक् और क्रमिक विकास होता है। इनको यजुः (१७–९७) 'सप्त ऋषयः' कहता है और इनके सात धामों या सप्तकों को सात छन्दों से संकेतिक करते लए 'सप्तधाम प्रियाणि इति छन्दांस्येतदाह, छन्दांसि वा अस्य धाम प्रियाणि" लिखता है। ठीक यह बात आपको ऋ० वे० (१० १३०–४। ५) में जो ऊपर उद्धृत हैं मिलती हैं। उक्त ऋषियों को ऋ० वे० इस प्रकार वर्णित करता है 'ऋषयः सप्त विप्राः' (१–९०–२) 'वाणी ऋषीणां सप्त' (१०–१०३–३) ऋषीणां सप्त धीतिभिः' (९–६२–१७) सप्तानां सप्त ऋषयः सप्त; सप्तद्युम्ना न्येषां सप्तो अधिश्रिणे दधिरे' (८–२८–५)। यजुः (१५–१०) पुन 'ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु' लिखता है अर्थात् ये ऋषि सर्वप्रथम अग्निनामक देव से उत्पन्न हुए कहता है। और ऋषि शब्द की व्याख्या सर्वत्र 'प्राणा वा ऋषयः' लिखा है। इनका विशद वर्णन 'ऋषयः' तथा 'अष्टौ पुरुषाः' और 'अष्टौ लोकाः' नामक शीर्षकों में दिया जा चुका है (वहीं देखें)। संवत्सर ब्रह्माग्नि विद्या में यह 'ऋतुभिरेव सप्तविधः' और 'दिग्भिरेव सप्तविधः' है (श० प० ब्रा० १०–२–६–२, ३)। हवन प्रणाली में इन्हीं सात भेदों को परिधि नाम से पुकारते हैं। इन परिधियों की व्युत्पत्ति की कथा श० प० ब्रा० (१–३-६–१२ से अन्त तक पुनः १–३–१) ने दे रखी है और १–७–१-९, २२; २ ४–४–६; ३–५–२–१३) २-५–२-१६

में इनका पुनः प्रयोग बताया है। इन सात परिधियों, या सात दैव्य ऋषियों या सप्तपुरुषों का ऐक्य ही पुरुषपशु नाम से पुकारा जाता है जैसा कि श० प० ब्रा० (६-१-१-२, ३ तथा १०-२-२ १) लिखता है 'असद्व इदमग्र-मासीद्। तदाहुः किं तदासीदित्यृषयो वाव ते अग्रे सदासीत्तदाहुः के ते ऋषयः इति प्राणा वा ऋषयः, योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्रस्तानेष प्राण मध्यत इन्द्रि-येणेन्ध यदैन्धस्तस्मादिन्ध इन्ध ह वै तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्ष कामा हि देवास्त इन्द्धाः सप्त नाना पुरुषान्न सृजन्त। तेऽब्रुवन्। न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितु मिमाः सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त ऐतान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् यदूर्ध्वं नाभे स्तौ द्वौ समौब्जन्य दवाङ्नाभे स्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत्॥" "यान् वै सप्त पुरुषान्। एकं पुरुषमकुर्वन्स प्रजापति रभवत्स प्रजा असृजत स प्रजा सृष्ट्वोर्ध्वं उदक्रामन् स एतं ल्लोकम गच्छत् यत्रैष एतत्तपति नो ह तर्ह्यन्य एनस्मादत्र यज्ञिय आस तान्देवा यज्ञेन यष्टुमध्रियन्त। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इति॥" ब्रह्म सप्तविध पुरुष की सप्तविधता में से प्रथम चार को चार (ब्रह्म जीव तैजस या मनः भौतिक) आत्मायें और दो को पक्ष अन्तिम को पुच्छ और काम नाम से पुकारते है जैसे "स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि, चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि।" (श० प० ब्रा० १०-२-२-५)। वज्ञ प्रणाली में इस पुरुष का अभिनय 'वेदिः' से किया जाता है जैसे लिखा है "या वा इयं वेदिः सप्त-विधस्य" (श० प० ब्रा० १०-२-३-१)। इस वेदि की परिभाषा में बतलाया गया है कि इससे अखिल ब्रह्माण्ड का ज्ञान करते थे, इसी से उसे पूर्णतः समझ लेते थे, अतः वेदन या ज्ञानमूलकतया इसे वेदि कहते थे. इसी वेदि से विष्णु के विक्रम (इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यादि) का भी ज्ञान करते थे "यन्वेवात्र विष्णु-मविन्दँस्तस्माद्वेदि र्नाम'। (१-२-३-१०)। सच सच में वेदों के ज्ञान का आधार वेदिः है, वेद नाम ब्रह्म का भी है शब्द ब्रह्म का भी और हमारी संहिताओं (के ज्ञानाग्नि) का भी जैसे 'वेदोऽसि येन त्वं देव वेद येन देवेषु वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः" (यजु० २-२१)। यह वेदिः दो भागों में विभक्त की जाती है, शिर या पूर्वार्द्ध या पूर्ववेदि, धड़ या उत्तरार्द्ध या उत्तरवेदिः। इन दो भागों में चतुर्थ भाग मध्यवर्ती रहता है, तीन पूर्वार्द्ध और तीन उत्तरार्द्ध में रखे जाते हैं 'त्रिपूर्वान्त्रिरुत्तमान्'। इनका निर्माण एक एक प्रस्तर पंक्ति द्वारा किया जाता है जैसे "अथ अग्निं कल्पयति। शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः, पूर्वार्द्धं वै शिरः पूर्वार्द्ध मेवेतद्यज्ञस्य कल्पयति उपर्युरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयत्ययं वै

स्तुप:" (श० प० ब्रा० १-२-६-१२)। परिधियों के सम्बन्ध में पूर्वार्द्ध को परिधि, उत्तरार्द्ध को वहिष्परिधि कहते हैं। कोई कोई इन परिधियों को लकड़ियों या पत्तियों से भी बनाते हैं जिनके लिए पलाश, वैकङ्कत, कार्श्य, खदिर और औदुम्बर का विधान किया गया है। इन परिधियों के बनाने का कारण या कथा इस प्रकार बना रखा है। पहिले परिधि की व्युत्पत्ति यह है 'उपरि उपरि (प्रस्तरं) परितः दधातीति परिधि:'। अग्नि ब्रह्म देवताओं या तत्त्वों का होता या विकास कर्ता है 'अग्निर्वै देवानां होता' (१-४-३-१)। जब इसका आवाहन करने लगे तो उसने कहा कि वषट्कार नामक वज्र (सप्तक- प्रथम ऋषि + षट्कार) ने विकासों द्वारा पूर्वार्द्ध को खण्ड खण्ड में विभक्त कर दिया है। मैं इससे डरता हूँ अतः मेरे चारों ओर परिधियाँ बना दो जिससे प्रत्येक परिधि या सप्तक के तत्त्व सुरक्षित रह जाँय। (श० प० ब्रा० १-२-६-१३, १४)। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रत्येक खण्ड के तत्त्वों को पृथक् पृथक् समझने के लिए इन सप्तकों या परिधियों की रचना आवश्यक है, नहीं तो ४८ तत्त्वों की खीचड़ी किसी की समझ में सरलता से नहीं आ सकती थी।

सप्तपरिधियाँ अग्निरूपिणी हैं। पूर्वार्द्ध की अग्नियाँ सुप्रसिद्ध हैं (अग्निवाद में देखें)। मध्याग्नि का नाम सोमाग्नि या अग्निवैंश्वानर है। उत्तरार्द्ध की शेष तीन परिधि रूप अग्नियों का नाम 'ध्रुवपति, भुवनपतिः, और भूतानां पति' है। इनको नाग के समान स्कन्न या विस्फूर्जित या उत्सर्पित कहते हैं। 'यद्वहिष्प-रिधिः स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु नाग इव स्कन्नं स्याद् इमां वै ते पृथिवीं प्राविशन्यद्वा इदं किञ्च स्कन्दत्यस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ।। स स्कन्नमभि-स्पृशति। भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहेत्येतानि वै तेषामग्नीनां नामानि ।।" (श० प० ब्रा० १-२-६-१५, १६)। इन परिधियों का ज्ञान जिस प्रकार उक्त सरणि से किया जाता है, उसी प्रकार इनका ज्ञान दिशा रूप में भी किया जाता है। यहां गोलाकार चक्र बनाकर तत्त्वों को पृथक् पृथक् सात भागों में रखा जाता है। ये चक्राकार परिधियाँ है जिनका वर्णन सात ऋतुओं के नाम से सात भाग की दिशाओं में किया जाता है। इस सरणि में ऋतुओं या दिशाओं को समिध कहते हैं इनका वर्णन श० प० ब्रा० (१-३-१) में तथा अन्य पूर्व संकेतित स्थानों में मिलता है। ऐ० ब्रा० (५-५-२८) ने भी इस परिपाटी का समर्थन करते हुए और शतपथ के पूर्वोद्धृत 'ऋतुभिः सप्तविध' दिग्भिः सप्तविधः' वाक्यों के अनुरूप व्याख्या देते हुए लिखा है "असौ वा आदित्यो यूपः, पृथिवी वेदिरोषधयो बर्हि, वनस्पतय इध्मा, आपः प्रोक्षण्यो, दिशः परिधयः" यहां पर पूर्ण पुरुष का या सप्तपुरुषी एक पुरुष

का या सप्तपुरुषी एक पुरुष का वर्णन है। दिशारूप वर्णन संकेतित प्रपाठकों में पूर्वार्द्ध के तीन तीन भागों की दिशाओं द्वारा किया गया है जिनका समर्थन ऋ० वे० की निम्न ऋचायें करती हैं। "आरोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्चदेवाँ ऋतुशः सप्त सप्त" (१०–६५–३) 'सप्त दिशो नाना सूर्याः सप्त होतारो ऋत्विजो देवा आदित्याः सप्ताः।" (९-११४-३: १०-६३-७,८-६०-१६)। ये सात ही हमारी ऋचा की सात परिधियाँ हैं, इनको कई अन्य नामों से भी पुकारा गया है जैसे सप्तचक्रं, सप्ताश्वः, सप्तस्वसारः, सप्तरश्मि, सप्तापः, सप्तनदी, सप्तार्वि, सप्तसिन्धवः, सप्तवाणी (सप्तच्छन्दः), सप्तमातरः, सप्त यह्वीः, सप्तक्षीरा, सप्तबुध्नं अर्णवं, सप्ततन्तुं, सप्तधामानि, सप्तरत्नानि, सप्त-पुरः सप्तदानुः, सप्तपदानि, सप्तपुत्रं, सप्तहोतारं, सप्तजिह्वं, सप्तसंसदः, सप्तसदः, सप्तशाकिनः, शप्तशीर्षन् , सप्तहस्तासो, सप्तसखायः, सप्तमयूर्यः, सप्तधेनवः, सप्तपर्वता सप्तसमिधः, सप्तविस्फुलिङ्गाः, सप्तद्युम्नानि, सप्त-मर्यादाः। इत्यादि (आदि में दिया सप्तवाद देखें)। ये सब उस पुरुष की व्याख्यायें इतने रूपों में करते हैं ; हमारी प्रस्तुत ऋचा 'सप्तपरिधि' शब्द से इन्हीं सब से संकेतित पुरुष की मुख्य सप्तता की ओर आकर्षित करती है। यही 'सप्तास्यासन् परिधयः' का सुस्पष्ट भाव है।

'त्रिःसप्त समिध, कृताः'—सबने इस 'त्रिःसप्त' का अर्थ ७ × ३ = २१ लगाया है। इसका कारण पूर्व परिच्छेद में वर्णित सप्तवाद का ज्ञान न होना है। यहां सप्त शब्द सात का वाचक नहीं, वरन् सप्तक का वाची है। इस 'सप्त' का अर्थ विभिन्न छन्दों के अक्षरों से निर्णीत होता है। प्रत्येक देवता या तत्व के ज्ञान के लिए पृथक्-पृथक् छन्दों का आश्रय लिया जाता है जैसा कि पूर्वोद्धृत १०-१३०-४,५ ऋ० वे की ऋचाओं में वर्णित है कि अग्नि से गायत्र पुरुष का निर्णय किया जाता है, उष्णिक् से सविता का, अनुष्टुप् से सोम, उक्थ सूर्यः बृहती से बृहस्पति, विराट् से मित्रावरुण, त्रिष्टुप् (३३) से इन्द्र, जगती (४८) से विश्वेदेवता; इनको ऋषियों या मनुष्यों नामक तत्वों में सप्तक नाम से विभाजित किया जाता है। इसी भाव को ऋ० वे० (१ १६४–२४, २५) इस प्रकार देता है :—"गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुमेन वाकम्। वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्तवाणीः ॥ जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्। गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्ररिरिचे महित्वा ॥" यहां अन्तिम ऋचा में लिखा है कि गायत्र पुरुष के तीन समिध या पाद होते हैं। गायत्री में तीन पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। अतः सप्तवाणी की शैली में या सप्तक शैली में वही गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के २४ तत्व रूप तीन समिध, 'त्रि सप्त समिधः' कहलायेंगे।

'पुरुष' नाम गायत्री छन्द के पति का है। अतः उसे 'गायत्रः' या गायत्र पुरुष या केवल पुरुष नाम से पुकारते हैं। ऐ० ब्रा० ने भी यही लिखा है "गायत्रो वै पुरुषः' (४-१-३)। इस प्रकार 'त्रिःसप्त' माने ८ × ३ = २४ होता है। गायत्री यज्ञ या पूर्णदर्शन का पूर्वार्द्ध है "चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री यज्ञस्य पूर्वार्द्धः शिरः" (श० प० ब्रा० ३-४-१-१०)। इस उल्लेख में गायत्री के २४ अक्षर रूप तत्त्वों को २४ विक्रम या सीढ़ी भी कहा गया है। यही २४ समिध हैं। जो जो नाम सप्त परिधियों के है प्रायः वेही सब नाम इन समिधों के भी हैं। जिनको यहां पर यह ऋचा 'त्रिःसप्त समिधः' नाम से पुकारती है उसी को अन्य ये नाम दिये गये हैं 'त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुद्रुहे' (ऋ० से० ९-७०-१, ४-१-१६, ७-८७-४, ९-८६-९१) 'त्रिःसप्त सस्रा नाद्यो मही अपाम्' (ऋ० वे० १०-६४-८) 'त्रिःसप्त सानु संहिता गिरीणां', (ऋ० वे० ८-९६-२) 'त्रिःसप्त विस्फुलिङ्गा' (ऋ० वे० १-१९१-१२) 'त्रिःसप्त यद्गुह्यानि ते पदा' (ऋ० वे० १-७२-६) 'त्रिःसप्त सख्युः पदे' (८-६९-७ ऋ० वे०) 'त्रिःसप्तैः सूरा सत्वभिः' (ऋ० वे० १-१३३-६) 'प्र सप्त-सप्त त्रेधा' (ऋ० वे० १०-७५-१) 'त्री रा सप्तानि सुन्ववे' (ऋ० वे० १-२०-७) 'तिसृणां सप्ततीनां' (ऋ० वे० ८-१९-३७) 'उस्रा त्रिःसप्त सप्ततीनां' (ऋ० वे० ८-४६-२६) इत्यादि। इस प्रकार यह 'त्रिःसप्त' शब्द तो वैदिकों को अत्यन्त प्यारा है। इन तीन सप्तकों या पादों को वैदिक 'गुहा' नाम से पुकारते थे। (गुहा वाद देखें)। यह २४ तत्त्व वाली गुहा त्रिपादामृत से पूर्ण है, वे इस अमृत को नहीं भुला सकते थे। इस गुहा के अन्तिम छोर से जब भौतिकात्मा का उदय होता है तब उसे ये पुरुषपशु कहते थे। पुरुषपशु माने वह पुरुष है जो भौतिकता रूप पशु में सवार या भौतिक शरीर धारी पुरुष है इसमें २१ संख्या किसी भी प्रकार नहीं बैठ सकती। जैसा ठग यह पाद है वैसा हो ठग सायण का तै० सं० (५-१-१०-३) से उद्धृत वाक्य है जैसे द्वादशमासाः पञ्चर्तंव त्रय इमे लोका असावादित्यः' (१२ + ५ + ३ + १ = २१) लोगों ने यही समझा है, यह भी गलत है। पूर्वार्द्ध दिन रूप पूरा वर्ष है। उसमें ही १२ महीने हैं, २४ तत्त्व के १२ महीने हैं। पाँच ऋतुयें भी इसी पूर्वार्द्ध में हैं। शिशिर वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् ये भी २४ ही तत्त्व बनाते हैं। तीन लोक तो येही तीन पाद हैं जिनमें २४ वां आदित्य है। ये २४ वैदिक दर्शन के तत्त्व हैं, सांख्यदि के कदापि नहीं।

समिधः कृताः—यह पुरुष तो गायत्र पुरुष है, न कि विराट् पुरुष। विराट् पुरुष तो १०, १० छन्दोक्षरीय तत्त्व रूप देवताओं के चार पादों वाला ४० तत्त्वों का पुरुष कहलाता है। और सूक्त के आदि का पुरुष भी गायत्र पुरुष ही है जिसके

त्रिपादों की चर्चा तीसरी चौथी ऋचा में देते हुए विराट् की उत्पत्ति अलग दे रखी है। यहां पर पुरुष पशु के शिर रूप गायत्री के तीन पाद सप्तक रूप तीन समिध हैं जिसमें २४ अक्षर रूप देवता या २४ सूक्ष्म समिध हैं, उन्ही का यहां वर्णन है।

समिध शब्द का मूलस्रोत है 'इन्ध'। इन्ध नाम मध्यम प्राण या उदान नामक अंतर्यामी प्राण का है। यही प्राण इन्द्र नामक सर्वादेवता का मूल कारण है। जब यह प्रथम अन्तिम प्राण और अपान के रस या इन्द्रिय से इस मध्यम प्राण को समिद्ध करता है, जैसे तेल से दीप, तब यही इद्ध प्राण इन्द्र कहलाता है, इन्ध को परोक्ष या रहस्य रखने के लिए ही उसे इन्द्र नाम से पुकारा जाता है। क्योंकि वैदिक आचार्य सब रहस्य खोलना पसन्द नहीं करते थे। जब यह इन्द्र, 'इद्ध' हो गया या दीपक सा जल गया, तब इसीसे सप्त ऋषि रूप सात पुरुषों या परिधियों की रचना हो गई (श० प० ब्रा० ६–१–१–२)। यही बात पहिले 'समिध' की व्याख्या में कही गई है 'स वै समिधो यजति। प्राणाः वै समिधः प्राणानेवैतत्समीन्धे, प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धः।'' (श० प० ब्रा० १-४-५-१)। यही 'इद्ध' नाम पुनः 'इध्मः' का स्वरूप एकदेवत्य शतक्रतु इन्द्र (ग्रीष्मऋतु कालीन) कहलाता है 'ग्रीष्म इध्मः'। यह अध्वयुं रूप है जैसे 'इन्धेह वा एतदध्वयुः। इध्मेनाग्निं तस्यादिध्मो नाम समीन्धे।'' (श० प० ब्रा० १-३-२-१)। इस प्रकार समिध का अर्थ, समुज्ज्वलित, प्रदीप्त या उद्दीपित प्राण है। ऐ० ब्रा० (१-४-१७) ने इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुए समिध को शीर्षण्य प्राण बतलाया है और कहा है कि प्राण स्वयं अपने शीर्ष से प्रज्वलित या समिद्ध होता है, वहो प्राण समिध है, वे इद्ध या इन्द्र में रहते है जैसे ''इमे (समिधः) शीर्षन् प्राणः। ·····शीर्षन्धित्सेत् तादृक् तदरिक्तं तत्समु वा इमे प्राणाविन्द्रे।'' इसी उक्ति का समर्थन पुनः दूसरे स्थल (२–१–४) पर करते हुए लिखा है ''तद्ब्रह्मवर्चसेन समर्द्धयति, समिधो यजति, प्राणाः वै समिधः प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते यदिदं किंच प्राणेन तत्प्रीणाति प्राणान्यजमाने दधाति॥''। ऐ० ब्रा० ने प्रथम व्याख्या को समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्' ऋचा की व्याख्या में समिध शब्द के रहस्य को उपस्थित किया है। यहां अग्नि प्रथम प्राण है, और घृत तृतीय प्राण है, इनमें से मध्यम प्राण प्रथम और अन्तिम को इन्द्रिय या संघर्षीय रस की तरह प्रयुक्त कर स्वयं विस्फुलिंग या दीपक की तरह प्रस्फुटित या समिद्ध होता है अतः 'समिधः' कहलाता है। तत्वों की यह प्रक्रिया अन्त तक ४८ वें तत्व तक चलती है। प्रत्येक तत्व का मध्यम प्राण समिध या इन्द्र या इद्ध कहलाता है। पर उनके नाम दूसरी व्याख्यान शैलियों

में बदलते भी रहते हैं. जैसा कि श० प० ब्रा० (२–२–४–९ से १३ तक) ने लिखा है, इन्द्र के समिद्ध हो जाने पर सर्व प्रथम क्षुपित रूप समिद्ध देवता या तत्त्व रुद्र रुप अग्नि है, जब वही समिध प्रदीप्तर होता है तब वह वरुण कहलाता है, जब ऊँचे धूम समान परम ज्वाला से युक्त होता है तब वह पुनः शतक्रतु इन्द्र कहलाता है, जब वही उससे भी अति अधिक प्रज्वलित हो तिरश्चीन अर्चियुक्त होता है तब उसे मित्र कहते हैं, जब वह अन्त में सब अङ्गार रूप में उपस्थित होता है तब उसे ब्रह्म (अग्नि जातवेदाः) कहते हैं। इस अङ्गार रूप त्रिपादामृत की बाहरी परत में धीरे धीरे जमने वाला राख या भस्म से भौतिक तत्त्व या भौतिकात्मा का आविर्भाव होता है अतः हमारी संस्कृति में यह भाव है कि 'भस्मान्तं शरीरम्', भस्म से शरीर बना, भस्म ही शरीर है, भस्म ही उसका अन्त भी है।

वैदिक वाङ्मय में समिध' तत्त्व की बड़ी महिमा मानी गई है। वेदों में जिन जिन तत्त्वों का वर्णन है उन सबको 'समिध' नाम से पुकारा गया है, क्योंकि उनमें से प्रत्येकं अपने से प्रथम से समिद्ध होता है और अपने से प्रथम से समिद्ध होता है और अपने से द्वितीय को समिद्ध भी करता हैं। इस प्रकार जिन देवताओं की विकास की श्रेणी क्रमिक है, वे उत्तरोत्तर के समिध हैं उत्तरोत्तर वाले समिद्ध हैं। ऋतु शैली में प्रथमं समिध वसन्त है, द्वितीय ग्रीष्म, तृतीय वर्षा, चतुर्थ शरद्, पञ्चम हेमन्त और यह हेमन्त 'स्वाहा' नाम से पुकारा जाता है। अतः समिधों का स्वाहा इसी हेमन्त नामक तत्त्वों में किया जाता है। शिशिर ऋतु तो आदि ब्रह्म है (श० प० ब्रा० १–४–४–९ से १४ तक देखें)। इसी प्रकार मास अद्र्ध पक्ष दिन रात (अहोरात्र) आदि नदनदी, पर्वत, सागर समुद्र, पयोदधिघृत आदि, वसु रुद्र आदित्य आदि, अग्नि परिजातवेदा जातवेदा वैश्वानर आदि, पुरोहित होता अतिथि तनूनअपात्, ब्रह्मणस्पति, अंगिरा अंगिरस आदि आकाश वायु अग्नि आपः पृथिवी आदि सब के सब समिध हैं और समिद्ध हैं। क्यों कि इन सब का मौलिक रूप अग्नि या विद्युत् है। इस आशय को निम्न मंत्र सातों सप्तकों को समिध, अग्नि अर्चि होता आदि नाम से पुकारता है "सप्त ते अग्ने समिधः सप्तजिह्वाः सप्त ऋषयः सप्तधाम प्रियाणि। सप्त होत्रा सप्तधा त्वा यजन्ति सप्तयोनी रापृणस्व स्वाहा ॥" (यजु १७–७९)। इसी बात को मुण्डक निम्न दो वाक्यों से बतलाया है "तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः" "तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।" (२) सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् ने समिध शीर्षक पर प्रत्येक तत्त्व को एक दूसरे का समिध बतलाते हुए एक बड़ा विस्तृत विवेचन दिया है जिसका उपक्रम इस प्रकार है "अयं वाव लोको गोतमाग्निस्तस्यादित्य एव

समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥······पर्जन्यो वाव गोतमाग्नि तस्य वायुरेव समिध···पृथिवी वाव गोतमाग्निस्तस्या संवत्सर एव समिध ···पुरुषो वाव गोतमाग्निस्तस्य वागेव समिधः, योषा वाव गोतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिध (योषा वेदि है, उपस्थ या योनि २५ वां तत्त्व है (१–४–४ से ८ तक)। ठीक यही भाव वृहदारण्यक ने प्रायः इन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त किया है (२ ८-९ से १४ तक)। वाक्यों में केवल इतना अन्तर है कि जहां छान्दोग्य 'अयं वाव लोको गोतमाग्निः' कहता है वहां वृहदारण्यक 'असौ वै लोको गोतमाग्निः' कहता है, शेष वाक्य दूसरे की नकल सी हैं। इनमें प्रथम वाक्य पिछले परिच्छेद के रुद्र वरुण इन्द्र मित्र और ब्रह्म की क्रमिक समिद्धता का ठीक अनुसरण करता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस युग में समिध विषयक भावना सब वेदों के ऋषियों में सर्वरूप से एक रूपिणी ही थी सब आचार्य इन्हें, एक ही प्रकार से समझते चले आ रहे थे। इसबात का पूर्ण समर्थन निम्नलिखित कुछ और सुप्रसिद्ध उद्धरणों से हो जावेगा। यहां यह ध्यान रहे कि घृतवाद भी समिधवाद से जुटा हुआ है। घृत भी प्राणों ही का नाम है, जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि वसन्त समिधा है, पर पुरुष सूक्त इसे आज्य कहता है 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं' जिसको इद्ध करने वाला 'ग्रीष्म इध्मः' कहा है, इद्ध होने वाला मध्यम प्राण इन्द्र यहां पुरुष रूप अग्नि है। यही सब भाव अन्यत्र भी मिलते हैं जैसे (१) "अग्नये जातवेदसे तन्त्वा समिद्भि रङ्गिरो वर्धयामसि" (२) "घृतमिमिक्षिरे घृतमस्य योनिर्घृतेश्रितो घृतमुवस्य धामा। अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहा कृतं वृषभं वक्षि हव्यम्। समुद्रादूर्मिमधुमाँ (३) उदारत्पांशुना सममममृतत्वमानट्॥" घृतमस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ उप ब्रह्मा शृणुवच्छस्यमानं चतुः शृङ्गो वमीद्गौर मेतत्॥ "चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्यपादा इत्यादि" (ऋ० वे० यजु० नारायण उप० ३-२)

(२) 'ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेना (अन्नं) अन्तर्हृदा-मानसा पूयमाना घृतस्य धारा अभिचाकशामि॥ हिरण्मयो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः॥ तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधां दुहानाममृतस्य धाराम्॥" (यजु० १३ ३८, ३९, १७ ८९) (नारा० उप० ५-४०)। इस मन्त्र में समिधों से अन्न की नदियों की धारायें, मानस सरोवर, सुपर्ण कुलायी, अमृत, हरयः स्वधा और मधु स्रवित होने की बातें कितने रहस्य भरे हैं? इसका विश्लेषण ऐ० ब्रा० (१-५-२८) भी करता है।

(३) ये समिध, अरणियाँ हैं, अरणियों के अरण्यानी हैं, 'अरण्योर्निहिता जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भि-र्मनुष्येभिः ।।"

(४) इसी भाव को कठ० उप० (१ १४) "स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।।' कहता है ।

(५) गीता इसको दूसरे ढंग से कहती है । "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ।।" समाधिः = समिद्भिः समाधिः, । समिधः समिद्धा = समाधिः ।

"अपाने जुह्वति प्राणान्प्राणान्प्राणे तथापरे ।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायाम परायणाः ।।
अपरे नियता हाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञ क्षपितकल्मषाः ।।
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयान्यन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।
सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राणकर्मणि चापरे ।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञान दीपिते ।।" (४–२५ से ३०)

इस प्रकार यह समिध वाद सर्वप्राचीन योगमार्ग है, यह वैदिक योगमार्ग है । लौकिक या नव प्रचलित नहीं ।

अब देखना यह रह गया कि ये समिध हैं कितने ? हमारी यह प्रसिद्ध ऋचा वैदिक दर्शन का पूरा ढाँचा सप्त परिधियों द्वारा देकर पुरुष के पशु रूप में परिवर्तित होने की सीमा का निर्धारण करने के लिए 'त्रिःसप्त समिधः कृताः' कहती है । 'त्रिःसप्त' माने बतलाया जा चुका है कि 'गायत्रस्य समिध-स्तिस्रआहुः' (ऋ० वे० १-१६४–२५) हैं । हमारा यह पुरुष गायत्र पुरुष है गायत्री के तीन समिध तीन पाद रूप २४ तत्त्व ही होते हैं । जिनका खुलासे में तै० ब्रा० (५–१–१०–३) और श० प० ब्रा० (१–३–२-११) में 'द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तव स्त्रयो लोका स्तद्विंशतिरेष एवैक विंशति' वाक्य से हवन प्रणाली के लिए १२ + ५ + ३ + १ = २१ सामिधेनी के प्रयोग की बात लिखी है, पर श० प० ब्रा० (१–२–३–१३) ने इन इक्कीसों की संख्या को सामिधेनी के लिए अपूर्ण विहित समझ कर उक्त वाक्य की कमी की पूर्ति करने के लिए लिखा है 'त्रयो वा इमेलोका स्तदि-

मानेताँल्लोन्त्सन्तनोतीमाँल्लोकान्त्स्पृणुते त्रय इमे पुरुषे प्राणा एवमेवास्मिन्नेतत् सन्ततमव्यवच्छिन्नं दधात्येतदनुवचनम् ।।" इसने पूर्वोक्त २१ में ३ प्राणों को और जोड़ने का अनुवचन (कमी पूर्ति का विधान) बताया है जिसकी पुष्टि में तीन प्राणों का संतत अव्यवच्छिन्न रूप से रहना कहा गया है। अतः कुल संख्या २४ ही होती है। वैसे द्वादशमास, पञ्चर्तव, त्रयोलोका, तीनों में से प्रत्येक २४ तत्त्वों की ही संख्या देता है यह तो पहिले बताया जा चुका है। २४ वें से पुरुष की भौतिकात्मा का खोल मिलना आरम्भ हो जाता है जिससे वह यहां पर पशुत्व या भौतिकत्व को प्राप्त हो जाता है। अतः ये २४ समिध बनाये गये। पुनः उत्तरार्द्ध में भी २४ शेष समिध या तत्त्व अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के बीजरूप एक महापरम अणु या जगती ब्रह्म को बना देंगे।

'देवा यद्यज्ञं तन्वानाः'—देवा नाम देवता या तत्त्वों का है 'इमे देवा इमानि भूतानि'। यज्ञ नाम यज्ञ पुरुष या पुरुष का भी है, विकास का भी। 'तन्वाना' शब्द सप्तपरिधि के बदले 'त्रिवृतं सप्ततन्तुं, (ऋ० वे० १०-१२४-१) 'सप्ततन्तून्विततिनरे ओतवा उ' (१-१६४ ५-८ वे०) प्रणाली की सप्ततन्तुता में सन्तानित करने का अर्थ रखता है। अब सीधा अर्थ यह हो गया 'तत्त्व रूप देवताओं ने यज्ञ पुरुष को सप्ततन्तुता या सप्तपरिधियों में सन्तानित करते हुए"। यह पुरुष ही सन्तानित किया जा रहा है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण निम्न-लिखित ऋचा है "यो यज्ञो विश्वत स्तन्तुभिस्तत एकशतं देव कर्मभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ।। "पुमाँ एन तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्। इमे मयूखा उप सेदुरुः सदः सामानि चक्रुस्तसरारायोतवे ।।" (ऋ० वे० १०-१३०-१, २) इसमें साफ साफ लिखा है कि यह यज्ञ चारों ओर से तन्तुओं से सन्तानित है जिसको १०० देवकर्मों से विस्तृत किया जाता हैं, उसे पितर बुनते हैं जो बुनने ही के लिये आये हैं, बुन जाने पर बैठ जाते हैं ।। इनको उनका पुरुष ही बुनता है, वही उसका विस्तार करता है, यह विस्तार पहिले नाक या पूर्वार्द्ध में होता है, वह किरण रूप में उन ताने वानों से सदः या सप्तक को बुनने के लिए साम या छन्दों का निर्माण करता है।। इसी का प्रायोगिक उदाहरण इस सूक्त की ही पूर्व ऋचा 'यत्पुरुषेण हविषादेवायज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः" है। यहां पर पुरुष ही हवि या सोम या भौतिक तत्त्व है, जिसको यज्ञ या विकास में सन्तानित करने के लिए वसन्त आज्य (प्राण) बना, ग्रीष्म इध्म नामक मध्यम प्राण बना और शरद हविः नामक तृतीय प्राण। हवि नाम सोम का है। पुरुष को सोम पिलाना या भौतिकात्मा का शरीर देना ही पुरुष की हवि या पुरुष का शरीर है। इसी शरीर की दिव्य

शरीर की प्राप्ति के लिए यह यज्ञ या विकास तन्तु तन्तु या क्रम क्रम से सन्तानित होता रहा। 'तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।' इस ऋचा में यज्ञ शब्द स्पष्टतया पुरुष का ही विशेषण है अयजन्त = तन्वाना, अतन्वत। देवा और ऋषयः यज्ञकर्तारः है, ऋषियों की बात बताई जा चुकी है कि वे सात सप्तकों के मुख्य तत्त्व हैं, साध्या देवा, इन सत्तकों के प्रत्येक तत्त्व का निर्धारण करने वाले गायत्री प्रभृति छन्द हैं। ये भी अयजन्त या अतन्वत का खुलासा देते हुए 'तन्वाना' का भाव स्पष्ट कर देते हैं।

'अवघ्नन्पुरुषं पशुम'—पुरुष सूक्त तो पुरुष सूत्र, या सप्ततन्तवीय पुरुष सूत्र है या वैदिकों का वास्तविक ब्रह्मसूत्र है। यह 'त्रिवृतं सप्तन्तुम्' ब्रह्म की व्याख्या सूत्र या संक्षिप्त रुप में सब प्रणालियों का सार देकर प्रस्तुत करता है। 'अवघ्नन् पुरुषं पशुम्' भी एक परम रहस्यमय सूत्र है। सौभाग्य से इसकी पूर्ण व्याख्या ऐ० ब्रा० (२ १-८) और श० प० ब्रा० (१–२-१–३ से ९ तक) ने बिस्तार पूर्वक दे रखी है। प्रस्तुत वाक्य उस भाष्य का प्रथम वाक्य सा है। इस वाक्य का 'अवघ्नन्' शब्द 'आलभन्त' अर्थ रखता है जिसके तीन अर्थ होते हैं पूर्णप्राप्ति, पूर्णबन्धन और पूर्णवध। प्रथम दो अर्थ दार्शनिक और योग के हैं तृतीय याज्ञिकाभीष्ट कर्मकाण्डीय। यद्यपि ऐ० ब्रा० (२–१–९) पशु का अभिनय पुरोडाश (हवन के पकवान) से करता है उसी के विभिन्न स्वरूपों का पशु के अंगों से तादात्म्य करता है तथा यह ब्राह्मण और श० प० दोनों इन पशुओं के मांस खाना मना करते हैं जिनके उद्धरण पहिले दिये जा चुके है।

अस्तु 'अवघ्नन् पुरुषं पशुम्' वाक्य उस यज्ञपुरुष के यज्ञ के मध्य बिन्दु का द्योतन करते हुए, यह सूचित करते हुए कि २४ वें तत्त्व में त्रिपादामृत गायत्र पुरुष ने भौतिकात्मा के शरीर में या पशुरूप भौतिक शरीर में बन्धन पा लिया, और स्वयं तत्त्वों को यजमान बनाकर, कहता है कि तत्त्वों ने पुरुष रूप पशु स्वरूप को पा लिया, या पुरुष को पशु रूप में बाँध लिया या प्राप्त कर लिया। सृष्टि के दो रूप-मुक्ति और बन्धन का मिलन बिन्दु यही तत्त्व है। भौतिकात्मा से बन्धन प्रारम्भ होता है जिसमें वह पशु सा व्यवहार करता है चाहे कितना ही बड़ा ज्ञानी या योगी क्यों न हो। यह पशुता कर्मवाद की है जिसको किये विना, इस भौतिक शरीर की यात्रा ही नहीं चल सकती। कर्म करना ही पड़ता है, यही कर्मबन्धन पशुता है चाहे योगी की ही सिद्धि का कर्म क्यों न हो। यही पशु बन्धन या पशुबध पर ही निर्भर है। 'शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः' (गीता ३–८)। ज्ञानी या योगी इस पशु की पशुता

या भौतिकता बाहुल्य का बध या बन्धन करके, त्रिपादामृत रूप मुक्ति या मुक्त या भौतिकता से मुक्त तत्त्व के असीम सागर में मग्न हो कर मुक्त हो जाते हैं, या त्रिपादामृत रूप शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप धारण कर लेते हैं। ये इसके दो विरोधाभासीय विपरीत अर्थ सामने हैं। एक सृष्टि क्रम देता है दूसरा योग क्रम या ज्ञानाग्निः।

पर यह वाक्य इतना ही नहीं कहता। यह वाक्य वैदिक दर्शन के इस मध्य विन्दु से अगले विकासों की व्याख्या देने में केवल दिशा सूचक सूत्र सा है। इस पुरुष पशु के बन्धन के पश्चात् क्या विकास होते हैं यह तो तस्मादश्वा अजायन्त। ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्माज्जाता अजावयः" ऋचा में पूर्णतः दे दिया गया है, पर यह उपक्रम किस प्रकार चला इसका विवेचन ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० के पूर्व सूचित तथा उद्धृत वाक्यों की पुनरावृत्ति से जान लेना आवश्यक है जिनको पढ़कर ऐसा लगेगा कि वे उद्धरण हमारे इस वाक्य रूप सूत्र के साक्षात् भाष्य से है जैसे — 'पुरुषं वै देवा पशुमालभन्त (अवध्नन् पुरुषं पशुम्) तस्मादालब्धात् मेध उपचक्राम उदक्रामत्सोऽश्वं प्राविशत् तस्मादश्वो-मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त स किंपुरुषोऽभवत्तेऽश्वमालभन्त सोऽश्वादाल-ब्धादुदक्रामत्स गां प्रविशत्तस्माद्गौर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौर-मृगोऽभवत्ते गामालभन्त स गोरालब्धादुदक्रामत्सोऽविंप्राविशत्तस्मादविर्मेध्योऽभवद-थैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त स गवयोऽभवत्तेऽविमालभन्त सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्सो-ऽजंप्राविशत्तस्मादजो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त स उष्ट्रोऽभवत्सोऽज्जे ज्योक्तमिवारमत तस्मादेव एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमोयदजस्तेऽजमालभन्त सोऽजा-लब्धादुदक्रामत्स इमां प्राविशत्तस्मादियं मेध्याऽभवदथैन मुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स शरभोऽभवत्त ऐते उत्क्रान्तमेधा अमेध्या पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात् अस्या-मन्वगच्छत्सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्तद्यत्पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति स मेधेन नः पशूनेष्टमसत्केवलेन पशुनेष्टमसत्॥"

इसके अनुसार तत्त्वों का पशुरूप में विकास इस प्रकार है—पुरुष पशु—अश्व-**किम्पुरुष**-गौ-गौरमृग-अवि-गवय:—अजः-उष्ट्र-इमां शरभ। पर हमारी ऋचा 'तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः' उक्त इतने पशुओं में से सूत्ररूप में केवल पाँच का ही नाम देती है। यही पुरुष सूक्त के सूत्रों की सूत्रता है। इस उद्धरण की व्याख्या उक्त ऋचा में दे दी गई है। यहाँ तो इसे इसका सम्बन्ध भाष्य रूप में जतलाने के लिए दिया गया है। उक्त सब पशु सर्वा देवता भी हैं और एक दैवत्य भी। एक दैवत्य में इनका स्थान चतुर्थ सप्तक है सर्वदैवत्य में

सम्पूर्ण तत्त्व सम्पूर्ण दर्शन रूप एक एक तत्त्व है। प्रत्येक तत्त्व पुरुष भी है अश्व भी है, किम्पुरुष भी है, गौ भी है, अवि भी है, गवय भी है, अजा भी है, शरभ भी, उष्ट्र भी है (उषसस्नाता उष्ट्रः)।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

अथर्ववेद ने अपने पुरुष सूक्त में इस मन्त्र को नहीं दिया है। अन्य सभी वेदों में इसका पाठ अपरिवर्तित मिलता है। यह ऋचा बहुत प्राचीन है, यह ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (१–१६४) में ५०वीं ऋचा है। पुरुष सूक्त में यह दुबारा उद्धृत है। यह प्रसिद्ध ऋचा है। प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसका अर्थ या भाष्य लिखा है, प्रायः सभी प्राचीन उपनिषद् इसका उद्धरण देते आये हैं। पुरुष सूक्त की रचना की प्रेरणा का मूलस्रोत यही मन्त्र प्रतीत होता है। इसका 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' पद को पुरुष सूक्त कई बार दुहरा कर देता है। इसका 'यज्ञ' शब्द पुरुष सूक्त की कुञ्जी है। इसके यज्ञ शब्द की व्याख्या 'देवाः यद्यज्ञं तन्वानाः' पद की व्याख्या में पिछली ऋचा में दी जा चुकी है। यह अतीव रहस्यमय ऋचा है। इसके दो भाष्य ऐ० ब्रा० तथा श० प० ब्रा० में मिलते हैं। पहिले उन्हीं को यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है। इन में ऐ० ब्रा० का भाष्य अधिक प्राचीन प्रतीत होता है :—ऐ० ब्रा० (१–३–१६)—"अग्नेर्यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इत्युतमया परिदधाति (परिधिः) "यज्ञेन वै तद्देवा यज्ञमयजन्त यदग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायंस्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति छन्दांसि वै "साध्या देवास्तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन्नादित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च। "तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोक मायन्त्सैव स्वर्ग्याहुतिर्यदग्न्याहुतिः ॥"

अर्थ—"यज्ञ से देवताओं ने उस यज्ञ को किया, इसका अर्थ है, आत्माग्नि से पुरुषाग्नि का यज्ञ किया, उससे वे स्वर्ग (पूर्वार्द्धीय तत्त्वों) को प्राप्त हुए। वे पूर्वार्द्धीय तत्त्व नित्य हैं अतः वे धर्म या धारणत्व या सत्यत्व या विभुत्व शक्ति से पहिले ही से विद्यमान थे। उन्होंने उस स्वर्ग की महिमा का सुख प्राप्त किया, वहाँ पूर्वज रूप साध्या देवता थे। छन्दों (गायत्र्यादि) का नाम साध्या देवता है। गायत्र्यादि अग्नि या प्राण रूप है। इन्होंने अपनी अग्नि से उसका विकास किया था। अतः वे स्वर्ग को प्राप्त हुए। या आदित्यों और अङ्गिरसो ने पहिले युग में आत्माग्नि से पुरुषाग्नि का यज्ञ किया उससे वे स्वर्ग लोक पूर्वार्द्धीय, त्रिपादामृत के सुख के भागी बने। यह स्वर्ग्याहुति कहलाती है, यद्यपि अग्न्याहुति है।"

यहां पर आदित्यों और अङ्गिरसों के स्वर्गप्राप्ति की जो चर्चा की गई है उसका इतिहास श० प० ब्रा० (१२-२-२ ९ से ११ तक) में इस प्रकार उल्लिखित है । "अथादित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च । उभये प्राजापत्या, अस्पर्द्धन्त वयम्पूर्वे स्वर्गलोकमेष्यामो वयम्पूर्वं इति । त आदित्या । चतुर्भिः- स्तोमैश्चतुर्भिःपृष्ठैर्लघुभिः सामभिः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त यदभ्यप्लवन्त तस्मादभिप्लवाः ।" अन्वञ्च इव अङ्गिरस सर्वैः स्तोमैः सर्वैःपृष्ठै र्गुरुभिः सामभिः स्वर्ग लोकमस्पृशन्यदस्पृशंस्तस्मात्पृष्ठ्यः ।।" इसके अनुसार आदित्य और अङ्गिरस दोनों प्रजापति की सन्तान हैं । इन दोनों में स्वर्गप्राप्ति के लिए होड़ लगी । आदित्य देवताओं ने चार स्तोमों चार पृष्ठों और लघु सामों से स्वर्ग लोक को अभिप्लवित कर लिया अतः वे अभिप्लव कहलाते हैं । उधर अङ्गिरस ऋषियों ने सब स्तोमों से सब पृष्ठों से तथा गुरु सामों से स्वर्ग को केवल स्पर्शमात्र कर पाया। अत उन्हें 'पृष्ठ्य' या स्पर्श करने वाले कहते हैं । बात यह है । आदित्य २० वें से ३१ वें तक के १२ तत्त्व हैं तथा अङ्गिरस २५ वें से ३१ वे तक के ७ तत्त्व । आदित्यों के चार पाद है, अङ्गिरसों के भी चार ही पाद हैं । यही चार स्तोम और पृष्ठ हैं, आदित्यों का स्थान तृतीय सप्तक 'नाक' या स्वर्ग या दिव् (तृतीय सप्तक) भी है वे तो स्वर्ग और पृथिवी (चतुर्थ सप्तक) दोनों में हैं, अङ्गिरस केवल चतुर्थ सप्तकीय पृथिवी में रहते हैं । पर तृतीय सप्तकीय स्वर्ग या नाक को छूते हैं, अतः पृष्ठ्य हैं, आदित्यों के पश्चात् आते हैं इसलिए भी पृष्ठ्य हैं । आदित्यों का लघु साम उपांशु ध्वनि है अङ्गिरसों का गुरु साम स्फुट ध्वनि या परा वाणी है ।

प्रस्तुत ऋचा का जो भाष्य श० प० ब्रा० (१०-२-२-१ से ३ तक) ने दिया है वह बहुत स्पष्ट है अतः उसे भी यहां ज्यों के त्यों दे दिया जाता है "यान्वैतात्सप्तपुरुषान् । एकम्पुरुषमकुर्वन्स प्रजापतिरभवत्स प्रजा असृजत, स प्रजा सृष्ट्वोर्ध्वं उदक्रामत्स एतँल्लोकमगच्छत् यत्रैष एतत्तपति नो ह तर्हि अन्य एतस्मादत्र यज्ञिय आस तं देवा यज्ञेनैव यष्टुमध्रियन्त । तस्मादेतदृषिणाभ्य- नूक्तम् —'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इति यज्ञेन हि तं यज्ञमयजन्त 'देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति ते हि धर्मा प्रथमेऽक्रियन्त । ते ह नाकं महिमानः सचन्ते ति स्वर्गो वै लोको नाको देवा महिमानस्ते देवा स्वर्गंल्लोकं सचन्त ये तं यज्ञमयजन्नित्येतत् । 'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा' इति प्राणा वै साध्या देवा त एतमग्रे एवमसाधयन्न तदेव बुभूषन्तस्त उ एवाप्येतर्हि साधयन्ति 'पश्चेदमन्यद- भवद्यजत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूनेति, पश्चाहैवमन्यद्यज्ञियमास यत्किञ्चामृतम् ।।"

अर्थ इस व्याख्या के अनुसार यह ऋचा, पूर्ववर्ती ऋचा की सप्तपरिधियों का ही समष्टि रूप में या एक पुरुष रूप में वर्णन दे रही है। वास्तव में सप्त-परिधियों का नाम ही सप्त पुरुषा है। जो ये सात ऋषि रूप सप्तपुरुष थे, उनकी एक समष्टि की गई, वह एक पूर्ण पुरुष कहलाया। उसका नाम प्रजापति है। उसी ने सारी प्रजा या सृष्टि की या सात पुरुषों की रचना की। इनकी रचना करके वह ऊर्ध्व को उत्क्रामित हो गया, वह वहां गया जहां वह तप करने लगा, और यज्ञिय दूसरे प्रस्तुत हो गये। तब देवताओं ने (तत्त्वों ने) उसकी प्राप्ति के लिए यज्ञसाधना करने का निश्चय दिया। यही ऋषि ने कहा है कि यज्ञ से उस यज्ञपुरुष की उपासना या विकास करने लगे। जिनका विकास करना था उनके मूल तत्त्वों की (सात पुरुषों की) उपस्थिति पहिले ही से थी, उनका निर्माण पहिले ही किया जा चुका था। स्वर्गलोग (पूर्वार्द्ध) का नाम नाक है, देवा उसकी महिमायें हैं, इन देवा रूप तत्त्वों ने उस स्वर्ग-लोक के लिए यज्ञ या विकास किया। उस स्वर्गलोक की सृष्टि रूप देवा या साध्या देवा सब प्राण रूप के हैं, उन्होंने पहिले इन्ही प्राणों की साधना की, अतः साध्या कहलाते हैं। क्यों कि उनकी साधना की जाती है। इसके पश्चात् अन्यद् या उत्तरार्द्ध की रचना हुई, उसे यजत्र अमर्त्यं अमृत (भौतिकात्मा) कहते हैं। पूर्वार्द्ध दिन है उत्तरादुर्ध रात्रिः। यही दूसरा भाग दूसरा यज्ञिय था जिसकी चर्चा सब से पहिले की गई है। प्रजापति का ऊर्ध्व क्रमण पूर्वार्द्ध है यह तपः का स्थान या मार्ग है। भौतिकी उत्तरार्द्धीय तत्त्वों की सृष्टि हो जाने पर, उन उत्तरार्द्धीय तत्त्वों ने पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत को पाने का या अपनाने का जो यत्न किया वही यज्ञ है। साधक उत्तरार्द्धीय है, साध्या देवा पूर्वार्द्धीय। साध्या तत्त्व द्वादश मास के अनुसार १२ हैं। छान्दस और प्राण रूप हैं आदित्य और अङ्गिरस उत्तरार्द्धीय है अतः ऐ० ब्रा० उनकी साधना का प्रस्ताव उचित रूप से देता है जिसका समर्थन श० प० ब्रा० भी कर देता है। ताण्ड्य ब्राह्मण ने लिखा है कि साध्या देवताओं (प्राणों) ने छन्दों को अमृत लाने के लिए भेजा। जैसे 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाजहार' (८-४-१)

प्रस्तुत ऋचा का जो भाष्य यहां दिया गया है, वह स्वतः स्पष्ट है और स्वयं प्रामाणिक है।

उक्त ऋचा के स्थान में अथर्व ने दूसरा मंत्र दिया है जो कम महत्व का नहीं कहा जा सकता—१६—'मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशावः सप्त सप्ततीः। राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि॥'' उस बृहत् शब्द ब्रह्म रूप देव के शिर के जिन सात सात तत्त्व वाले सप्तकों का विकास सप्तपुरुष रूप में हुआ वे उसी के अंशु या अंश या किरण रूप विकासीय विभाग हैं। इनमें से

उस पुरुष से उत्पन्न राजा सोम से पुनः द्वितीय अर्द्ध या उत्तरार्द्ध की सृष्टि हुई। यहां पर पुरुषात् शब्द उसी पुरुषपशु के २५ वें तत्त्व का सोम नाम से संकेत करता है। एक सृष्टि पूर्वार्द्ध की है जिससे पुरुष पशु (त्रिःसप्तसमिधों से) बना, उसका नाम सोम भी है। इस सोम से पुनः 'अधि + अजायत' दूसरी (भौतिक) सृष्टि (उत्तरार्द्ध रात्रि में) हुई। पर उत्तरार्द्ध दोनों सप्तपुरुषी सप्तकों के सप्तकों के सप्तती या एक एक में सात सात तत्त्व वालों के रूप में सब उसी बृहत् शब्द ब्रह्म रूप देव के शिर रूप प्रथम तत्त्व से ही हुए, वे सात सप्ततियाँ, उसी के अंशु या अंश या विकास हैं।

उत्तरनारायणी पुरुष सूक्त

यजुर्वेद इन सोलह ऋचाओं को षोडशकल ब्रह्मोपासना, और पूर्व नारायणी नाम से पुकाराता है। इससे आगे यह वेद छह और मंत्र देता है जिनका नाम श० प० ब्रा० (१३-६-२-२०) 'उत्तरनारायणी' कहता है।

(१७)—"अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च विश्व कर्मणः समवर्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥" इस मंत्र के अर्थ को जानने के लिए पहिले 'विश्वकर्मा' और 'त्वष्टा' नामक दोनों शीर्षकों के लेख पढ़ लेने चाहिए। विश्वकर्मा चतुर्थ सप्तक का आदि पुरुष है जहां से आपः या नार या नृषद् का निर्माण होता है। यही आपो देवता सर्वप्रथम भौतिक सृष्टि का गर्भ धारण करते हैं 'कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे' (ऋ० वे० १०-८२-५)। यही आपः पृथिवी या भौतिकात्मा की योनि बनकर, भौतिकात्मा रूप रस का या 'रसौ वै सः' का या रसमय ब्रह्म का विकास करते हैं। ये दो तत्त्व इस सृष्टि के अग्रदूत हैं जिनको विश्वकर्मा ने आपोरूप और पृथिवी के रस रूप में सम्भृत कर रखा था। इन दोनों को त्वष्टा-त्रिशिरा का पिता, रूप या मूर्तता या खाका का स्वरूप देता है। 'य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपै रपिंशद्भुवनानि विश्वा' (ऋ० वे० १०-११०-९)। इससे वह रूप या मर्त्य या नर या नृषद् सप्तक के तत्त्वों या देवों को वह, सर्वप्रथम (भौतिकता का) आवरणीय खाके (देकर बौद्धिक साकारता) में (उस प्रकार) उत्पन्न करता है (जिस प्रकार का लक्ष विश्वकर्मा बताये रखता है) जिसको पूर्वार्द्ध में आजान देवता या मायामय देवता या समन्तात् ज्ञानमयमात्रशरीरी या अमृत शरीरी कहते हैं।

"वेदाहमेतम्पुरुषमहान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्यु मत्येति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय" ॥१८॥

मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो महतोमहान् है, उस प्रकार तेजस्वी है जैसा आदित्य या त्रिपादामृत, और जो सदा भौतिकता की तामसिकता और अन्धकार दोनों से कोसों दूर है। उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है (भौतिकता की माया जीती जा सकती है) उस पुरुष को जानने का दूसरा मार्ग है ही नहीं। यही एक है।

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"॥१६॥

यह मंत्र 'स मातुर्योना परिवीतो' 'अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' (ऋ० वे० १-१६४-३२) का उद्बोधन करता है। जिस प्रकार ऋग्वेद की इस ऋचा में कहा गया है कि वह प्रजापति माता (पृथिवी चतुर्थ सप्तक, या इसमें उत्पन्न आपो देव्यः या इसके अधिष्ठात्ता आदित्य रूप गावः) की योनि में बहुप्रजा बीजरूप में प्रविष्ट होकर उस योनि के अन्दर गर्भ या निर्ऋति में प्रविष्ट हो गया उसी प्रकार यह यजुः का प्रस्तुत मंत्र भी कहता है कि प्रजापति उस निर्ऋति रूप गर्भ में स्वयं अजन्मा होते हुए भी बहुप्रजा बीजरूप में प्रविष्ट हुआ। उस गर्भ की योनि को केवल धीर (दार्शनिक योगी) ही देख या समझ सकते हैं। उस योनि के गर्भ या निर्ऋति में तो अखिल ब्रह्माण्ड या भुवन (अपने मौलिक स्वरूप या खाके या बीजरूप में) विद्यमान थे। योनि किसका नाम है और क्या है, यह 'अश्विनी' 'द्यावापृथिवी' और 'अहोरात्र' के शीर्षकों में देखें। संक्षेप में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के सम्मिलन बिन्दु के (=) मध्यभाग का नाम योनि ओष्ठ, अश्विनी, गर्त, विषुवत्, सूर्यः चक्षुः सोमः चन्द्रः आदि है। इसको वही समझ सकता है जिसको वैदिक दर्शन का ढाँचा भलीभाँति विदित है। इसीलिए यह मंत्र इसी पर जोर देता है कि पहिले वैदिक दर्शन के ढाँचे को जानो, तब इसे समझो, इस योनि को वैदिक दर्शन के ढाँचे को जानने वाले धीर दार्शनिक योगी ही देख या समझ सकते हैं, 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा'। इसी योनि में तो अखिल भुवनों के मूलबीज भौतिकात्मा के रूप में विद्यमान रहते हैं। इसके पहिले तो वे सब केवल आत्मा के रूप में एक रूप में त्रिपादामृत रूप में थे, वही प्रजापति बना।

यो देवेभ्यो आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ २०॥

वह पुरुष जो सात ऋषि रूप तत्वों के विकास के लिए तप करता है, इस तप की चर्चा सोलहवीं ऋचा की व्याख्या में उद्धृत श० प० श० १०-२-२-१ से ३ तक-'यान्वै सप्तपुरुषान्' आदि वाक्य में की जा चुकी है, यहां

उसी का संकेत है, जो बृहस्पति या वाग्पति रूप में देवताओं का पुरोहित या आदि प्राण रूप है। पुरोहित शब्द का अर्थ 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' ऋचा १५ के भाष्य में दे दिया गया है। और 'बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः ब्रह्मा' वाक्य प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलेगा और ब्रह्मणस्पति बृहस्पति सूक्तों में भी। श० प० ब्रा० ५-४-३-१२, १-६-२-२१ में बृहस्पति को ब्रह्म नाम से ही पुकारा है। यजुः (२-१२) भी 'बृहस्पतये ब्रह्मणे' कहकर इसका समर्थन करता है। यही इध्म रूप में सब देवताओं से पहिले उत्पन्न होता है, जो इन्द्र नाम से पुकारा जाता है, वह रोचिष्मान् अमृतमय प्राणमय इध्मवान् ब्रह्म है उसको हम नमस्कार करते है (मुखदिन्द्रश्चरग्निश्च' देखें)

रुचं ब्राह्म जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

श० प० ब्रा० (७-४-२-२१; ७-५-२-१२) ने रुचं शब्द की व्याख्या में 'रुचममृतत्वं वै रुग्' 'प्राणो वै रुक् प्राणेन हि रोचते' लिखा है। इससे मंत्र का आशय यह है। पहिले देवताओं ने त्रिपादामृत रूप और प्राणरूप ब्रह्म का विकास करते हुए कहा था कि जो ब्रह्म के इन ब्राह्मणों, या ब्राह्म विकासों को समझ सकेगा, उसके वश में सब देवता हो जावेंगे, अर्थात् वह तभी इन सब देवताओं या तत्त्वों का विकात भलीभाँति समझ सकेगा।

श्रीश्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप मश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥

'श्रीः' नाम यज्ञ या दर्शन का है, तथा शिर का है। यज्ञ और दर्शन स्वरूप में श्रीः शब्द पूरे यज्ञ और पूरे दर्शन के सब तत्त्वों का प्रतिनिधि है। पूरा यज्ञ या दर्शन एक यूप या स्तूप है। अतः इस यूप को 'अष्टाश्रिः' कहते हैं। पर जब यह शब्द शिर का वाचक होता है तब यह 'गायत्री' ब्रह्म तथा पूर्वार्द्ध का वाचक होता है जैसे "यज्ञस्य यो उत्तर (उत्तरायणः) आधारः श्रीर्वैशिरः, श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति असौ अमुस्यस्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः ॥" (श० प० ब्रा० १-४-१-५) तथा "चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री तस्या एष शिरः श्रीर्वैशिरः श्रीर्हि वैशिरः" (४-२-३-२० श० प० ब्रा०)। ऐ० ब्रा० (५-१-१) 'सोऽष्टाश्रिःर्कतव्यः अष्टाश्रिर्वै वज्रः (यज्ञः यूपः दर्शनं); श० प० ब्रा० (५-१-६-५) 'अष्टाश्रिर्यूपो भवति' इत्यादि। श्री का विशेष अध्ययन 'श्रीः' नामक शीर्षक में देखें। यहां पर श्री पूर्वार्द्ध है, लक्ष्मी उत्तरार्द्ध है। लक्ष्मी नाम लक्ष्मवती, लक्षणवती चिह्नवती का है। पूर्वार्द्ध अमूर्त अरूप, अलिङ्ग आध्यात्मिक अलक्ष्म है, वह केवल श्री रूप एक रूप है। पर उत्तरार्द्ध,

मूर्त है, रूप है, सलक्ष्म है, सलिङ्ग है, भौतिक है, सर्वलोकमय है। अतः लक्ष्मी या लक्ष्मवान् या लक्ष्मवती है "भद्रैषां लक्ष्मी निहिताधि वाचि" (ऋ० वे० १०-११-२)। ये श्रीः और लक्ष्मी दोनों दर्शन या यज्ञ या पुरुष की दो पत्नियाँ हैं। एक उजली दूसरी काली, एक शुक्लपक्षिणी, दूसरी कृष्णपक्षिणी, एक दिन स्वरूपिणी, दूसरी रात्रिरूपिणी। यही 'अहोरात्रे' हैं। इनका मध्यविन्दु अश्विनी है जिनसे 'रूपम्' या मूर्त या भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। इस बिन्दु से अगल-बगल उत्तर दक्षिण की ओर (पार्श्वे) अश्विनी से उलटे सुलटे नक्षत्र गणना करके, प्रत्येक तत्त्व एक नक्षत्र का प्रतिनिधि होगा। पूर्वार्द्ध में कृत्तिका से रेवती तक, उत्तरार्द्ध में अश्विनी से रेवती तक द्विधा नक्षत्र गणना 'पार्श्वे नक्षत्राणि' का भाव है 'नक्षत्र गणना शैली से तत्त्व निर्णय' शीर्षक देखें। ये सब तत्त्व व्यात्त या व्यापक हैं। इनकी व्यापकता विवृतता रूप फलप्राप्ति की इच्छा करते हुए, मेरे लिए पूर्वार्द्ध (अयुम्) और उत्तरार्द्ध (सर्वलोक) दोनों की प्राप्ति की कामना करो।"

इति शम्